॥ओ३म्॥

पाणिनीय अष्टाध्यायी-प्रवचनम्

(अष्टाध्यायी का सरल संस्कृत भाष्य एवं 'आर्यभाषा' नामक हिन्दी टीका)

प्रथमो भागः

(प्रथमद्वितीयाध्यायात्मकः)

सुदर्शनदेव आचार्यः

।। ओ३म् ।।

तस्मै पाणिनये नमः

पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचनम्

(अष्टाध्यायी का सरल संस्कृतभाष्य एवं 'आर्यभाषा' नामक हिन्दी टीका)

प्रथमो भागः

(प्रथमद्वितीयाध्यायात्मकः)

प्रवचनकारः

डॉ० सुदर्शनदेव आचार्यः

एम.ए. पी-एच.डी. (एच.ई.एस.)

संस्कृत सेवा संस्थान

७७६/३४, हरिसिंह कालोनी,

रोहतक–१२४००१ (हरयाणा)

● प्रकाशक :
ब्रह्मर्षि स्वामी विरजानन्द आर्ष धमार्थ न्यास
गुरुकुल झज्जर,
जिला झज्जर (हरयाणा)
दूरभाष : ०१२५१-५२०४४,
५३३३२

● मूल्य : १०० रुपये

● प्रथम बार : २०००

● श्रावणी उपाकर्म २०५४
(१८ अगस्त १९९७ ई०)

● मुद्रक :
वेदव्रत शास्त्री
आचार्य प्रिंटिंग प्रेस
गोहाना मार्ग, रोहतक-१२४००१
दूरभाष : ०१२६२-४६८७४

प्रतिपादित-विषयाणां सूची-पत्रम्

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः

द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः

द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः

ओं नम ऋषिभ्यः पूर्वेभ्यः

पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचनम्

भूमिका

अष्टाध्याया-प्रणेता आहिकमुनि पाणिनि

संस्कृत भाषा के अद्वितीय व्याकरण–शास्त्र (शब्द-विद्या) के प्रणेता आहिक मुनि पाणिनि के जीवन के विषय में जो सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर उनका संक्षिप्त जीवन-परिचय निम्नलिखित है–

नाम–

श्री पुरुषोत्तमदेव ने त्रिकाण्डशेषकोश में पाणिनि मुनि के–पाणिन, पाणिनि, दाक्षीपुत्र, शालङ्कि, शालातुरीय और आहिक इन छः नामों का उल्लेख किया है। जिनकी व्याख्या अधोलिखित है–

१. पाणिन–

काशिकाकार पं० जयादित्य ने **'मात्रोपज्ञोपक्रमछाये नपुंसके'** (६।२।१४) के उदाहरणों में लिखा है– **'पाणिनोपज्ञमकालकं व्याकरणम्'** अर्थात् पाणिन ने सर्वप्रथम काललक्षण से रहित व्याकरण शास्त्र की रचना की। अष्टाध्यायी के **'गाथिविदथिकेशिगणिपणिनश्च'** (६।४।१६५) सूत्र में पाणिन शब्द की सिद्धि की गई है– **'पणिनोऽपत्यम्–पाणिनः'**, **'पाणिन'** शब्द गोत्रप्रत्ययान्त है अर्थात् पणिन का पौत्र **'पाणिन'** कहाता है।

२. पाणिनि–

यह अष्टाध्यायी के प्रणेता का लोकप्रसिद्ध नाम है। **'पणिनस्यापत्यम्–पाणिनिः'**। यहां **'अत इञ्'** (४।१।९५) से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय है। यह युव-प्रत्ययान्त नाम है। पणिन् का प्रपौत्र **'पाणिनि'** कहलाता है।

३. दाक्षीपुत्र–

इस नाम का उल्लेख पंतजलि ने महाभाष्य में इस प्रकार किया है–

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।
एकदेशविकारे हि नित्यत्त्वं नोपपद्यते।।

(महा० १।१।२०)

इस पद्य में पाणिनि को 'दाक्षीपुत्र' कहा गया है। इससे विदित होता है कि पाणिनि की माता दक्ष गोत्र की थी। उसका निज-नाम अज्ञात है। पाणिनि का मामा दाक्षायण व्याडि था।

४. शालङ्कि–

म० म० पं० शिवदत्त शर्मा का मत है कि यह पाणिनि का नाम अपत्यार्थक है अर्थात् पाणिनि के पिता का नाम शलङ्क था। **'शलङ्कस्यापत्यम्-शालङ्किः'**। शलङ्क का पुत्र शालङ्कि कहाता है। (महा० नवा० भूमिका निर्णयसागरसंस्करण पृ० १४)।

५. शालातुरीय–

१. अष्टाध्यायी के **'तूदीशलातुर०'** (४।३।८४) सूत्र के अनुसार जिसके पूर्वजों का अभिजन=निवास स्थान शलातुर हो, उसे शालातुरीय कहते हैं। गणरत्नमहोदधि के लेखक **वर्धमान** ने पाणिनि को शालातुरीय लिखा है– **'शालातुरीयस्तत्रभवान् पाणिनिः'** (पृ० १)।

२. वलभी के एक शिलालेख में पाणिनिशास्त्र को **'शालातुरीय तन्त्र'** कहा गया है। (शीलादित्य सप्तम का लेख, शिलालेख पृ० १६५)।

३. चीनी यात्री श्यूआन् च्युआङ् साप्तम शताब्दी के आरम्भ में मध्य एशिया के स्थल-मार्ग से भारत आते हुए शलातुर ठहरा था। उसने लिखा है कि उद्भाण्ड के लगभग बीस लि (लगभग ४ मील) पर शलातुर स्थान था। यह वही जगह है जहां ऋषि पाणिनि का ज़न्म हुआ था। जिन्होंने शब्दविद्या की रचना की थी (बील, सियुकि १।११४)।

शलातुर की पहचान लहुर नाम गांव के साथ की गई थी।

टि०– काबुल और सिन्धु के संगम पर ओहिन्द (प्राचीन उद्भाण्डपुर) है। वहां से ठीक चार मील उत्तर-पश्चिम की ओर 'लहुर' गांव है। मरदान से ओहिन्द जानेवाली बसें 'लहुर' होकर जाती हैं (पा० का० भारतवर्ष)। अब यह गांव अफगानिस्तान में है।

६. आहिक–

'आहिकनामा मुनिर्गोत्रनाम्ना विख्यातः' अर्थात् आहिक नामक मुनि लोक में अपने गोत्र (पाणिनि) नाम से प्रसिद्ध हुआ। इससे विदित होता है कि पाणिनि का पितृ-कृत नाम 'आहिक' था।

पाणिनि विषयक अनुश्रुति

पाणिनि मुनि के सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य में निम्नलिखित अनुश्रुतियां उपलब्ध होती हैं।

१. सोमदेव के कथासरित्सागर और क्षेमेन्द्र की बृहत् कथामञ्जरी में पाणिनि के सम्बन्ध में इतिवृत्त कहानी के रूप में मिलता है। इसके अनुसार पाणिनि मुनि आचार्य 'वर्ष' के मन्दबुद्धि शिष्य थे। फिसड्डीपन से दुःखित होकर पाणिनि तप करने हिमालय

पर चले गए और वहां शिव को प्रसन्न करके नया व्याकरण शास्त्र प्राप्त किया-- **'प्राप्तं व्याकरणं नवम्'** । कात्यायन छात्रावस्था में और उसके बाद भी पाणिनि के प्रतिद्वन्द्वी थे। पाणिनि के व्याकरण ने ऐन्द्र व्याकरण की जगह ले ली। नन्दवंश के सम्राट् से पाणिनि की मित्रता होगई और सम्राट् ने उनके शास्त्र को सम्मानित किया। (पा. का. भारतवर्ष पृ० १५)।

२. बौद्ध संस्कृत साहित्य के **'मंजुश्री-मूलकल्प'** नामक ग्रन्थ में लिखा है-- पुष्पपुर में शूरसेन के अनन्तर नन्द राजा होगा। वहां मगध की राजधानी में अनेक विचारशील विद्वान् राजा की सभा में होंगे। राजा उनका धन से सम्मान करेगा। बौद्ध ब्राह्मण वररुचि (कात्यायन) उसका मन्त्री होगा। **राजा का परम मित्र पाणिनि होगा** (पा० का० भारतवर्ष पृ० १५)।

३. राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इस अनुश्रुति की परम्परा में ही यह उल्लेख किया है कि पाटलिपुत्र में शास्त्रकार परीक्षा हुआ करती थी। उस परीक्षा में उववर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतंजलि ने उत्तीर्ण होकर यश प्राप्त किया। ये सब आचार्य शास्त्रों के प्रणेता हुए हैं।

टि०-- "श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा, अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनि-पिङ्गलाविह व्याडिः, वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः (पा० का० भारतवर्ष पृ० १५)।

उपवर्ष के भाई आचार्य वर्ष पाणिनि के गुरु थे। पाणिनि प्रसिद्ध शास्त्रकार हैं। अतः उन्होंने अपना नया व्याकरणशास्त्र पाटलिपुत्र की शास्त्रकार-परीक्षा में प्रस्तुत किया होगा। छन्दशास्त्र के प्रणेता पिंगल पाणिनि के अनुज (छोटे भाई) थे। दक्ष गोत्र में उत्पन्न व्याडि पाणिनि के मामा थे। व्याडि ने सूत्र शैली में व्याकरणशास्त्र पर अपना, **'संग्रह'** नामक ग्रन्थ लिखा था जो पंतजलि के समय विद्यमान था। पंतजलि ने इसकी प्रशंसा में लिखा है-- **'शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः'** (महा० २।३।६६)। अर्थात् दाक्षायण व्याडि की 'संग्रह' नामक रचना बड़ी सोहणी है।

चीनी यात्री--

चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् (६४५ ई० में) स्वयं 'शलातुर' गये थे। उन्होंने पाणिनि के विषय में इस प्रकार लिखा है--

"ऋषियों ने अपने-अपने मत के अनुसार अलग-अलग व्याकरण लिखे। मनुष्य इनका अध्ययन करते रहे किन्तु जो मन्दबुद्धि थे वे इनसे काम चलाने में असमर्थ थे। फिर मनुष्यों की आयु भी घटकर सौ वर्ष रह गई थी। ***ऐसे समय में ऋषि पाणिनि का जन्म हुआ।*** *जन्म से ही सब विषयों में उनकी जानकारी बढ़ी-चढ़ी थी। समय की मन्दता और अव्यवस्था को देखकर पाणिनि ने साहित्य और बोलचाल की भाषा के अनिश्चित और अशुद्ध प्रयोगों एवं नियमों में सुधार करना चाहा। उनकी इच्छा थी कि*

नियम निश्चित करें और अशुद्ध प्रयोगों को ठीक करें। उन्होंने शुद्ध सामग्री के संग्रह के लिए यात्रा की। उस समय ईश्वरदेव से उनकी भेंट हुई जिनसे उन्होंने अपनी योजना बताई। ईश्वरदेव ने कहा– यह अद्भुत है, मैं इसमें तुम्हारी सहायता करूंगा। ऋषि पाणिनि उनसे उपदेश प्राप्त करके एकान्त स्थान में चले गए। वहां उन्होंने निरन्तर परिश्रम किया और अपने मन की सारी शक्ति लगाई।

इस प्रकार अनेक शब्दों का संग्रह करके उन्होंने व्याकरण का एक ग्रन्थ बनाया जो एक सहस्र श्लोक परिमाण का था। आरम्भ से लेकर उस समय तक अक्षरों और शब्दों के विषय में जितना ज्ञान था, उसमें से कुछ भी न छोड़ते हुए सम्पूर्ण सामग्री उसमें सन्निविष्ट कर दी गई। समाप्त करने के बाद उन्होंने इस ग्रन्थ को राजा के पास भेजा जिसने उसका बहुत सम्मान किया और आज्ञा दी कि राज्य भर में इसका प्रचार किया जाये और शिक्षा दी जाये। और यह भी कहा कि ***जो आदि से अन्त तक इसे कण्ठ करेगा उसे एक सहस्र स्वर्णमुद्रा का पुरस्कार मिलेगा।*** *तब से इस ग्रन्थ को आचार्यों ने स्वीकार किया और अविकल रूप में सब के हित के लिए इसे वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रखते रहे। यही कारण है कि इस नगर के विद्वान् ब्राह्मण व्याकरणशास्त्र के अच्छे ज्ञाता हैं और उनकी प्रतिभा बहुत अच्छी है। (सियुकि पृ० ११४-११५) (पा०का० भारतवर्ष पृ० १७)।*

पाणिनि का स्थिति काल

पाणिनि मुनि के स्थितिकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। पाणिनिकालीन भारतवर्ष के लेखक डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं–

१. "बौद्ध एवं ब्राह्मण साहित्य में प्राचीन अनुश्रुति है कि पाणिनि किसी नन्दवंशीय राजा के समकालीन थे। तिब्बती लेखक तारानाथ ने पाणिनि और नन्दराज की सम-सामयिकता स्वीकार की है। (बौद्ध धर्म का इतिहास पृ० १६०८)।

सोमदेव ने कथासरितसागर में और क्षेमेन्द्र ने बृहत् कथामंजरी में लिखा है कि पाणिनि नन्दराजा की सभा में पाटलिपुत्र गये थे।

बौद्ध ग्रन्थ मञ्जुश्री मूलकल्प से इस परम्परा का समर्थन होता है। उसके अनुसार पुष्पपुर में नन्दराजा होगा और **पाणिनि नामक ब्राह्मण उसका अन्तरङ्ग मित्र होगा।** मगध की राजधानी में अनेक तार्किक ब्राह्मण राजा की सभा में होंगे और राजा उन्हें दान-मान से सम्मानित करेगा।" (मञ्जुश्री मूलकल्प पटल ५३, पृ० ६११)।

ताराचन्द के अनुसार नन्दवंशीय सम्राट् महापद्मनन्द के पिता **नन्द पाणिनि के मित्र थे।** महानन्दिन् का नाम **महानन्द** या केवल **नन्द** था। ये ही **पाणिनि** के समकालीन और संरक्षक मगध वंश के सम्राट् थे। जिनका समय पांचवीं शती ई० पूर्व **के मध्यभाग में था** (पा०का० भारतवर्ष पृ० ४७२-७३)।

२. **'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास'** नामक ग्रन्थ के रचयिता महाविद्वान्

पं० युधिष्ठिर मीमांसक लिखते हैं– "हम प्राचीन वाङ्मय के अनुशीलन से इस परिणाम परे पहुंचे हैं कि पाणिनि विक्रम से २८०० वर्ष प्राचीन है" (पृ० १३६)।

पाणिनि की अष्टाध्यायी

नाम–

महाभाष्य में पाणिनि की अष्टाध्यायी के तीन नाम मिलते हैं– (१) अष्टक– **अष्टावध्यायाः परिमाणमस्य सूत्रस्येति–अष्टकम्** (४।१।५८)। (२) **पाणिनीय–पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्** (४।३।१०१)। (३) **वृत्तिसूत्र– न ब्रूमो वृत्तिसूत्रप्रामाण्यादिति किं तर्हि ? वार्तिकवचनप्रामाण्यादिति** (२।१।१)।

पाणिनि मुनि की अनुपम रचना 'अष्टाध्यायी' के नाम से ही लोक में प्रसिद्ध है– **अष्टानामध्यायानां समाहारः–अष्टाध्यायी।** इसमें आठ अध्याय हैं इसलिए इसे अष्टाध्यायी कहते हैं। पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी के प्रारम्भ में 'अथ शब्दानुशासनम्' में अपने शास्त्र का नाम '**शब्दानुशासन**' लिखा है।

ग्रन्थ–परिमाण–

गुरु–शिष्य परम्परा से अष्टाध्यायी के मूल पाठ को लोगों ने कण्ठस्थ रखा है। आज भी वेदपाठी श्रोत्रिय लोग छः वेदांगों में अष्टाध्यायी को कण्ठस्थ करते हैं। स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका के अनुसार अष्टाध्यायी की सूत्र संख्या ३९९५ है जिसमें १४ प्रत्याहार सूत्र भी सम्मिलित हैं।

चतुःसहस्री सूत्राणां पञ्चसूत्रविवर्जिता।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह।।

(स्व०च० श्लोक १५)

अष्टाध्यायी का एक सहस्र श्लोक परिमाण माना जाता है उसका अभिप्राय यह है कि अष्टाध्यायी के अक्षरों की गणना करके अनुष्टुप् छन्द के ३२ अक्षरों से उनका भाग दिया जाता है। इस प्रकार से अष्टाध्यायी ग्रन्थ का एक सहस्र श्लोक परिमाण बनता है। यह ग्रन्थ–परिमाण की प्राचीन पद्धति है।

कात्यायन की श्रद्धा–

कात्यायन मुनि पाणिनीय अष्टाध्यायी के सब से योग्य, प्रतिभाशाली व्याख्याता हुए हैं। उन्होंने पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक रचकर उनकी तुलनात्मक शैली से समीक्षा की है। कात्यायन की बहुमुखी समीक्षा से पाणिनीय अष्टाध्यायी लोक में तप गई। कात्यायन पाणिनि के प्रतिद्वन्द्वी नहीं थे अपितु उन्होंने पाणिनि के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान् होकर अपना अन्तिम वार्तिक भक्तिभरे शब्दों में समाप्त किया है– **"भगवतः पाणिनेः सिद्धम्"** (८।६।६८) यहां कात्यायन ने पाणिनि को '**भगवान्**' शब्द से स्मरण किया है।

पतंजलि की श्रद्धा–

१. पाणिनि और कात्यायन के शास्त्रों का अध्ययन करते हुए पतंजलि मुनि ने अपने पाण्डित्य की अमिट छाप महाभाष्य में लगाई है। पाणिनि की महिमा और प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए उन्होंने भी पाणिनि के लिए **'भगवान्'** शब्द का प्रयोग किया है– **'भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्'** (८।४।६८)।

२. पतंजलि ने पाणिनि को **'प्रमाणभूत आचार्य'** की उपाधि दी है– **'प्रमाणभूत आचार्यः प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म'** (महा० १।१।१)।

३. पतंजलि ने पाणिनि के लिए **'अनल्पमति आचार्य'** विशेषण का प्रयोग किया है (महा० १।४।५१)। इससे पाणिनि मुनि की बौद्धिक विशालता का परिचय मिलता है।

४. एक स्थान पर पतंजलि ने पाणिनि को **'वृत्तज्ञ आचार्य'** लिखा है (महा० १।३।३) पाणिनि वृत्त अर्थात् शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के यथार्थ ज्ञाता आचार्य थे।

५. पतंजलि ने पाणिनीय अष्टाध्यायी को **'सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्'** बताया है (महा० २।१।५८)। अर्थात् पाणिनि मुनि का अष्टाध्यायी नामक शब्दशास्त्र सभी वेद-परिषदों (चरणों) से सम्बन्ध रखता है।

६. पतंजलि के समय पाणिनीय अष्टाध्यायी का अध्ययन प्रारम्भिक कक्षाओं तक फैल गया था। अतः उन्होंने लिखा है– **आकुमारं यशः पाणिनेः, एषाऽस्य यशसो मर्यादा** (महा० १।४।८९)।

पण्डित जयादित्य–

काशिकावृत्ति के रचयिता पं० जयादित्य **'उदक् च विपाशः'** (४।२।७४) सूत्र की वृत्ति में लिखते हैं– **'महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य'** अर्थात् सूत्रकार पाणिनि की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है।

पाश्चात्य विद्वानों की श्रद्धा

श्री कात्यायन आदि भारतीय वैयाकरणों के स्वर में पाश्चात्य विद्वानों ने भी पाणिनीय अष्टाध्यायी की इन शब्दों में मुक्तकण्ठ से श्लाघा की है–

१. **प्रो० मोनियर विलियम्स–** संस्कृत व्याकरण उस मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम नमूना है जिसे किसी देश ने अब तक सामने नहीं रखा।

२. **प्रो० मैक्समूलर–** हिन्दुओं के व्याकरण में अन्वय की योग्यता संसार की किसी जाति के व्याकरण-साहित्य से बढ़-चढ़ कर है।

३. **कोलब्रुक–** व्याकरण के वे नियम अत्यन्त सतर्कता से बनाये गए थे और उनकी शैली अत्यन्त प्रतिभापूर्ण थी।

४. **सर डब्ल्यू-डब्ल्यू हण्टर–** संसार के व्याकरणों में पाणिनि का व्याकरण चोटी का है। उसकी वर्ण-शुद्धता, भाषा का धात्वन्वय सिद्धान्त और प्रयोगविधियां

अद्वितीय एवं अपूर्व हैं। यह मानव-मस्तिष्क का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आविष्कार है।

५. **प्रो० टी० शेरवात्सकी**– पाणिनीय व्याकरण इन्सानी दिमाग की सबसे बड़ी रचनाओं में से एक है।

६. **चीनी यात्री ह्यूनसांग**– ऋषि ने पूर्ण मन से शब्द भण्डार से शब्द चुनने आरम्भ किये और १००० दोहों में सारी व्युत्पत्ति रची। प्रत्येक दोहा ३२ अक्षर का था। इसमें प्राचीन और नवीन सम्पूर्ण लिखित ज्ञान समाप्त होगया। शब्द और अक्षर विषयक कोई भी बात छूटने नहीं पाई (ह्यूनसांग वाटर्स का अनुवाद भाग १, पृ० २२१)।

(संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास– पृ० १४१-४२ युधिष्ठिर मीमांसक)।

अष्टाध्यायी के शिक्षक पाणिनि

१. अष्टाध्यायी के प्रथम शिक्षक पाणिनि मुनि थे। पतंजलि मुनि लिखते हैं– '**उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्**' (महा० ३।२।१०८) अर्थात् कौत्स पाणिनि मुनि के पास शिक्षा प्राप्त करने आये, वे पाणिनि के शिष्य थे।

२. काशिकाकार पं० जयादित्य ने लिखा है– **अनूषिवान् कौत्सः पाणिनिम्, उपशुश्रूवान् कौत्सः पाणिनिम्** (का० ३।२।१०८) अर्थात् कौत्स पाणिनि के **अन्तेवासी** थे और उनसे व्याकरणशास्त्र पढ़ते थे।

३. पतंजलि मुनि लिखते हैं– **पाणिनि ने आकडारादेका संज्ञा** (१।४।१) तथा **प्राक्कडारादेका संज्ञा** (१।४।१) यह सूत्र दोनों प्रकार से अपने शिष्यों को पढ़ाया। **उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः** (महा० १।४।१)।

पाणिनि की अन्य रचनायें

अष्टाध्यायी के अतिरिक्त पाणिनि मुनि के शिक्षा, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिकोष और लिङ्गानुशासन ये पांच शब्द-विद्या सम्बन्धी ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। वास्तव में ये अष्टाध्यायी के ही पूरक ग्रन्थ हैं। पाणिनि मुनि ने ये शिक्षा आदि ग्रन्थ अष्टाध्यायी की रचना से पहले बनाये। जैसे कि पतञ्जलि मुनि ने गणपाठ के विषय में लिखा है– **स पूर्वपाठः, अयं पुनः पाठः** (महा० १।१।१४) अर्थात् गणपाठ पाणिनि की पूर्व रचना है और अष्टाध्यायी अपर-रचना है।

पं० युधिष्ठिर मीमांसक '**पातालविजय**' और '**जाम्बवती विजय**' नामक पाणिनि मुनि की दो काव्य-रचनायें भी मानते हैं।

निर्वाण–

पाणिनि मुनि की मृत्यु के विषय में पञ्चतन्त्र में प्रसङ्गवश किसी प्राचीन ग्रन्थ से एक श्लोक उद्धृत किया गया है कि– '**सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः**' (मित्रसम्प्राप्ति श्लोक ३६) इससे विदित होता है कि पाणिनि मुनि का प्राणहरण

एक शेर के द्वारा किया गया।

वैयाकरणों में किवदन्ती है कि पाणिनि मुनि की मृत्यु त्रयोदशी के दिन हुई थी। अत: पाणिनीय वैयाकरण प्रत्येक त्रयोदशी को अवकाश रखते हैं। यह परिपाटी काशी में आज तक वर्तमान है।

येन धौता गिर: पुंसां विमलै: शब्दवारिभि:।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नम:।।

अष्टाध्यायी-शिक्षा का इतिहास

अष्टाध्यायी के पुनरुद्धारक

१. स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती

हरयाणा के एक गौड़ ब्राह्मण प्रकाण्ड विद्वान् हुये हैं। उनके प्रथमाश्रम का नाम तो ज्ञात नहीं है किन्तु वे संन्यासी होकर पूर्णानन्द सरस्वती नाम से विख्यात हुए। पं० लेखराम जी ने इनका स्थान हरद्वार लिखा है। गुरुवर विरजानन्द के शिष्य श्री नवनीत जी के पुत्र श्री गोविन्ददत्त के कथनानुसार स्वामी पूर्णानन्द जी मूलत: मथुरा के निवासी थे। इनके गुरु आनन्द स्वामी दण्डी थे। ये वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी के उच्चकोटि के विद्वान् थे किन्तु अष्टाध्यायी आदि आर्ष ग्रन्थों के बड़े श्रद्धालु थे। सुना जाता है कि सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य संग्राम में इनकी आयु १०० वर्ष से अधिक थी। इस प्रसिद्धि के अनुसार इनका जन्म १७४७ ई० के लगभग का था।

स्वा० पूर्णानन्द सरस्वती की विद्या और तप की महिमा सुनकर एक तरुण तपस्वी व्रजलाल इनके चरण-शरण में आया और इनसे संन्यास-दीक्षा लेकर विरजानन्द सरस्वती नाम पाया। उस समय के ज्योतिर्मठ के शंकराचार्य भी स्वा० पूर्णानन्द सरस्वती के शिष्य थे। स्वा० विरजानन्द ने इनसे वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी पढ़ी तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी के प्रति विशिष्ट श्रद्धा भी दायभाग में प्राप्त की। इस प्रकार स्वा० पूर्णानन्द स्वा० विरजानन्द के दीक्षा-गुरु तथा शिक्षा गुरु भी थे। स्वा० पूर्णानन्द ने वै०सि० कौमुदी समाप्त कराके पातञ्जल व्याकरण महाभाष्य के अध्ययन के लिए काशी जाने की प्रेरणा की। उस समय महाभाष्य के नवाह्निक (अष्टा० प्रथमाध्याय का प्रथमपाद) तथा अंगाधिकार (अष्टा० षष्ठाध्याय का चतुर्थपाद और सप्तमाध्याय) पढ़ने का ही प्रलचन था। विरजानन्द महाभाष्य के अध्ययन के लिए दूसरे ही दिन एक छात्र के साथ हरद्वार से काशी की ओर चल पड़े।

आपने **सौन्दर्य लहरी** की एक संस्कृत टीका लिखी थी। इस टीका का हस्तलेख तथा स्वामी पूर्णानन्द जी के हाथ से लिखी **दक्षिणामूर्ति संहिता** की पुस्तक पं०

गोविन्ददत्त जी मथुरा के संग्रह में सुरक्षित है। एक वेदान्तविषयक ग्रन्थ श्री गंगादत्त जी के पुत्र विदुरदत्त जी के घर बेलोन (बुलन्दशहर) में विद्यमान है।

श्री देवेन्द्र बाबू के अनुसार ये हरयाणा के मूल निवासी थे। पं० युधिष्ठिर मीमांसक का मत है कि ये मूलतः मथुरा के निवासी थे। ये मथुरा में दण्डी घाट पर कुटिया डालकर वर्षों तक तपस्या करते रहे। इस घाट का निर्माण आपके शिष्य किशनसिद्ध महलवाले चतुर्वेदी ने कराया था। दण्डी पूर्णानन्द जी यहां चिरकाल तक रहे अतः यह दण्डी घाट के नाम से प्रसिद्ध हो गया। दण्डी विरजानन्द भी कुछ समय इस घाट पर बनी कुटिया में रहे थे।

२. स्वामी विरजानन्द सरस्वती

बाल्यकाल—

पंजाब प्रान्त के जालन्धर नगर से ९ मील पश्चिम में स्थित कर्तारपुर नगर के समीप बेई नामक नदी के तट पर गंगापुर नामक एक ग्राम था। बेई नदी की किसी बाढ़ ने उसका अस्तित्व समाप्त कर दिया। अतः अब उसका नाममात्र ही शेष रह गया है। उस गंगापुर नामक ग्राम में एक सारस्वत ब्राह्मण नारायणदत्त शर्मा रहते थे। ये शारद शाखा के ब्राह्मण थे। उनका गोत्र भारद्वाज था। इनके घर में पौरोहित्य के अतिरिक्त वस्त्रों की छपाई का भी काम होता था। पं० नारायणदत्त के घर १७७८ ई० में एक बालक का जन्म हुआ जिसका नाम व्रजलाल रखा गया। इनके बड़े भाई का नाम धर्मचन्द था। पांच-छः वर्ष की अवस्था में शीतला (चेचक) रोग से इनकी आंखें जाती रहीं।

बालक व्रजलाल का विद्यारम्भ पांचवें वर्ष में तथा उपनयन संस्कार आठवें वर्ष में किया गया। इस बालक ने अपने पूज्य पिता जी से ही संस्कृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया। अमर कोष कण्ठस्थ कर लिया और सारस्वत व्याकरण हलन्त पुंलिंग प्रकरण तक पढ़ लिया था कि इनके पिता जी का स्वर्गवास होगया। घर पर ही पञ्चतन्त्र, हितोपदेश भी पढ़ा था, और संस्कृतभाषण का अच्छा अभ्यास होगया था। पिता जी के स्वर्गवास के कुछ समय पश्चात् माता सरस्वती जी का भी स्वर्गवास हो गया।

गृहत्याग—

माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् ये १२ वर्ष की अवस्था में अपने बड़े भाई धर्मचन्द के आश्रित होगए। भाई और भावज के तिरस्कारपूर्ण व्यवहार से खिन्न होकर एक दिन बिना किसी से कहे-सुने घर से निकल पड़े। निर्भीकता से मार्ग पूछते हुए चलते रहे। जब कोई उनसे कुछ पूछता था तो ये संस्कृतभाषा में ही उत्तर देते थे।

घोर तप—

व्रजलाल देशाटन करते हुए ऋषीकेश पहुंचे और वहां घोर तप आरम्भ किया।

गंगा की जलधारा में खड़े होकर गायत्री मन्त्र का जप करते रहे। एक दिन रात्रि में एक आकाशवाणी सुनाई दी– **"तुम्हारा जो कुछ होना था, वह हो चुका, अब तुम यहां से चले जाओ"**। इस वाणी को सुनकर ये हरद्वार चले गए।

संन्यास दीक्षा–

हरद्वार में आपने स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती से संन्यास दीक्षा लेकर विरजानन्द सरस्वती नाम पाया तथा उनसे वै०सि० कौमुदी का अध्ययन किया। अष्टाध्यायी के कुछ सूत्र भी कण्ठस्थ किये। गुरुवर की प्रेरणा से आप महाभाष्य के अध्ययन के लिए हरद्वार से काशी चले गए।

काशी निवास–

(१८००-१८११ ई०) काशी में विरजानन्द मनोरमा, शेखर आदि ग्रन्थ स्थान-स्थान पर जाकर पढ़ आते थे। पाठ को सुनकर मेधा बुद्धि से अनायास ही हृदयंगम कर लेते थे। यहां इन्होंने जिज्ञासु शिष्यों को पढ़ाना भी आरम्भ कर दिया था। आपने काशी में पं० गौरीशंकर से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया। आपने अपने **शब्द-बोध** नामक ग्रन्थ की पुष्पिका में पं० गौरीशंकर को गुरुवर के रूप में स्मरण किया है। यह ग्रन्थ आपने अलवरनरेश श्री विनयसिंह को व्याकरणशास्त्र पढ़ाने के लिए लिखा था। आज यह ग्रन्थ अलवर के राजकीय पुस्तकालय सरस्वती भण्डारागार में ३३३४ नं० पर सुरक्षित है।

महाभाष्य की खोज–

काशी में ५-६ मास के घोर परिश्रम के उपरान्त आपको महाभाष्य का एक हस्तलेख प्राप्त हुआ जो कि बहुत अशुद्ध था। स्वामी विरजानन्द तथा उनके शिष्य स्वामी दयानन्द की कृपा से आगे चलकर तो अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य का पुस्तक सर्वसुलभ होगया था किन्तु उस समय ये ग्रन्थ अति दुर्लभ थे। अष्टाध्यायी पुस्तक दशग्रन्थी ऋग्वेदी ब्राह्मणों के घर में पढ़ा जाता था और वह भी कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध। ऋग्वेदी ब्राह्मण अपने ग्रन्थों को किसी को दिखाते भी नहीं थे। वे ऐसा करना अपने धर्म- विरुद्ध मानते थे।

अष्टाध्यायी की दुर्लभता के कारण उस समय वै०सि० कौमुदी में भी अष्टाध्यायी के अध्याय, पाद और सूत्र की संख्या नहीं लिखी थी अतः कौमुदी का अध्ययन उस समय अत्यन्त शुष्क विषय था।

कौमुदीपाठी पण्डित–

१. एक दिन काशी में आपने किसी कौमुदीपाठी पण्डित से प्रश्न किया कि **'हलन्त्यम्'** (१।३।३) में दो पद हैं और उसकी वृत्ति में **'उपदेशेऽन्त्यं हल् इत् स्यात्'**

में चार पद हैं। इन दो पदों की अनुवृत्ति किस सूत्र से आयी है ? क्या इसी प्रकार अन्य सूत्रों की अनुवृत्ति के मूल सूत्र भी बता सकते हैं ? इस प्रश्न का उस पण्डित के पास कोई उत्तर नहीं था क्योंकि इसका उत्तर केवल अष्टाध्यायीपाठी छात्र/पण्डित ही दे सकता है।

२. एक दिन आपने एक और प्रश्न काशी के किसी पण्डित से किया था कि **"पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्"** इस परिभाषा के अनुसार कौमुदी में वर्णित **अनन्तर** तथा **उत्तर** विधियों को जानते हो ? इस परिभाषा का कार्य अष्टाध्यायी क्रम के ज्ञान से ही समझा जा सकता है क्योंकि कौमुदीक्रम में यह परिभाषा निरर्थक हो जाती है।

अध्ययन–

आपने काशी में पं० गौरीशंकर जी से व्याकरण महाभाष्य का अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त आपने वहां वेदान्त, मीमांसा और न्यायशास्त्र का अध्ययन तथा अध्यापन भी किया। आप काशी में लगभग १२ वर्ष रहे। अध्ययन-अध्यापन में अत्यन्त मेधावी होने से काशी में 'प्रज्ञाचक्षु' नाम से प्रसिद्ध होगये थे

कलकत्ता–निवास (१८१५–२१ ई०)

अध्ययन–

आप काशीनिवास के पश्चात् कई वर्ष गया में रहकर १८१५ ई० में कलकत्ता चले गए थे। उस समय **कलकत्ता भारत की राजधानी थी।** यहां आपने साहित्य दर्पण, कुवलयानन्द, काव्यप्रकाश, रस गंगाधर तथा नव्य एवं प्राच्य न्यायशास्त्र के ग्रन्थों का अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद, संगीत, वीणावादन, रत्नपरीक्षा आदि नाना कलाओं में कुशलता प्राप्त की।

आप भागीरथी की परिक्रमापूर्वक विद्या अध्ययन करके अपने गुरुवर स्वामी पूर्णानन्द जी से आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए हरद्वार पधारे। विद्या-अध्ययन का सब समाचार सुनाया। गुरुवर की प्रसन्नता की कोई सीमा न रही।

अलवरनरेश के गुरु

अध्यापन–

आप हरद्वार से शूकर क्षेत्र में आकर १८२३ से १८३२ ई० तक पठन-पाठन तथा योगसाधाना करते रहे। एक दिन वहां अलवरनरेश श्री विनयसिंह से मुलाकात होगई। नरेश की व्याकरणशास्त्र अध्ययन की प्रार्थना पर आप १८३२ ई० में अलवर चले गए। वहां आपने श्री विनयसिंह को व्याकरणशास्त्र पढ़ाने के लिए 'शब्दबोध' नामक ग्रन्थ लिखा जो आज भी अलवर के राजकीय पुस्तकालय सरस्वती भण्डारागार में सं० ३३३४

पर सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त दण्डी जी ने अलवर नरेश को रघुवंश, विदुरप्रजागर और तर्कसंग्रह आदि ग्रन्थ पढ़ाये। गुरुवर के आशीर्वाद से श्री विनयसिंह अच्छे संस्कृतज्ञ और संस्कृतभाषण में भी कुशल होगए थे।

एक दिन दण्डी जी तो यथासमय पाठ पढ़ाने के लिए उपस्थित होगए किन्तु श्री विनयसिंह उपस्थित नहीं हुए। पूर्व प्रतिज्ञा अनुसार दण्डी जी ने अलवर से जाने का निश्चय कर लिया। श्री विनयसिंह ने २५०० रुपये की सुवर्ण-मुद्रा देकर गुरुवर को सत्कारपूर्वक विदा किया। दण्डी जी अलवर से पुनः शूकरक्षेत्र (सोरों) आगए।

मथुरा–निवास (१८४५–६८ ई०)

पाठशाला–

दण्डी जी १८४५ ई० ग्रीष्मकाल में सोरों से मथुरा पधारे। ये प्रथम गतश्रम नारायण के मन्दिर में ठहरे। लगभग एक वर्ष के पश्चात् दण्डी जी ने मथुरा के एक रईस श्री केदारनाथ खत्री से २ रुपये मासिक किराये पर एक घर ले लिया। जो गतश्रम नारायण के मन्दिर से १६-१७ दुकानें होली दरवाजे की ओर विद्यमान था। यही दण्डी जी की पाठशाला थी। दण्डी जी यहां लगभग २२ वर्ष तक व्याकरणशास्त्र पढ़ाते रहे। स्वामी दयानन्द ने भी इसी पाठशाला में विद्या-अध्ययन किया था।

उन दिनों सौ से अधिक संस्कृत-अध्यापक मथुरा में संस्कृत पढ़ाते थे। यह एक लघु काशी कहलाती थे। श्री केशवदेव आदि कितने ही संस्कृत-अध्यापक दण्डी जी के शिष्य बन गए और उनसे व्याकरण-शास्त्र पढ़ने लगे थे।

अष्टाध्यायी का लोप–

अष्टाध्यायी के प्रवक्ता आहिक मुनि पाणिनि का काल महाभारत से लगभग ३०० वर्ष पश्चात् का है। अनुमानतः १५०० ई० पूर्व महामुनि पतंजलि ने पाणिनीय अष्टाध्यायी पर **'व्याकरण महाभाष्य'** नामक ग्रन्थरत्न की रचना की थी। पाणिनि-काल से लेकर १६०० ई० पूर्व तक अष्टाध्यायी शास्त्र का पठन-पाठन चलता रहा। कुछ समय पश्चात् शब्द-सिद्धि के लिए प्रक्रिया ग्रन्थ लिखे गए उनका अध्ययन केवल शब्द-सिद्धि के लिए ही किया जाता था किन्तु पं० भट्टोजि दीक्षित (१५१८ ई०) ने अष्टाध्यायी की प्राचीन शिक्षा-पद्धति का लोप करके नई शिक्षा-परिपाटी चलाई और उसके प्रचारार्थ वै०सि० कौमुदी नामक ग्रन्थ की रचना की।

अष्टाध्यायी की खोज–

महावैयाकरण आहिकमुनि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी नामक रचना में सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्र को एक सहस्र अनुष्टुप् छन्दों में बान्ध दिया था। अष्टाध्यायी के अक्षरों की गणना करके अनुष्टुप् छन्द में विद्यमान ३२ अक्षरों से भाग करने पर अष्टाध्यायी का एक सहस्र अनुष्टुप् छन्दों का परिमाण बनता है। इस प्रकार किसी ग्रन्थ की

अनुष्टुप छन्द में गणना करने की यह प्राचीन पद्धति है।

दण्डी जी को अष्टाध्यायी नामक ग्रन्थविषयक श्रद्धा अपने गुरुवर स्वा० पूर्णानन्द से दायभाग में प्राप्त हो चुकी थी। वे मथुरा की पाठशाला में अष्टाध्यायी के सूत्रक्रम की श्रेष्ठता का वर्णन अपने छात्रों से प्रायशः करते रहते थे। मथुरा-निवास के समय दण्डी जी मदनमोहन मन्दिर के अध्यक्ष गोस्वामी पुरुषोत्तमलाल के पुत्र श्री रमणलाल को एक पालकी में बैठकर पढ़ाने जाया करते थे। एक दिन दण्डी जी ने पालकी में जाते समय मार्ग में एक दशग्रन्थी दाक्षिणात्य ऋग्वेदी ब्राह्मण को अष्टाध्यायी का सूत्रपाठ करते सुना। तत्पश्चात् दण्डी जी ने ४-५ दिन उस ब्राह्मण को अपनी पाठशाला में बुलाकर अष्टाध्यायी का सूत्रपाठ सुना। उस सूत्रपाठ में यत्र-तत्र अशुद्धियां थी अतः दण्डी जी ने उससे अष्टाध्यायी का पुस्तक मंगवाकर पुनः उसका पारायण सुना। इससे दण्डी जी को अष्टाध्यायी के एक पुस्तक की जानकारी प्राप्त हो गई।

अजाद्युक्ति का चमत्कार–

वै०सि० कौमुदी में **अजाद्यतष्टाप्** (४।१।४) पर लिखा है– **"अजाद्युक्तिर्ङीषो ङीपश्च बाधनाय"**। एक बार मथुरा के विद्वानों में **'अजाद्युक्ति'** पद के विषय में शास्त्रार्थ छिड़ गया कि इस पद में कौनसा समास है। स्वा० विरजानन्द के शिष्य गंगदत्त और रंगदत्त चौबे ने षष्ठी तत्पुरुष समास बतलाया और स्वयं स्वामी विरजानन्द भी यही समास मानते थे किन्तु श्रीकृष्ण शास्त्री तथा उनके शिष्य इस पद में सप्तमी तत्पुरुष समास के पक्षपाती थे। बात काशी तक पहुंच गई। काशी की पण्डित–सभा ने विपुल दक्षिणा लेकर श्रीकृष्ण शास्त्री के पक्ष में अपना मिथ्या मत लिखकर भेज दिया। विद्या की ठेकेदार काशी की पण्डित-सभा के इस मिथ्या-निर्णय से स्वामी विरजानन्द को बड़ा धक्का लगा और दण्डी जी ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि– **"अनार्ष ग्रन्थ अनर्थ का मूल हैं।"** और कहा कि– **"भट्टोजि मूर्ख था"**। इस प्रकार दण्डी जी की पाठशाला में अनार्ष ग्रन्थों का बहिष्कार और अष्टाध्यायी आदि आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन का युग आरम्भ होगया।

अब दण्डी जी वै०सि० कौमुदी तथा उसके व्याख्या ग्रन्थों के प्रति केवल वीतराग ही नहीं अपितु घोर द्वेषी बन गए। वे कहने लगे कि कुत्सित (निन्दित) तीन हैं– **"सूत्रक्रम तोड़कर अध्ययन-मार्ग बिगाड़नेवाले भट्टोजि आदि प्रथम कुत्सित हैं। उनके ग्रन्थ दूसरे कुत्सित हैं। उन ग्रन्थों के पढ़ने-पढ़ानेहारे तीसरे कुत्सित हैं। ये तीनों मिलकर कुत्सितत्रय अथवा कत्त्रि कहाते हैं।"**

कौमुदी का यमुना–अर्पण–

उन दिनों दण्डी जी से दो दाक्षिणात्य भाई भट्ट गोपीनाथ और सोमनाथ व्याकरण-शास्त्र पढ़ते थे। दण्डी जी ने उनको आज्ञा दी कि– **"कत्त्रिकृत इस अवकर (कूडा) को अर्थात्**

कौमुदी, मनोरमा और शेखर आदि को यमुना में प्रवाहित कर वस्त्रसहित स्नान करके आओ।" इन दोनों छात्रों ने ऐसा न करके उन ग्रन्थों को अपने घर रख लिया और आकर गुरुवर से कह दिया कि हमने उन ग्रन्थों को यमुना में प्रवाहित कर दिया है। दण्डी जी को किसी छात्र से पता चल गया कि इन्होंने ऐसा नहीं किया है, अतः उन दोनों छात्रों को दण्डी जी ने अपनी पाठशाला से सदा के लिए निकाल दिया।

अष्टाध्यायी की प्राप्ति–

दण्डी जी को पूर्वोक्त ऋग्वेदी ब्राह्मण के घर पर अष्टाध्यायी का पुस्तक है, यह तो ज्ञात हो ही चुका था। अतः दण्डी जी ने उनके घर से अष्टाध्यायी का पुस्तक खोजकर लाने के लिए अपने छात्रों को आज्ञा दी। वे आज्ञाकारी शिष्य महान् प्रयत्न करके दूसरे दिन अष्टाध्यायी का एक पुस्तक खोजकर लाये। उसमें अनेक पत्र लुप्त थे। दण्डी जी को अनेक दाक्षिणात्य ब्राह्मणों से बहुत प्रार्थना करने पर बड़े कष्ट से यह एक पुस्तक प्राप्त हुआ था।

अष्टाध्यायी का पाठ–

अब इसी एक पुस्तक पर दण्डी जी की पाठशाला में छात्रों के पाठ चलने लगे। अन्य पुस्तकों की खोज भी चलती रही। दण्डी जी ने उस एक पुस्तक की प्रतिलिपियां पुस्तक-लेखकों को तीन-तीन, चार-चार रुपये देकर करवा ली। शनैः शनैः अष्टाध्यायी के पाठार्थी छात्रों की संख्या बढ़ने लगी। इस अष्टाध्यायी के पाठ का शोर काशी नगरी तक पहुंच गया। अब काशी के कौमुदी पाठक पण्डित भी अष्टाध्यायी के सूत्रपाठ का विचार करने लगे। अब पुस्तक-विक्रेता भी अष्टाध्यायी का पुस्तक छापने लगे। आरम्भ में इस पुस्तक का मूल्य चौदह आने था। अष्टाध्यायी के अधिक प्रचलन से यह पुस्तक दो आने में मिलने लगा।

महाभाष्य का स्मरण–

अष्टाध्यायी की प्राप्ति के पश्चात् सम्पूर्ण महाभाष्य की खोज आरम्भ हुई। दण्डी जी ने महाभाष्य नवाह्निक (प्रथम अध्याय का प्रथम पाद) काशी में ही कण्ठस्थ कर लिया था। सम्भव है कि महाभाष्य का अंगाधिकार (षष्ठ अध्याय का चतुर्थ पाद और सप्तम अध्याय) भी वहां कण्ठस्थ किया हो क्योंकि उन दिनों उपर्युक्त महाभाष्य-भाग का ही पठन-पाठन प्रचलित था। अब सम्पूर्ण महाभाष्य का पुस्तक प्राप्त करके दण्डी जी अपने शिष्य वनमाली चौबे से रात्रि में महाभाष्य सुनकर पांच पत्र प्रतिदिन कण्ठस्थ करते थे। प्रातःकाल जो भी छात्र पाठशाला में पहले आता था उसे महाभाष्य के पत्र पकड़ाकर अपना स्मरण किया हुआ पाठ सुनाया करते थे कि पाठ ठीक स्मरण हुआ कि नहीं। उस समय दण्डी जी की आयु ८१ वर्ष की थी किन्तु वे अपनी आयु इस आर्ष शिक्षा-युग से ही गिनते थे। दण्डी जी कहा करते थे–

अष्टाध्यायीमहाभाष्ये द्वे व्याकरणपुस्तके।
अतोऽन्यत् पुस्तकं यत्तु तत् सर्वं धूर्तचेष्टितम्।।

अर्थ— अष्टाध्यायी और महाभाष्य दो ही व्याकरण के पुस्तक हैं। इनसे भिन्न सब पुस्तक धूर्तों की लीला है।

अष्टाध्यायी का प्रचार—

अब दण्डी जी के प्रभाव से काशी में भी अष्टाध्यायी सूत्रपाठ कण्ठस्थ कराना, कौमुदी पढ़ाते हुए अनुवृत्तियां बताना आरम्भ हो गया था। वै०सि० कौमुदी की पुस्तकों में सूत्रों के पते छपने लगे थे। काशी के एक विद्वान् श्री ओरम्भट विश्वरूप ने वै०सि० कौमुदी ग्रन्थ को अष्टाध्यायी सूत्रपाठ क्रम में व्यवस्थित करके उस पर 'व्याकरण-दीपिका' नामक टीका लिखी। जगाधरी निवासी पं० हरनामदत्त ने काशी में जाकर सम्पूर्ण महाभाष्य पं० बालशास्त्री से पढ़ा और आजीवन अन्य नव्य ग्रन्थों के अतिरिक्त महाभाष्य भी अपने शिष्यों को पढ़ाते रहे। इस प्रकार दण्डी जी के घोर-परिश्रम से अष्टाध्यायी और महाभाष्य का पठन-पाठन पुनः प्रचलित होगया।

शिष्यमण्डल—

मथुरा-निवास काल में स्वामी विरजानन्द से निम्नलिखित प्रसिद्ध जनों ने व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था। अंगदराम, बुद्धसेन, उदयप्रकाश, युगलकिशोर, गंगदत्त, रंगदत्त, नन्दजी, रमणलाल गोस्वामी, श्यामलाल पण्डा, वनमाली, दयानन्द सरस्वती, नवनीत कविवर, ग्वाल कवि।

निर्वाण—

दण्डी जी ने अष्टाध्यायी आदि आर्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन तथा प्रभुभक्ति में रहकर ९० वर्ष की अवस्था में उदरशूल से दिनांक १४ सितम्बर १८६८ को अपने नश्वर शरीर का परित्याग कर दिया।

अन्तिम समय उनके शिष्य वनमाली आदि रोने लगे। दण्डी जी ने पूछा क्यों रोते हो ? शिष्यों ने कहा— अब हमें अष्टाध्यायी कौन पढ़ायेगा ? दण्डी जी ने अष्टाध्यायी का पुस्तक मंगवाया और उसे हाथ में लेकर कहा— "मैं इस में प्रविष्ट होता हूं, जो कुछ पूछना हो, इससे पूछना"।

दण्डी जी के निर्वाण का समाचार जब उनके प्रिय शिष्य स्वामी दयानन्द ने शहबाजपुर में वेदप्रचार करते हुए सुना तब उन्होंने कहा था— 'आज व्याकरण का सूर्य अस्त होगया है'।

उत्तराधिकारी—

दण्डी जी ने मृत्यु से दो मास पूर्व अपने पुस्तक, पात्र, वस्त्र तथा ३०० रुपये का

उत्तराधिकार-पत्र (वसीयतनामा) अपने शिष्य युगलकिशोर के नाम लिखकर रजिस्टर्ड करा दिया था। पं० **युगलकिशोर** दण्डी जी के प्रथम सुयोग्य शिष्य थे जो दण्डी जी के मथुरा-आगमन से लेकर उनके निर्वाण-काल तक अध्ययनपरायण तथा सेवापराण भी रहे। ये दण्डी जी के निर्वाण के उपरान्त गुरुवर की गद्दी पर बैठकर आजीवन अष्टाध्यायी आदि आर्ष ग्रन्थ पढ़ाते रहे।

अष्टाध्यायी के महान् प्रचारक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु पं० युगलकिशोर के शिष्य थे। आर्यजगत् के उद्‌भट विद्वान् व्याकरणशास्त्र का इतिहास आदि आकर ग्रन्थों के लेखक पं० युधिष्ठिर मीमांसक पूज्य जिज्ञासु जी के शिष्य थे। माननीय मीमांसक जी के शिष्य डॉ० विजयपाल जी आजकल पाणिनीय महाविद्यालय बहालगढ़ (सोनीपत) में अष्टाध्यायी आदि आर्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन यज्ञ के ब्रह्मा हैं।

३. स्वामी दयानन्द सरस्वती

बाल्यकाल–

मोरवी राज्य के टंकारा नामक ग्राम में श्री कृष्णलाल जी तिवारी के घर सम्वत् १८८१ मूल नक्षत्र में एक बालक का जन्म हुआ जिसका नाम मूलशंकर रखा गया। इनकी माता का नाम यशोदा बाई था। इनके पिता निष्ठावान् शैव भक्त थे। अतः दश वर्ष की आयु में मूलशंकर से मूर्तिपूजा कराना आरम्भ कर दिया। १४वें वर्ष के आरम्भ में दिनांक २२ फरवरी १८३८ ई० गुरुवार को मूलशंकर ने शिवरात्रि का व्रत रखा। यह जागरण इनके पिता के बनाये हुए कुबेरनाथ के मन्दिर में किया गया। इस जागरण में चूहों को शिव-पिण्डी पर चढ़कर चावल खाते देखकर मूलशंकर की मूर्तिपूजा से आस्था उठ गई।

गृहत्याग–

मूलशंकर का विवाह होने को ही था कि ये गृह-बन्धन से बचने के लिए और सच्चे शिव के दर्शन करने के लिए १८४६ ई० में लगभग २१ वर्ष की अवस्था में घर से निकल पड़े। योगिजनों की तलाश में फिरते रहे। सायला में ब्रह्मचारी बनकर शुद्ध चैतन्य नाम धराया। कार्तिक स्नान के शुभअवसर पर दिनांक ३।११।१८४६ ई० को सिद्धपुर पहुंच गए। यहां इनके पिता जी ने इन्हें जा पकड़ा और इन्हें घर ले आये किन्तु ये चौथे दिन ही रात को फिर भाग गए।

संन्यास दीक्षा–

मूलशंकर अनेक स्थानों पर विद्याग्रहण करते रहे और राजयोग भी सीखते रहे। १८४८ ई० में चाणोदकन्याली में स्वामी परमानन्द सरस्वती से संन्यास की दीक्षा ली और स्वामी दयानन्द सरस्वती बन गए। १८५४ ई० के अन्त में हरद्वार-कुम्भ के मेले

में पहुंचे। १८५५ ई० में योगियों की खोज में केदारनाथ और जोशीमठ के शंकराचार्य ने इन्हें हरद्वार में स्वामी पूर्णानन्द के पास जाकर विद्या-अध्ययन की सम्मति दी। दयानन्द इस पर्वतयात्रा से लौटकर १८५५ ई० में लगभग १०८ वर्षीय अतिवृद्ध संन्यासी स्वामी पूर्णानन्द के पास पहुंचे। वे अब अतिवृद्ध होने से मौनी बन गये थे, पढ़ाते नहीं थे। उन्होंने लिखकर दयानन्द को अपने शिष्य विरजानन्द के पास मथुरा जाने की प्रेरणा दी।

विद्या-अध्ययन—

स्वामी दयानन्द १८५७ के स्वतन्त्रता आन्दोलन में व्यस्त होगए और स्वामी पूर्णानन्द के आदेशानुसार मथुरा न जा सके। स्वतन्त्रता-आन्दोलन के पश्चात् दिनांक १४ नवम्बर १८६० ई० बुधवार को स्वामी दयानन्द ने मथुरा जाकर स्वामी विरजानन्द दण्डी की पाठशाला का दरवाजा खटखटाया और उनके शिष्य बन गए। दयानन्द ने दण्डी जी से अष्टाध्यायी, महाभाष्य, वेदान्तदर्शन और वेदार्थ की पद्धति आदि का अध्ययन किया। आर्ष ग्रन्थों की महिमा और अनार्ष ग्रन्थों की हीनता का रहस्य समझा। वेदार्थ की कुंजी भी मिल गई। सच्चा गुरु और सत्य का मार्ग उपलब्ध होगया। दयानन्द ने १८६३ ई० तक यहां गुरुवर की सेवा में रहकर वेदामृत का पान किया।

गुरुदक्षिणा—

शिक्षा-समाप्ति पर दयानन्द गुरु-दक्षिणा में लौंग लेकर गुरुवर की सेवा में उपस्थित हुए। लौंग दण्डी जी का प्रिय पदार्थ था। विरजानन्द बोले— **दयानन्द ! तुम्हारी यह भक्तिपूर्ण भेंट स्वीकार है, रख दो। इतने मात्र से गुरु-दक्षिणा पूर्ण न होगी। गुरुदक्षिणा में मुझे तुमसे और कुछ मांगना है, क्या तुम मेरी मांगी वस्तु मुझे दे सकोगे ?** दयानन्द बोले— मेरा रोम-रोम आपके **आदेशार्थ समर्पित है, आप आदेश करिये।** विरजानन्द ने कहा— **दयानन्द ! देश में घोर अज्ञान फैला हुआ है। स्वार्थी लोग जनता को पथभ्रष्ट कर रहे हैं। तुम इस अविद्या-अन्धकार के निवारण के लिए सर्वात्मना प्रयत्न करो। दयानन्द ने सहर्ष तथास्तु,** कहकर अपना सारा जीवन, वेद, **अष्टाध्यायी, महाभाष्य** आदि आर्ष ग्रन्थों के प्रचार-प्रसार में लगा दिया।

अष्टाध्यायी की शिक्षा-पद्धति

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश (समु० ३) में अष्टाध्यायी की पठन-पाठनविधि का इस प्रकार विधान किया है—

१. **शिक्षा—** प्रथम पाणिनिमुनि कृत शिक्षा जो कि सूत्र रूप है उसकी रीति अर्थात्— इस अक्षर का यह स्थान, यह प्रयत्न और करण है, जैसे **'प'** इसका ओष्ठ स्थान स्पृष्ट प्रयत्न और प्राण तथा जीभ की क्रिया करनी करण कहाता है। इसी प्रकार यथायोग्य सब अक्षरों का उच्चारण माता, पिता और आचार्य सिखलावें।

२. **अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति**— प्रथम अष्टाध्यायी के सूत्रों का पाठ जैसे- **वृद्धिरादैच्**, फिर पदच्छेद जैसे— वृद्धिः, आत्, ऐच्, फिर समास— आच्च ऐच्च आदैच्, और अर्थ जैसे— **आदैचां वृद्धिसंज्ञा क्रियते**, अर्थात् आ, ऐ, औ, की वृद्धि संज्ञा है। **तः परो यस्मात् स तपरः, तादपि परस्तपरः।** तकार जिससे परे और जो तकार से भी परे हो वह तपर कहाता है। इससे क्या सिद्ध हुआ— जो अकार से परे त् और त् से परे ऐच् दोनों तपर हैं। तपर का प्रयोजन यह है कि ह्रस्व, प्लुत की वृद्धि संज्ञा न हुई।

उदा०— (१) **भागः।** यहां भज् धातु से घञ् प्रत्यय के करने पर घ, ञ् की इत्संज्ञा होकर लोप होगया। पश्चात् '**भज् अ**' यहां जकार के पूर्व, भकार-उत्तर अकार को वृद्धिसंज्ञक आकार होगया है, तो भाज्, पुनः ज् को ग् हो, अकार के साथ मिलकर '**भागः**' ऐसा प्रयोग हुआ। (२) **अध्यायः।** यहां अधिपूर्वक इङ् धातु से ह्रस्व इ के स्थान में घञ् प्रत्यय के परे 'ऐ' वृद्धि और उसको आय् हो, मिलकर '**अध्यायः**' ऐसा प्रयोग हुआ। (३) **नायकः।** यहां णीञ् धातु से दीर्घ ईकार के स्थान में ण्वुल् प्रत्यय के परे 'ऐ' वृद्धि और आय् होकर मिलकर '**नायकः**' ऐसा प्रयोग हुआ। (४) **स्तावकः।** यहां स्तु धातु से ण्वुल् प्रत्यय होकर ह्रस्व उकार के स्थान में औ वृद्धि, आव् आदेश होकर अकार में मिल गया तो '**स्तावकः**' ऐसा प्रयोग हुआ। (५) **कारकः।** कृञ् धातु के आगे लोप, वु के स्थान में अक— आदेश, और अकार के स्थान में आर् वृद्धि होकर '**कारकः**' सिद्ध हुआ।

जो जो सूत्र आगे-पीछे के, प्रयोग में लगें उनका कार्य सब बतलाया जाये और सिलेट अथवा लकड़ी के पट्टे पर दिखला-दिखला कर कच्चा रूप धरके जैसे— **भज्+घञ्+सु**, इस प्रकार धरके प्रथम धातु के अकार का लोप, पश्चात् घकार का, फिर ञ् का लोप होकर **भज्+अ+सु** ऐसा रहा। फिर अ को आ वृद्धि और ज् के स्थान में ग् होने से **भाग+अ+सु**, पुनः अकार में मिल जाने से **भाग+सु** रहा। अब उकार की इत्संज्ञा, लोप हो जाने के पश्चात् '**भाग र्**' ऐसा रहा। अब रेफ के स्थान में (:) विसर्जनीय होकर (**भागः**) यह रूप सिद्ध हुआ।

जिस जिस सूत्र से जो जो कार्य होता है, उस उस को पढ़-पढ़ा के और लिखवाकर कार्य कराता जाये। इस प्रकार पढ़ने-पढ़ाने से बहुत शीघ्र दृढ़ बोध होता है।

एक बार इसी प्रकार अष्टाध्यायी पढ़ा के धातु, अर्थ सहित दश लकारों के रूप तथा प्रक्रियासहित सूत्रों का उत्सर्ग अपवादपूर्वक ज्ञान करावे। धातुपाठ के पश्चात् उणादिगण के पढ़ाने में सर्व सुबन्त का विषय अच्छी प्रकार पढ़ावे।

३. **अष्टाध्यायी द्वितीयावृत्ति**— दूसरी बार शंका, समाधान, वार्तिक कारिका परिभाषा की घटनापूर्वक अष्टाध्यायी की द्वितीयावृत्ति पढ़ावे।

४. **महाभाष्य**— तत्पश्चात् महाभाष्य पढ़ावे अर्थात् जो बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, निष्कपटी और विद्यावृद्धि के चाहनेवाले नित्य पढ़ें-पढ़ावें तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी और

डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़कर तीन वर्ष में पूर्ण वैयाकरण होकर वैदिक और लौकिक शब्दों को व्याकरण से जानकर अन्य शास्त्रों को शीघ्र सहज में पढ़-पढ़ा सकते हैं, किन्तु जैसा बड़ा परिश्रम व्याकरण में होता है वैसा श्रम अन्य शास्त्रों में नहीं करना पड़ता।

५. **अष्टाध्यायी की महिमा**— **जितना बोध अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य के पढ़ने से ३ वर्षों में होता है उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत चन्द्रिका, कौमुदी और मनोरमा आदि पढ़ने से ५० पचास वर्ष में भी नहीं हो सकता**, क्योंकि महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से जो महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है, वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्योंकर हो सकता है।

६. **आर्षग्रन्थों की महिमा**— महर्षि लोगों का आशय, जहां तक हो सके वहां तक सुगम और जिसके ग्रहण करने में समय थोड़ा लगे, इस प्रकार का होता है, और क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहां तक बने वहां तक कठिन रचना करनी, जिसको बड़े परिश्रम से पढ़के अल्प लाभ उठा सकें, **जैसे पहाड़ का खोदना और कौड़ी का लाभ होना, और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसा एक गोता लगाना और बहुमूल्य मोतियों का पाना।**

७. **परित्याज्य ग्रन्थ**— अब जो परित्याग के योग्य ग्रन्थ हैं, उनका परिगणन संक्षेप से किया जाता है अर्थात् जो-जो नीचे ग्रन्थ लिखेंगे वे वे जालग्रन्थ समझने चाहिएं। **शिक्षा**— '**अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा**' इत्यादि शिक्षा ग्रन्थ। **व्याकरण**— कातन्त्र, सारस्वत चन्द्रिका, मुग्धबोध, कौमुदी, शेखर, मनोरमा आदि।

८. **अध्ययन–काल (व्याकरण)**

ग्रन्थ का नाम	**सत्यार्थप्रकाश**	**संस्कारविधि**
	वर्ष–मास	वर्ष–मास
शिक्षा	० – ०	० – १
अष्टाध्यायी (प्रथमावृत्ति)	१ – ०	१ – ०
धातुपाठ आदि	० – ६	० – ६
अष्टाध्यायी (द्वितीयावृत्ति)	० – ८	० – ८
महाभाष्य	१ – ६	१ – ९
	योग = ३ – ८	४ – ०

९. **प्रकाशित ग्रन्थ**— स्वामी दयानन्द ने पाणिनीय अष्टाध्यायी सम्बन्धी निम्नलिखित १४ ग्रन्थ संस्कृत और आर्यभाषा में लिखकर वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित किये हैं– (१) वर्णोच्चारण शिक्षा। (२) सन्धिविषय। (३) नामिक। (४) कारकीय। (५) सामासिक। (६) स्त्रैणताद्धित। (७) अव्ययार्थ। (८) आख्यातिक। (९) सौवर। (१०) पारिभाषिक। (११) धातुपाठ। (१२) गणपाठ। (१३) उणादिकोष (**संस्कृत**

व्याख्या) (१४) अष्टाध्यायीभाष्य।

स्वामी दयानन्द ने अपने गुरुवर की आज्ञा के पालन में तत्पर होकर इस प्रकार से अष्टाध्यायी आदि आर्षग्रन्थों के अध्ययन का पथ प्रशस्त कर दिया।

४. पण्डित उदयप्रकाश

आपका जन्म मथुरा के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आप मथुरा के कौमुदी-अध्यापकों में सर्वश्रेष्ठ अध्यापक माने जाते थे। समस्त टीका-ग्रन्थ उनकी जिह्वा पर नाचते थे। इनसे दण्डी जी का कौमुदी आदि ग्रन्थों का खण्डन सहा न गया अतः संवत् १९२० में इनका दण्डी जी से एक शास्त्रार्थ निश्चित होगया। निश्चय हुआ कि जो हारे वह दूसरे का शिष्य बन उससे पढ़े और उसके सिद्धान्त का अनुयायी बने। इस शास्त्रार्थ में दण्डी जी से परास्त होकर इन्होंने दण्डी जी का शिष्यत्व स्वीकार किया और उनसे अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढ़े और आजीवन उनका प्रचार किया।

पं० उदयप्रकाश के एक अन्तरंग सखा पं० मणिराम व्याकरण, काव्यशास्त्र और तर्कभाषा के महान् विद्वान् थे। वे पं० उदयप्रकाश के प्रभाव से दण्डी जी के शिष्य बन गए थे। एक बार पं० मणिराम ने दण्डी जी से कहा था-- **भगवन् ! मेरे सखा पं० उदयप्रकाश जी जिस दिन से आपके पास अध्ययन करते हैं, उसी दिन से मैं भी आपका छात्र हूं।** मैं दो-दो चार-चार मास मथुरा में रहकर आपसे अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढूंगा।

आपने स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य के विरोध में यजुर्वेद की स्वर-संचारिणी व्याख्या लिखी थी। यह लीथो प्रेस में छपी थी। इस ग्रन्थ की एक प्रति रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत) के संग्रह में विद्यमान है।

५. पण्डित गंगादत्त
(स्वामी शुद्धबोध तीर्थ)

आपका जन्म ग्राम बैलोन जिला बुलन्दशहर (उ०प्र०) में १८६६ ई० में हुआ। आपके पिता पं० हेमराज वैद्य एक सनाढ्य ब्राह्मण थे। आपने चौथी श्रेणी तक ग्राम में ही शिक्षा प्राप्त की। खुर्जा में पं० हरसहाय गौड़ भटियाना से लघु कौमुदी तथा पं० किशोरीलाल से ज्योतिष पढ़ी। तत्पश्चात् आपने १८८७ ई० से १८८९ तक मथुरा में श्री दण्डी जी के शिष्य पं० उदयप्रकाश से अष्टाध्यायी का अध्ययन किया। आप महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण-अध्ययन की इच्छा से मथुरा गए थे किन्तु आपके गुरुवर पं० उदयप्रकाश जी का १९४५ वि० कार्तिक शु० ९ सोमवार (दिनांक १२।११।१८८८ ई०) को स्वर्गवास होगया और आपकी इच्छा पूर्ण न हो सकी। अतः आप १८८८ ई० में विद्या-अध्ययन के लिए काशी चले गए। आपने वहां पं० काशीनाथ शास्त्री से नव्यव्याकरण और दर्शनशास्त्र

का अध्ययन किया। पं० हरनामदत्त भाष्याचार्य (जगाधरी निवासी) से सम्पूर्ण महाभाष्य पढ़ा।

काशी-निवास के समय स्वामी दर्शनानन्द (पं० कृपाराम शर्मा), पं० भीमसेन शर्मा और पं० आर्यमुनि आदि आर्य विद्वानों से आपकी मित्रता होगई थी। आपने वहां अष्टाध्यायी की काशिका नामक वृत्ति का सम्पादन किया था।

आपने १८९६ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा संचालित वैदिक आश्रम (उपदेशक श्रेणी) जालान्धर का प्रबन्ध तथा अध्यापन कार्य सम्भाला। १९०१ ई० में गुरुकुल कांगड़ी के प्रथम आचार्य बने। आप ही काशी के उद्भट विद्वान् पं० काशीनाथ को गुरुकुल कांगड़ी लाये। गुरुकुल-निवास काल में आपने अष्टाध्यायी पर एक संक्षिप्त व्याख्या लिखी। १९०७ में आपने स्वामी दर्शनानन्द द्वारा संचालित गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के आचार्य पद को सुशोभित किया। १९१५ ई० में आपने ब्रह्मचर्य आश्रम से सीधा संन्यास आश्रम में प्रवेश कर स्वामी शुद्धबोध तीर्थ नाम पाया।

गुरुकुल कांगड़ी तथा गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के पुराने सुयोग्य स्नातक आपके ही शिष्य थे। पं० भीमसेन शास्त्री (कोटा) तथा पं० राजेन्द्रनाथ शास्त्री (नांगलोई) ने गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में आपसे ही अष्टाध्यायी और महाभाष्य का अध्ययन किया था। आपका १९९० आश्विन शु० ७ भौम (मंगलवार) (दि. १६।९।१९३३ ई०) को स्वर्गवास होगया।

६. आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री (स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती)

जन्म–

आपका जन्म फाल्गुन संवत् १९६२ (दि० १० फरवरी १९०६) को ग्राम नांगलोई (दिल्ली) में एक वैश्य परिवार में हुआ। आपका पैतृक नाम राजालाल, माता का नाम यमुनादेवी और पिता का नाम मा० प्यारेलाल था। आपके पूज्य पिता दिल्ली के विद्यालयों में गणित के श्रेष्ठ अध्यापक माने जाते थे।

शिक्षा–

आपने १९२१ ई० में नेशनल यूनिवर्सिटी अलीगढ़ से मैट्रिक परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। आप अंग्रेजी-पद्धति की शिक्षा को छोड़कर प्राचीन पद्धति से संस्कृतभाषा आदि के अध्ययन के लिए दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय लाहौर पहुंचे और वहां पं० विश्वबन्धु शास्त्री के आचार्यत्व में संस्कृतभाषा का अध्ययन आरम्भ किया। आप वहां की विद्या-भूषण परीक्षा में सर्वप्रथम रहे। तत्पश्चात् पंजाब विश्वविद्यालय से शास्त्री परीक्षा भी उत्तीर्ण की। तत्पश्चात् गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर (उ०प्र०) में प्रविष्ट होकर गुरुवर श्री शुद्धबोध तीर्थ (पं० गंगादत्त शर्मा) से अष्टाध्यायी महाभाष्य, न्यायदर्शन और वेद-वेदांग का अध्ययन किया।

आर्ष गुरुकुल की स्थापना—

आपने श्रावण शुक्ला पूर्णिमा १९९१ वि० (दि० ८ अगस्त १९३४ ई०) को पंचकुइया रोड़ नई दिल्ली के एक क्वाटर में गुरुवर शुद्धबोध तीर्थ की स्मृति में श्रीमद् दयानन्द वेद विद्यालय नामक आर्ष गुरुकुल की स्थापना की। इस गुरुकुल की स्थापना के समय आपके पास केवल दो छात्र तथा सवा छ: आने (वर्तमान ३८ न० पै०) कोष में थे। तत्पश्चात् दिल्ली यमुना-तट पर पर्णकुटीर बनाकर आर्षपाठविधि से अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि ग्रन्थों का पठन-पाठन रूप सारस्वत यज्ञ चलता रहा। सन् १९४० में युसुफ सराय के निकट ४-५ बीधा भूमि गुरुकुल को दान में मिल गई। अत: गुरुकुल यमुना-तट से स्थायी रूप में यहीं आगया। आपने अपने यौवन-काल के २०-२५ वर्ष इस गुरुकुल की सेवा में होम दिये। इस गुरुकुल की यश-सुरभि सब दिशाओं में फैल गई। आजकल आपके ही पौत्र-शिष्य ब्र० हरिदेव इस गुरुकुल का संचालन कर रहे हैं। आज यह गुरुकुल अष्टाध्यायी और महाभाष्य आदि की शिक्षा का प्रमुख केन्द्र है। इसके अतिरिक्त आपने गुरुकुल बुकलाना (मेरठ) तथा खेड़ा-खुर्द (दिल्ली) में गुरुकुलों की स्थापना की। आज गुरुकुल खेड़ा खुर्द भी आर्ष शिक्षा पद्धति का उत्तम शिक्षण-संस्थान है। अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि आर्षग्रन्थों के सुव्यवस्थित पठन-पाठन के लिए सर्वप्रथम आर्ष गुरुकुल का पुण्य श्रेय आपको ही जाता है।

साहित्य रचना—

आपने अपने गुरुकुलों में प्रचलित आर्षपाठविधि की दृष्टि से संस्कृत-प्रदीपिका (१-२ भाग), पाणिनीय वर्णोच्चारण शिक्षा, अष्टाध्यायी-शब्दानुशासनम्, संस्कृत-व्याकरण प्रकाश, संस्कृत-पथ, गद्यमयं महाभारतम्, सरलं संस्कृतम् आदि अनेक ग्रन्थ लिखकर प्रकाशित कराये। आपकी विशिष्ट रचना **'सिद्धान्त कौमुदी की अन्त्येष्टि'** ने तो पौराणिक वैयाकरण जगत् में खलबली मचा दी। आपके **'दयानन्द सन्देश'** नामक मासिक पत्र के **स्वराज्य, कर्मवीर, असिधारा** और **दिलजला** नामक विशेषांकों को लोग आज तक ढूंढते फिरते हैं। आपके **योगी का आत्मचरित्र, पातंजलयोगसूत्रभाष्यम्** आदि ग्रन्थ योगिजनों के अत्यन्त प्रिय हैं।

संन्यास दीक्षा—

आप दिनांक १३ अप्रैल १९६८ ई० वैशाखी के शुभ पर्व पर **स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती** से संन्यास-आश्रम की दीक्षा लेकर **स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती** बन गए। आपने योग-विद्या के प्रचार के लिए योगधाम (ज्वालापुर) की स्थापना की। आजकल आपके ही **शिष्य स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती** (स्नातक-गुरुकुल झज्जर) इस योगधाम का बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ संचालन कर रहे हैं और समस्त भारत में योग-विद्या के प्रचार

में रत हैं। ग्राम बोन्तापल्ली जिला मेदक (आ०प्र०) में पातंजल योग मठ की स्थापना की। आज इस मठ का संचालन आपकी शिष्या **ब्रह्म० योगभारती** कर रही है।

शिष्यमण्डल–

आपके पावन चरणों में बैठकर जिन्होंने अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि आर्षग्रन्थों के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त किया उन प्रमुख आर्य विद्वानों के नाम ये हैं– पं० सुरेन्द्र कुमार शास्त्री अलीगढ़ (उ०प्र०), पं० विश्वप्रिय शास्त्री लेदरपुर (बिजनौर), पं० बुद्धदेव शास्त्री लेदरपुर (बिजनौर), पं० श्रुतिकान्त (मद्रास), पं० भद्रसेन (मद्रास), ब्र० भगवान्देव आचार्य (नरेला), पं० विश्वदेव शास्त्री कैलाशनगर दिल्ली, डॉ० वेदव्रत आलोक (सुपुत्र) आदि।

आपके द्वारा लगाया गया एक तरुवर **'श्रीमद् दयानन्द वेद विद्यालय गोतमनगर, नई दिल्ली'** अष्टाध्यायी आदि आर्षग्रन्थों के शिक्षार्थी छात्रों को अनुपम शरण प्रदान कर रहा है और इस तरुवर की छाया में बैठकर कितने ही ब्रह्मचारी आज वेदामृत का पान कर रहे हैं।

७. ब्र० भगवान्देव आचार्य
(स्वामी ओमानन्द सरस्वती)

जन्म–

आपका जन्म चैत्र बदी८ सं० १९६७ वि० तदनुसार मार्च १९१० ई० में दिल्ली के सुप्रसिद्ध उपनगर नरेला (मामूरपुर) में एक प्रतिष्ठित क्षत्रिय-परिवार में चौ० कनकसिंह के घर हुआ। आपके पूज्य पिता महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त एवं दृढ़ आर्यसमाजी थे।

शिक्षा–

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा नरेला में हुई और आपने उच्च शिक्षा सैंट स्टीफन कॉलेज दिल्ली में प्रारम्भ की। अंग्रेज-सरकार के भारतीयों पर घोर अत्याचारों को देखकर आपको अंग्रेजी-शिक्षा तथा सभ्यता से घोर घृणा होगई। सत्यार्थप्रकाश आदि महर्षिकृत ग्रन्थों में लिखित आर्ष शिक्षा पद्धति के प्रति अगाध श्रद्धा बढ़ने लगी अतः आपने कॉलेज-शिक्षा को मध्य में ही लात मारकर पवित्र आर्ष शिक्षा पद्धति की शरण ली। आर्ष शिक्षा प्रणाली के अनन्य अनुरक्त भक्त आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री के चरणों में बैठकर दयानन्द वेद विद्यालय दिल्ली में अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि आर्षग्रन्थों का अध्ययन किया। गुरुकुल चित्तौडगढ़ में स्वामी व्रतानन्द जी महाराज से पाणिनीय व्याकरण-शास्त्र का परिशीलन किया। गुरुकुल रावलपिण्डी में पं० मुक्तिराम (स्वामी

आत्मानन्द सरस्वती) से योगदर्शन, यौगिक क्रिया तथा आयुर्वेद आदि की शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् अपने जन्म-स्थान नरेला में **"विद्यार्थी-आश्रम"** की स्थापना करके अष्टाध्यायी आदि आर्षग्रन्थों के पठन-पाठन यज्ञ का शुभारम्भ कर दिया।

गुरुकुल झज्जर के आचार्य–

झज्जर निवासी पं० विश्वम्भरदत्त ने १३८ बीघा भूमि में स्वामी श्रद्धानन्द के करकमलों से आधारशिला रखवाकर १६ मई १९१५ को गुरुकुल झज्जर की स्थापना की। गुरुकुल की रात-दिन चिन्ता तथा साथियों के विश्वासघात से निराश होकर आप गुरुकुल छोड़कर हरद्वार की ओर चले गए। मुजफ्फरनगर के निकट रतेरा नामक ग्राम में आपका स्वर्गवास होगया। आपके स्वर्गवास के पश्चात् गुरुकुल के सभी सहयोगी निराश होगए और गुरुकुल बन्द होगया। अब किसी को आशा नहीं रही कि यहां गुरुकुल चल सकेगा।

आर्यसमाज की विभूति स्वामी ब्रह्मानन्द जी तथा स्वामी परमानन्द जी महाराज ने दिनांक २ मार्च १९२० ई० को गुरुकुल का पुनः संचालन करने का कार्य अपने हाथों में लिया। इन दोनों महापुरुषों ने लगभग १६ वर्ष तक इस गुरुकुल का संचालन किया। स्वामी आत्मानन्द जी उन दिनों सह-अधिष्ठाता के पद पर सेवा करते रहे। दौर्भाग्य से सन् १९४० ई० में गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता स्वामी परमानन्द जी का स्वर्गवास होगया। स्वामी ब्रह्मानन्द जी अतिवृद्ध होगए थे। पुनरपि वे यथा-तथा गुरुकुल को चलाते रहे। इस प्रकार गुरुकुल पर फिर निराशा के बादल छागए।

नवजीवन का संचार–

आर्यजगत् के प्रसिद्ध विद्वान् पं० जगदेवसिंह सिद्धान्ती बरहाणा (रोहतक) तथा श्री छोटूराम राठी खरहर (रोहतक) के आग्रह पर **ब्रह्मचारी भगवान्देव जी** ने २२ सितम्बर १९४२ ई० को गुरुकुल का आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता पद सम्भाल लिया। आपने महर्षि दयानन्द द्वारा सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित गुरुकुल शिक्षा पद्धति के अनुसार इस संस्था को एक आदर्श गुरुकुल के रूप में संचालन का दृढ़ निश्चय किया। आपकी प्रार्थना पर आपके ही बाल्यकाल के शिक्षक श्री **मा० धर्मसिंह** झिंझोली (सोनीपत) ने गुरुकुल के संरक्षक एवं अधिष्ठाता पद का कार्यभार ३ अक्तूबर १९४५ ई० को ग्रहण कर लिया। गुरुकुल वेदविद्यालय गोतमनगर दिल्ली के आपके ही सहपाठी **पं० विश्वप्रिय शास्त्री** ने १२ नवम्बर १९४५ को गुरुकुल के उपाचार्य पद को सुशोभित किया। श्री **फतहसिंह** जी रैय्या (रोहतक) सन् १९४६ के उत्तरार्ध में गुरुकुल के अन्न-भण्डार, गोशाला तथा पाकशाला आदि कार्यों के संचालन में जुट गये। इसलिए आप आज भी **'भण्डारी'** उपनाम से प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार इस त्रि-विभूति की सेवा से गुरुकुल पुनः सुचारु रूप से चलने लगा।

गुरुकुल में नव-जीवन का संचार होगया। एक मुर्झाते हुए तरु को जलधारा मिलगई। एक टिम-टिमाते हुए दीपक में तैल डाल दिया गया। एक अनाथ बालक को माता-पिता-भाई मिल गए। पं० विश्वम्भरदत्त जी का तप फलने लगा। श्रद्धेय आचार्य भगवान्देव (वर्तमान- स्वामी ओमानन्द सरस्वती) जी के आचार्यत्व में आज यह गुरुकुल प्रगति के शिखर पर है। आज गुरुकुल में निम्नलिखित विभाग समाज की सेवा में समर्पित हैं--

१. विश्वम्भर वैदिक पुस्तकालय।
२. आर्य गोशाला (भारत में प्रसिद्ध)।
३. धर्मार्थ औषधालय (कैंसर आदि असाध्य रोगों की चिकित्सा)।
४. आर्य आयुर्वेदिक रसायनशाला।
५. सुधारक (मासिक-पत्रिका)।
६. •हरयाणा साहित्य संस्थान (आर्षग्रन्थों का प्रकाशनविभाग)
७. हरयाणा प्रान्तीय पुरातत्त्व संग्रहालय (अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त)।
८. मुनि देवराज शोध संस्थान।
९. श्रीमद् दयानन्दार्ष विद्यापीठ (आर्षपाठ विधि के अनुसार शिक्षा देनेवाले सभी गुरुकुलों का एक संघटन तथा महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय रोहतक से सम्बद्ध)।
१०. महर्षि स्वामी विरजानन्द आर्ष धर्मार्थ न्यास (संस्कृत भाषा के विकास के लिए छात्रवृत्ति, विद्वानों का सम्मान तथा आर्षग्रन्थों का प्रकाशन)।

एक दिव्य पुरुष–

गुरुकुल झज्जर के महान् आचार्य भगवान्देव (स्वामी ओमानन्द सरस्वती) नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वीतराग संन्यासी, सन्तशिरोमणि, परम तपस्वी, संस्कृत भाषा के मर्मज्ञ और महान् इतिहासवेत्ता, एक दिव्य पुरुष हैं। आपने ऐतिहासिक, नैतिक, वैद्यक, समाजसुधार और ब्रह्मचर्यविषयक कितने ही ग्रन्थों की रचना की है। आप अष्टाध्यायी महाभाष्य तथा वेदादि शास्त्रों के प्रकाशक और महान् प्रचारक हैं। आपकी सेवाओं के फलस्वरूप हरयाणा सरकार ने आपको **'संस्कृत पण्डित'** तथा भारत सरकार ने **'राष्ट्रीय पण्डित'** की उपाधि से पुरस्कृत किया है।

आप एक व्यक्ति नहीं अपितु स्वयं ने एक संस्था हैं। आप **कन्या गुरुकुल नरेला दिल्ली** के तथा **श्रीमद् दयानन्दार्षविद्या पीठ गुरुकुल झज्जर** के कुलपति, **यतिमण्डल भारत** तथा **आर्यप्रतिनिधि हरयाणा** के प्रधान, **परोपकारिणी सभा अजमेर** के का० प्रधान, **महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय**, रोहतक तथा **गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय** हरद्वार की शिष्टपरिषद् के सदस्य, **सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली** के अन्तरंग सदस्य और **अखिल भारतीय इतिहास-परिषद्** (भारत-सरकार) के परामर्शदाता हैं।

आर्षपाठ विधि के द्वारा वैदिक विद्वान् तथा नैष्ठिक ब्रह्मचारी तैयार करके देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार करके यथार्थ आदर्श

स्वरूप को प्रस्तुत करना आपके जीवन का परम लक्ष्य है।

आज भी आप ८७ वर्ष की आयु में आर्षपाठ विधि, साहित्य-प्रकाशन, ऐतिहासिक-अनुसन्धान, आयुर्वैदिक चिकित्सा, शराबबन्दी आन्दोलन, वेदप्रचार आदि के माध्यम से संसार के उपकार में लगे हुए हैं।

८. पं० विश्वप्रिय शास्त्री

जन्म, शिक्षा–

आपका जन्म २१ अप्रैल १९२१ में जिला बिजनौर के लेदरपुर ग्राम में हुआ था। आपके पिता श्री फतेहसिंह ग्राम के मुखिया थे। आप अपने चार बहिन-भाइयों में से सब से छोटे थे। आपके छोटे भाई खेमसिंह ग्राम के मुखिया रहे हैं। आपकी बहिन बसन्ती तथा पूज्या माता जी का आपकी बाल्यावस्था में ही स्वर्गवास होगया था। अतः आप मातृ-स्नेह से वञ्चित रहे। ग्राम में विद्यालय नहीं था अतः नदी पार करके समीपवर्ती शेरकोट उप-नगर में पढ़ने जाना पड़ता था। आप बुद्धिमत्ता के कारण कक्षा में सर्वप्रथम रहते अतः आपको छात्रवृत्ति मिलती थी और फीस भी मुआफ थी। आपने १९३७ में विद्यालय से मिडल परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १९३८ से १९४५ तक आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री के चरणों में बैठकर दयानन्द वेद विद्यालय में अष्टाध्यायी महाभाष्य आदि आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन किया। तत्पश्चात् आपने गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर से विद्यारत्न, एजूकेशन बोर्ड उत्तरप्रदेश से हाईस्कूल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से साहित्यरत्न, पंजाब विश्वविद्यालय से शास्त्री और दरभंगा विश्वविद्यालय से आचार्य परीक्षा योग्यतापूर्वक उत्तीर्ण की।

आप श्रद्धेय आचार्य भगवान्देव जी के दयानन्द वेदविद्यालय दिल्ली के सहपाठी थे। आपको सम्पूर्ण पाणिनीय अष्टाध्यायी एवं व्याकरणशास्त्र कण्ठस्थ था। आप संस्कृत-भाषाके उद्भट विद्वान् थे। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती जयावती स्नातिका गुरुकुल सासनी संस्कृत-भाषा की विदुषी है। आपकी पुत्री डॉ० सुवीरा और पुत्र वेदप्रिय, ब्रह्मप्रिय, सर्वप्रिय, आनन्दप्रिय और विजयप्रिय संस्कृतभाषा तथा भारतीय संस्कृति के अनुरागी हैं।

गुरुकुल के उपाचार्य–

गुरुकुल झज्जर के आचार्य एवं मुख्याधिष्ठाता ब्रह्म० भगवान्देव जी के आग्रह पर आपने दिनांक १२ नवम्बर १९४५ को गुरुकुल के उपाचार्य पद को सुशोभित किया। आपके आगमन से पूर्व आचार्य भगवान्देव जी ही ब्रह्मचारियों को पाणिनीय शिक्षा अष्टाध्यायी, काशिका तथा आर्य-सिद्धान्त पढ़ाते रहे। गुरुकुल के लिए अन्न-धन संग्रह का कार्य भी अत्यन्त आवश्यक था। अतः आचार्य भगवान्देव जी को उक्त आवश्यक कार्य में अति व्यस्त रहने के कारण अध्यापन-कार्य के लिए समय नहीं मिलता था। पं० विश्वप्रिय शास्त्री के उपाचार्य पद का कार्यभार सम्भाल लेने पर आचार्य भगवान्देव जी

अध्यापन-कार्य से निश्चिन्त होगए। अब पं० विश्वप्रिय शास्त्री ब्रह्मचारियों को वर्णोच्चारण शिक्षा, अष्टाध्यायी महाभाष्य आदि पाणिनीय व्याकरण शास्त्र पढ़ाने लगे।

आप ब्रह्मचर्य-काल में गुरुकुल में ही रहते थे। गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश के पश्चात् झज्जर नगर में रहने लगे। प्रतिदिन झज्जर से आते और सायंकाल पढ़ाकर चले जाते थे। उन दिनों पठन-पाठन कार्य में कोई अवकाश नहीं होता था। **'स्वाध्याये नास्त्यनध्याय:'** के आदेश का दृढ़तापूर्वक पालन किया जाता था। अत: आप गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी अध्यापन-यज्ञ में कोई अनध्याय (छुट्टी) नहीं रखते थे। **यह एक गृहस्थ के लिए परम तप है।**

आपने १९४५ ई० से १९५५ ई० दश वर्ष तक एक आदर्श उपाचार्य के रूप में शिक्षा-सत्र का संचालन किया। आपके चरणों में बैठकर जिन छात्रों ने पाणिनीय व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया उनके कुछ नाम निम्नलिखित हैं–

१. पं० यज्ञदेव शास्त्री लूलोढ, रेवाड़ी (हरयाणा)।
२. पं० वेदव्रत शास्त्री अजीतपुरा, त० चिड़ावा, जिला झुझुनूं (राज०)।
३. पं० सुदर्शनदेव आचार्य बालन्द, रोहतक (हरयाणा)।
४. पं० सत्यव्रत आचार्य सुलतान बाजार, हैदराबाद (आन्ध्रप्रदेश)।
५. पं० सत्यवीर शास्त्री डालावास, भिवानी (हरयाणा)।
६. पं० महावीर मीमांसक छतेरा माजरा, सोनीपत (हरयाणा)।
७. पं० राजवीर शास्त्री फजलगढ़, मेरठ (उत्तरप्रदेश)।
८. पं० मनुदेव शास्त्री डालावास, भिवानी (हरयाणा)।
९. डॉ० सोमवीर चमराड़ा, करनाल (हरयाणा)।
१०. पं० यशपाल आचार्य सतनालीकाबास, महेन्द्रगढ़ (हरयाणा)।
११. श्री मनुदेव योगी (स्वामी सत्यपति) फरमाणा रोहतक (हरयाणा)।
१२. पं० धर्मपाल शास्त्री, बोरी, उस्मानाबाद (महाराष्ट्र)।
१३. पं० धर्मव्रत शास्त्री चुड़ेला, झूंझनूं (राजस्थान)।
१४. पं० वेदपाल शास्त्री झोझूकलां (भिवानी) हरयाणा।

आपकी अध्यापन-कार्य के अतिरिक्त लेखन-कार्य में विशेष रुचि थी। आपके वैदिक-सिद्धान्त तथा सामयिक समस्याओं के समाधान में आर्यजगत् तथा दैनिक पत्र-पत्रिकाओं में महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित होते रहते थे। आचार्य हरिदेव गुरुकुल गोतमनगर दिल्ली ने **'तम्बाकू का नशा'** नामक आपकी एक रचना प्रकाशित कराई है। आपके महत्त्वपूर्ण लेख निम्नलिखित हैं–

१. पंजाब का हिन्दी आन्दोलन।
२. महर्षि दयानन्द और स्वराज्य।

३. मलेरिया का उपाय।
४. काल का निर्धारण (सृष्टि संवत्)।
५. शारीरिक पतन का कारण : तम्बाकू!
६. गीता और अहिंसा।
७. संस्कृत की व्यापक ध्वनियां (पाण्डुलिपि मेरे पास सुरक्षित है)।
८. राजनीति और महर्षि दयानन्द।
९. दहेज-प्रथा।
१०. महर्षि दयानन्द और दहेजप्रथा।
११. जन्दावस्ता और वेद।
१२. हिन्दी रक्षा सत्याग्रह।
१३. उचित उपाय (हिन्दी-रक्षा)।
१४. वास्तविक तर्पण।
१५. चाय का मानव-देह पर दुष्प्रभाव।
१६. क्या वेद में वशिष्ठ का इतिहास है ?
१७. भाषाओं का विकास।
१८. महाभारतकालीन अद्भुत शस्त्रों की झांकी।
१९. महर्षि दयानन्द और गोरक्षा।
२०. सिद्धान्त कौमुदी की अन्त्येष्टि के लेखन में महत्त्वपूर्ण योगदान।

खेद है कि आप १८ जून १९६५ ई० में विशूचिका रोग से लगभग ४६ वर्ष की आयु में ही हमें छोड़कर स्वर्गधाम चले गए। गुरुवर ! आपके द्वारा प्रारम्भ किया गया पाणिनीय व्याकरणशास्त्र का पठन-पाठन रूप यज्ञ आपके तप से अबाध गति से चल रहा है और उसकी सुगन्धि भारत के सभी प्रान्तों में फैल रही है। अब श्री विजयपाल योगार्थी गुरुकुल में आर्ष शिक्षा महायज्ञ का संचालन कर रहे हैं।

पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचनम्

दिनांक ११ अक्तूबर १९९६ को जनकपुरी नई दिल्ली आर्यसमाज के उत्सव पर स्वामी ओमानन्द जी पधारे और उनका रात्रि-सभा में वेद-विषयक प्रभावशाली व्याख्यान हुआ और मुझे प्रेरणात्मक आशीर्वाद दिया कि तुम अष्टाध्यायी का एक अच्छा भाष्य लिख दो। मैं उसे प्रकाशित कर दूंगा। श्रद्धेय स्वामी जी महाराज के आशीर्वाद से ही यह **'पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचनम्'** नामक अष्टाध्यायी का भाष्य पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है। स्वामी जी महाराज ने ही **'ब्रह्मर्षि स्वामी विरजानन्द आर्ष धर्मार्थ न्यास'** गुरुकुल झज्जर (हरयाणा) की ओर से प्रकाशित किया है।

इस में पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्रों की पदच्छेद, विभक्ति, समास, अन्वय, अर्थ और उदाहरण आत्मक संस्कृतभाषा में व्याख्या की गई है और **आर्यभाषा** नामक हिन्दी टीका में सूत्रों का पदोल्लेख सहित, अर्थ, उदाहरण, उदाहरणों का हिन्दी भाषा में अर्थ और उदाहरणों की कच्ची सिद्धि भी दी गई है। कहीं-कहीं विशेष' नामक सन्दर्भ में विषय को सुस्पष्ट किया गया है।

मैंने सन् १९४७ से ५१ तक श्रद्धेय पं० आचार्य भगवान्देव जी तथा गुरुवर विश्वप्रिय शास्त्री जी के चरणों में बैठकर पाणिनीय व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था। आज ५० वर्ष के पश्चात् स्वामी जी महाराज के आशीर्वाद से यह पाणिनीय अष्टाध्यायी-प्रवचनम् नामक प्रयास पाठकवृन्द की सेवा में प्रस्तुत किया है। इसमें यदि कोई गुण दिखाई देता है वह सब मेरे गुरुजनों का शुभ आशीर्वाद है और जितने भी इसमें दोष दृष्टिगोचर हो रहे हैं वह सब मेरी अल्पज्ञता ही समझनी चाहिए।

संस्कृत व्याकरणशास्त्र एक विशाल अरण्यानी है। इसमें मुझ जैसे साधारण व्याकरण-विद्यार्थी से भूल-चूक रह जाना कोई बड़ी बात नहीं है। यदि कोई भूल दृष्टिगोचर हो तो वैयाकरण विद्वान् मुझे सूचित करने का अनुग्रह करें जिस से उसे आगामी संस्करण में बहिष्कृत किया जा सके।

धन्यवाद–

मेरे बड़े भाई पं० वेदव्रत जी शास्त्री (सहपाठी) ने उत्तम मुद्रणकार्य तथा स्थान-स्थान पर संशोधन के सुझावों से कृतार्थ किया है। आर्ष गुरुकुल नरेला की स्नातिका श्रीमती सावित्री शास्त्री जनता कालोनी, रोहतक ने पाण्डुलिपि तैयार करने में सहयोग प्रदान किया है। श्री सुरेन्द्रकुमार चतुर्वेदी ने उत्तम टंकण कार्य किया है। तदर्थ ये मेरे अतिधन्यवाद के पात्र हैं।

–सुदर्शनदेव आचार्य
संस्कृत सेवा संस्थान
७७६/३४ हरिसिंह कालोनी, रोहतक

ग्रन्थकार—

पण्डित सुदर्शनदेव आचार्य

जन्म—

पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचन के लेखक पं० सुदर्शनदेव आचार्य का जन्म माघ शुक्ला पंचमी सं० १९९१ वि० तदनुसार ८ फरवरी १९३५ ई० को ग्राम बालन्द (रोहतक) में महाशय शिवदत्त आर्य एवं श्रीमती रजकां देवी के घर हुआ।

शिक्षा—

आपके पूज्य पिता दृढ़ आर्यसमाजी थे। अतः ऋषिभक्त पिता ने अपने होनहार पुत्र को प्राथमिक शिक्षा के उपरान्त आर्ष शिक्षा पद्धति से वेदादि शास्त्रों के अध्ययन के लिए ७ फरवरी १९९४७ ई० को आर्य-भजनोपदेशक चौ० नौनन्दसिंह (स्वामी नित्यानन्द) कलोई सूरा (रोहतक) के साथ गुरुकुल झज्जर (रोहतक) भेज दिया। वहां पर आपने श्रद्धेय आचार्य भगवान्‌देव जी तथा महावैयाकरण पं० विश्वप्रिय शास्त्री आदि विद्वानों के चरणों में बैठकर शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्दशास्त्र, काव्यालंकार, दर्शनशास्त्र, उपनिषद्, गीता, रामायण, मनुस्मृति, संस्कृत-साहित्य एवं वेदों का अध्ययन किया। तत्पश्चात् आप गुरुकुल में ही प्रधानाध्यापक के पद पर अध्यापन-कार्य करते रहे।

आपने सन् १९५७ में पंजाब विश्वविद्यालय से शास्त्री, सन् १९६२ में व्याकरणाचार्य परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। सन् १९६७ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरद्वार से एम०ए० (संस्कृत) में सर्वप्रथम रहे। सन् १९७७ में इसी विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० उपाधि प्राप्त की।

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा संचालित दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय यमुनानगर, भटिण्डा में आप ७ वर्ष तक आचार्य रहे। तत्पश्चात् सन् १९६८ से १९९५ तक हरयाणा प्रशासन के विद्यालय तथा महाविद्यालयों में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष पद पर सेवा करते रहे। आप ३० दिसम्बर १९९५ को राजकीय सेवा से निवृत्त होकर आर्यप्रतिनिधि सभा हरयाणा के वेदप्रचाराधिष्ठाता एवं सर्वहितकारी के सह-सम्पादक के रूप में सेवाकार्य कर रहे हैं।

साहित्य-रचना—

आपने शिक्षा-सेवा के साथ-साथ निम्नलिखित साहित्य-रचना की है-

१. **वेदभाष्य-विबोध** (यजुर्वेद का ४०वां अध्याय)।

२. दयानन्द यजुर्वेदभाष्य भास्कर (४ भाग)।
३. दयानन्द ऋग्वेदभाष्य भास्कर (२ भाग)।
४. शिक्षा वेदांग परम्परा एवं सिद्धान्त (मुद्रणालय में)।
५. वर्णोच्चारण-शिक्षा (विबोधवृत्ति)।
६. दयानन्द सन्ध्याहवन पद्धति।
७. वैदिक उपासना पद्धति।
८. बाल संस्कारविधि (संस्कृत)।
९. वर्षेष्टि यज्ञपद्धति।
१०. व्याकरण कारिकाप्रकाश।
११. लिङ्गानुशासनवृत्ति।
१२. व्याकरणशास्त्राम् (दो भाग)।
१३. ब्रह्मचर्यामृतम्।
१४. पं० जगदेवसिंह सिद्धान्ती जीवन-चरित्र।

पुरस्कार–

आपकी उक्त साहित्य-सेवा के फलस्वरूप **'आर्यसमाज सान्ताक्रुज, बम्बई'** ने दिनांक २८ जनवरी १९९६ को आपको वेद-वेदांग पुरस्कार से सम्मानित किया है।

आप आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् हैं। आपने अपनी साहित्य-रचना की शृंखला में **'पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचनम्'** नामक यह नयी रचना व्याकरण-जिज्ञासु छात्र-छात्राओं तथा स्वाध्यायशील पाठकों की सेवा में प्रस्तुत की है। आशा है इससे व्याकरण-शास्त्र के क्षेत्र में पाठकवृन्द को अवश्य ही नया प्रकाश तथा लाभ प्राप्त होगा।

संचालक–
आचार्य प्रिंटिंग प्रेस,
दयानन्दमठ, रोहतक-१२४००१
दूरभाष : ४६८७४,
S.T.D. : ०१२६२

वेदव्रत शास्त्री
मन्त्री, आर्य प्रतिनिधि सभा हरयाणा,
१६-७-१९९७ ई०

प्रकाशकीय—वक्तव्य

पवित्र वेद ईश्वरीय ज्ञान है। वेदों के शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष में छः अंग है। इनमें व्याकरण-शास्त्र को वेद-शरीर का मुख माना गया है अर्थात् यह वेदों का एक मुख्य अंग है। महर्षि पतंजलि लिखते हैं– **'प्रधानं षट्ष्वङ्गेषु व्याकरणं, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति'** अर्थात् वेदों के छः अंगों में व्याकरण-शास्त्र प्रधान है और प्रधान में किया हुआ यत्न सफल होता है।

श्रीमद्दयानन्दार्ष विद्यापीठ गुरुकुल झज्जर (हरयाणा) के अधीन आज लगभग ३० गुरुकुल चल रहे हैं। जिनमें मुख्य रूप से पाणिनीय व्याकरण-शास्त्र का पठन-पाठन होता है। बहुत दिनों से इच्छा थी कि अपने गुरुकुलों में चल रहे व्याकरण-शास्त्र के पठन-पाठन की सुविधा के लिए पाणिनीय अष्टाध्यायी की संस्कृत तथा आर्यभाषा (हिन्दी) में एक उत्कृष्ट व्याख्या लिखकर प्रकाशित की जाये। हर्ष का विषय है कि अपने ही गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक पं० सुदर्शनदेव आचार्य ने मेरी इच्छा के अनुरूप अष्टाध्यायी की संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में उत्तम व्याख्या लिखी है जिसे ब्रह्मर्षि स्वामी विरजानन्द आर्ष धर्मार्थ न्यास गुरुकुल झज्जर (हरयाणा) की ओर से प्रकाशित किया जा रहा है। यह **'पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचनम्'** नामक ग्रन्थ निम्नलिखित पांच भागों में प्रकाशित किया जायेगा–

१. प्रभम भाग (प्रथम-द्वितीय अध्याय)।
२. द्वितीय भाग (तृतीय अध्याय)।
३. तृतीय भाग (चतुर्थ-पञ्चम अध्याय)।
४. चतुर्थ भाग (षष्ठ अध्याय)।
५. पञ्चम भाग (सप्तम-अष्टम अध्याय)।

श्रावणी उपाकर्म (२०५४ वि०) के शुभ अवसर पर **'पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचनम्'** का प्रथम भाग पाठकवृन्द की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है। शेष चार भाग भी शीघ्र प्रकाशित किये जायेंगे।

सम्पूर्ण अष्टाध्यायी भाष्य (पांचों भागों) का मूल्य ५०० रुपये है। प्रथम भाग लेकर सम्पूर्ण भाष्य के ग्राहक बननेवाले पाठकों को पांचों भाग ४०० रुपये में दिये जायेंगे।

—ओमानन्द सरस्वती
आचार्य
गुरुकुल झज्जर (हरयाणा)

२०-७-१९९७
गुरुपूर्णिमा

अष्टाध्यायी के पुनरुद्धारक
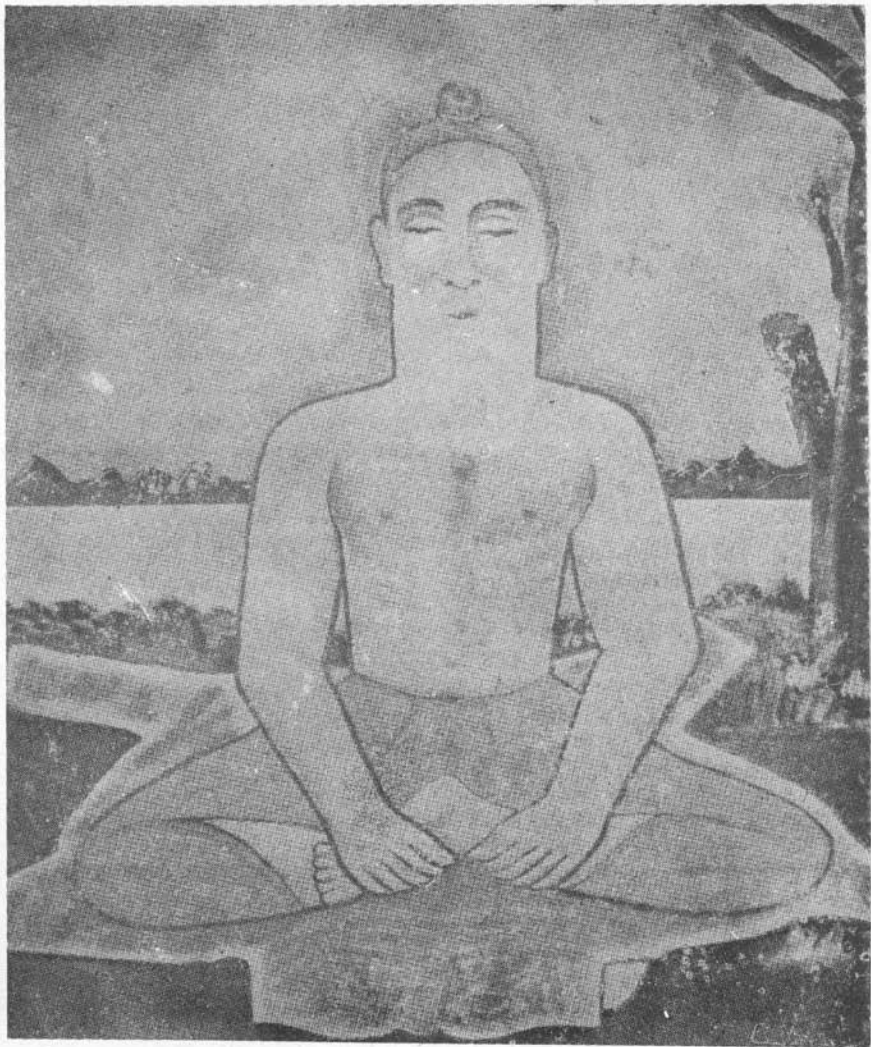
स्वामी विरजानन्द सरस्वती

अष्टाध्यायी-महाभाष्ये द्वे व्याकरणपुस्तके।
अतोऽन्यत् पुस्तकं यत्तु तत्सर्वं धूर्तचेष्टितम्।।

—विरजानन्द सरस्वती

अष्टाध्यायी के महान् प्रचारक
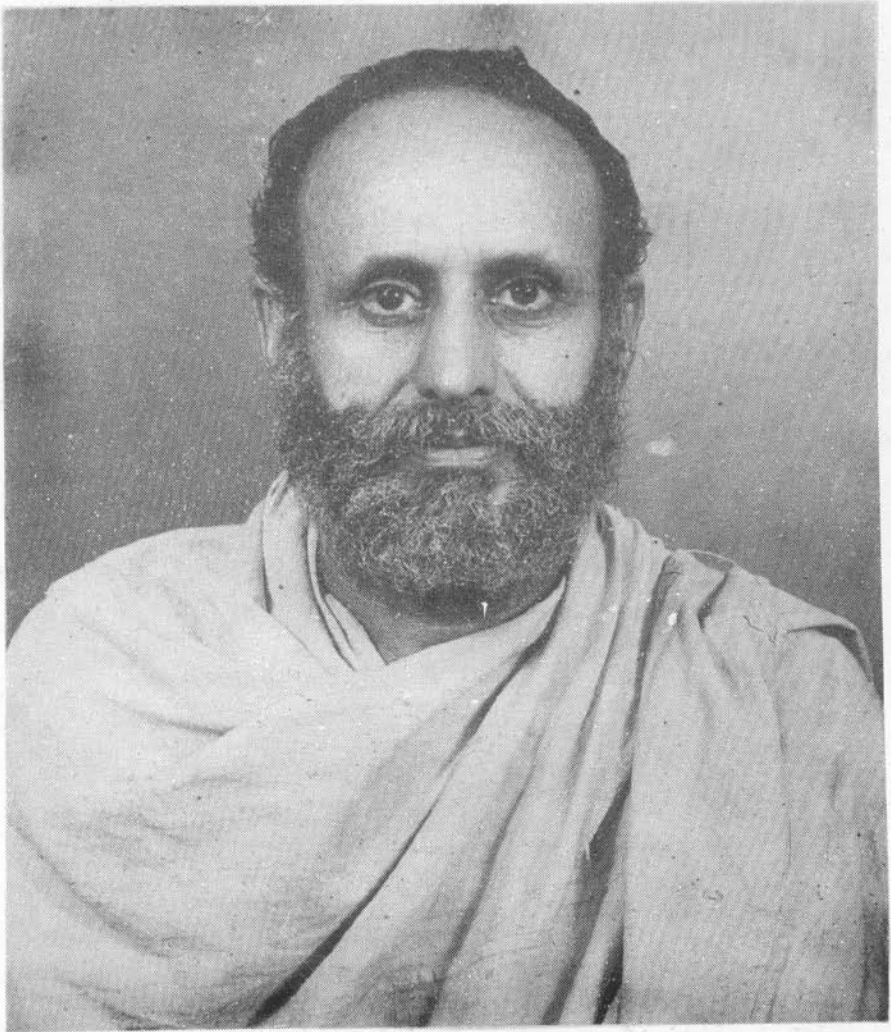
स्वामी ओमानन्द सरस्वती

ओमानन्दं ममाचार्यं पाणिनीयस्य प्रकाशकम् ।
पुरातत्त्वरस्य वेत्तारं वन्दे भिषग्वरं गुरुम् ।।

—सुदर्शनदेवः

अष्टाध्यायी के महोपध्याय
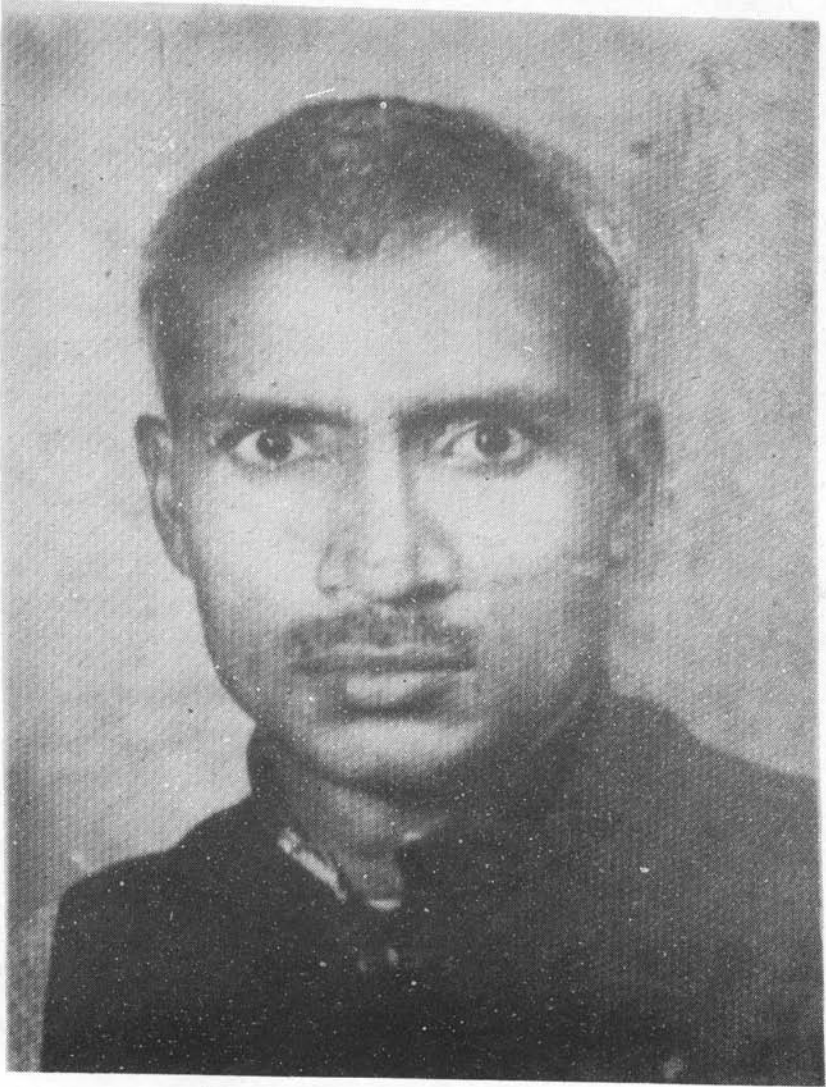
पण्डित विश्वप्रिय शास्त्री

विश्वप्रियमुपाध्यायं पाणिनीयस्य पाठकम्।
गुरुवर्यं सदा वन्दे शब्दविद्याविचक्षणम्।।

—सुदर्शनदेवः

'पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचनम्'
के
लेखक
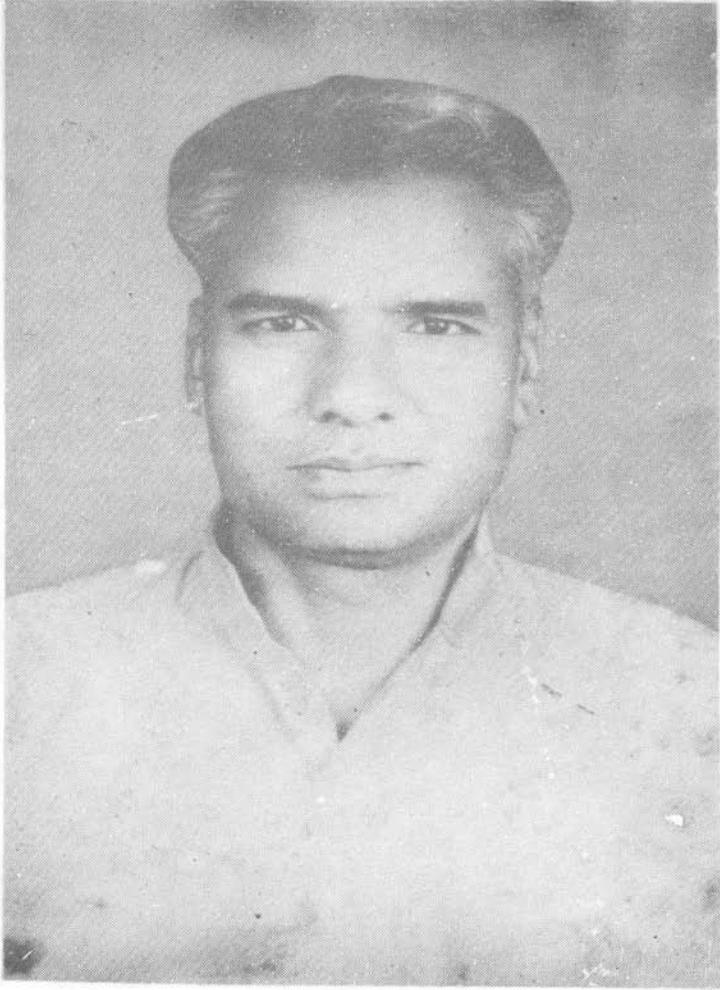
पण्डित सुदर्शनदेव आचार्य

यदधीतं सुविज्ञातं गुरुमुखसमाश्रितम्।
स्मरन् गुरुजनं पूज्यं पाणिनीयं लिखाम्यहम्।।

श्रावणी उपाकर्म
२०५४ वि०

—सुदर्शनदेवाचार्यः

ओं सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः

अथ पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचनम्

गुरुवन्दना

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः।१।
भगवान्देवमाचार्यं विश्वप्रियं च पण्डितम्।
गुरुवर्यं सदा वन्दे वेद-वेदाङ्गपाठकम्।२।
बालानां सुखबोधाय विदुषां विमर्शाय च।
अष्टाध्यायीप्रवचनं क्रियते कामधुङ् मया।३।

व्याकरणशास्त्रप्रारम्भः

अथ शब्दानुशासनम्।१।

प०वि०-अथ अव्ययपदम्। शब्दानुशासनम्।१।१।

स०-शब्दानाम् अनुशासनमिति शब्दानुशासनम्। (षष्ठीतत्पुरुषः)

अर्थः- शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्। केषां शब्दानामनुशासनम्? लौकिकानां वैदिकानां च। लौकिकस्तावत्-गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति। वैदिकास्तावत्-अग्निमीळे पुरोहितम्। इषे त्वोर्जे त्वा। अग्न आयाहि वीतये। शन्नो देवीरभिष्टये इति।

आर्यभाषा-अर्थ-(शब्दानुशासनम्) अब शब्दानुशासन=व्याकरण शास्त्र का (अथ) आरम्भ किया जाता है।

*जिसमें शब्दों का उपदेश हो उसे 'शब्दानुशासन' कहते हैं। यहां किन शब्दों का उपदेश किया जाता है? लौकिक और वैदिक शब्दों का। लौकिक शब्द कैसे होते हैं? जैसे-गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती, शकुनिः, मृगः, ब्राह्मणः इत्यादि। वैदिक शब्द कैसे होते हैं? जैसे **अग्निमीळे पुरोहितम्** (ऋ० १।१।१) **इषे त्वोर्जे त्वा** (यजु० १।१।) **अग्न आयाहि वीतये** (साम० १।१।१) **शन्नो देवीरभिष्टये०** (अथर्व० १।६।१) इत्यादि।*

अथ प्रत्याहारप्रकरणम्-

अ इ उ ण्।१।

प०वि०-अ इ उ ण् १।१।

अर्थ-अ, इ, उ इत्येतान् वर्णान् उपदिश्यान्ते णकारमितं करोति, अण् प्रत्याहारार्थम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(अ इ उ ण्) अ, इ, उ इन तीन वर्णों का उपदेश करके अन्त में णकार अनुबन्ध किया है, 'अण्' प्रत्याहार के लिये। 'अण्' कहने से 'उरण् रपर:' (अ० १।१।५१) इत्यादि स्थलों पर अ, इ, उ इन तीन वर्णों का ग्रहण किया जाता है।

यहां 'इण्' आदि प्रत्याहार भी सम्भव है, किन्तु पाणिनि मुनि को अपने शब्दानुशासन में 'अण्' प्रत्याहार की ही आवश्यकता है।

ऋ लृ क्।२।

प०वि०-ऋ लृ क् १।१।

अर्थ-ऋ लृ इत्येतौ वर्णौ पूर्वांश्च वर्णान् उपदिश्यान्ते ककारमितं करोति, अक्, इक्, उक् प्रत्याहारार्थम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(ऋ लृ क्) ऋ, लृ इन दो वर्णों का तथा पूर्व वर्णों का भी उपदेश करके अन्त में ककार अनुबन्ध किया गया है, अक्, इक्, उक् इन तीन प्रत्याहारों के लिये। अक्-'अक: सवर्णे दीर्घ:' (६।१।१०१)। इक्-'इको गुणवृद्धी' (१।१।३१)। उक्-उगितश्च (४।१।६) इत्यादि।

ए ओ ङ्।३।

प०वि०-ए ओ ङ् १।१

अर्थ-ए ओ इत्येतौ वर्णावुपदिश्यान्ते ङकारमितं करोति, एङ् प्रत्याहारार्थम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(ए ओ ङ्) ए ओ इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में ङकार अनुबन्ध किया है, एङ् प्रत्याहार के लिये। एङ्-अदेङ् गुण: (१।१।२) इत्यादि।

ऐ औ च्।४।

प०वि०-ऐ औच्। १।१

अर्थ:-ऐ, औ इत्येतौ वर्णौ पूर्वांश्च वर्णान् उपदिश्यान्ते चकारमितं करोति, अच्, इच्, एच्, ऐच् प्रत्याहारार्थम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(ऐ औच्) ऐ, औ इन दो वर्णों का तथा पूर्व वर्णों का भी उपदेश करके अन्त में चकार अनुबन्ध किया है, अच्, इच्, एच्, ऐच् प्रत्याहारों के लिये। अच्-अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१।१।५७) इच्-इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च (६।३।६८) एच्-एचोऽयवायावः (६।२।७८)। ऐच्-वृद्धिरादैच् (१।१।१)।

ह य व र ट्।५।

प०वि०-ह य व र ट् १।१।

अर्थः-ह, य, व, र इत्येतान् पूर्वांश्च वर्णान् उपदिश्यान्ते टकारमितं करोति, अट् प्रत्याहारार्थम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(ह य व र ट्) ह, य, व, र इन चार वर्णों का तथा पूर्व वर्णों का भी उपदेश करके अन्त में टकार अनुबन्ध किया गया है, अट् प्रत्याहार के लिये। अट्-शश्छोऽटि (८।४।६३) इत्यादि।

लण्।६।

प०वि०-लण् १।१।

अर्थः-(लण्) ल इत्येकं वर्णं पूर्वांश्च वर्णान् उपदिश्यान्ते णकारमितं करोति, अण्, इण्, यण् प्रत्याहारार्थम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(लण्) ल इस एक वर्ण का तथा पूर्व वर्णों का भी उपदेश करके अन्त में णकार अनुबन्ध किया है, अण्, इण्, यण् प्रत्याहारों के लिये। अण्-अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (१।१।६७) इण्-इण्कोः (८।३।५७) यण्-इको यणचि (६।१।७७) इत्यादि।

विशेष-अण् दो प्रत्याहार बनाये हैं। पहला अ इ उ ण् सूत्र में और दूसरा इस सूत्र में। इस सूत्रवाले अण् का अष्टाध्यायी में केवल अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (१।१।६७) इसी सूत्र में ग्रहण किया जाता है। अन्यत्र सर्वत्र अष्टाध्यायी में 'अ इ उ ण्' के अण् प्रत्याहार का ग्रहण होता है।

ञ म ङ ण न म्।७।

प०वि०-ञ म ङ ण न म् १।१।

अर्थः-ञ, म, ङ, ण न इत्येतान् पूर्वांश्च वर्णान् उपदिश्यान्ते मकारमितं करोति, अम्, यम्, ङम् प्रत्याहारार्थम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(ञ म ङ न म्) ञ, म, ङ, ण, न इन पांच वर्णों का तथा पूर्व वर्णों का भी उपदेश करके अन्त में मकार अनुबन्ध किया है, अम्, यम्, ङम् प्रत्याहारों

के लिये। अम्-पुमः खय्यम्परे (८।३।६) यम्-हलो यमां यमि लोपः (८।४।६४) ङम्-ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् (८।३।३२) इत्यादि।

विशेष-पाणिनिमुनिप्रणीत उणादिकोष में एक ञम् प्रत्याहार भी मिलता है-ञम्-ञमन्ताड्डः (उणा० १।११४)।

झ भ ञ्।८।

प०वि०-झ भ ञ् १।१।

अर्थः-झ भ इत्येतौ वर्णौ पूर्वांश्च वर्णान् उपदिश्यान्ते ञकारमितं करोति, यञ् प्रत्याहारार्थम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(झ भ ञ्) झ भ इन दो वर्णों का तथा पूर्व वर्णों का भी उपदेश करके अन्त में ञकार अनुबन्ध किया है, यञ् प्रत्याहार के लिये। यञ्-अतो दीर्घो यञि (७।३।१७१) इत्यादि।

घ ढ ध ष्।९।

प०वि०-घ ढ ध ष् १।१।

अर्थः-घ, ढ, ध इत्येतान् पूर्वांश्च वर्णान् उपदिश्यान्ते षकारमितं करोति, झष् भष् प्रत्याहारार्थम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(घ ढ ध ष्) घ, ढ, ध इन तीन वर्णों का तथा पूर्व वर्णों का भी उपदेश करके अन्त में षकार अनुबन्ध किया है, झष्, भष् प्रत्याहारों के लिये। झष्, भष्-एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (८।२।३७) इत्यादि।

ज ब ग ड द श्।१०।

प०वि०-ज ब ग ड द श् १।१।

अर्थः-ज ब ग ड द इत्येतान् पूर्वांश्च वर्णान् उपदिश्यान्ते शकारमितं करोति, अश्, हश् वश्, जश्, झश्, बश् प्रत्याहारार्थम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(ज ब ग ड द श्) ज, ब, ग, ड, द इन पांच वर्णों का तथा पूर्व वर्णों का भी उपदेश करके अन्त में शकार अनुबन्ध किया है, अश्, हश्, वश्, जश्, झस्, बश् प्रत्याहारों के लिये। अश्-भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि (८।३।१७) हश्-हशि च (६।१।११४) वश्-नेड्वशि कृति (७।२।८) जश्, झश्-झलां जश् झशि (८।४।५३) बश्-एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (८।२।३७) इत्यादि।

ख फ छ ठ थ च ट त व्।११।

प०वि०-ख फ छ ठ थ च ट त व् १।१।

अर्थ:-ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त इत्येतान् वर्णान् उपदिश्यान्ते वकारमितं करोति, छव् प्रत्याहारार्थम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(ख फ छ ठ थ च ट त व्) ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त इन आठ वर्णों का उपदेश करके अन्त में वकार अनुबन्ध किया है, छव् प्रत्याहार के लिये। छव्-नश्छव्यप्रशान् (८।३।७)

विशेष-यहां ख, फ का ग्रहण उत्तर प्रत्याहारों के लिये है। यहां छ वर्ण से प्रत्याहार ग्रहण किया गया है।

क प य्।१२।

प०वि०- क प य् १।१।

अर्थ:-क, प इत्येतौ वर्णौ पूर्वांश्च वर्णान् उपदिश्यान्ते यकारमितं करोति, यय्, मय्, झय्, खय् प्रत्याहारार्थम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(क प य्) क, प इन दो वर्णों का तथा पूर्व वर्णों का उपदेश करके अन्त में यकार अनुबन्ध किया है। यय्, मय्, झय्, खय् प्रत्याहारों के लिये। यय्-अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण: (८।४।५८) मय्-मय उञो वो वा (८।३।३३) झय्-झयो होऽन्यतरस्याम् (८।४।६२) खय्-पुम: खय्यम्परे (८।३।६) इत्यादि।

विशेष-कात्यायनमुनिप्रणीत वार्तिकसूत्रों में एक चय् प्रत्याहार भी मिलता है। चय्-चयो द्वितीया: शरि पौष्करसादे: (अ० ८।४।४८)

श ष स र्।१३।

प०वि०-श ष स र् १।१।

अर्थ:-श ष स इत्येतान् पूर्वांश्च वर्णान् उपदिश्यान्ते रेफमितं करोति, यर्, झर्, खर्, चर्, शर् प्रत्याहारार्थम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(श ष स र्) श ष स इन तीन वर्णों का तथा पूर्व वर्णों का भी उपदेश करके अन्त में रेफ अनुबन्ध किया है, यर्, झर्, खर्, चर् शर् प्रत्याहारों के लिये। यर्-यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८।४।४५) झर्-झरो झरि सवर्णे (८।४।६५) खर्-खरि च (८।४।५५) चर्-अभ्यासे चर् च (८।४।५४) शर्-शर्पूर्वा: खय: (७।४।६१) इत्यादि।

ह ल्।१४।

प०वि०-हल् १।१।

अर्थः-ह प्रत्येकं वर्णं पूर्वांश्च वर्णान् उपदिश्यान्ते लकारमितं करोति, अल्, हल्, वल्, रल्, झल्, शल् प्रत्याहारार्थम्।

आर्यभाषा-अर्थ-*(हल्) ह, इस एक वर्ण का तथा पूर्व वर्णों का भी उपदेश करके* ***अन्त*** *में लकार अनुबन्ध किया है, अल्, हल्, वल्, रल्, झल्, शल् प्रत्याहारों के लिये।* ***अल्-अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा*** *(१।१।६५) हल्-हलोऽनन्तराः* ***संयोगः*** *(१।१।७) वल्-***लोपो व्योर्वलि** *(६।१।६६) रल्-***रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च** *(१।२।२६) झल्-***झलो झलि** *(८।२।२६) शल्-***शल इगुपधादनिटः क्सः** *(३।१।४५) इत्यादि।*

एकस्मान् ङञणवटा द्वाभ्यां षस्त्रिभ्य एव कणमाः स्युः।
ज्ञेयौ चयौ चतुर्भ्यो रः पञ्चभ्यः शलौ षड्भ्यः।।

आर्यभाषा-अर्थ-जिन प्रत्याहार सूत्रों में ङ ञ ण व ट अनुबन्ध हैं उनमें एक प्रत्याहार बनता है। जहां ष अनुबन्ध है वहां दो प्रत्याहार बनते हैं। जहां क ण म अनुबन्ध हैं वहां तीन प्रत्याहार बनते हैं। जहां च य अनुबन्ध हैं वहां चार अनुबन्ध बनते हैं। जहां र अनुबन्ध है वहां पाच प्रत्याहार बनते हैं और जहां श, ल अनुबन्ध हैं वहां छः प्रत्याहार बनते हैं।

	प्रत्याहार सूत्र	*प्रत्याहार*	*संख्या*
१.	अ इ उ ण्	अण्	१
२.	ऋ ऌ क्	अक् इक् उक्	३
३.	ए ओ ङ्	एङ्	१
४.	ऐ औ च्	अच् इच् एच् ऐच्	४
५.	ह य व र ट्	अट्	१
६.	लण्	अण् इण् यण्	३
७.	ञ म ङ ण न म्	अम् यम् ङम्	३
८.	झ भ ञ्	यञ्	१
९.	घ ढ ध ष्	झष् भष्	२
१०.	ज ब ग ड द श्	अश् हश् वश् झश् जश् बश्	६
११.	ख फ छ ठ थ च ट त व्	छव्	१
१२.	क प य्	यय् मय् झय् खय्	४
१३.	श ष स र्	यर् झर् खर् चर् शर्	५
१४.	हल्	अल् हल् वल् रल् झल् शल्	६
			योग=४१

विशेष—ये १४ चौदह प्रत्याहार सूत्र हैं। प्रत्याहार का अर्थ संक्षेप है। वैयाकरण सिद्धान्त-कौमुदी के रचयिता पं० भट्टोजिदीक्षित आदि इन्हें माहेश्वरसूत्र (शिवसूत्र) मानते हैं। जैसा कि नन्दिकेश्वरकृत काशिका में लिखा है—

नृत्तावसाने नटराजराजो
ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धान्
एतद् विमर्शे शिवसूत्रजालम्।।

व्याकरण महाभाष्य के रचयिता महर्षि पतञ्जलि और महर्षि दयानन्द आदि का मत है कि ये १४ चौदह सूत्र पाणिनि-प्रणीत ही हैं।

इति प्रत्याहारप्रकरणम्।

संस्कृत वर्णमाला

पाणिनि मुनि ने इन प्रत्याहार सूत्रों में अण् आदि ४१ प्रत्याहारों के लिये आवश्यक वर्णों का ही ग्रहण किया है। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार संस्कृत वर्णमाला में निम्नलिखित ६३ तरेसठ वर्ण हैं :-

स्वर

ह्रस्व	दीर्घ	प्लुत
अ	आ	अ ३
इ	ई	इ ३
उ	ऊ	उ ३
ऋ	ॠ	ऋ ३
ऌ	×	ऌ ३
×	ए	ए ३
×	ऐ	ऐ ३
×	ओ	ओ ३
×	औ	औ ३
५	८	९ (२२)

व्यञ्जन

क वर्ग-	क ख ग घ ङ।
च वर्ग-	च छ ज झ ञ।
ट वर्ग-	ट ठ ड ढ ण।
त वर्ग-	त थ द ध न।
प वर्ग-	प फ ब भ म।
अन्तःस्थ-	य र ल व।
ऊष्म-	श ष स ह। (३३)

अयोगवाह

विसर्जनीय	ʋ ह्रस्व
जिह्वामूलीय	ः दीर्घ
उपध्मानीय	ँ अनुनासिक
अनुस्वार	ळ (चार याम) (८)

२२ स्वर, ३३ व्यञ्जन, ८ अयोगवाह=६३

अथ प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः

गुणवृद्धिप्रकरणम्

वृद्धि-संज्ञा–

(१) वृद्धिरादैच्।१।

प०वि०–वृद्धिः १।१ आदैच् १।१।

स०–आत् च ऐच् च एतयोः समाहार आदैच् (समाहारद्वन्द्वः)। तः परो यस्मात् स तपरः, तादपि परस्तपरः (बहुव्रीहिः समासः)

अर्थः–तपराणाम् आकार–ऐकार–औकाराणां वृद्धि–संज्ञा भवति।

उदा०–(आकारः) आश्वलायनः। शालीयः। मालीयः। (ऐकारः) ऐतिकायनः। (औकारः) औपगवः।

__आर्यभाषा–अर्थ__–(आदैच्) आ+त्+ऐच् अर्थात् तपर आकार, ऐकार और औकार की (वृद्धिः) वृद्धि संज्ञा होती है।

उदा०–(आकार) आश्वलायनः। अश्वलायन का पुत्र। शालीयः। शाला में रहनेवाला गृहस्थ। मालीयः। माला में रहनेवाला पुष्प। (ऐकार) ऐतिकायनः। इतिक का पुत्र। (औकार)–औपगवः। उपगु का पुत्र।

__सिद्धि__–(१) __आश्वलायनः।__ अश्वल+फक्। आश्वल्+आयन। आश्वलायन+सु। आश्वलायनः। यहां अश्वल शब्द से अपत्य अर्थ में __'नडादिभ्यः फक्'__ (४।१।८८) से फक् प्रत्यय, __'आयनेय०'__ (७।१।२) से फ के स्थान में आयन–आदेश और __'किति च'__(७।१।११८) से आदि वृद्धि होती है।

(२) __शालीयः।__ शाला+छ। शाल्+ईय। शालीय+सु। शालीयः। यहां शाला शब्द के आदि में वृद्धिसंज्ञक आकार के होने से उसकी __'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्'__ (१।१।७३) से वृद्ध संज्ञा होकर __'वृद्धाच्छः'__ (४।१।११४) से छ प्रत्यय होता है। छ के स्थान में __'आयनेय०'__ (७।१।२) से ईय–आदेश होता है। ऐसे ही माला शब्द से–__मालीयः।__

(३) __ऐतिकायनः।__ इतिक+फक्। ऐतिक्+आयन। ऐतिकायन+सु। ऐतिकायनः। यहां इतिक शब्द से अपत्य अर्थ में __'नडादिभ्यः फक्'__ (४।१।८८) से फक् प्रत्यय, __'आयनेय०'__ (७।१।२) से फ के स्थान में आयन–आदेश और __'किति च'__ (७।२।११८) से आदि वृद्धि होती है।

*(४) **औपगवः।** उपगु+अण्। औपगो+अ। औपगव+सु। औपगवः। यहां उपगु शब्द से अपत्य अर्थ में **'तस्यापत्यम्'** (४।१।९२) से अण् प्रत्यय और **'तद्धितेष्वचामादेः'** (७।२।११७) से आदि वृद्धि होती है। यहां **'ओर्गुणः'** (६।४।१४६) से उपगु के अन्त्य उकार को गुण होता है।*

***विशेष**-आदैच् पद के मध्य में 'त्' किसलिये लगाया गया है? आ+त्+ऐच्। अष्टाध्यायी में अनेक स्थानों पर 'त्' लगाकर वर्णों का निर्देश किया गया है। उन वर्णों को तपर कहते हैं। यहां आ और ऐच् के मध्य में त् लगाया गया है। इसलिये देहली-दीपक न्याय से आ और ऐच् दोनों तपर हैं। जैसे घर की देहली पर रखा हुआ दीपक दोनों ओर अपना प्रकाश फैलाता है, वैसे यहां दोनों के मध्य में विद्यमान त् आ और ऐच् दोनों को तपर करता है। **तः परो यस्मात् स तपरः, तादपि परस्तपरः।** जिससे त् परे है उसे तपर कहते हैं और जो त् से परे है वह भी तपर कहाता है। अष्टाध्यायी में वर्णों को तपर करने का प्रयोजन यह है कि **'तपरस्तत्कालस्य'** (१।१।७०) अर्थात् तपर वर्ण तत्काल के ग्राहक होते हैं। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत जिस भी काल के वर्ण के साथ त् लगाया जाता है, वह उसी काल के उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा निरनुनासिक और सानुनासिक वर्णों का ग्राहक होता है।*

इस प्रकार तपर वर्ण अपने छः प्रकार के स्वरूप का ग्रहण करता है, शेष का नहीं। अतः यहां छः प्रकार के आकार, ऐकार और औकार की वृद्धि संज्ञा का विधान किया है। इसे निम्नलिखित अकार के १८ अठारह भेदों की रीति से यथावत् समझ लेवें :-

	स्वर	ह्रस्व	दीर्घ	प्लुत
१.	उदात्त-	अ	आ	अ३
२.	अनुदात्त-	अ॒	आ॒	अ॒३
३.	स्वरित-	अ॑	आ॑	अ॑३ (निरनुनासिक)
४.	उदात्त-	अँ	आँ	अँ३
५.	अनुदात्त-	अ॒ँ	आ॒ँ	अ॒ँ३
६.	स्वरित-	अ१	अ१	अ१ (सानुनासिक)

*इकार आदि वर्णों के भी भेद इसी प्रकार से होते हैं। उन्हें महर्षि दयानन्दप्रणीत **'वर्णोच्चारण शिक्षा'** से समझ लेवें। ह्रस्व वर्ण की एक मात्रा, दीर्घ वर्ण की दो मात्रा और प्लुत वर्ण की तीन मात्राएं होती हैं। स्वस्थ मनुष्य के अंगूठे की नाड़ी की धड़कन से मात्रा काल की गणना की जाती है। एक धड़कन का एक मात्रा काल होता है।*

☆ ☆ ☆

गुणसंज्ञा–

(२) अदेङ् गुणः ।२।

प०वि०–अदेङ् १।१ गुणः १।१

स०–अत् च एङ् च एतयोः समाहारः–अदेङ् (समाहारद्वन्द्वः)। तः परो यस्मात् स तपरः, तादपि परस्तपरः। (बहुव्रीहिः)

अर्थः–तपराणाम् अकार-एकार-ओकाराणां गुणसंज्ञा भवति।

उदा०–(अकारः) कर्त्ता। हर्ता। (एकारः) जेता। नेता। (ओकारः) होता। पोता।

आर्यभाषा-अर्थ–(अदेङ्) अ+त्+एङ् अर्थात् तपर अकार, एकार और ओकार की (गुणः) गुण संज्ञा होती है।

उदा०–(अकार) कर्त्ता। करनेवाला। हर्ता। हरनेवाला। (एकार) जेता। जीतनेवाला। नेता। ले जानेवाला। (ओकार) होता। हवन करनेवाला। पोता। पवित्र करनेवाला।

*सिद्धि–(१) **कर्त्ता।** कृ+तृच्। कर्+तृ। कर्तृ+सु। कर्त् अनङ्+स्। कर्तन्+स्। कर्तान्+स्। कर्तान्+०। कर्ता। यहां डुकृञ् करणे (तनादि०उ०) धातु से '**ण्वुल्तृचौ**' (३।१।१३३) से तृच् प्रत्यय करने पर '**सार्वधातुकार्धधातुकयोः**' (७।३।८४) से 'कृ' के ऋ को 'अ' गुण होता है और वह 'उरण् रपरः' (१।१।५१) से रपर हो जाता है-अर्। यहां '**ऋदुशनस्०**' (७।१।९४) से कर्तृ के ऋ को अनङ् आदेश, '**सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ**' (६।४।८) से नकारान्त की उपधा को दीर्घ '**हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०**' (६।१।६८) से सु का लोप और '**नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य**' (८।२।७) से न् का लोप होता है। कर्त्ता। करनेवाला। इसी प्रकार हृञ् हरणे (भ्वा०उ०) धातु से 'हर्ता' शब्द सिद्ध होता है।*

*(२) **जेता।** जि+तृच्। जे+तृ। जेतृ+सु। जेत अनङ्+सु। जेतन्+स्। जेतान्+स्। जेतान्+०। जेता। यहां जि जये (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् तृच् प्रत्यय और '**सार्वधातुकार्धधातुकयोः**' से 'जि' के 'इ' को ए गुण होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। इसी प्रकार '**णीञ् प्रापणे**' (भ्वा०उ०) धातु से '**नेता**' शब्द सिद्ध होता है।*

*(३) **होता।** हु+तृच्। हो+तृ। होतृ+सु। होत् अनङ्+स्। होतन्+स्। होतान्+०। होता। यहां '**हु दानादनयोरादाने चेत्येके**' (अदा० प०) धातु से पूर्ववत् तृच् प्रत्यय करने पर '**सार्वधातुकार्धधातुकयोः**' (७।३।८४) से हु के 'उ' को 'ओ' गुण होता है। शेष कार्य पूर्ववत् हैं। इसी प्रकार **पूञ् पवने** (क्र्या०उ०) धातु से '**पोता**' शब्द सिद्ध होता है।*

*__विशेष__–अदेङ् पद में अ और एङ् के मध्य में त् लगाया गया है। अतः पूर्वोक्त विधि से अ और एङ् दोनों तपर हैं। ये तपर होने से '**तपरस्तत्कालस्य**' (१।१।७०) से*

तत्काल का ग्रहण करते हैं। अतः यहां उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा निरनुनासिक और सानुनासिक भेद से छः प्रकार के अकार, एकार और ओकार की गुण संज्ञा होती है।

गुणवृद्धिस्थानम्—

(३) इको गुणवृद्धी।३।

प०वि०–इकः ६।१ गुण-वृद्धी १।२।

स०–गुणश्च वृद्धिश्च ते गुणवृद्धी (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)

अनु०–'वृद्धिरादैच्' इत्यस्माद् वृद्धिः, 'अदेङ् गुणः' इत्यस्माच्च गुण इत्यनुवर्तते।

अन्वय–गुणवृद्धिभ्यां गुवृद्धी इकः।

अर्थः–गुणवृद्धिभ्यां शब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी विधीयेते तत्र 'इकः' इति षष्ठ्यन्तं पदमुपस्थितं भवति।

उदा०–**गुणः**–(इ) जेता। नेता। (उ) होता। पोता। (ऋ) **कर्ता**। हर्ता। **वृद्धिः** (इ) अचैषीत्। अनैषीत्। (उ) अस्तावीत्। अलावीत्। (ऋ) अकार्षीत् अहार्षीत्।

__आर्यभाषा-अर्थ__–यहां __'वृद्धिरादैच्'__ से वृद्धि और __'अदेङ् गुणः'__ से गुण पद की अनुवृत्ति आती है। (गुणवृद्धिभ्याम्) गुण और वृद्धि शब्दों के द्वारा जहां (गुणवृद्धी) गुण और वृद्धि का विधान किया जाता है, वहां (इकः) यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित होता है। इससे शास्त्र में इक् के स्थान में गुण और वृद्धि होती है।

उदा०–गुण–(इ) जेता। जीतनेवाला। नेता। ले जानेवाला। (उ) होता। हवन करनेवाला। पोता। पवित्र करनेवाला। (ऋ) कर्ता। करनेवाला। हर्ता। हरनेवाला।

वृद्धि–(इ) अचैषीत्। उसने चुना। अनैषीत्। वह ले गया। (उ) अस्तावीत्। उसने स्तुति की। अलावीत्। उसने काटा। (ऋ) अकार्षीत्। उसने किया। अहार्षीत्। उसने हरण किया।

__सिद्धि–(१) जेता।__ जि+तृच्। जि+तृ। जेतृ+सु। जेता यहां जि जये (भ्वादि) धातु से पूर्ववत् तृच् प्रत्यय करने पर __'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'__ (७।३।८४) से जि धातु के इक् को गुण होता है। इसी प्रकार __'णीञ् प्रापणे'__ (भ्वा०उ०) धातु से 'नेता' शब्द सिद्ध होता है।

__(२) होता।__ हु+तृच्। हु+तृ। होतृ+सु। होता। यहां __'हु दानादनयोरादाने चेत्येके'__ (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् तृच् प्रत्यय करने पर __'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'__ (७।३।८४) से 'हु' धातु के इक् को गुण होता है। इसी प्रकार __पूञ् पवने__ (क्र्या०उ०) धातु से __'पोता'__ शब्द सिद्ध होता है।

(३) कर्ता । कृ+तृच् । कृ+तृ । कर्तृ+सु । कर्ता । यहां 'डुकृञ् करणे' (तना० उ०) धातु से पूर्ववत् तृच् प्रत्यय करने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से कृ धातु के इक् के स्थान में 'अ' गुण होता है और वह 'उरण् रपरः' (१।१।५१) से रपर हो जाता है। इसी प्रकार 'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) धातु से हर्ता शब्द सिद्ध होता है।

(४) अचैषीत् । चि+लुङ् । अट्+चि+च्लि+तिप् । अ+चि+सिच्+ति । अ+चि+स्+ईट्+त् । अ+चै+ष्+ई+त् । अचैषीत् । यहां चिञ् चयने धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से लुङ् प्रत्यय, 'च्लि लुङि' (३।१।४३) से च्लि प्रत्यय, 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से च्लि के स्थान में सिच् आदेश और 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' (७।१।१) से चि धातु के इक् को वृद्धि होती है। यहां 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (६।४।७१) से अट् आगम और 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (७।३।८६) से ईट् आगम होता है। 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से षत्व होता है। अचैषीत्=उसने चयन किया।

इसी प्रकार अनैषीत्, अस्तावीत्, अलावीत्, अकार्षीत् अहार्षीत् शब्द सिद्ध करें।

गुणवृद्धि–तालिका

(५) इक्	गुण	वृद्धि
इ	ए	ऐ
उ	ओ	औ
ऋ	अर्	आर्
लृ	×	×

गुणवृद्धि-प्रतिषेधः–

(४) न धातुलोप आर्धधातुके।४।

प०वि०–न अव्ययपदम् । धातुलोपे ७।१। आर्धधातुके ७।१।

स०–धातुं लोपयतीति धातुलोपः, तस्मिन् धातुलोपे (उपपदसमासः) धातोरवयवस्य लोप इति धातुलोपः तस्मिन्–धातुलोपे (मध्यपदलोपी समासः)।

अनु०–'इको गुणवृद्धी' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–धातुलोप आर्धधातुक इको गुणवृद्धी न।

अर्थः–धातुलोपे आर्धधातुके प्रत्यये परत इकः स्थाने गुणवृद्धी न भवतः।

उदा०–गुणः– (इ) चेचियः । (उ) लोलुवः । पोपुवः । वृद्धिः–(ऋ) मरीमृजः ।

आर्यभाषा-अर्थ-(धातुलोपे) यदि धातु के अवयव का लोप करनेवाला (आर्धधातुके) आर्धधातुक प्रत्यय परे हो तो (इकः) इक् के स्थान में (गुणवृद्धी) गुण और वृद्धि (न) नहीं होती है।

उदा०-गुण-(इ) चेचियः। अधिक चुननेवाला। लोलुवः। अधिक काटनेवाला। पोपुवः। अधिक पवित्र करनेवाला। वृद्धिः-(ऋ) मरीमृजः। अधिक शुद्ध करनेवाला।

*सिद्धि-(१) चेचियः। चेचिय+अच्। चेचिय+अ। चेचिय+सु। चेचियः। यहां यङन्त **चिञ् चयने** (स्वा००उ०) धातु से **'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः'** (३।१।१३४) से अच् प्रत्यय करने पर **'यङोऽचि च'** (२।४।७४) से यङ् का लुक् हो जाता है। यङ् का लोप धातु के एक अवयव का लोप है और उसका लोप करनेवाला 'अच्' प्रत्यय आर्धधातुक है। यङ् का लोप होने के पश्चात् आर्धधातुक अच् प्रत्यय के परे रहने पर 'चेचि' धातु के इक् को **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (७।३।८४) से गुण प्राप्त होता है। उसका इस सूत्र से प्रतिषेध किया गया है। तत्पश्चात् **'अचि श्नुधातुभ्रुवां०'** (६।४।७७) से इयङ् आदेश हो जाता है।*

*(२) लोलुवः। लोलूय+अच्। लोलू+अ। लोल् उवङ्+अ। लोलुव्+अ। लोलुवः। यहां यङन्त **लूञ् लवने** (क्रया०उ०) धातु से पूर्ववत् अच् प्रत्यय और यङ् का लुक् हो जाने पर **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (७।३।८४) से गुण प्राप्त होता है। उसका इस सूत्र से प्रतिषेध किया गया है। तत्पश्चात् **'अचि श्नुधातुभ्रुवां०'** (६।४।७७) से उवङ् आदेश हो जाता है। इसी प्रकार **पूञ् पवने** (क्र्या०उ०) धातु से **'पोपुवः'** शब्द सिद्ध होता है।*

*(३) मरीमृजः। मरीमृज्+अच्। मरीमृज्+अ। मरीमृज+सु। मरीमृजः। यहां यङन्त **मृजूष् शुद्धौ** (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् अच् प्रत्यय **'मृजेर्वृद्धिः'** (७।२।११४) से धातुस्थ इक् (ऋ) को वृद्धि प्राप्त होती है, उसका इस सूत्र से प्रतिषेध किया गया है।*

(५) क्क्ङिति च।५।

प०वि०-क्ङिति ७।१। च अव्ययपदम्।

स०-गश्च, कश्च, ङश्च ते क्क्ङः, इच्च इच्च इच्च ते इतः। क्क्ङ इतो यस्य स क्क्ङित्, तस्मिन्-क्क्ङिति। (इतरेतरद्वन्द्वगर्भित-बहुव्रीहिः)।

अनु०-इको गुणवृद्धी, न इति चानुवर्तते।

अन्वयः-क्ङिति च इको गुणवृद्धी न।

अर्थः-गिति किति ङिति च प्रत्यये परतः इकः स्थाने गुणवृद्धी न भवतः।

उदा०-(गिति) जिष्णुः। भूष्णुः। (किति) चितः। चितवान्। स्तुतः।

स्तुतवान्। मृष्टः। मृष्टवान्। (ङिति) चिनुतः। चिन्वन्ति। मृष्टः। मृजन्ति।

आर्यभाषा-अर्थ-(क्ङिति) गित्, कित् और ङित् प्रत्यय के परे होने पर (च) भी (इकः) इक् के स्थान में (गुणवृद्धी) गुण और वृद्धि (न) नहीं होती है।

उदा०-(गित्) जिष्णुः। जीतनेवाला। भूष्णुः। सत्तावाला। (कित्) चितः, चितवान्। चयन किया। स्तुतः, स्तुतवान्। स्तुति की। मृष्टः, मृष्टवान्। शुद्ध किया। (ङित्) चिनुतः, वे दोनों चुनते हैं। चिन्वन्ति। वे सब चुनते हैं।

सिद्धि-(१) जिष्णुः। जि+ग्स्नु। जि+स्नु। जिष्णु+सु। जिष्णुः। यहां जि जये (भ्वा०प०) धातु से 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' (३।२।१३८) से ग्स्नु प्रत्यय करने पर जि धातु के इक् को 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से गुण प्राप्त होता है किन्तु ग्स्नु प्रत्यय के गित् होने से गुण का प्रतिषेध हो जाता है।

(२) भूष्णुः। भू+ग्स्नु। भू+स्नु। भूष्णु+सु। भूष्णुः। यहां भू सत्तायाम् (भ्वा०प०) धातु से 'भुवश्च' (३।२।१४०) से ग्स्नु प्रत्यय होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(३) चितः। चि+क्त। चि+त। चित+सु। चितः। यहां चिञ् चयने (स्वा०उ०) धातु से क्त प्रत्यय करने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८०) से चि धातु के इक् को गुण प्राप्त होता है किन्तु क्त प्रत्यय के कित् होने से गुण का प्रतिषेध हो जाता है।

(४) चितवान्। चि+क्तवतु। चि+तवत्। चितवत्+सु। चितवान्। यहां चि धातु से क्तवतु प्रत्यय है। शेष पूर्ववत् है।

(५) मृष्टः। मृज्+क्त। यहां मृजूष् शुद्धौ (अदा०प०) धातु से क्त प्रत्यय करने पर 'मृजेर्वृद्धिः' (७।२।११४) से मृज् धातु के इक् को वृद्धि प्राप्त होती है, किन्तु क्त प्रत्यय के कित् होने से वृद्धि का निषेध हो जाता है।

(६) मृष्टवान्। यहां मृजूष् शुद्धौ (अदा०प०) धातु से क्तवतु प्रत्यय है। शेष पूर्ववत् है।

(७) चिनुतः। चि+लट्। चि+श्नु+तस्। चि+नु+तस्। चिनुतः। यहां चि धातु से लट्लकार में तस् प्रत्यय और श्नु विकरण प्रत्यय करने पर यह पद सिद्ध होता है। तस् प्रत्यय के परे होने पर श्नु के इक् को तथा श्नु प्रत्यय के परे होने पर चि धातु के इक् को 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से गुण प्राप्त होता है, किन्तु तस् प्रत्यय और श्नु प्रत्यय के ङित् होने से गुण का प्रतिषेध हो जाता है। तस् और श्नु प्रत्यय सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से ङित् माने जाते हैं। ऐसे ही-चिन्वन्ति।

(८) मृष्टः। मृज्+लट्। मृज्+शप्+तस्। मृज+०+तस्। मृज्+तस्। मृष्टः। यहां मृजूष् शुद्धौ (अदा०प०) धातु से तस् प्रत्यय है। उसके परे रहने पर मृज् धातु के इक् को मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) से वृद्धि प्राप्त होती है, किन्तु तस् प्रत्यय के ङित् होने से वृद्धि का प्रतिषेध हो जाता है।

विशेष-प्रश्न-यहां सूत्रार्थ में गित्, कित् और ङित् प्रत्यय के परे रहने पर इक् के स्थान में प्राप्त गुण और वृद्धि का प्रतिषेध किया है, किन्तु **क्ङिति च** सूत्र में तो कित् और ङित् प्रत्यय के परे रहने पर गुण और वृद्धि का प्रतिषेध दिखाई दे रहा है ?

उत्तर-यहां वैयाकरण लोग गकार का चर्त्वभूत उपदेश मानते हैं। ग्+क्+ङ्=ग्क्ङ्। यहां **खरि च** (८।४।५६) से ग् को चर् क् हो जाता है-क्क्ङ्। यहां **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (८।४।४५) से द्वितीय क् को अनुनासिक ङ् हो जाता है-क्ङ्ङ्। यहां **हलो यमां यमि लोपः** (८।४।६४) से मध्यस्थ ङ् का लोप हो जाता है। क्ङ्। क्ङिति च। इस प्रकार यहां चर्त्वभूत गकार का उपदेश किया गया है।

(६) दीधीवेवीटाम्।६।

प०वि०-दीधी-वेवी-इटाम् ६।३

स०-दीधीश्च वेवीश्च इट् च ते-दीधीवेवीट:, तेषाम्-दीधीवेवीटाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-इको गुणवृद्धी, न इति चानुवर्तते।

अन्वयः-दीधीवेवीटाम् इको गुणवृद्धी न।

अर्थः-दीधी-वेवी-इटाम् इकः स्थाने गुणवृद्धी न भवतः।

उदा०-(दीधी) आदीध्यनम्। आदीध्यकः। (वेवी) आवेव्यनम्। आवेव्यकः। (इट्) श्वः कणिता।

आर्यभाषा-अर्थ-(दीधीवेवीटाम्) दीधी, वेवी और इट् के (इकः) इक् के स्थान में (गुणवृद्धी) गुण और वृद्धि (न) नहीं होती है।

उदा०-(दीधी) आदीध्यनम्। चमकना। आदीध्यकः। चमकनेवाला। (वेवी) आवेव्यनम्। गति आदि करना। आवेव्यकः। गति आदि करनेवाला। (इट्) श्वः कणिता। वह कल आवाज करेगा।

सिद्धि-(१) आदीध्यनम्। आङ्+दीधी+ल्युट्। आ+दीधी+अन। आदीध्यन+सु। आदीध्यनम्। यहां आङ् उपसर्गपूर्वक **'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः'** (अदा०आ०) धातु से **'ल्युट् च'** (३।३।११५) से भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (७।३।८४) से धातुस्थ ई को गुण प्राप्त होता है, किन्तु इस सूत्र से गुण का प्रतिषेध हो जाता है।

(२) आदीध्यकः। आङ्+दीधी+ण्वुल्। आ+दीधी+अक। आदीध्यक+सु। आदीध्यकः। यहां आङ् उपसर्गपूर्वक **'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः'** (अदा०आ०) धातु से **'ण्वुल्तृचौ'** (३।१।१३३) से ण्वुल् प्रत्यय करने पर **'अचो ञ्णिति'** (७।२।११५) से वृद्धि प्राप्त होती है, किन्तु इस सूत्र से वृद्धि का प्रतिषेध हो जाता है।

(३) आवेव्यनम् और आवेव्यक: शब्दों की सिद्धि आङ्पूर्वक वेवीङ् वेतिना तुल्ये (अदा० आ०) धातु से आदीध्यनम् और आदीध्यक: के समान समझें।

(४) श्व: कणिता। कण्+लुट्। कण्+तिप्। कण्+डा। कण्+तास्+आ। कण्+इट्+तास्+आ। कण्+इ+त्+आ। कणिता। यहां कण शब्दार्थ: (भ्वादि०प०) धातु से 'अनद्यतने लुट्' (३।३।१५) लुट् प्रत्यय करने पर और तास् के टि भाग का लोप हो जाने पर 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से इट् को गुण प्राप्त होता है, किन्तु इस सूत्र से गुण का प्रतिषेध हो जाता है।

संयोगसंज्ञा–

(१) हलोऽनन्तराः संयोगः।७।

प०वि–हल: १।३ अनन्तरा: १।३ संयोग: ।७।१।

स०–हल् च हल् च तौ हलौ। हल् च, हल् च, हल् च ते हल:, हलौ च हलश्च ते हल: (इतरेतरयोगद्वन्द्व:)। न विद्यतेऽन्तरं येषु तेऽनन्तरा: (बहुव्रीहि:)।

अन्वय:–अनन्तरा हल: संयोग:।

अर्थ:–अनन्तरा (व्यवधानरहिता:) हल: संयोगसंज्ञका भवन्ति।

उदा०–अग्नि:। अश्व:। कर्ण:। इन्द्र:। चन्द्र:। उष्ट्र:। राष्ट्रम्। भ्राष्ट्रम्।

***आर्यभाषा–अर्थ–**(अनन्तरा:) अचों के व्यवधान से रहित (हल:) हलों की (संयोग:) संयोग संज्ञा होती है।*

उदा०–अग्नि:। आग। अश्व:। घोड़ा। कर्ण:। कान। इन्द्र:। राजा। चन्द्र:। चांद। उष्ट्र:। ऊंट। राष्ट्रम्। राज्य। भ्राष्ट्रम्। दाने भूनने का पात्र।

***सिद्धि–(१) अग्नि:।** अ+ग्+न्+इ+:=अग्नि:। यहां ग्–न् की संयोग संज्ञा है।*

(२) अश्व:। अ+श्+व्+अ+:=अश्व। यहां श्–व् की संयोग संज्ञा है।

(३) इन्द्र:। इ+न्+द्+र्+अ+:=इन्द्र:। यहां न्+द्+र् की संयोग संज्ञा है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेवें। संयोग संज्ञा का फल यह है कि 'संयोगे गुरु' (१।४।११) से संयोग परे होने पर, पूर्व ह्रस्व वर्ण भी गुरु माना जाता है।

अनुनासिकसंज्ञा–

(१) मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः।८।

प०वि०–मुखनासिकावचन: १।१ अनुनासिक: १।१

स०–मुखं च नासिका च एतयो: समाहार:–मुखनासिकम्। ईषद्

वचनम्-आवचनम्। मुखनासिकम् आवचनं यस्य स मुखनासिकावचनः (समाहारद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अर्थः-मुखनासिकावचनो वर्णोऽनुनासिक-संज्ञको भवति।

उदा०-अभ्र आँ अपः। गभीर आँ उग्र पुत्रे। चन आँ इन्द्रः।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(मुखनासिकावचनः) मुख और नासिका से उच्चारण किये जानेवाले वर्ण की (अनुनासिकः) अनुनासिक संज्ञा होती है।

उदा०-अभ्र आँ अपः। गभीर आँ उग्र पुत्रे। चन आँ इन्द्रः।

__सिद्धि__-आँ-यहां 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि' (६।१।११६) से आ को अनुनासिक हो जाता है। इसका उच्चारण मुख सहित नासिका से किया जाता है। अतः यह अनुनासिक है।

सवर्णसंज्ञा–

(१) तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्।६।

प०वि०-तुल्यास्यप्रयत्नम् १।१ सवर्णम् १।१।

स०-आस्यं मुखम्। आस्ये भवमिति आस्यम्। आस्ये प्रयत्न इति आस्यप्रयत्नः। तुल्य आस्यप्रयत्नो यस्य तत् तुल्यास्यप्रयत्नम्। (सप्तमीतत्पुरुषगर्भितबहुव्रीहिः)।

अर्थः-येषां वर्णानां तुल्य आस्ये प्रयत्नस्ते परस्परं सवर्णसंज्ञका भवन्ति।

उदा०-दण्डाग्रम्। खट्वाग्रम्। दधीन्द्रः। मधूदकम्। पितृणम्।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(तुलास्यप्रयत्नम्) जिन वर्णों का आस्य=मुख में तुल्य प्रयत्न है, उनकी परस्पर (सवर्णम्) सवर्ण संज्ञा होती है।

उदा०-दण्डाग्रम्। दण्ड का अग्रभाग। खट्वाग्रम्। खाट का अग्रभाग। दधीन्द्रः। दही का स्वामी। मधूकदम्। मधुर जल। पितृणम्। पिता का ऋण।

__सिद्धि__-(१) __दण्डाग्रम्।__ दण्ड+अग्रम्। दण्डाग्रम्। यहां दोनों अकारों का मुख में होनेवाला विवृत प्रयत्न तुल्य है। अतः उनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा है। सवर्ण संज्ञा होने से __'अकः सवर्णे दीर्घः'__ (६।१।१०१) से दीर्घ एकादेश हो जाता है।

(२) खट्वा+अग्रम्। खट्वाग्रम्। दधि+इन्द्र। दधीन्द्र। मधु+उदकम्। मधूदकम्। पितृ+ऋणम्। पितृणम्। यहां भी 'दण्डाग्रम्' के समान ही कार्य जानें।

विशेष-वर्णों के आभ्यन्तर और बाह्य भेद से दो प्रकार के प्रयत्न होते हैं। सवर्ण संज्ञा में आभ्यन्तर अर्थात् मुख के अन्दर होनेवाले प्रयत्नों का ग्रहण किया जाता है।

आभ्यन्तर प्रयत्न-स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, संवृत और विवृत भेद से चार प्रकार का होता है। उसे महर्षि दयानन्द प्रणीत पाणिनीय शिक्षा की व्याख्या 'वर्णोच्चारण शिक्षा' से यथावत् समझ लेवें।

सवर्णसंज्ञाप्रतिषेधः--

(२) नाज्झलौ।१०।

प०वि०-न अव्ययपदम्। अच्-हलौ १।२

स०-अच् च हल् च तौ-अज्झलौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-तुल्यास्यप्रयत्नम् अज्झलौ सवर्णं न।

अर्थः-तुलास्यप्रयत्नावपि अच्-हलौ परस्परं सवर्णसंज्ञकौ न भवतः।

उदा०-दण्डहस्तः। दधिशीतम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(तुलास्यप्रयत्नम्) तुल्य स्थान और तुल्य आभ्यन्तर प्रयत्नवाले (अच्-हलौ) अच् और हल् वर्णों की परस्पर (सवर्णम्) सवर्णसंज्ञा (न) नहीं होती है।

उदा०-दण्डहस्तः। दण्ड है हाथ में जिसके वह। दधि-शीतम्। ठण्डी दही।

सिद्धि-(१) दण्डहस्तः। यहां अ और ह का स्थान कण्ठ है। अ का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत और ह का आभ्यन्तर प्रयत्न ईषद् विवृत है। इस प्रकार अ और ह का स्थान और प्रयत्न में सादृश्य है किन्तु 'अ' अच् और 'ह' हल् है। अतः इनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा नहीं होती है। सवर्ण संज्ञा न होने से 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।१०१) से सवर्ण दीर्घत्व नहीं होता है।

(२) दधिशीतम्-यहां इकार और शकार का स्थान तुल्य है और पूर्ववत् प्रयत्न की भी समानता है। यहां भी पूर्वोक्त कारण से सवर्ण संज्ञा नहीं होती है।

प्रगृह्यसंज्ञाप्रकरणम्

ईदूदेदन्तं द्विवचनम्--

(१) ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्।११।

प०वि०-ईत्-ऊत्-एद् १।१ द्विवचनम् १।१ प्रगृह्यम् १।१।

स०-इत् च ऊत् च एत् च एतेषां समाहारः-ईदूदेद् (समाहारद्वन्द्वः)

अर्थः-ईदन्तम्, ऊदन्तम्, एदन्तम् च द्विवचनं शब्दरूपं प्रगृह्यसंज्ञकं भवति।

उदा०-(ईदन्तम्) अग्नी इति। (ऊदन्तम्) वायू इति। (एदन्तम्) माले इति। पचेते इति।

आर्यभाषा-अर्थ-(ईत्-ऊत्-एत्) ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त (द्विवचनम्) द्विवचनान्त पद की (प्रगृह्यम्) प्रगृह्य संज्ञा होती है।

उदा०-(ईकारान्त) अग्नी इति। (ऊकारान्त) वायू इति। (एकारान्त) माले इति, पचेते इति।

*सिद्धि-(१) **अग्नी इति।** यहां अग्नी पद ईकारान्त द्विवचन है। इसकी प्रगृह्य संज्ञा होने से यह **'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्'** (६।१।१२५) से प्रकृतिभाव से रहता है। **'अकः सवर्णे दीर्घः'** (६।१।१०१) से प्राप्त सवर्ण दीर्घ नहीं होता है।*

*(२) **वायू इति।** यहां वायू पद ऊकारान्त द्विवचन है। इसकी प्रगृह्य संज्ञा होने से यह पूर्ववत् प्रकृति भाव से रहता है। **'इको यणचि'** (६।१।७७) से प्राप्त यण्-आदेश (व्) नहीं होता है।*

*(३) **माले इति।** यहां माले पद एकारान्त द्विवचन है। इसकी प्रगृह्य संज्ञा होने से यह पूर्ववत् प्रकृतिभाव से रहता है। 'एचोऽयवायावः' (६।१।७८) से प्राप्त अयादेश नहीं होता है।*

अदसो मात्परमीदूदेत्-

(२) अदसो मात्।१२।

प०वि०-अदसः ६।१ मात् ५।१।

अनु०-ईदूदेत् प्रगृह्यम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अदसो मात् ईदूदेत् प्रगृह्यम्।

अर्थः-अदसो मकारात् परम् ईदूदेत् प्रगृह्यसंज्ञकं भवति।

उदा०-(ईत्) अमी अत्र। (ऊत्) अमू अत्र। (एत्) एकारस्य नास्त्युदाहरणम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(अदसः) अदस् शब्द के (मात्) म से परे (ईदूदेत्) ई, ऊ, ए की (प्रगृह्यम्) प्रगृह्य संज्ञा होती है।

उदा०-(ई) अमी अत्र। (ऊ) अमू अत्र। (ए) ए का उदाहरण नहीं है।

*सिद्धि-(१) **अमी अत्र।** यहां अदस् शब्द के मकार से उत्तर ई की प्रगृह्य संज्ञा होने से यह **'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्'** (६।१।११५) से प्रकृति भाव से रहता है। **'इको यणचि'** (६।१।७७) से प्राप्त यण् आदेश (य्) नहीं होता है।*

*(२) **अमू अत्र।** यहां सब कार्य 'अमी अत्र' के समान है।*

शे-आदेशः–

(३) शे ।१३।

प०वि०–'शे' इत्यविभक्तिको निर्देशः।

अनु०–'प्रगृह्यम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–शे प्रगृह्यम्।

अर्थः–'शे' इति सुपामादेशः प्रगृह्यसंज्ञको भवति।

उदा०–युष्मे इति। त्वे इति। मे इति।

आर्यभाषा-अर्थ-(शे) 'शे' सुप्-आदेश की (प्रगृह्यम्) प्रगृह्य संज्ञा होती है।

उदा०-युष्मे इति। त्वे इति। मे इति। युष्मे=तुम्हारा। त्वे=तेरा। मे=मेरा।

***सिद्धि-(१) युष्मे इति।** 'युष्मे' यहां **'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः'** (७।१।३९) से सुप् के स्थान में वैदिक भाषा में 'शे' आदेश है। इसकी प्रगृह्य संज्ञा **होने** से यह पूर्ववत् प्रकृति भाव से रहता है। **'एचोऽयवायावः'** (६।१।७८) से प्राप्त **अय्** आदेश नहीं होता है।*

(२) त्वे इति, मे इति-यहां सब कार्य 'युष्मे इति' के समान है।

एकाच् निपातः–

(४) निपात एकाजनाङ् ।१४।

प०वि०–निपातः १।१ एकाच् १।१ अनाङ् १।१।

स०–एकश्चासौ अच् इति एकाच् (कर्मधारयः)। न आङिति अनाङ् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–प्रगृह्यम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–अनाङ् एकाच् निपातः प्रगृह्यम्।

अर्थः–आङ्भिन्न एकाच् निपातः प्रगृह्यसंज्ञको भवति।

उदा०–अ अपेहि। इ इन्द्रं पश्य। उ उत्तिष्ठ। आ एवं नु मन्यसे। आ एवं किल तत्।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनाङ्) आङ् को छोड़कर (एकाच्) एक अच् स्वरूप (निपातः) निपात की (प्रगृह्यम्) प्रगृह्य संज्ञा होती है।

उदा०-अ अपेहि। रे ! दूर हट। इ इन्द्रं पश्य। रे ! राजा को देख। उ उत्तिष्ठ। रे ! खड़ा हो। आ एवं नु मन्यसे। क्या तू ऐसा मानता है ? आ एवं किल तत्। क्या वह ऐसा है ?

सिद्धि-(१) अ अपेहि। यहां 'अ' एकाच् मात्र निपात है। इसकी प्रगृह्य संज्ञा होने से यह पूर्ववत् प्रकृतिभाव से रहता है। 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।१०१) से प्राप्त सवर्ण दीर्घ नहीं होता है।

(२) इ इन्द्रं पश्य आदि उदाहरणों में भी 'अ अपेहि' के समान कार्य समझ लेवें।

ओदन्त-निपातः–

(५) ओत्।१५।

प०वि०–ओत् १।१

अनु०–निपातः, प्रगृह्यम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–ओत् निपातः प्रगृह्यम्।

अर्थः–ओकारान्तो निपातः प्रगृह्यसंज्ञको भवति।

उदा०–आहो इति। उताहो इति।

आर्यभाषा–अर्थ–(ओत्) ओकारान्त (निपातः) निपात की (प्रगृह्यम्) प्रगृह्य संज्ञा होती है।

उदा०–आहो इति। उताहो इति। आहो। हां! उताहो। अथवा।

सिद्धि–(१) आहो इति। यहां 'आहो' ओकारान्त निपात की प्रगृह्य संज्ञा होने से यह पूर्ववत् प्रकृति भाव से रहता है। 'एचोऽयवायावः' (६।१।७८) से प्राप्त अव् आदेश नहीं होता है।

(२) उताहो इति। सब कार्य 'आहो इति' के समान है।

सम्बुद्धि-ओकारः–

(६) सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे।१६।

प०वि०–सम्बुद्धौ ७।१ शाकल्यस्य ६।१ इतौ ७।१ अनार्षे ७।१

स०–ऋषिणा प्रोक्तमिति आर्षम्, न आर्षम् अनार्षम्, तस्मिन् अनार्षे (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–ओत्, प्रगृह्यम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–सम्बुद्धौ ओत् प्रगृह्यं शाकल्यस्य अनार्षे इतौ।

अर्थः–सम्बुद्धिनिमित्तको य ओकारः स प्रगृह्यसंज्ञको भवति, शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन, अनार्षे (अवैदिके) इतिशब्दे परतः।

उदा०–वायो इति (शाकल्यमते) वायविति (पाणिनिमते)।

*आर्यभाषा-**अर्थ**-(सम्बुद्धौ) सम्बुद्धिनिमित्तक जो (ओत्) ओकार है उसकी (शाकल्यस्य) शाकल्य आचार्य के मत में (प्रगृह्यम्) प्रगृह्य संज्ञा होती है। (अनार्षे) अवैदिक (इतौ) इति शब्द के परे होने पर।*

उदा०-वायो इति (शाकल्य के मत में) वायविति (पाणिनि के मत में)।

***सिद्धि-वायो इति।** यहां वायो पद में सम्बुद्धिनिमित्तक ओकार है। इसकी शाकल्य आचार्य के मत में प्रगृह्य संज्ञा होने से यह पूर्ववत् प्रकृति भाव से रहता है। यहां **'एचोऽयवायाव:'** (६।१।७८) से अव्-आदेश नहीं होता है।*

***(२) वायविति।** वायो+इति=वायविति। यहां ओकार की पाणिनि मुनि के मत में प्रगृह्य संज्ञा न होने से **'एचोऽयवायाव:'** (६।१।७८) से अव्-आदेश हो जाता है।*

उञ, ऊँ-

(७) उञ ऊँ।१७।

प०वि०-उञ: ६।१ ऊँ १।१।

अनु०-शाकल्यस्येतावनार्षे, प्रगृह्यम् इति चानुवर्तते।

अस्य सूत्रस्य योगविभागं कृत्वा व्याख्या क्रियते-

(क) उञः।

अन्वयः-उञः शाकल्यस्य प्रगृह्यम् अनार्षे इतौ।

अर्थः-उञः शब्दस्य शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञा भवति, अनार्षे (अवैदिके) इति शब्दे परतः। उ इति (शकल्यमते) विति (पाणिनिमते)।

*आर्यभाषा-**अर्थ**-(उञः) उञ् शब्द की (शाकल्यस्य) शाकल्य आचार्य के मत में (प्रगृह्यम्) प्रगृह्य संज्ञा होती है, (अनार्षे) अवैदिक (इतौ) इति शब्द के परे होने पर।*

*उदा०-उ इति (शाकल्य के मत में) **विति** (पाणिनि के मत में) उ=वितर्क (विचार करना)।*

***सिद्धि-(१) उ इति।** यहां उञ् की शाकल्य आचार्य के मत में प्रगृह्य संज्ञा होने से यह पूर्ववत् प्रकृतिभाव से रहता है। यहां **'इको यणचि'** (६।१।७७) से प्राप्त यण्-आदेश (व्) नहीं होता।*

***(२) विति**-उ+इति=विति। यहां उञ् की पाणिनि मुनि के मत में प्रगृह्यसंज्ञा न होने से **'इको यणचि'** (६।१।७७) से प्राप्त यण् आदेश (व्) हो जाता है।*

(ख) ऊँ।

अन्वयः-उञ ऊँ शाकल्यस्य प्रगृह्यम् अनार्षे **इतौ।**

अनु०:-उञ इत्यनुवर्तते।

अर्थः-उञः स्थाने ऊँ आदेशो भवति, स च शाकल्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञको भवति, अनार्षे (अवैदिके) इति शब्दे परतः।

उदा०-ऊँ इति।

आर्यभाषा-अर्थः-(उञः) उञ् के स्थान में (ऊँ) ऊँ आदेश होता है और उसकी (शाकल्यस्य) शाकल्य आचार्य के मत में (प्रगृह्यम्) प्रगृह्य संज्ञा होती है। (अनार्षे) अवैदिक (इतौ) इति शब्द के परे होने पर।

उदा०-ऊँ इति। ऊँ=वितर्क (विचार करना)।

सिद्धि-(१) ऊँ इति-यहां उञ् के स्थान में सानुनासिक ऊँ आदेश है। इसकी प्रगृह्य संज्ञा होने से यह पूर्ववत् प्रकृति भाव से रहता है। 'इको यणचि' (६।१।७७) से प्राप्त यण् आदेश (व्) नहीं होता है।

(२) ऊँ इति। यह किसी व्यक्ति की रोषोक्ति है।

सप्तम्यर्थकावीदूतौ-

(८) ईदूतौ च सप्तम्यर्थे।१८।

प०वि०-ईत्-ऊतौ १।२ च अव्ययपदम्। सप्तमी-अर्थे ७।१।

स०-ईत् च ऊत् च तौ-ईदूतौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। सप्तम्या अर्थ इति सप्तम्यर्थः, तस्मिन्-सप्तम्यर्थे। (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-प्रगृह्यम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-सप्तम्यर्थे ईदूतौ च प्रगृह्यम्।

अर्थः-सप्तम्यर्थे वर्तमानौ ईकारान्त-ऊकारान्तौ शब्दौ च प्रगृह्यसंज्ञकौ भवतः।

उदा०-(ईकारान्तः) मामकी इति। सोमो गौरी अधिश्रितः। (ऋ० ९।१२।३) (ऊकारान्तः) तनू इति।

आर्यभाषा-अर्थ-(सप्तमी-अर्थे) सप्तमी विभक्ति के अर्थ में विद्यमान (ईद्-ऊतौ) ईकारान्त और ऊकारान्त शब्द की (च) भी (प्रगृह्यम्) प्रगृह्य संज्ञा होती है।

*उदा०-(ईकारान्त) **मामकी इति।** मामकी। मेरे में। **सोमो गौरी अधिश्रितः।** (ऋ० ९।१२।३) चन्द्रमा सूर्य पर आश्रित है। ऊकारान्त-**तनू इति।** तनू। शरीर में।*

सिद्धि-(१) मामकी इति। यहां मामकी पद सप्तमी विभक्ति के अर्थ में है-मामक्याम्। इसके ईकार की प्रगृह्य संज्ञा होने से यह पूर्ववत् प्रकृति भाव से रहता है। 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।१०१) से प्राप्त सवर्ण दीर्घ नहीं होता है।

(२) सोमो गौरी अधिश्रितः। यहां गौरी पद सप्तमी विभक्ति के अर्थ में है-गौर्याम्। इसके ईकार की प्रगृह्य संज्ञा होने से यह पूर्ववत् प्रकृतिभाव से रहता है। 'इको यणचि' (६।१।७७) से प्राप्त (य्) आदेश नहीं होता है।

(३) तनू इति। यहां तनू पद सप्तमी विभक्ति के अर्थ में है-तन्वाम्। इसके ऊकार की प्रगृह्य संज्ञा होने से यह पूर्ववत् प्रकृतिभाव से रहता है। 'इको यणचि' (६।१।७७) से प्राप्त यण्-आदेश (व्) नहीं होता है।

घु-संज्ञा–

दाधा घ्वदाप्।१६।

प०वि०-दाधाः १।३ घु १।१ अदाप् १।१ (लुप्तप्रथमानिर्देशः)

स०-दाश्च धौ च ते दाधाः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। दाप् च दैप् चेति दाप्। न दाप् अदाप् (नञ्तत्पुरुषः)।

अन्वयः-अदाप् दाधा घु।

अर्थः-दाप्-दैप्-भिन्ना दारूपा धारूपौ च धातू घुसंज्ञका भवन्ति।

उदा०-दारूपाश्चत्वारो धातवः-डुदाञ् दाने-**प्रणिददाति।** दाण् दाने **प्रणिदास्यति।** दो अवखण्डने-**प्रणिद्यति।** देङ् रक्षणे-**प्रणिदयते।** धारूपौ द्वौ धातू-डुधाञ् धारणपोषणयोः-**प्रणिदधाति।** धेट् पाने-**प्रणिधयते** वत्सो मातरम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(दा-धाः) दा रूप और धा रूप धातुओं की (घु) घु संज्ञा होती है। (अदाप्) दाप् और दैप् धातु को छोड़कर। दा रूप चार धातु हैं-डुदाञ् दाने (जुहोत्या०उ०) प्रणिददाति। प्रदान करता है। दाण् दाने (भ्वादि०प०) प्रणिदास्यति। प्रदान करेगा। दो अवखण्डने (दिवा०प०) पणिद्यति। खण्डित करता है। देङ् रक्षणे (भ्वादि० आ०)। प्रणिदयते। रक्षा करता है। धा रूप दो धातु हैं-डुधाञ् धारणपोषणयोः (जुहोत्या०उ०) प्रणिदधाति। धारण-पोषण करता है। धेट् पाने (भ्वादि०) प्रणिधयति वत्सो मातरम्। बछड़ा माता का दूध पीता है।

सिद्धि-(१) प्रणिददाति। प्र+नि+ददाति=प्रणिददाति। यहां दा धातु की घु संज्ञा होने से 'नेर्गदनदपतपदघु०'८।४।१७) से नि को णत्व हो जाता है। अन्यत्र भी ऐसा ही समझें।

*(२) यहां अदाप् कहकर दाप् लवने भ्वादि और दैप् शोधने (भ्वादि) धातुरूपों की घु संज्ञा का निषेध किया है। इससे दाप् लवने-दातं बर्हिः। कटा हुआ दर्भ। दैप् शोधने अवदातं मुखम्। शुद्ध मुख। यहां घु संज्ञा नहीं होती। घु संज्ञा न होने से यहां **'दो दद् घोः'** (७।४।४७) से दा के स्थान में दद्-आदेश नहीं होता है।*

आद्यन्तवद्भावः–

आद्यन्तवदेकस्मिन्।२०।

प०वि०–आदि-अन्तवद् अव्ययपदम्। एकस्मिन् ७।१।

स०–आदिश्च अन्तश्च तौ आद्यन्तौ, तयोः–आद्यन्तयोः, आद्यन्तयोरिव आद्यन्तवत् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः–एकस्मिन् आद्यन्तवत्।

अर्थः–एकस्मिन् वर्णेऽपि आदिवद् अन्तवच्च कार्यं भवति

उदा०–(आदिवत्) औपगवः। (अन्तवत्) आभ्याम्।

***आर्यभाषा-अर्थ**-(एकस्मिन्) एक वर्ण में भी (आदि-अन्तवत्) आदि और अन्त के समान कार्य होता है। व्याकरणशास्त्र में आदि और अन्त को कहे हुये कार्य एक वर्ण में सिद्ध नहीं हो सकते, इसलिए यह अतिदेश=तुल्यता विधान आरम्भ किया गया है।*

उदा०-(आदिवत्) औपगवः। उपगु का पुत्र। (अन्तवत्) आभ्याम्। इन दोनों के द्वारा।

***सिद्धि-(१) औपगवः।** उपगु+अण्। उपगु+अ। औपगो+अ। औपगव+अ। औपगव+सु। औपगवः। यहां जैसे **आद्युदात्तश्च** (३।१।३) से तव्य आदि प्रत्यय आद्युदात्त होते हैं। वैसे 'अण्' प्रत्यय का एक वर्ण 'अ' भी इस अतिदेश से आद्युदात्त होता है।*

***(२) आभ्याम्।** इदम्+भ्याम्। अ+भ्याम्। आ+भ्याम्। आभ्याम्। यहां जैसे 'सुपि च' (७।३।१०८) से रामाभ्याम् आदि में अकारान्त पद को दीर्घ होता है, वैसे **'आभ्याम्'** में भी एक वर्ण 'अ' को इस अतिदेश से अकारान्त मानकर दीर्घ हो जाता है।*

जैसे लोक में देखा जाता है कि देवदत्त का एक ही पुत्र है। उसका वही आदिम, वही मध्यम और वही अन्तिम पुत्र होता है, वैसे व्याकरणशास्त्र में एक वर्ण को भी आदिम और अन्तिम वर्ण मानकर कार्य किया जाता है।

घ-संज्ञा–

तरप्तमपौ घः।२१।

प०वि०–तरप्-तमपौ १।२ घः १।१

स०–तरप् च तमप् च तौ-तरप्-तमपौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अर्थः-तरप्-तमपौ प्रत्ययौ घ-संज्ञकौ भवतः।

उदा०-(तरप्) कुमारितरा। (तमप्) कुमारितमा।

आर्यभाषा-अर्थ-(तरप्-तमपौ) तरप् और तमप् प्रत्यय की (घः) घ संज्ञा होती है।

उदा०-(तरप्) कुमारितरा। दो में अधिक कुमारी। (तमप्) कुमारितमा। सब में अधिक कुमारी।

सिद्धि-(१) कुमारितरा। *कुमारी+तरप्। कुमारी+तर। कुमारितर+टाप्। कुमारितर+आ। कुमारितरा+सु। कुमारितरा। यहां तरप् प्रत्यय की घ-संज्ञा होने से* ***'घरूपकल्पच्चेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः'*** *(६।३।४३) से 'कुमारी' शब्द का ह्रस्व हो जाता है।*

(२) कुमारितमा। *कुमारी+तमप्। कुमारितमा। शेष कार्य 'कुमारितरा' के समान है।*

संख्या-संज्ञा-

बहुगणवतुडति संख्या।२२।

प०व०-बहु-गण-वतु-डति १।१ संख्या १।१।

स०-बहुश्च गणश्च वतुश्च डतिश्च एतेषां समाहारः-बहुगणवतुडति (समाहारद्वन्द्वः)।

अर्थः-बहु-गणशब्दौ वतुप्रत्ययान्ता डतिप्रत्ययान्ताश्च शब्दाः संख्या संज्ञका भवन्ति।

उदा०-(बहुः) बहुकृत्वः। बहुधा। बहुकः। बहुशः। (गणः) गणकृत्वः। गणधा। गणकः। गणशः। (वतुप्रत्ययान्तः) तावत्कृत्वः। तावद्धा। तावत्कः। तावच्छः। (डतिप्रत्ययान्तः) कतिकृत्वः। कतिधा। कतिकः। कतिशः।

आर्यभाषा-अर्थः-(बहु-गण-वतु-डति) बहु और गण शब्द की तथा वतु-प्रत्ययान्त और डति प्रत्ययान्त शब्द की (संख्या) संख्यासंज्ञा होती है।

उदा०-(बहु) बहुकृत्वः। बहुत बार। बहुधा। बहुत प्रकार से। बहुकः। बहुतों से खरीदा हुआ। बहुशः। बहुतों को। (गण) गणकृत्वः। गणधा। गणकः। गणशः। अर्थ पूर्ववत् है। (वतुप्रत्ययान्त) तावत्कृत्वः। उतनी बार। तावद्धा। उतने प्रकार से। तावत्कः। उतने से खरीदा हुआ। तावच्छः। उतनों को। (डतिप्रत्ययान्त) कतिकृत्वः। कितनी बार। कतिधा। कितने प्रकार से। कतिकः। कितने प्रकार से खरीदा हुआ। कतिशः। कितनों को।

*सिद्धि-(१) **बहुकृत्वः।** बहु+कृत्वसुच्। बहु+कृत्वस्। बहुकृत्वः। यहां बहु शब्द की संख्या संज्ञा होने से **'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्'** (५।४।१७) से कृत्वसुच् प्रत्यय होता है।*

*(२) **बहुधा।** बहु+धा। बहुधा। यहां बहु शब्द की संख्या संज्ञा होने से **'संख्याया विधार्थे धा'** (५।३।४२) से 'धा' प्रत्यय होता है।*

*(३) **बहुकः।** बहु+कन्। बहु+क। बहुक+सु। बहुकः। यहां बहु शब्द की संख्या संज्ञा होने से **'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्'** (५।१।२२) से कन् प्रत्यय होता है।*

*(४) **बहुशः।** बहु+शस्। बहुशः। यहां बहु शब्द की संख्या संज्ञा होने से **'बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्'** (५।४।४२) से शस् प्रत्यय होता है।*

*(५) **गणकृत्वः** आदि में सब कार्य 'बहुकृत्वः' आदि के समान समझें।*

*(६) **तावत्कृत्वः।** तद्+वतुप्। तद्+वत्। त+वत्। तावत्। तावत्+कृत्वसुच्। तावत्+कृत्वस्। तावत्कृत्वः। यहां प्रथम तद् शब्द से **'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्'** (५।२।३९) से वतुप् प्रत्यय होता है, तत्पश्चात् वतु-प्रत्ययान्त तावत् शब्द की संख्या संज्ञा होने से 'बहुकृत्वः' आदि के समान इससे कृत्वसुच् आदि प्रत्यय होते हैं।*

*(७) **कतिकृत्वः।** किम्+डति। किम्+अति। क+अति। कति। कति+कृत्वसुच्। कति+कृत्वस्। कतिकृत्वः। यहां प्रथम किम् शब्द से **'किमः संख्यापरिमाणे डति च'** (५।२।४१) से डति प्रत्यय होता है, तत्पश्चात् डतिप्रत्ययान्त कति शब्द की संख्या संज्ञा होने से 'बहुकृत्वः' आदि के समान इससे 'कृत्वसुच्' आदि प्रत्यय होते हैं।*

षट्-संज्ञा—

(१) ष्णान्ता षट्।२३।

प०वि०-ष्णान्ता १।१ षट् १।१।

स०-षश्च णश्च तौ-ष्णौ, अन्तश्च अन्तश्च तौ-अन्तौ। ष्णौ अन्तौ यस्याः सा ष्णान्ता (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-संख्या इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-ष्णान्ता संख्या षट्।

अर्थः-षकारान्ता नकारान्ता च या संख्या सा षट्संज्ञिका भवति।

उदा०-(षकारान्ता) षट् तिष्ठन्ति। षट् पश्य। (नकारान्ता) पञ्च तिष्ठन्ति। पञ्च पश्य।

आर्यभाषा-अर्थ-(ष्-णान्ता) षकारान्त और नकारान्त (संख्या) संख्यावाची शब्द की (षट्) षट् संज्ञा होती है।

उदा०-(षकारान्त) षट् तिष्ठन्ति। छः बैठते हैं। षट् पश्य। छः को देख। (नकारान्त) पञ्च तिष्ठन्ति। पांच बैठते हैं। पञ्च पश्य। पांचों को देख। इत्यादि।

*सिद्धि-(१) **षट् तिष्ठन्ति।** षष्+जस्। षष्+अस्। षष्+०। षड्। षट्। यहां 'षष्' शब्द की षट् संज्ञा होने से '**षड्भ्यो लुक्**' (७।१।२२) से जस् प्रत्यय का लुक् हो जाता है।*

*(२) **षट् पश्य।** षष्+शस्। षष्+अस्। षष्+०। षड्। षट्। यहां 'षष्' शब्द की षट् संज्ञा होने से पूर्ववत् शस् प्रत्यय का लुक् हो जाता है।*

*(३) **पञ्च तिष्ठन्ति। पञ्च पश्य।** यहां पञ्चन् शब्द से सब कार्य 'षट्' के समान समझें।*

डति-प्रत्ययान्तः--

(२) डति च।२४।

प०वि०-डति १।१ (लुप्तप्रथमानिर्देशः) च अव्ययपदम्।

अनु०-संख्या, षट् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-डति संख्या च षट्।

अर्थः-डति-प्रत्यायान्ता या संख्या साऽपि षट्संज्ञिका भवति।

उदा०-कति तिष्ठन्ति। कति पश्य।

आर्यभाषा-अर्थ-(डति) डति-प्रत्ययान्त (संख्या) संख्यावाची शब्द की (च) भी (षट्) संज्ञा होती है।

उदा०-कति तिष्ठन्ति। कितने बैठते हैं। कति पश्य। कितनों को देख।

*सिद्धि-(१) **कति तिष्ठन्ति।** किम्+डति। किम्+अति। क्+अति। कति। कति+जस्। कति+०। कति। यहां डति-प्रत्ययान्त कति शब्द की षट् संज्ञा होने से '**षड्भ्यो लुक्**' (७।१।२१) से जस् प्रत्यय का लुक् हो जाता है।*

*(२) **कति पश्य।** कति+शस्। कति+०। कति। यहां डति प्रत्ययान्त कति शब्द की षट् संज्ञा होने से पूर्ववत् शस् प्रत्यय का लुक् हो जाता है।*

निष्ठा-संज्ञा--

क्तक्तवतू निष्ठा।२५।

प०वि०-क्त-क्तवतू १।२ निष्ठा १।१।

स०-क्तश्च क्तवतुश्च तौ क्तक्तुवतू (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अर्थः-क्त-क्तवतू प्रत्ययौ निष्ठा-संज्ञकौ भवतः।

उदा०-(क्त) कृतः। भुक्तः। (क्तवतु) कृतवान्। भुक्तवान्।

आर्यभाषा-अर्थ-(क्त-क्तवतू) क्त और क्तवतु प्रत्यय की (निष्ठा) निष्ठा संज्ञा होती है।

उदा०-(क्त) कृतः। किया। भुक्तः। खाया। क्तवतु-कृतवान्। किया। भुक्तवान्। खाया।

सिद्धि-(१) कृतः। कृ+क्त। कृ+त। कृत+सु। कृतः। यहां डुकृञ् करणे (तना०उ०) धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) सूत्र से क्त प्रत्यय भूतकाल में विधान किया गया है।

(२) कृतवान्। कृ+क्तवतु। कृ+तवत्। कृ+तव+नुम्+त्। कृ+तव+न्+त्। कृ+तवन्। कृतवन्+सु। कृतवान्+सु। कृतवान्+०। कृतवान्। यहां डुकृञ् करणे धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) सूत्र से भूतकाल में क्तवतु प्रत्यय किया गया है। यहां 'उगिदचां सर्वनामस्थाने चाधातोः' (७।१।७०) से नुम् का आगम और 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' (६।४।८) से दीर्घ होता है।

विशेष-क्त और क्तवतु ये दोनों प्रत्यय भूतकाल में होते हैं। क्त प्रत्यय प्रायशः कर्मवाच्य में और क्तवतु प्रत्यय कर्तृवाच्य में होता है।

सर्वनामसंज्ञाप्रकरणम्

सर्वादयः-

(१)सर्वादीनि सर्वनामानि।२६।

प०वि०-सर्वादीनि १।३ सर्वनामानि १।३।

स०-सर्व आदिर्येषां तानीमानि-सर्वादीनि (बहुव्रीहिः समासः)।

अर्थः-सर्वादीनि शब्दरूपाणि सर्वनामसंज्ञकानि भवन्ति।

उदा०-(सर्वः) सर्वे। सर्वस्मै। सर्वस्मात्। सर्वस्मिन्। सर्वकः। (विश्वः) विश्वे। विश्वस्मै। विश्वस्मात्। विश्वस्मिन्। विश्वकः।

सर्वादिगणः-सर्व। विश्व। अभ। उभय। डतर। डतम। कतर। कतम। इतर। अन्यतर। त्व। त्वत्। नेम। सम। सिम। पूर्वपरावर-दक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्। स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्। अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः। त्यद्। यद्। एतद्। इदम् अदस्। एक। द्वि। युष्मद्। अस्मद्। भवतु। किम्। इति सर्वादयः।

आर्यभाषा-अर्थ-(सर्वादीनि) सर्व आदि शब्दों की (सर्वनामानि) सर्वनाम संज्ञा होती है।

उदा०-(सर्व) सर्वे। सब। सर्वस्मै। सबके लिये। सर्वस्मात्। सब से। सर्वस्मिन्। सब में। सर्वकः। सब। (विश्व) विश्वे। विश्वस्मै। विश्वस्मात्। विश्वस्मिन्। विश्वकः। इत्यादि। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-(१) सर्वे। सर्व+जस्। सर्व+शी। सर्व+ई। सर्वे। यहां सर्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा होने से 'जसः शी' (७।१।१७) से जस् के स्थान में शी आदेश होता है।

(२) सर्वस्मै। सर्व+ङे। सर्व+स्मै। सर्वस्मै। यहां सर्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा होने से 'सर्वनाम्नः स्मै' (७।१।१४) से 'ङे' के स्थान में 'स्मै' आदेश होता है।

(३) सर्वस्मात्। सर्व+ङसि। सर्व+स्मात्। सर्वस्मात्। यहां सर्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा होने से 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' (७।१।१५) से 'ङसि' के स्थान में 'स्मात्' आदेश होता है।

(४) सर्वस्मिन्। सर्व+ङि। सर्व+स्मिन्। सर्वस्मिन्। यहां सर्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा होने से पूर्ववत् 'ङि' के स्थान में 'स्मिन्' आदेश होता है।

(५) सर्वकः। सर्व+अकच्+अ। सर्व+अक+अ। सर्वक+सु। सर्वकः। यहां सर्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा होने से 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः' (५।३।७१) से टि भाग से पूर्व अकच् प्रत्यय होता है।

(६) 'विश्वे' आदि शब्दों की सिद्धि 'सर्वे' आदि शब्दों से समान समझें।

सर्वनामसंज्ञाविकल्पः-

(२) विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ।२७।

प०वि०-विभाषा १।१ दिक्-समासे ७।१ बहुव्रीहौ ७।१।

स०-दिशां समासः इति दिक् समासः, तस्मिन् दिक्-समासे (षष्ठी तत्पुरुषः)।

अनु०-सर्वादीनि सर्वनामानि इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ दिक्समासे सर्वादीनि सर्वनामानि।

अर्थः-बहुव्रीहिसंज्ञके दिग्वाचिशब्दानां समासे सर्वादीनि शब्दरूपाणि विकल्पेन सर्वनामसंज्ञकानि भवन्ति।

उदा०-उत्तरस्याः पूर्वस्याश्चान्तराला दिक्-उत्तरपूर्वा। उत्तरपूर्वस्यै। उत्तपूर्वायै। दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्चान्तराला दिक् दक्षिणपूर्वा। दक्षिणपूर्वस्यै। दक्षिणपूर्वायै।

आर्यभाषा-अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि नामक (दिक्समासे) दिशावाची शब्दों के समास में (सर्वादीनि) सर्व आदि शब्दों की (विभाषा) विकल्प से (सर्वनामानि) सर्वनाम संज्ञा होती है।

उदा०-उत्तरपूर्वस्यै। उत्तरपूर्वायै। उत्तर-पूर्वा दिशा के लिये। दक्षिणपूर्वस्यै। दक्षिणपूर्वायै। दक्षिण-पूर्वा दिशा के लिये।

*सिद्धि-(१) **उत्तरपूर्वस्यै।** उत्तरस्याः पूर्वस्याश्चान्तराला दिक् उत्तरपूर्वा। यहां '**दिङ्नामान्यन्तराले**' (२।२।२६) से बहुव्रीहि समास है। उत्तरपूर्वा+ङे। उत्तरपूर्वा+स्याट्+ए। उत्तरपूर्वा+स्या+ए। उत्तरपूर्वस्यै। यहां सर्वनाम संज्ञा होने से '**सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च**' (७।३।११४) से प्रत्यय को स्याट् का आगम और अङ्ग को ह्रस्व हो जाता है।*

*(२) **उत्तरपूर्वायै।** उत्तरपूर्वा+ङे। उत्तरपूर्वा+याट्+ए। उत्तरपूर्वा+या+ए। उत्तरपूर्वायै। यहां सर्वनाम संज्ञा न होने से '**याडापः**' (७।३।११३) से प्रत्यय को याट् आगम होता है।*

(३) दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्चान्तराला दिक् दक्षिणपूर्वा। तस्मै दक्षिणपूर्वस्यै अथवा दक्षिणपूर्वायै। यहां सब कार्य पूर्ववत् है।

सर्वनामसंज्ञाप्रतिषेध--

(३) न बहुव्रीहौ।२६।

प०वि०-न अव्ययपदम्। बहुव्रीहौ ७।१।

अनु०-सर्वादीनि सर्वनामानि इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ सर्वादीनि सर्वनामानि न।

अर्थः-बहुव्रीहिसमासे सर्वादीनि शब्दरूपाणि सर्वनामसंज्ञकानि न भवन्ति।

उदा०-प्रियं विश्वं यस्य सः-प्रियविश्वः, तस्मै प्रियविश्वाय। द्वावन्यौ यस्य सः-द्व्यन्यः, तस्मै द्व्यन्याय।

***आर्यभाषा-अर्थ-**(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (सर्वादीनि) सर्व आदि शब्दों की (सर्वनामानि) सर्वनाम संज्ञा (न) नहीं होती है।*

उदा०-प्रियं विश्वं यस्य सः-प्रियविश्वः, तस्मै प्रियविश्वाय। प्रिय है विश्व जिसका उसके लिये। द्वावन्यौ यस्य सः-द्व्यन्यः, तस्मै द्व्यन्याय। दो अन्य पुत्रादि जिसके उसके लिये।

*सिद्धि-(१) **प्रियविश्वाय।** प्रियविश्व+ङे। प्रियविश्व+य। प्रियविश्वा+य। प्रियविश्वाय। यहां विश्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा न होने से '**ङेर्यः**' (७।१।१३) से 'ङे' के स्थान में 'य' आदेश होता है।*

*२) **द्व्यन्याय।** यहां सब कार्य प्रियविश्वाय के समान है।*

(४) तृतीयासमासे।२६।

प०वि०-तृतीयासमासे ७।१।

स०-तृतीयया समास इति तृतीयासमासः, तस्मिन्-तृतीयासमासे (तृतीया-तत्पुरुषः)।

अनु०-सर्वादीनि सर्वनामानि न इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-तृतीयासमासे सर्वादीनि सर्वनामानि न।

अर्थः-तृतीयासमासे सर्वादीनि शब्दरूपाणि सर्वनामसंज्ञकानि न भवन्ति।

उदा०-मासेन पूर्व इति मासपूर्वः, तस्मै मासपूर्वाय। संवत्सरेण पूर्व इति संवत्सरपूर्वः, तस्मै संवत्सरपूर्वाय।

आर्यभाषा-अर्थ-(तृतीयासमासे) तृतीयासमास में (सर्वादीनि) सर्व आदि शब्दों की (सर्वनामानि) सर्वनाम संज्ञा (न) नहीं होती है।

उदा०-मासेन पूर्व इति मासपूर्वः, तस्मै मासपूर्वाय। मास से पूर्व के लिये। संवत्सरेण पूर्व इति संवत्सरपूर्वः, तस्मै संवत्सरपूर्वाय। वर्ष से पूर्व के लिये।

*सिद्धि-(१) **मासपूर्वाय**। मासपूर्व+ङे। मासपूर्वा+य। मासपूर्वाय। यहां तृतीया समास में 'पूर्व' शब्द की सर्वनाम संज्ञा न होने से 'ङेर्यः' (७।१।१३) से 'ङे' के स्थान में 'य' आदेश होता है।*

*(२) **संवत्सरपूर्वाय**। यहां सब कार्य 'मासपूर्वाय' के समान है।*

(५) द्वन्द्वे च।३०।

प०वि०-द्वन्द्वे ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-'सर्वादीनि सर्वनामानि न' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-द्वन्द्वे च सर्वादीनि सर्वनामानि न।

अर्थः-द्वन्द्वे समासे सर्वादीनि शब्दरूपाणि सर्वनामसंज्ञकानि न भवन्ति।

उदा०-पूर्वे चाऽपरे च ते पूर्वापराः, तेषां-पूर्वापराणाम्। कतरे च कतमे च ते-कतरकतमाः, तेषाम्-कतरकतमानाम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(द्वन्द्वे) द्वन्द्व समास में (च) भी (सर्वादीनि) सर्व आदि शब्दों की (सर्वनामानि) सर्वनाम संज्ञा (न) नहीं होती है।

उदा०-पूर्वे चापरे च ते पूर्वापराः, तेषाम्-पूर्वापराणाम्। पूर्व और अपरों का। कतरे च कतमे च ते कतरकतमाः, तेषाम्-कतरकतमानाम्। कौन-कौन सों का।

*सिद्धि-(१) **पूर्वापराणाम्**। पूर्वापर+आम्। पूर्वापर+नुट्+आम्। पूर्वापर+न्+आम्। पूर्वापरा+नाम्। पूर्वापराणाम्। यहां द्वन्द्व समास में सर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा न होने से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (७।१।५४) से 'आम्' प्रत्यय को नुट् आगम होता है। '**आमि सर्वनाम्नः सुट्**' (७।१।५२) से सुट् आगम नहीं होता है।*

*(२) **कतरकतमानाम्**। यहां सब कार्य 'पूर्वापराणाम्' के समान है।*

जसि सर्वनामसंज्ञाविकल्पः–

(६) विभाषा जसि।३१।

प०वि०–विभाषा १।१ जसि ७।१।

अनु०–द्वन्द्वे, सर्वादीनि सर्वनामानि इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–द्वन्द्वे सर्वादीनि विभाषा सर्वनामानि जसि।

अर्थः–द्वन्द्वे समासे सर्वादीनि शब्दरूपाणि जसि परतो विकल्पेन सर्वनामसंज्ञकानि भवन्ति।

उदा०–कतरे च कतमे च ते–कतरकतमे। कतरे च कतमे च ते–कतरकतमाः।

आर्यभाषा-अर्थ–(द्वन्द्वे) द्वन्द्व समास में (सर्वादीनि) सर्व आदि शब्दों की (जसि) जस् प्रत्यय परे होने पर (विभाषा) विकल्प से (सर्वनामानि) सर्वनाम संज्ञा होती है।

उदा०–कतरे च कतमे च ते कतरकतमे। कतरे च कतमे च ते कतरकतमाः। कौन-कौन से।

सिद्धि–(१) कतरकतमे। कतरकतम+जस्। कतरकतम+शी। कतरकतम+ई। कतरकतमे। यहां सर्वनाम संज्ञा होने से 'जसः शी' (७।१।१७) से 'जस्' के स्थान में 'शी' आदेश होता है।

(२) कतरकतमाः। कतरकतम+जस्। कतरकतम+अस्। कतरकतमाः। यहां सर्वनाम संज्ञा न होने से पूर्ववत् 'जस्'के स्थान में 'शी' आदेश नहीं होता है।

प्रथमादिशब्दाः–

(७) प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च।३२।

प०वि०–प्रथम-चरम-तय-अल्प-अर्ध-कतिपय-नेमाः १।३। च अव्ययपदम्।

स०–प्रथमश्च चरमश्च तयश्च अल्पश्च अर्धश्च कतिपयश्च नेमश्च ते प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–सर्वनामानि विभाषा जसि इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–प्रथम० नेमाश्च जसि विभाषा सर्वनामानि।

अर्थः–प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः शब्दा अपि जसि **परतो विकल्पेन सर्वनामसंज्ञका भवन्ति।**

उदा०-(प्रथमः) प्रथमे। प्रथमाः। (चरमः) चरमे। चरमाः। (तयः) द्वितये। द्वितयाः। (अल्पः) अल्पे। अल्पाः। (अर्धः) अर्धे। अर्धाः। (कतिपयः) कतिपये। कतिपयाः। (नेमः) नेमे। नेमाः।

आर्यभाषा-अर्थ-*(प्रथम०) प्रथम, चरम, तय, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम शब्दों की (च) भी (जसि) जस् प्रत्यय परे होने पर (विभाषा) विकल्प से (सर्वनामानि) सर्वनाम संज्ञा होती है।*

उदा०-(प्रथम) प्रथमे। प्रथमाः। पहले। (चरम) चरमे। चरमाः। अन्तिम। (तय) द्वितये, द्वितयाः। दो अवयवोंवाले। (अर्ध) अर्धे। अर्धाः। आधे। (कतिपय) कतिपये। कतिपयाः। कई। (नेम) नेमे। नेमाः। आधे।

सिद्धि-(१) प्रथमे। *प्रथम+जस्। प्रथम+शी। प्रथम+ई। प्रथमे। यहां प्रथम शब्द की सर्वनाम संज्ञा होने से 'जसः शी' (७।१।१७) से 'जस्' के स्थान में 'शी' आदेश होता है।*

(२) प्रथमाः। *प्रथम+जस्। प्रथम+अस्। प्रथमाः। यहां प्रथम शब्द की सर्वनाम संज्ञा न होने से 'जसः शी' (७।१।१७) से 'जस्' के स्थान में 'शी' आदेश नहीं होता है।*

(३) द्वितये। *द्वि+तयप्। द्वि+तय। द्वितय+जस्। द्वितय+शी। द्वितय+ई। द्वितये। सूत्र में 'तय' कहने से तयप्-प्रत्ययान्त शब्द का ग्रहण किया जाता है। यहां प्रथम द्वि शब्द से* ***'संख्याया अवयवे तयप्'*** *(५।२।४२) से तयप् प्रत्यय होता है। शेष कार्य 'प्रथमे' के समान है।*

(४) चरमे, चरमाः आदि पदों की सिद्धि प्रथम शब्द के समान समझें।

पूर्वादयः शब्दाः-

(८) पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम-संज्ञायाम्।३३।

प०वि०-पूर्व-पर-अवर-दक्षिण-उत्तर-अपर-अधराणि १।३ व्यवस्थायाम् ७।१ असंज्ञायाम् ७।१।

स०-पूर्वश्च परश्च अवरश्च दक्षिणश्च उत्तरश्च अपरश्च अधरं च तानीमानि-पूर्वापरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। न संज्ञा असंज्ञा, तस्याम्-असंज्ञायाम् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-सर्वनामानि विभाषा जसि इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-पूर्व० अधराणि विभाषा जसि सर्वनामानि व्यवस्थायाम् असंज्ञायाम्।

अर्थः-पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि शब्दरूपाणि जसि परतो विकल्पेन सर्वनामसंज्ञकानि भवन्ति व्यवस्थायाम् असंज्ञायां च गम्यमानायाम्।

उदा०-(पूर्वः) पूर्वे। पूर्वाः। (परः) परे। पराः। (अवरः) अवरे। अवराः। (दक्षिणः) दक्षिणे। दक्षिणाः। (उत्तरः) उत्तरे। उत्तराः। (अपरः) अपरे। अपराः। (अधरः) अधरे। अधराः।

आर्यभाषा-अर्थ-*(पूर्व०) पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर और अधर शब्दों की (जसि) जस् प्रत्यय परे होने पर (विभाषा) विकल्प से (सर्वनामानि) सर्वनाम संज्ञा होती है, यदि वहां (व्यवस्थायाम्) व्यवस्था और (असंज्ञायाम्) असंज्ञा हो।*

उदा०-(पूर्व) पूर्वे। पूर्वाः। पहले। (पर) परे। पराः। दूसरे। (अवर) अवरे। अवराः। इधरवाले। (दक्षिण) दक्षिणे। दक्षिणाः। दक्षिणवाले। (उत्तर) उत्तरे। उत्तराः। उत्तरवाले। (अपर) अपरे। अपराः। दूसरे। (अधर) अधरे। अधराः। निचले।

सिद्धि-(१) पूर्वे। *पूर्व+अस्। पूर्व+शी। पूर्व+ई। पूर्वे। यहां पूर्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा होने से 'जसः शी' (७।१।१७) से जस् के स्थान में 'शी' आदेश होता है।*

(२) पूर्वाः। *पूर्व+जस्। पूर्व+अस्। पूर्वाः। यहां पूर्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा न होने से पूर्ववत् 'जस्' के स्थान में 'शी' आदेश नहीं होता है।*

विशेष-व्यवस्था का क्या लक्षण है? ***'स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था'*** *अपने अभिधेय की अपेक्षा से अवधि (मर्यादा) के नियम को व्यवस्था कहते हैं। यहां व्यवस्था में ही पूर्व आदि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है, अन्यत्र नहीं। जैसे* ***'दक्षिणा इमे गायकाः'*** *यहां दक्षिण शब्द व्यवस्था का द्योतक नहीं है, अपितु प्रवीण अर्थ का वाचक है, अतः यहां सर्वनाम संज्ञा नहीं होती है।*

यहां ***'असंज्ञायाम्'*** *का ग्रहण इसलिए किया गया है कि संज्ञा विशेष में पूर्व आदि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा न हो। जैसे 'उत्तराः कुरवः' यहां उत्तर शब्द कुरु की संज्ञा विशेष है। अतः यहां सर्वनाम संज्ञा नहीं होती है।*

स्वशब्दः-

(६) स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्।३४।

प०वि०-स्वम् १।१ अज्ञातिधनाख्यायाम् ७।१।

स०-ज्ञातिश्च धनं च ते ज्ञाति धने, तयोः ज्ञातिधनयोः। ज्ञातिधनयोराख्या इति ज्ञातिधनाख्या। न ज्ञाति-धनाख्या इति अज्ञातिधनाख्या, तस्याम्-अज्ञातिधनाख्यायाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्व-षष्ठीतत्पुरुषगर्भितनञ्-तत्पुरुषः)।

अनु०-सर्वनामानि विभाषा जसि इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-स्वं जसि विभाषा सर्वनामानि अज्ञाति-धनाख्यायाम्।

अर्थः-स्वं शब्दो जसि परतो विकल्पेन सर्वनामसंज्ञको भवति, ज्ञाति-धनाख्यां वर्जयित्वा।

उदा०-स्वे पुत्राः। स्वाः पुत्राः। स्वे गावः। स्वाः गावः।

आर्यभाषा-अर्थ-(स्वम्) स्व शब्द की (जसि) जस् प्रत्यय परे होने पर (विभाषा) विकल्प से (सर्वनामानि) सर्वनाम संज्ञा होती है। (अज्ञाति-धनाख्यायाम्) यदि वह 'स्व' शब्द ज्ञाति और धन अर्थ का वाचक न हो।

उदा०-(स्व) स्वे पुत्राः। स्वाः पुत्राः। अपने पुत्र। स्वे गावः। स्वाः गावः। अपने बैल। यहां स्व शब्द आत्मीय अर्थ का वाचक है। ज्ञाति और धन का नहीं।

यहां ज्ञाति अर्थ का इसलिये निषेध किया है कि यहां सर्वनाम संज्ञा न हो-स्वा ज्ञातयः। ज्ञाति=परिवार। यहां धन अर्थ का निषेध इसलिये किया है कि यहां सर्वनाम संज्ञा न हो-प्रभूताः स्वा न दीयन्ते। प्रभूत धन नहीं दिये जाते। प्रभूताः स्वा न भुज्यन्ते। प्रभूत धन नहीं भोगे जाते।

सिद्धि-(१) स्वे पुत्राः। स्व+जस्। स्व+शी। स्व+ई। स्वे। यहां 'स्व' शब्द की सर्वनाम संज्ञा होने से 'जसः शी' (७।१।१७) से जस् के स्थान में 'शी' आदेश होता है।

(२) स्वाः पुत्राः। स्व+जस्। स्व+अस्। स्वाः। यहां स्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा न होने से 'जस्' के स्थान में पूर्ववत् 'शी' आदेश नहीं होता है।

अन्तरशब्दः-

(१०) अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः।३५।

प०वि०-अन्तरम् १।१ बहिर्योग-उपसंव्यानयोः ७।२।

स०-बहिर्योगश्च उपसंव्यानं च ते-बहिर्योगोपसंव्याने, तयोः बहिर्योगोपसंव्यानयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-सर्वनामानि विभाषा जसि इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-बहिर्योगोपसव्यानयोः अन्तरं जसि विभाषा सर्वनामानि।

अर्थः-बहिर्योगे उपसंव्याने चार्थेऽन्तरं-शब्दो जसि परतो विकल्पेन सर्वनामसंज्ञको भवति।

उदा०-(बहिर्योगे) अन्तरे गृहाः। अन्तरा गृहाः। (उपसंव्याने) अन्तरे शाटकाः। अन्तराः शाटकाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अन्तरम्) अन्तर शब्द की (जसि) जस् प्रत्यय परे रहने पर (विभाषा) विकल्प से (सर्वनामानि) सर्वनाम संज्ञा होती है। (बहिर्योग-उपसंव्यानयोः) यदि वहां बहिर्योग और उपसंव्यान अर्थ हो।

उदा०-(बहिर्योग) अन्तरे गृहाः। अन्तरा गृहाः। नगर से बाहर के चाण्डाल आदि के घर। (उपसंव्यान) अन्तरे शाटकाः। अन्तराः शाटकाः। परिधान के योग्य धोती।

*सिद्धि-(१) अन्तरे गृहाः। अन्तर+जस्। अन्तर+शी। अन्तर+ई। अन्तरे। यहां अन्तर शब्द की सर्वनाम संज्ञा होने से **'जसः शी'** (७।१।१७) से 'जस्' के स्थान में 'शी' आदेश होता है।*

(२) अन्तरा गृहाः। अन्तर+जस्। अन्तर+अस्। अन्तराः। यहां अन्तर शब्द की सर्वनाम संज्ञा न होने से पूर्ववत् 'जस्' के स्थान में 'शी' आदेश नहीं होता है।

*(३) यहां बहिर्योग और उपसंव्यान अर्थ का कथन इसलिये किया गया है कि अन्तर शब्द की यहां सर्वनाम संज्ञा न हो- **'अनयोर्ग्रामयोरन्तरे तापसः प्रतिवसति'** इन दो ग्रामों के बीच में एक तपस्वी रहता है। यहां अन्तर शब्द मध्य अर्थ का वाचक है, बहिर्योग और उपसंव्यान अर्थ का नहीं।*

अव्ययसंज्ञाप्रकरणम्

स्वरादिनिपाताः-

(१) स्वरादिनिपातमव्ययम्।२६।

प०वि०-स्वरादिनिपातम् १।१ अव्ययम् १।१।

स०-स्वर् आदिर्येषां ते-स्वरादयः। स्वरादयश्च निपाताश्च एतेषां समाहारः-स्वरादिनिपातम्। (बहुव्रीहिगर्भितसमाहारद्वन्द्वः)।

अर्थः-स्वरादिगणे पठिता निपातसंज्ञकाश्च शब्दा अव्ययसंज्ञका भवन्ति।

उदा०-स्वरादयः-स्वर्। अन्तर्। प्रातर्। निपाताः-च। वा। ह। अह। एव।

स्वरादिगणः-स्वर्। अन्तर्। प्रातर्। एते। अन्तोदात्ताः पठ्यन्ते। पुनर् आद्युदात्तः। सनुतर्। उच्चैस्। नीचैस्। शनैस्। ऋधक्। आरात्। ऋते। युगपत्। पृथक्। एतेऽपि सनुतर्प्रभृतयोऽन्तोदात्ताः पठ्यन्ते। ह्यस्। श्वस्। दिवा। रात्रौ। सायम्। चिरम्। मनाक्। ईषत्। जोषम्। तूष्णीम्। बहिस्। आविस्। अवस्। अधस्। समया। निकषा। स्वयम्। मृषा।

नक्तम्। नञ्। हेतौ। अद्धा। इद्धा। सामि। एतेऽपि ह्यंसप्रभृतयोऽन्तोदात्ताः। पठ्यन्ते। वत्-वदन्तमव्ययसंज्ञं भवति, ब्राह्मणवत्, क्षत्रियवत्। सन्। सनात्। सनत्। तिरस्। एते आद्युदात्ताः पठ्यन्ते। अन्तरा, अयमन्तोदात्तः। अन्तरेण। ज्योक्। कम्। शम्। सना। सहसा। विना। नाना। स्वस्ति। स्वधा। अलम्। वषट्। अन्यत्। अस्ति। उपांशु। क्षमा। विहायसा। दोषा। मुधा। मिथ्या। क्त्वातोसुन्कसुनः, कृन्मकारान्तः सन्ध्यक्षरान्तोऽव्ययीभावश्च। पुरा। मिथो। मिथस्। प्रवाहुकम्। आर्यहलम्। अभीक्ष्णम्। साकम्। सार्धम्। समम्। नमस्। हिरुक्। तसलादियस्तद्धिता एधाच्पर्यन्ताः। शस्-तसी। कृत्वसुच्। सुच्। आच्-थालौ। च्व्यर्थाश्च। अम्। आम्। प्रतान्। प्रशान्। आकृतिगणोऽयम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(स्वरादि-निपातम्) स्वर आदि शब्दों की तथा निपातसंज्ञक शब्दों की (अव्ययम्) अव्यय संज्ञा होती है।

उदा०-(स्वरादि) स्वर्। अन्तर्। प्रातर् इत्यादि। (निपात) च। वा। ह। अह। एव इत्यादि।

'प्रागीश्वरान्निपाताः' (१।४।५६) इस अधिकार में निपातों का वर्णन किया जायेगा।

अव्यय का लक्षण :-

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्।।

जो शब्द पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में, प्रथमादि सब विभक्तियों में, एकवचन, द्विवचन और बहुवचन में समान होता है, जो इनमें विविध रूपों को प्राप्त नहीं होता है, उसे अव्यय कहते हैं।

असर्वविभक्तिस्तद्धितः–

(२) तद्धितश्चासर्वविभक्तिः।३७।

प०वि०-तद्धितः १।१ च अव्ययपदम्। असर्वविभक्तिः १।१।

स०-नोत्पद्यन्ते सर्वा विभक्तयो यस्मात् सः-असर्वविभक्तिः (बहुव्रीहिः समासः)

अनु०-'अव्ययम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-असर्वविभक्तिस्तद्धितश्च अव्ययम्।

अर्थः-असर्वविभक्तिस्तद्धितप्रत्ययान्तः शब्दोऽव्ययसंज्ञको भवति।

उदा०-(पञ्चमी) ततः। यतः। (सप्तमी) तत्र। यत्र। तदा। यदा।

आर्यभाषा-अर्थ-(असर्वविभक्तिः) सब विभक्तियों से रहित (तद्धितः) तद्धित प्रत्ययान्त शब्द की (च) भी (अव्ययम्) अव्यय संज्ञा होती है।

उदा०-(पञ्चमी) ततः। वहां से। यतः। जहां से। (सप्तमी) तत्र। वहां। यत्र। जहां। तदा। तब। यदा। कब।

सिद्धि-(१) ततः। *तत्+ङसि+तस्। तत्+तस्। त अ+तस्। त+तस्। ततः। यहां पञ्चम्यन्त तत् शब्द से **'पञ्चम्यास्तसिल्'** (५।३।७) से तद्धित तसिल् प्रत्यय होता है। 'त्यदादीनामः' (७।१।१०२) के तत् के त् को अकार आदेश और 'अतो गुणे' (६।१।९७) से दोनों अकारों को पररूप एकादेश होता है। 'ततः' शब्द पञ्चमी विभक्ति के ही अर्थ का बोधक है, सब विभक्तियों का नहीं। अतः इसकी अव्यय संज्ञा है।*

(२) यतः। *यत् शब्द से सब कार्य 'तत्' के समान समझें।*

(३) तत्र। *तत्+ङि+त्रल्। तत्+त्र। त अ+त्र। त+त्र। तत्र। यहां सप्तम्यन्त तत् शब्द से **'सप्तम्यास्त्रल्'** (५।३।१०) से तद्धित त्रल् प्रत्यय है। शेष कार्य 'ततः' के समान है। तत्र शब्द सप्तमी विभक्ति के ही अर्थ का बोधक है, सब विभक्तियों का नहीं। अतः इसकी अव्यय संज्ञा है।*

(४) यत्र। *यत् शब्द से सब कार्य 'तत्र' के समान समझें।*

***(५) तदा** और **यदा** यहां सप्तम्यन्त तत् और यत् शब्द से **'सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा'** (५।३।१५) से 'दा' प्रत्यय होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

विशेष- *'तद्धिताः' (४।१।७६) से लेकर पञ्चम अध्याय के अन्त तक तद्धित का अधिकार है। इस अधिकार के प्रत्ययों को तद्धित प्रत्यय कहते हैं।*

मेजन्तः कृत्-

(३) कृन्मेजन्तः।३८।

प०वि०-कृत् १।१ म्-एजन्तः १।१। मश्च एच्च तौ मेचौ। अन्तश्च अन्तश्च तौ-अन्तौ। मेचौ अन्तौ चस्य सः-मेजन्तः (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-'अव्ययम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-मेजन्तः कृत् अव्ययम्।

अर्थः-मकारान्त एजन्तश्च कृत्प्रत्ययान्तः शब्दोऽव्ययसंज्ञको भवति।

उदा०-(मकारान्तः) स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते। सम्पन्नङ्कारं भुङ्क्ते। लवणङ्कारं भुङ्क्ते। (एजन्तः) वक्षे रायः। ता वामेषे रथानाम्। क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्यं दृशे।

आर्यभाषा-अर्थ-(म्-एजन्तः) मकारान्त और एजन्त (कृत्) कृत् प्रत्ययान्त शब्द की (अव्ययम्) अव्यय संज्ञा होती है।

*उदा०-(मकारान्त) **स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते।** स्वादिष्ट बनाकर खाता है। **सम्पन्नङ्कारं भुङ्क्ते।** घृतादि से समृद्ध बनाकर खाता है। **लवणङ्कारं भुङ्क्ते।** नमकीन बनाकर खाता है। (एजन्त) **वक्षे रायः। ता वामेषे रथानाम्। क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्यं दृशे। वक्षे।** कहने के लिये। **एषे।** गति के लिये। **जीवसे।** जीने के लिये। **दृशे।** देखने के लिये।*

*सिद्धि-(१) **स्वादुङ्कारम्।** स्वादुम्+कृ+णमुल्। स्वादुम्+कृ+अम्। स्वादुम्+कार्+अम्। स्वादुङ्कारम्। यहां **'स्वादुमि णमुल्'** (३।४।२६) से स्वादुम् शब्द के उपपद होने पर **डुकृञ् करणे** (त०उ०) धातु से णमुल् प्रत्यय होता है। यह मकारान्त कृत्प्रत्ययान्त शब्द होने से इसकी अव्यय संज्ञा है।*

*(२) **वक्षे।** वच्+से। वक्+षे। वक्षे। यहां **वच् परिभाषणे** (अदा०प०) धातु से **'तुमर्थे सेसेन०'** (३।४।९) से 'से' प्रत्यय होता है। यहां **'चोः कुः'** (८।२।३०) से कुत्व तथा **'आदेशप्रत्यययोः'** (८।३।५९) से षत्व होता है। यहां एजन्त कृत् प्रत्ययान्त शब्द होने से इसकी अव्यय संज्ञा है।*

*(३) **एषे।** इण्+से। इ+से। ए+से। एषे। यहां **इण् गतौ** (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् 'से' प्रत्यय होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*(४) **जीवसे।** जीव+असे। जीवसे। यहां **जीव 'प्राणधारणे'** (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'असे' प्रत्यय होता है।*

*(५) **दृशे।** दृश्+केन। दृश्+ए। दृशे। यहां **'दृशिर् प्रेक्षणे'** (भ्वा०प०) धातु से **'दृशे विख्ये च'** (३।४।११) से केन-प्रत्ययान्त निपातन किया गया है।*

(६) कृदतिङ् (३।१।९३) से लेकर तृतीय अध्याय के अन्त तक 'कृत्' का अधिकार है। इस अधिकार के प्रत्ययों को 'कृत्' प्रत्यय कहते हैं।

*(७) मकारान्त और एजन्त कृत् प्रत्ययान्त शब्दों की अव्यय संज्ञा होने से **'अव्ययादाप्सुपः'** (२।४।८२) से 'सुप्' का लुक् हो जाता है।*

क्त्वादयः–

(४) क्त्वातोसुन्कसुनः ।३६।

प०वि०–क्त्वा-तोसुन्-कसुनः १।३।

स०–क्त्वा च तोसुन् च कसुन् च ते–क्त्वातोसुन्कसुनः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–अव्ययम्, कृत् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–क्त्वा-तोसुन्कसुनः कृत् अव्ययम्।

अर्थः–क्त्वाप्रत्ययान्तः, तोसुन्प्रत्ययान्तः, कसुन्प्रत्ययान्तश्च शब्दोऽव्ययसंज्ञको भवति।

उदा०–(क्त्वा) कृत्वा। हृत्वा। (तोसुन्) पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः (काठक० ८।३)। पुरा वत्सानामपाकर्तोः (कसुन्) पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् (यजु० १।२८)। पुरा जर्तृभ्य आतृदः।

आर्यभाषा-अर्थ-(क्त्वा-तोसुन्-कसुनः) क्त्वा, तोसुन् और कसुन् (कृत्) प्रत्ययान्त शब्द की (अव्ययम्) अव्यय संज्ञा होती है।

उदा०-(क्त्वा) कृत्वा। करके। हृत्वा। हरण करके। तोसुन्-पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः। पुरा वत्सानामपाकर्तोः। कसुन्-पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्। पुरा जर्तृभ्य आतृदः। उदेतोः। उदय होना। अपाकर्तोः। दूर करने के लिये। विसृपः। फैलाना। वितृदः। हिंसा आदि करना।

*सिद्धि-(१) **कृत्वा**। कृ+क्त्वा। कृ+त्वा। कृत्वा। यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) से '**समानकर्तृकयोः पूर्वकाले**' (३।४।२१) से क्त्वा प्रत्यय होता है।*

*(२) **हृत्वा**। यहां **हृञ् हरणे** (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् क्त्वा प्रत्यय है।*

*(३) **उदेतोः**। उत्+इण्+तोसुन्। उत्+इ+तोस्। उत्+ए+तोस्। उदेतोः। यहां उत् उपसर्ग पूर्वक '**इण् गतौ**' (अदा०प०) धातु से '**भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन्**' (३।४।१६) से तोसुन् प्रत्यय होता है।*

*(४) **अपाकर्तोः**। अप+आङ्+कृ+तोसुन्। अप+आ+कर्+तोस्। अपाकर्तोः। यहां अप और आङ् उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से पूर्ववत् 'तोसुन्' प्रत्यय होता है।*

*(५) **विसृपः**। वि+सृप्+कसुन्। वि+सृप्+अस्। विसृपः। यहां वि उपसर्गपूर्वक '**सृप्लृ** गतौ' (भ्वा०प०) धातु से '**सृपितृदोः कसुन्**' (३।४।१६) से 'कसुन्' प्रत्यय होता है।*

*(६) **वितृदः**। वि+तृद्+कसुन्। यहां वि उपसर्गपूर्वक 'उतृदिर् हिंसानादरयोः' (रुधा०प०) धातु से पूर्ववत् 'कसुन्' प्रत्यय है।*

यहां क्त्वा, तोसुन्, और कसुन् कृत् प्रत्ययान्त शब्दों की अव्यय संज्ञा होने से ***'अव्ययादाप्सुपः'*** *(२।४।८२) से सुप् का लुक् हो जाता है।*

अव्ययीभावसमासः-

(५) अव्ययीभावश्च ।४०।

प०वि०-अव्ययीभावः १।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-'अव्ययम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अव्ययीभावश्च अव्ययम्।

अर्थः-अव्ययीभावसमासोऽपि अव्ययसंज्ञको भवति।

उदा०-अग्नेः समीपमिति उपाग्नि। प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति।

आर्यभाषा-अर्थ-(अव्ययीभावः) अव्ययीभाव समासवाले शब्द की (च) भी (अव्ययम्) अव्यय संज्ञा होती है। अग्नेः समीपमिति उपाग्नि। अग्नि के समीप। प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति। प्रत्येक अग्नि में पतंग गिरते हैं।

सिद्धि-(१) ***उपाग्नि।*** *उप+अग्नि। उपाग्नि+सु। उपाग्नि। यहां* ***'अव्ययं विभक्तिसमीप०'*** *(२।१।६) से समीप अर्थ में अव्ययीभाव समास होता है। अव्ययीभाव समास की अव्यय संज्ञा होने से* ***'अव्ययदाप्सुपः'*** *(२।४।८२) से 'सुप्' का लुक् हो जाता है।*

(२) प्रत्यग्नि। *अग्निम् अग्निं प्रति इति प्रत्यग्नि। प्रति+अग्नि। प्रत्यग्नि। यहां सब कार्य उपाग्नि के समान है।*

सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा

शि-प्रत्ययः-

(१) शि सर्वनामस्थानम् ।४१।

प०वि०-शि १।१ (लुप्तप्रथमानिर्देशः) सर्वनामस्थानम् १।१।

अर्थः-शि-प्रत्ययः सर्वनामसंज्ञको भवति।

उदा०-कुण्डानि तिष्ठन्ति। कुण्डानि पश्य।

*आर्यभाषा-अर्थ-(शि) शि प्रत्यय की (सर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थान संज्ञा होती है। उदा०-***कुण्डानि तिष्ठन्ति।*** *कुण्ड विद्यमान हैं। कुण्डानि पश्य। कुण्डों को देख।*

सिद्धि-(१) ***कुण्डानि तिष्ठन्ति।*** *कुण्ड+जस्। कुण्ड+शि। कुण्ड+इ। कुण्ड+नुम्+इ। कुण्ड++न्+इ। कुण्डा+न्+इ। कुण्डानि। यहां* ***'जश्शसोः शि'*** *(७।१।२०) से जस् के स्थान में 'शि' आदेश होता है और उसकी यहां सर्वनामस्थान संज्ञा की जाती है।*

*'नपुंसकस्य झलचः' (७।१।७२) से अङ्ग को नुम् का आगम और '**सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ**' (६।४।८) से नकारान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ होता है।*

(२) कुण्डानि पश्य। कुण्ड+शस्। कुण्ड+शि। कुण्ड+इ। कुण्ड+नुम्+इ। कुण्ड+न्+इ। कुण्डा+न्+इ। कुण्डानि। यहां सब कार्य पूर्ववत् है।

***विशेष-सर्वनामस्थान** यह पूर्वाचार्यों की संज्ञा है। पाणिनि मुनि ने इस महती संज्ञा को अपने शब्दानुशासन में उसी रूप में स्वीकार कर लिया है।*

सुट् प्रत्ययः-

(२) सुडनपुंसकस्य।४२।

प०वि०-सुट् १।१ अनपुंसकस्य ६।१।

स०-न नपुंसकम् इति अनपुंसकम्, तस्य-अनपुंसकस्य (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-सर्वनामस्थानम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अनपुंसकस्य सुट् सर्वनामस्थानम्।

अर्थः-नपुंसकभिन्नस्य शब्दस्य सुट् प्रत्ययः सर्वनामस्थानसंज्ञको भवति।

उदा०-राजा। राजानौ। राजानः। राजानम्। राजानौ।

***आर्यभाषा-अर्थ**-(अनपुंसकस्य) नपुंसकलिंग से भिन्न (सुट्) सुट् प्रत्ययों की (सर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थान संज्ञा होती है। सु, औ, जस्, अम्, औट् यहां सु से लेकर औट् के टकार से प्रत्याहार बनाया गया है। इन पांच प्रत्ययों को 'सुट्' कहते हैं।*

उदा०-राजा। राजानौ। राजानः। राजानम्। राजानौ।

***सिद्धि-(१) राजा।** राजन्+सु। राजान्+सु। राजान्+०। राजान्। राजा। यहां सु प्रत्यय की सर्वनामस्थान संज्ञा होने से '**सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ**' (६।४।८) से नकारान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ होता है। '**हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०**' (६।१।६८) से 'सु' का लोप तथा '**नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य**' (८।२।७) से नकार का लोप होता है।*

*(२) **राजानौ।** आदि शब्दों की सिद्धि 'राजा' शब्द के समान समझें।*

विभाषा संज्ञा-

(१) न वेति विभाषा।४३।

प०वि०-न अव्ययपदम्। वा अव्ययपदम्। इति अव्ययपदम्। विभाषा १।१।

अर्थः-निषेध-विकल्पौ विभाषा संज्ञकौ भवतः।

उदा०-शुशाव। शुशुवतुः। शिश्वाय। शिश्वियतुः।

आर्यभाषा-अर्थ-(न, वा इति) निषेध और विकल्प की (विभाषा) विभाषा संज्ञा होती है। शुशाव। वह बढ़ा। शुशुवतुः। वे दोनों बढ़े। शिश्वाय। शिश्वियतुः। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-(१) शुशाव। श्वि+लिट्। श्वि+तिप्। श्वि+णल्। श्वि+अ। शुट्+अ। शु+अ। शु+शु+अ। शु+शौ+अ। शु+शाव्+अ। शुशाव। यहां 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः' (भ्वा०आ०) धातु से 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) से 'लिट्' प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से 'ल' के स्थान में 'तिप्' आदेश, 'परस्मैपदानां णल०' (३।४।८२) से तिप् के स्थान में 'णल्' आदेश, 'विभाषा श्वेः' (६।१।३०) से व् को उ सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०८) से इ को पूर्वरूप उ, 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से उ को वृद्धि औ, 'एचोऽयवायावः' (६।१।७८) से औ को आव् आदेश होता है। यहां एक पक्ष में 'विभाषा श्वेः' ६।१।३०) से व् को उ सम्प्रसारण होगया।

(२) शिश्वाय। श्वि+लिट्। श्वि+तिप्। श्वि+णल्। श्वि+अ। श्वि+श्वि+अ। शि+श्वि+अ। शि+श्वै+अ। शि+श्वाय्+अ। शिश्वाय। यहां 'विभाषा श्वेः' (६।१।३०) से दूसरे पक्ष में सम्प्रसारण नहीं हुआ, अपितु श्वि धातु को 'लिटि धातोरनभ्यासस्य'(६।१।८) से द्वित्व 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से वृद्धि और 'एचोऽयवायावः' (६।१।७८) से आय् आदेश होता है। इस प्रकार विभाषा के बल से श्वि धातु के लिट्लकार में दो रूप बनते हैं।

विशेष-प्रश्न-यहां न और वा की विभाषा संज्ञा की गई है। वा की ही विभाषा संज्ञा क्यों न की जाये। न कि विभाषा संज्ञा करने का क्या लाभ है ?

उत्तर-इस शब्दशास्त्र में प्राप्त, अप्राप्त और उभयत्र तीन प्रकार की विभाषा हैं। जो किसी की प्राप्ति में विभाषा का आरम्भ किया जाता है उसे प्राप्त विभाषा कहते हैं। जो किसी की अप्राप्ति में विभाषा का आरम्भ किया जाता है उसे अप्राप्त विभाषा कहते हैं। जो किसी की प्राप्ति में तथा किसी की अप्राप्ति में विभाषा का आरम्भ किया जाता है उसे उभयत्र विभाषा कहते हैं। विभाषा के प्रकरण में पहले प्राप्त और अप्राप्त विषय को 'न' के द्वारा सम किया जाता है। उस विषय के समीकरण के पश्चात् वहां 'वा' के द्वारा विकल्प का विधान किया जाता है। जैसे 'विभाषा श्वेः' (६।१।३०) से श्वि धातु को लिट् और यङ् में विभाषा सम्प्रसारण का विधान किया गया है। यहां 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) से कित् विषय में नित्य सम्प्रसारण की प्राप्ति थी और यङ् प्रत्यय के ङित् होने से ङित् विषय में किसी से सम्प्रसारण की प्राप्ति थी ही नहीं। इसलिये प्रथम 'न' के द्वारा विषय का समीकरण किया जाता है कि किसी से प्राप्ति थी अथवा नहीं थी। यदि थी तो उसे 'न' के कुठार से हटा दिया जाता है और 'वा' से विकल्प कर दिया जाता है। इसलिये न और वा दोनों की विभाषा संज्ञा की गई है।

प्रश्न-यहां इति शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है ?

उत्तर-इस शब्दशास्त्र में 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' (१।१।६८) से शब्द का अपना रूप ग्रहण किया जाता है। जैसे-'अग्नेर्ढक्' (४।२।३३) कहा तो अग्नि शब्द से ढक् प्रत्यय किया जाता है, उसके अर्थ अंगार से नहीं। यदि सूत्र में 'न वा विभाषा' इतना ही कहा जाये तो न और वा शब्दों की विभाषा संज्ञा हो जाये जो कि आचार्य पाणिनि को अभीष्ट नहीं है। अतः यहां इतिकरण अर्थ ग्रहण के लिये किया गया है। इससे न और वा शब्दों का जो निषेध और विकल्प अर्थ है उसकी विभाषा संज्ञा होती है, न और वा शब्दों की नहीं।

सम्प्रसारणसंज्ञा-

(१) इग् यणः सम्प्रसारणम्।४४।

प०वि०-इक् १।१ यणः ६।१ सम्प्रसारणम् १।१।

अन्वयः-यण इक् सम्प्रसारणम्।

अर्थः-यणः स्थाने यो भूतो भावी वा इक् स सम्प्रसारणसंज्ञको भवति।

उदा०-य् (इ) इष्टम्। व् (उ) उप्तम्। र् (ऋ) गृहीतम्। ल (लृ) ×।

आर्यभाषा-अर्थ-(यणः) यण् के स्थान में जो भूत अथवा भावी (इक्) इक् है, उसकी (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण संज्ञा होती है।

उदा०-य् (इ) इष्टम्। यज्ञ किया। व् (उ) उप्तम्। बोया। र् (ऋ) गृहीतम्। ग्रहण किया। ल् (लृ) ×।

सिद्धि-(१) इष्टम्। यज्+क्त। यज्+त। इ अज्+त। इज्+त। इष्+त। इष्+ट। इष्ट+सु। इष्टम्। यहां 'यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु' (भ्वा०उ०) धातु से 'निष्ठा' (३।२।१०२) से भूतकाल में क्त प्रत्यय, 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) से 'य्' को 'इ' सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०८) से 'अ' को पूर्वरूप 'इ' 'व्रश्च भ्रस्ज०' (८।२।३०) से 'ज्' को 'ष्' तथा 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) से 'त' को 'ट' होता है।

(२) उप्तम्। वप्+क्त। वप्+त। उ अ प्+त। उप्+त। उप्त+सु। उप्तम्। यहां 'डुवप् बीजसन्ताने छेदने च' (भ्वादि) धातु से पूर्ववत् क्त प्रत्यय और पूर्ववत् 'व' को 'उ' सम्प्रसाण होकर 'अ' को पूर्वरूप 'उ' होता है।

(३) गृहीतम्। ग्रह्+क्त। ग्रह+त। गृ ह्+त। गृह्+त। गृह्+इट्+त। गृह+इ+त।गृह+ई+त। गृहीत+सु। गृहीतम्। यहां 'ग्रह उपादाने' (क्र्या०प०) धातु से

पूर्ववत् क्त प्रत्यय और पूर्ववत् 'र्' को 'ऋ' सम्प्रसारण होकर 'अ' को पूर्वरूप 'ऋ' होता है। 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।१।३५) से 'इट्' का आगम और उसे 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' (७।२।३०) से दीर्घ होता है।

विशेष-प्रश्न-यहां यण् के स्थान में भूत और भावी इक् की सम्प्रसारण संज्ञा की गई है। भूत और भावी से क्या अभिप्राय है?

उत्तर-इस शब्दशास्त्र में सम्प्रसारणविषयक दो प्रकार का विधान मिलता है। 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) से कहा गया है कि वच् आदि धातुओं को सम्प्रसारण हो जाये। जब यहां य् के स्थान में इ, व् के स्थान में उ और र् के स्थान में ऋ हो जाता है, तब यह कहते हैं कि सम्प्रसारण होगया है और 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०८) में कहा गया है कि सम्प्रसारण से पर वर्ण को पूर्वरूप एकादेश हो जाये। यह भूत सम्प्रसारण है। इसलिये यहां यण् के स्थान में भूत और भावी दोनों अवस्थावाले इक् की सम्प्रसारण संज्ञा की गई है।

आगमविधि

टित्-कितौ–

(१) आद्यन्तौ टकितौ।४५।

प०वि०-आदि-अन्तौ १।२ टकितौ १।२।

स०-आदिश्च अन्तश्च तौ-आद्यन्तौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। टश्च कश्च तौ-टकौ। इच्च इच्च तौ-इतौ। टकौ इतौ ययोस्तौ-टकितौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अन्वयः-ट-कितौ आद्यन्तौ।

अर्थः-टित्-कितावागमौ यथासंख्यमादावन्ते च भवतः।

उदा०-(टित्) लविता। (कित्) भीषयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(ट-कितौ) टित् और कित् आगम यथासंख्य (आदि-अन्तौ) आदि और अन्त में होते हैं। टित् आगम जिसको विधान किया गया है उसके आदि में होता है और कित् आगम जिसको विधान किया गया है उसके अन्त में होता है।

उदा०-(टित्) लविता। काटनेवाला। (कित्) भीषयते। वह डराता है।

सिद्धि-(१) **लविता**। लू+तृच्। लू+इट्+तृ। लो+इ+तृ। लव्+इ+तृ। लवितृ+सु। लवित अनङ्+सु। लवितन्+सु। लवितान+स्। लवितान्+०। लविता। यहां 'लूञ् छेदने' (क्र्या०उ०) धातु से 'ण्वुल्तृचौ' ३।१।१३३) से 'तृच्' प्रत्यय, 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) से 'तृच्' प्रत्यय के आदि में 'इट्' का आगम, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'

*(७।३।८४) से अङ्ग को गुण, **'एचोऽयवायावः'** (६।१।६८) से 'अव्' आदेश, **'ऋदुशनस०'** (७।१।९४) से अङ्ग के 'ऋ' को 'अनङ्' आदेश, **'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'** (६।४।८) से नकारान्त अंग की उपधा को दीर्घ 'हल्ङ्याब्भ्यो०' (६।१।६८) से 'सु' का लोप और **'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य'** (८।२।७) से न का लोप होता है। इस सूत्र से 'इट्' का आगम टित् होने से 'तृच्' प्रत्यय के आदि में किया जाता है।*

*(२) **भीषयते।** भी+णिच्। भी+षुक्+इ। भी+ष्+इ। भीषि+लट्। भीषि+त। भीषि+शप्+त। भीषि+अ+त। भीषे+अ+त। भीषय्+अ+ते। भीषयते। यहां **'ञिभी भये'** (जु०प०) धातु से **'हेतुमति च'** (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय, **'भियो हेतुभये षुक्'** (७।३।४०) से अङ्ग को 'षुक्' का आगम **'सनाद्यन्ता धातवः'** (३।१।३२) से णिजन्त की धातु संज्ञा होकर, उससे **'वर्तमाने लट्'** (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय, **'तिप्तस्झि०'** (३।४।७८) से 'ल' के स्थान में 'त' आदेश, **कर्तरि शप्** (३।१।६८) से 'शप्' विकरण प्रत्यय, **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (७।३।८४) से अंग को गुण, **'एचोऽयवायावः'** (६।१।६८) से 'अव्' आदेश और **'टित आत्मनेपदानां टेरे'** (३।४।७९) से 'त' प्रत्यय के टि भाग को एकार आदेश होता है। यहां 'षुक्' आगम कित् होने से 'भी' अंग के अन्त में किया गया है।*

मित्–

(२) मिदचोऽन्त्यात् परः।४६।

प०वि०–मित् १।१ अचः ५।१ अन्त्यात् ५।१ परः १।१।

स०–म इत् यस्य स मित् (बहुव्रीहिः)। अन्ते भवम् अन्त्यम् तस्मात्-अन्त्यात् (तद्धितवृत्तिः)।

अन्वयः–अन्त्याद् अचः परो मित्।

अर्थः–अचां मध्ये योऽन्त्योऽच्, तस्मात्परो मिद् आगमो भवति।

उदा०–अवरुणद्धि। मुञ्चति। पयांसि।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(मित्) मित् आगम (अन्त्यात्) अन्तिम (अचः) अच् से (परः) परे होता है।

उदा०-अवरुणद्धि। रोकता है। मुञ्चति। छोड़ता है। पयांसि। नाना प्रकार के जल।

*__सिद्धि-(१) अवरुणद्धि।__ अव+रुध्+लट्। अव+रुध्+तिप्। अव+रुश्नम् ध्+ति। अव+रुनध्+ति। अव+रुनध्+धि। अव+रुन्द्+धि। अव+रुणद्+धि। अवरुणद्धि। य अव उपसर्गपूर्वक **'रुधिर् आवरणे'** (रुधा०प०) धातु से **'वर्तमाने लट्'** (३।२।१२३) . 'लट्' प्रत्यय, **'तिप् तस् झि०'** (३।४।७८) से ल् के स्थान में 'तिप्' आदेश, **'रुधादिभ्यः***

श्नम्' (३।१।७८) से 'श्नम्' के मित् होने से रुध धातु के अन्तिम अच् से परे 'श्नम्' होता है और 'झषस्तथोर्धोऽधः' (८।२।४०) से तिप् प्रत्यय के तकार को धकार आदेश, 'झलां जश् झशि' (८।४।५३) से रुध् के धकार को जश् दकार आदेश और 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) से नकार को णकार आदेश होता है।

*(२) **मुञ्चति।** मुच्+लट्। मुच्+श+तिप्। मुच्+अ+ति। मुनुम् च्+अ+ति। मुन् च्+अ+ति। मुं च्+अ+ति। मुञ् च+अ+ति। मुञ्चति। यहां '**मुच्लृ मोचने**' (तु०प०) धातु से 'तुदादिभ्यः शः' (३।१।७७) से 'श' विकरण प्रत्यय, 'शे मुचादीनाम्' (७।१।५९) से नुम् आगम, 'नश्चापदान्तस्य झलि' (८।३।२४) से न् को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (८।४।५८) से अनुस्वार को परसवर्ण ञकार होता है। 'नुम्' के मित् होने से वह 'मुच्' धातु के अन्तिम अच् से परे होता है।*

*(३) **पयांसि।** पयस्+जस्। पयस्+शि। पय नुम् स्+इ। पय न् स्+इ। पयान् स्+इ। पयांस्+इ। पयांसि। यहां '**नपुंसकस्य झलचः**' (७।१।७२) से पयस् शब्द को नुम् आगम उसके अन्तिम अच् से परे होता है। '**सान्तमहतः संयोगस्य**' (६।४।१०) से अंग को दीर्घ तथा पूर्ववत् नकार को अनुस्वार होता है।*

आदेशप्रकरणम्

ह्रस्वादेशः-

(१) एच इग्घ्रस्वादेशे।४७।

प०वि०-एचः ६।१ इक् १।१ ह्रस्वादेशे ७।१।

स०-ह्रस्वश्चासौ आदेशः, ह्रस्वादेशः, तस्मिन्-ह्रस्वादेशे (कर्मधारय तत्पुरुषः)।

अन्वयः-एचो ह्रस्वादेशे इक्।

अर्थः-ह्रस्वादेशे कर्त्तव्ये एचः स्थाने इक्-आदेशो भवति।

उदा०-ओ (उ) उपगु। ऐ (इ) अतिरि। औ (उ) अतिनु।

आर्यभाषा-अर्थ-(एचः)** एच् के स्थान में (ह्रस्वादेशे) ह्रस्व आदेश करने में (इक्) इक् ही होता **है, अन्य नहीं।

***उदा०-ओ (उ)** उपगु। गौ के समीप। ऐ (इ) अतिरि। धन को जीतनेवाला। औ (उ) अतिनु। नौका को लांघनेवाला।*

सिद्धि-(१) उपगु।** उप+गो। उपगो। उपगु+सु। उपगु। गोः समीपमिति उपगु। यहां 'अव्ययं विभक्तिसमीप०' (२।१।६) से अव्ययीभाव समास है। '**गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य**' (१।२।४८) से 'गो' के ओकार को 'उकार' **ह्रस्वादेश (उ) होता है।

*(२) **अतिरि।** अति+रै। अति+रि। अतिरि+सु। अतिरि। रायमतिक्रान्तमिति अतिरि ब्राह्मणकुलम्। यहां **'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया'** (वा० २।२।१८) से प्रादिसमास, **'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य'** (१।२।४७) से नपुंसकलिंग में 'रै' के ऐकार को इकार ह्रस्वादेश होता है।*

*(३) **अतिनु।** अति+नौ। अतिनु+सु। अतिनु। नावमतिक्रान्तमिति अतिनु कुलम्। यहां भी पूर्ववत् समास तथा 'औ' को उकार ह्रस्वादेश होता है।*

आदेशे षष्ठी-अर्थः–

(२) षष्ठी स्थानेयोगा।४६।

प०वि०–षष्ठी १।१ स्थानेयोगा १।१।

स०–स्थाने योगो यस्याः सा स्थानेयोगा (बहुव्रीहिः) अत्र निपातनात् **सप्तम्या** अलुक्।

अर्थः–आदेशे कर्त्तव्येऽनियतसम्बन्धा षष्ठी स्थानेयोगा भवति।

उदा०–**अस्तेर्भूः**–भविता। भवितुम्। भवितव्यम्। **ब्रुवो वचिः**–वक्ता। वक्तुम्। वक्तव्यम्।

*__आर्यभाषा-अर्थ__–इस शब्दशास्त्र में जो षष्ठी विभक्ति अनियत योगवाली सुनाई देती है, वह (स्थानेयोगा) 'स्थाने' शब्द के योगवाली होती है, अन्य योगवाली नहीं। **अस्तेर्भूः** (२।४।५२) भविता। होनेवाला। भवितुम्। होने के लिये। भवितव्यम्। होना चाहिये। 'ब्रुवो वचिः' (२।४।५३) वक्ता। बोलनेवाला। वक्तुम्। बोलने के लिये। वक्तव्यम्। बोलना चाहिये।*

*__सिद्धि__–(१) **अस्तेर्भूः।** सूत्र के 'अस्तेः' पद में षष्ठी विभक्ति है। उसका अर्थ यह किया जाता है कि 'अस्ति' के स्थान में 'भू' आदेश होता है, आर्धधातुकविषय में। जैसे कि 'भविता' आदि उदाहरणों में स्पष्ट है।*

*(२) **'ब्रुवो वचिः'** (२।४।५३) सूत्र के 'ब्रुवः' पद में षष्ठी विभक्ति है। उसका अर्थ यह किया जाता है कि 'ब्रू' के स्थान में वच् आदेश होता है, आर्धधातुक विषय में। जैसा कि 'वक्ता' आदि उदाहरणों में स्पष्ट है।*

*__विशेष__–(१) यहां स्थान शब्द प्रसंगवाची है। जैसे **'दर्भाणां स्थाने शरैः प्रस्तरितव्यम्'** अर्थात् दर्भ के स्थान में शर बिछने चाहियें। यहां यही समझा जाता है कि दर्भ के प्रसंग में शरों का प्रस्तार करना चाहिये, वैसे 'अस्तेर्भूः' (२।४।५२) कहने पर यही समझना चाहिये कि 'अस्' धातु के प्रसंग में 'भू' आदेश होता है।*

(२) षष्ठी विभक्ति के स्व, स्वामी, अनन्तर, समीप, समूह, विकार और अवयव आदि अनेक अर्थ हैं। जितने भी षष्ठी विभक्ति के अर्थ सम्भव हैं, उन सब की प्राप्ति में

यहां यह नियम किया जाता है कि व्याकरणशास्त्र में अनियत सम्बन्धवाली षष्ठी विभक्ति का 'स्थाने' शब्द का योग करके अर्थ किया जाये।

*(३) स्थाने योगो यस्याः सा स्थानेयोगा। यहां **'व्यधिकरण बहुव्रीहि'** समास है; समानाधिकरण नहीं। पाणिनिमुनि के इसी वचन से यहां निपातन से सप्तमी विभक्ति का अलुक् माना जाता है।*

सदृशतम आदेशः–

(३) स्थानेऽन्तरतमः।४६।

प०वि०–स्थाने ७।१ अन्तरतमः १।१।

अनु०–'षष्ठी' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–षष्ठीस्थानेऽन्तरतमः (आदेशः)।

अर्थः–षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थाने प्राप्यमाणानाम् आदेशानां अन्तरतमः। सदृशतम आदेशो भवति। तच्च सादृश्यं स्थान-अर्थ-गुण-प्रमाण-भेदतश्चतुर्विधं भवति।

उदा०–(स्थानतः) दण्डाग्रम्। खट्वाग्रम्। (अर्थतः) वतण्डी चासौ युवतिश्चेति वातण्ड्ययुवतिः। (गुणतः) पाकः। त्यागः रागः। (प्रमाणतः) अमुष्मै। अमूभ्याम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(षष्ठी) षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट के (स्थाने) स्थाने में प्राप्त होनेवाले आदेशों में से (अन्तरतमः) सदृशतम आदेश ही किया जाता है। किसी के स्थान में आदेश करते समय स्थान, अर्थ, गुण और प्रमाण भेद से चार प्रकार का आन्तर्य (सादृश्य) देखा जाता है।

उदा०-(स्थान) दण्डाग्रम्। दण्ड का अग्रभाग। खट्वाग्रम्। खाट का अग्रभाग। (अर्थ) वतण्डी चासौ युवतिश्चेति वातड्ययुवतिः। वतण्डी युवति (गुण) पाकः। पकाना। त्यागः। छोड़ना। रागः। रंगना। (प्रमाण) अमुष्मै। उसके लिये। अमूभ्याम्। उन दोनों के द्वारा।

*सिद्धि-(१) **स्थान।** दण्ड+अग्रम्। दण्डाग्रम्। यहां **'अकः सवर्णे दीर्घः'** (६।१।१०१) से दो अकारों के स्थान में एक **कण्ठ्य** आकार ही दीर्घ होता है। ऐसे ही खट्वा+अग्रम्। खट्वाग्रम्।*

*(२) **अर्थ।** वतण्डी चासौ युवतिश्चेति वातण्ड्युवतिः। यहां वतण्ड शब्द से **स्त्री**-अपत्य अर्थ में **'वतण्डाच्च'** (४।१।१०८) से 'यञ्' प्रत्यय, उसका **'स्त्रियाम्'** (४।१।३) से लुक्, **'शाङ्गरवाद्यञो ङीन्'** (४।१।७३) से 'ङीन्' प्रत्यय, **'यस्येति च'***

(६।४।१४८) से अकार का लोप और 'पोटायुवति०' (२।१।६५) से कर्मधारय समास होता है। यहां 'पुंवत् कर्मधारय०' (६।३।४२) से पुंवद्भाव करते समय अर्थ के सादृश्य से वतण्ड शब्द का अपत्यवाची वातण्ड्य शब्द ही आदेश होता है, वतण्ड शब्द नहीं।

(३) गुण। पाकः। पच्+घञ्। पाच्+अ। पाक्+अ। पाक+सु। पाकः। यहां 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (७।३।५२) से कुत्व करते समय अल्पप्राण तथा अघोषगुणवाले चकार के स्थान में अल्पप्राण तथा अघोषगुणवाला ककार ही आदेश होता है।

इसी प्रकार त्यज् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर 'त्यागः' शब्द सिद्ध होता है। यहां भी घोष तथा अल्पप्राण गुणवाले जकार के स्थान में घोष तथा अल्पप्राण गुणवाला गकार ही आदेश होता है।

(४) प्रमाण। अमुष्मै। अदस्+ङे। अदस्+स्मै। अमु+ष्मै। अमुष्मै। यहां 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (८।२।८०) से अकार के स्थान में उकार आदेश करते समय ह्रस्व प्रमाणवाले 'अ' के स्थान में ह्रस्व प्रमाणवाला 'उ' ही आदेश होता है और अमुभ्याम्, यहां उक्तसूत्र से दीर्घ आकार के स्थान में दीर्घ प्रमाणवाला दीर्घ ऊकार ही आदेश होता है।

विशेष-प्रश्न- 'षष्ठी स्थानेयोगा' (१।१।४९) से स्थाने पद की अनुवृत्ति की जा सकती है, फिर यहां 'स्थाने' पद का ग्रहण क्यों किया गया है?

उत्तर-यहां 'स्थाने' पद का पुनः ग्रहण इसलिये किया गया है कि 'यत्रानेकविधानान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयः' (परिभाषा) जहां अनेक प्रकार का आन्तर्य (सादृश्य) हो वहां स्थानकृत आन्तर्य को ही बलवान् माना जाये। जैसे-चेता, स्तोता इत्यादि में चि और स्तु आदि धातुओं को गुण कार्य करते समय प्रमाणकृत सादृश्य से ह्रस्व इ और उ के स्थान में ह्रस्व 'अ' गुण प्राप्त होता है, किन्तु स्थानकृत आन्तर्य के बलवान् होने से इ के स्थान में ए तथा उ के स्थान में ओ गुण किया जाता है।

रपर आदेशः—

(४) उरण् रपरः।५०।

प०वि०-उः ६।१ अण् १।१ रपरः १।१।

स०-रः परो यस्मात् स रपरः (बहुव्रीहिः)।

अर्थः-ऋकारस्य स्थाने विधीयमानोऽण् आदेशो रपरो भवति।

उदा०-(अ) कर्त्ता। हर्ता। (इ) किरति। गिरति। (उ) द्वैमातुरः। त्रैमातुरः।

आर्यभाषा-अर्थ-(उः) ऋ वर्ण के स्थान में विधीयमान (अण्) अण् आदेश (रपरः) रपर होता है। जिससे परे र हो उसे रपर कहते हैं। अण्=अ, इ, उ।

*उदा०-(अ) **कर्त्ता**। करनेवाला। हर्ता। हरण करनेवाला। (इ) किरति। वह फैंकता है। गिरति। वह निगलता है। (उ) द्वैमातुरः। दो माताओं का पुत्र। त्रैमातुरः। तीन माताओं का पुत्र (राम)।*

***सिद्धि-(१) कर्त्ता।** कृ+तृच्। कृ+तृ। क् अर्+तृ। कर्तृ+सु। कर्त्ता। यहां 'सर्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से कृ अंग के ऋ को 'अ' गुण होता है और प्रकृत सूत्र से उसे रपर किया जाता है-अर्।*

*(२) **किरति।** कॄ+लट्। कॄ+तिप्। कॄ+श+ति। कॄ+अ+ति। क् इर्+अ+ति। किरति। यहां '**ॠत इद् धातोः**' (७।१।१००) से कॄ अंग के 'ॠ' के स्थान में 'इ' आदेश होता है और प्रकृत सूत्र से उसे रपर किया जाता है-इर्।*

*(३) **द्वैमातुरः।** द्विमातृ+अण्। द्वैमातुर+अ। द्वैमातुर+सु। द्वैमातुरः। यहां 'द्विमातृ' शब्द से अपत्य अर्थ में '**मातुरुत् संख्यासंभद्रपूर्वायाः**' (४।१।११५) से अण् प्रत्यय और मातृ शब्द के ऋकार को उकार आदेश होता है। प्रकृत सूत्र से उसे रपर किया जाता है-उर्।*

अन्त्य आदेशः-

(५) अलोऽन्त्यस्य।५१।

प०वि०-अलः ६।१ अन्त्यस्य ६।१। अन्ते भवम्-अन्त्यम्, तस्य-अन्त्यस्य (तद्धितवृत्तिः)।

अनु०-'षष्ठी' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-षष्ठी (आदेशः) अन्त्यस्यालः।

अर्थः-षष्ठीनिर्दिष्टस्य य आदेशः सोऽन्त्यस्यालः स्थाने वेदितव्यः।

उदा०-इद् गोण्याः-पञ्चगोणिः। दशगोणिः।

***आर्यभाषा-अर्थ-**(षष्ठी) षष्ठी विभक्ति का निर्देश करके कहा हुआ आदेश (अन्त्यस्य) अन्तिम (अलः) अल् के स्थान में होता है। इद्**गोण्याः**-पञ्चगोणिः। पांच गोणी परिमाण से खरीदा हुआ। **दशगोणिः।** दश गोणी परिमाण से खरीदा हुआ।*

***सिद्धि-पञ्चगोणिः।** पञ्चगोणी+ठक्। पञ्चगोणी+०। पञ्चगोण् इ+०। पञ्चगोणि+सु। पञ्चगोणिः। 'पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीत इति पञ्चगोणिः। यहां '**तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च**' (२।१।५१) से तद्धितार्थ में द्विगुसमास करके, '**तेन क्रीतम्**' (५।१।३७) से क्रीत अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय, '**अध्यर्धपूर्वाद्द्विगोर्लुगसंज्ञायाम्**' (५।१।२८) से ठक् प्रत्यय का लुक् होता है। तत्पश्चात् 'इद् **गोण्याः**' (१।२।५०) से विहित इकार आदेश प्रकृत सूत्र से अन्तिम अल् के स्थान में किया जाता है। इसी प्रकार से दशभिर्गोणीभिः क्रीत इति दशगोणिः। गोणी=परिमाणविशेष।*

ङित्-आदेश–

(६) ङिच्च ।५२।

प०वि०–ङित् १ ।१ च अव्ययपदम्।

स०–ङ इत् यस्य स ङित् (बहुव्रीहिः)।

अनु०–षष्ठी अलोऽन्त्यस्य इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–षष्ठी (आदेशः) **ङिच्च** अन्त्यस्यालः।

अर्थः–षष्ठीनिर्दिष्टस्य यो ङित् आदेशः **सोऽपि अन्त्य**स्यालः स्थाने वेदितव्यः।

उदा०–**आनङ् ऋतो द्वन्द्वे**–मातापित**रौ**। **होतापोता**रौ।

*आर्यभाषा–अर्थ–(षष्ठी) षष्ठी विभक्ति **का निर्देश करके** कहा हुआ **(ङित्)** ङित् आदेश (च) भी (अन्त्यस्य) अन्तिम (अलः) अल् **के स्थान में** होता है।*

*उदा०–**आनङ् ऋतो द्वन्द्वे**–मातापितरौ। **माता और** पिता। **होतापोतारौ**। होता और पोता (पवित्र करनेवाला)।*

*सिद्धि–(१) **मातापितरौ**। माता च पिता च तौ मातापितरौ। **मातृ+पितृ+औ**। मात् आनङ् पितर्+औ। मातापितरौ। यहां **'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे'** (६।३।२५) से विहित ङित् आनङ् आदेश मातृ शब्द के अन्तिम ऋ के स्थान में होता है। इसी प्रकार से होता च पोता च तौ होतापोता**रौ**। **होतृ**+पोतृ+औ। होतापोतारौ।*

*विशेष–**प्रश्न–जीवताद् भवान्**, जीवतात् त्वम्। यहां 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्तरस्याम्' (७।१।३५) से तु **और हि के स्थान** में विहित ङित् तातङ् आदेश अन्तिम अल् के स्थान में क्यों नहीं होता?*

उत्तर–तातङ् आदेश में ङित्करण 'क्ङिति च' (१।१।५) से गुण के प्रतिषेध के लिये है, अतः वह अन्तिम अल् के स्थान में न होकर 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (१।१।५५) से सर्वादेश होता है। आनङ् के ङित्व का अन्य कोई प्रयोजन नहीं, अतः वह अन्तिम अल् के स्थान में होता है।

पर आदेशः–

(७) आदेः परस्य ।५३।

प०वि०–आदेः ६।१ परस्य ६।१।

अनु०–षष्ठी, अल, इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–षष्ठी परस्यादेरलः।

अर्थः-षष्ठी निर्दिष्टस्य परस्य निर्दिश्यमानं कार्यम् आदेरलः स्थाने वेदितव्यम्।

उदा०-ईदासः-आसीनः। **द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप** ईत्-द्वीपम्। अन्तरीपम्। समीपम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(षष्ठी) षष्ठी विभक्ति का निर्देश करके (परस्य) पर के स्थान में कहा हुआ आदेश (आदेः) आदिम (अलः) अल् के स्थान में होता है।

*उदा०-**ईदासः**-आसीनः। बैठा हुआ। **द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप** ईत्-द्वीपम्। द्वीप। अन्तरीपम्। अन्तरीप। समीपम्। पास।*

*सिद्धि-(१) **आसीनः**। आस्+लट्। आस्+शानच्। आस्+आन्। आस्+शप्+आन्। आस्+०+आन। आस्+ईन। आसीन+सु। आसीनः। यहां 'आस् उपवेशने' (अदा०प०) धातु से 'वर्तमाने लट्' से 'लट्' प्रत्यय, 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' (३।२।१२४) से लट् के स्थान में 'शानच्' आदेश, 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' प्रत्यय, 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (२।४।७२) से 'शप्' का लुक् होकर 'ईदासः' ७।२।८३) से आस् से परे 'आन' को कहा ईकार आदेश प्रकृत सूत्र से 'आन' के आदिम आ के स्थान में किया जाता है।*

*(२) **द्वीपम्**। द्विर्गता आपो यस्मिन् तद् द्वीपम्। द्वि+अप्। द्वि+ईप्। द्वीप+अ। द्वीप+सु। द्वीपम् यहां 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' (६।३।९७) से द्वि से पर 'अप्' को ईकार आदेश का विधान किया गया है। वह प्रकृत सूत्र से 'अप्' के आदिम अकार के स्थान में किया जाता है। तत्पश्चात् 'ऋक्पूरब्धू०' (५।४।७४) से समासान्त 'अ' प्रत्यय होता है।*

*(३) इसी प्रकार अन्तर्गता आपो यस्मिन् तद् **अन्तरीपम्**। संगता आपो यस्मिन् तत् **समीपम्**। अन्तर्+अप्=अन्तरीपम्। सम्+अप्=समीपम्।*

सर्वादेशः-

(८) अनेकाल्शित् सर्वस्य।५४।

प०वि०-अनेकाल्-शित् १।१ सर्वस्य ६।१।

स०-अनेकाल् च शिच्च एतयोः समाहारः-अनेकाल्शित् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-'षष्ठी अलः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-षष्ठी अनेकाल् शित् सर्वस्यालः।

अर्थः-षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थाने अनेकाल् शिच्च य आदेशः स सर्वस्यालः स्थाने वेदतिव्यः।

उदा०-(अनेकाल्) **अस्तेर्भूः**-भविता। भवितुम्। भवितव्यम्। (शित्) **जशशसोः शि**-कुण्डानि तिष्ठन्ति। कुण्डानि पश्य।

*आर्यभाषा-**अर्थ**-(षष्ठी) षष्ठी विभक्ति का निर्देश करके कहा हुआ (अनेकाल-शित्) अनेक अल्वाला तथा शित् आदेश (सर्वस्य) समस्त अल् के स्थान में होता है।*

*उदा०-(अनेकाल्) **अस्तेर्भूः**-भविता। भवितुम्। भवितव्यम्। (शित्) **जश्शसोः शि**-कुण्डानि तिष्ठन्ति। कुण्डानि पश्य। अर्थ पूर्ववत् है।*

***सिद्धि**-(१) **भविता**। अस्+तृच्। भू+तृ। भू+इट्+तृ। भो+इ+तृ। भव्+इ+तृ। भवितृ+सु। भविता। यहां '**अस्तेर्भूः**' (२।४।५२) से आर्धधातुक विषय में 'अस्' धातु के स्थान में 'भू' आदेश का विधान किया है। भू आदेश अनेक अल्वाला होने से प्रकृत सूत्र से समस्त 'अस्' धातु के स्थान में किया जाता है।*

*(२) **कुण्डानि**। कुण्ड+जस्। कुण्ड+शि। कुण्ड नुम्+इ। कुण्डन्+इ। कुण्डान्+इ। कुण्डानि। यहां '**जश्शसोः**' (७।१।२०) से 'जस्' और 'शस्' प्रत्यय के स्थान में 'शि' आदेश का **विधान** किया है। वह शित् होने से प्रकृत् सूत्र से समस्त 'जस्' और 'शस्' प्रत्यय के स्थान में किया जाता है।*

स्थानिवत्प्रकरणम्

अनल्विधिः–

(१) स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ।५५।

प०वि०-स्थानिवत् अव्ययपदम्, आदेशः १।१ अनल्विधौ ७।१।

स्थानमस्यास्तीति स्थानी। तेन स्थानिना। स्थानिना तुल्यमिति स्थानिवत् (तद्धितवृत्तिः)।

स०-अलोविधिरिति अल्विधिः। न अल्विधिरिति अनल्विधिः, तस्मिन् अनल्विधौ (षष्ठीतत्पुरुषगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अन्वयः-आदेशः स्थानिवद् अनल्विधौ।

अर्थः-आदेशः स्थानिवद् भवति, अनल्विधौ कर्त्तव्ये (अल्विधिं वर्जयित्वा) अत्र धातु-अङ्ग-कृत्-तद्धित-अव्यय-सुप्-तिङ्-पदादेशाः प्रयोजयन्ति।

उदा०-(धातुः) **अस्तेर्भूः**-भविता। भवितुम्। भवितव्यम्। (अङ्गम्) **किमः कः**-केन। काभ्याम् कैः। (कृत्) **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्**-प्रकृत्य। प्रहृत्य। (तद्धितः) **ठस्येकः**-दाधिकम्। **युवोरनाकौ**-अद्यतनम्। (अव्ययम्) **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्**-प्रकृत्य। प्रहृत्य। (सुप्) **ङेर्यः**-वृक्षाय। प्लक्षाय। (तिङ्) तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः-अकुरुताम्। अकुरुत। (पदम्) **बहुवचनस्य वस्नसौ**-ग्रामो वः स्वम्। जनपदो नः स्वम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनल्-विधौ) अनेक अल् की विधि करने में (आदेशः) किया हुआ कोई आदेश (स्थानिवत्) स्थानी के समान होता है। धातु, अङ्ग, कृत्, तद्धित, अव्यय, सुप्, तिङ् और पद के आदेश इसके उदाहरण हैं।

*उदा०-(१) **धातु।** धातु के स्थान में किया गया आदेश धातु के समान होता है। जैसे 'अस्तेर्भूः' (२।४।५२) भविता। भवितु। भवितव्यम्। यहां आर्धधातुक विषय में 'अस्' धातु से विहित 'तव्यत्' आदि प्रत्यय 'भू' धातु से भी होते हैं।*

*(२) **अङ्ग।** अङ्ग के स्थान में किया गया आदेश अङ्ग के समान होता है। जैसे-केन, काभ्याम्, कैः। यहां 'किमः कः' (७।२।१०३) से 'किम्' के स्थान में किये 'क' आदेश से भी इन, दीर्घत्व और ऐस् भाव होता है।*

*(३) **कृत्।** कृत् प्रत्यय के स्थान में किया गया आदेश कृत् के समान होता है। जैसे-प्रकृत्य, प्रहृत्य। यहां '**समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्**' (७।१।३७) से 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान में 'ल्यप्' आदेश होता है। उसके परे होने पर भी '**ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्**' (६।१।७१) से तुक् आगम हो जाता है।*

*(४) **तद्धित।** तद्धित प्रत्यय के स्थान में किया गया आदेश तद्धित के समान होता है। जैसे-दाधिकम्। अद्यतनम्। यहां 'ठस्येकः' (७।३।५०) से 'ठ' के स्थान में किया 'इक्' आदेश तथा '**युवोरनाकौ**' (७।१।१) से 'यु' के स्थान में किया 'अन' आदेश तद्धित के समान होता है। इससे '**कृत्तद्धितसमासाश्च**' (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है।*

*(क) **दाधिकम्।** दधि+ठक्। दधि+इक् अ। दध्+इक्। दाध्+इक। दाधिक+सु। दाधिकम्।*

*(ख) **अद्यतनम्।** अद्य+ट्यु। अद्य+अन। अद्य+तुट्+अन। अद्य+त्+अन। अद्यतन+सु। अद्यतनम्। यहां '**सायंचिरं०**' (४।३।२३) से 'ट्यु' प्रत्यय और उसे 'तुट्' आगम होता है।*

*(५) **अव्यय।** अव्यय के स्थान में किया गया आदेश अव्यय के समान होता है। जैसे-प्रकृत्य प्रहृत्य। यहां अव्यय 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान में '**समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्**' (७।१।३७) से किया गया 'ल्यप्' आदेश भी अव्यय होता है। '**क्त्वातोसुन्कसुनः**'*

(१।१।४०) से क्त्वा प्रत्ययान्त की अव्यय संज्ञा होती है। यहां ल्यप् आदेश अवस्था में भी अव्यय संज्ञा होने से 'अव्ययादाप्सुपः' (२।४।८२) से सुप् का लुक् हो जाता है।

(६) सुप्। सुप् के स्थान में किया गया आदेश सुप् के समान होता है, जैसे-वृक्षाय, प्लक्षाय। वृक्ष+ङे। वृक्ष+य। वृक्षा+य। वृक्षाय। यहां 'ङेर्यः' (७।१।१२) से 'ङे' के स्थान में किया गया 'य' आदेश सुप् के समान होता है। इससे 'सुपि च' (७।३।१०२) से अङ्ग को दीर्घ हो जाता है।

(७) तिङ्। तिङ् के स्थान में किया गया आदेश तिङ् के समान होता है, जैसे-अकुरुताम्, अकुरुत। यहां 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' (३।४।१०१) से 'तस्' के स्थान में किया गया 'ताम्' और 'तम्' आदेश तिङ् के समान होता है। इससे उसकी 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) से पद संज्ञा हो जाती है।

(८) पद। पद के स्थान में किया गया आदेश पद के समान होता है। जैसे-ग्रामो वः स्वम्। जनपदो नः स्वम्। यहां 'बहुवचनस्य वस्नसौ' (८।१।२१) से 'युष्माकम्' और 'अस्माकम्' आदि पद के स्थान में किया गया 'वस्' और 'नस्' आदेश पद के समान होता है। इससे यहां 'पदस्य' (८।१।१६) से 'वस्' और 'नस्' के सकार को रुत्व हो जाता है।

पूर्वविधिः–

(२) अचः परस्मिन् पूर्वविधौ।५६)

प०वि-अचः ६।१ परस्मिन् ७।१ (निमित्तसप्तमी) पूर्वविधौ ७।१।

स०-पूर्वस्य विधिरिति पूर्वविधिः, तस्मिन् पूर्वविधौ (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-स्थानिवत् आदेशः, इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-परस्मिन् अचः पूर्वविधौ स्थानिवत्।

अर्थः-परनिमित्तकोऽच् आदेशः पूर्वविधौ कर्त्तव्ये स्थानिवद् भवति।

उदा०-पटयति। अवधीत्। बहुखट्वकः।

आर्यभाषा-अर्थ-(परस्मिन्) पर के कारण से किया गया (अचः) अच् के स्थान में (आदेशः) कोई आदेश (पूर्वविधौ) उससे पूर्व की कोई विधि करने में (स्थानिवत्) स्थानी के समान होता है।

उदा०-पटयति। पटु को कहता है। अवधीत्। उसने वध किया। बहुखट्वकः। बहुत खाटोंवाला।

सिद्धि-(१) पटयति। पटुमाचष्टे पटयति। पटु+णिच्। पट्+इ। पटि+शप्+ति। पटे+अ+ति। पट् अय्+अ+ति। पटयति। यहां 'पटु' शब्द से 'तत्करोति तदाचष्टे'

*(वा० ३।१।२६) से णिच् प्रत्यय, '**णाविष्ठवत्प्रातिपदिकस्य**' (वा० ६।४।१५५) से पटु के टि-भाग का लोप हो जाने पर 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से उपधा अकार को वृद्धि प्राप्त होती है, किन्तु टि-लोप रूप अच्-आदेश को स्थानिवत् मानने से पूर्वविधि वृद्धि नहीं होती है।*

*(२) **अवधीत्।** हन्+लुङ्। अट्+वध्+च्लि+तिप्। अ+वध्+सिच्+ति। अ+वध्+स्+त्। अ+वध्+इट्+स्+ईट्+त्। अ+वध्+इ+स्+ई+त्। अ+वध्+इ+०+ई+त्। अवधीत्। यहां '**हन् हिंसागत्योः**' (अदा०प०) धातु से लुङ्लकार में अकारान्त वध् आदेश होता है। '**अतो लोपः**' (६।४।४८) से उसके अकार का लोप हो जाता है, उस अकार लोपरूप अच्-आदेश को स्थानिवत् मानने से '**अतो हलादेर्लघोः**' (७।२।७) से पूर्वविधि हलन्तलक्षणावृद्धि नहीं होती है।*

*(३) **बहुखट्वकः।** बह्व्यः खट्वा यस्य स बहुखट्वकः। बहु+खट्वा+कप्। बहु+खट्व+क। बहुखट्वक+सु। बहुखट्वकः। यहां '**आपोऽन्तरस्याम्**' (७।४।१५) से आ को ह्रस्व होता है। इस ह्रस्व रूप अच् आदेश को स्थानिवत् मानने से '**ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम्**' (६।२।१७४) से खकारस्थ अकार को पूर्वविधि उदात्त स्वर नहीं होता है, किन्तु '**कपि पूर्वम्**' (६।२।१७३) से उत्तर पद को अन्तोदात्त स्वर ही होता है।*

स्थानिवत्प्रतिषेधः–

(३) न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घ-जश्चर्विधिषु।५७।

प०वि०–न अव्ययपदम्। पदान्त-द्विर्वचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्ण-अनुस्वार-दीर्घ-जश्-चर्-विधिषु ७।३।

स०–पदान्तश्च द्विर्वचनं च वरेश्च यलोपश्च स्वरश्च सवर्ण च अनुस्वारश्च दीर्घश्च जश् च चर् च ते-पदान्तद्विर्वचन-वरे-यलोपस्वर-सवर्णानुस्वार दीर्घ जश् चरः,तेषाम्-पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वार-दीर्घजश्चराम्। पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चरां विधय इति पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधयः, तेषु-पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु। (इतरेतरयोग-द्वन्द्वगर्भितषष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०–अचः परस्मिन् पूर्वविधौ स्थानिवत् आदेशः इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–पदान्त० विधिषु परस्मिन् अचः पूर्वविधौ स्थानिवत् न।

अर्थः-पदान्त-द्विर्वचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्ण-अनुस्वार-दीर्घ-जश्-चर्-विधिषु कर्त्तव्येषु परनिमित्तकोऽच आदेशः पूर्वविधौ कर्त्तव्ये स्थानिवन्न भवति।

उदा०-(१) **पदान्तः।** कौ स्तः। यौ स्तः। तानि सन्ति। यानि सन्ति। (२) **द्विर्वचनम्।** दद्ध्यत्र। मद्ध्वत्र। (३) **वरे।** अप्सु यायावरः प्रवपेत पिण्डान्। (४) **यलोपः।** कण्डूतिः। (५) **स्वरः।** चिकीर्षकः। जिहीर्षकः। (६) **सवर्णम्।** शिण्ढि। पिण्ढि। (७) **अनुस्वारः।** शिंषन्ति। पिंशन्ति। (८) **दीर्घः।** प्रतिदीव्ना। प्रतिदीव्ने। (९) **जश्।** सग्धिश्च मे, सपीतिश्च मे बब्धां ते हरी धानाः। (१०) **चर्।** जक्षतुः। जक्षुः।

आर्यभाषा-अर्थ-(पदान्त०) पदान्त, द्विर्वचन, वरे, यलोप, स्वर, सवर्ण, अनुस्वार, दीर्घ, जश् और चर् सम्बन्धी विधि के करने में (अचः) अच् के स्थान में किया गया (परस्मिन्) पर के कारण से (आदेशः) कोई आदेश (पूर्वविधौ) पूर्व की कोई विधि करने में (स्थानिवत्) स्थानी के समान (न) नहीं होता है।

उदा०-(१) पदान्त। कौ स्तः। दो कौन हैं। यौ स्तः। जो दो हैं। तानि सन्ति। वे हैं। यानि सन्ति। जो हैं। (२) द्विर्वचन। दद्ध्यत्र। यहां दही है। मद्ध्वत्र। यहां मधु है। (३) वरे। अप्सु यायावरः प्रवपेत पिण्डान्। यायावरः। घूमनेवाला। (४) यलोप। कण्डूतिः। खाज। (५) स्वर। चिकीर्षकः। करने का इच्छुक। जिहीर्षकः। हरने का इच्छुक। (६) सवर्ण। शिण्ढि। तू पृथक् कर। पिण्ढि। तू पीस। (७) अनुस्वार। शिंषन्ति। पृथक् करते हैं। पिंशन्ति। पीसते हैं। (८) दीर्घ। प्रतिदीव्ना। प्रतिदिन से। प्रतिदिव्ने। प्रतिदिन के लिये। (९) जश्। सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे बब्धां ते हरी धानाः। सग्धिः=समान भोजन। सपीतिः=समान पान। (१०) चर्। जक्षतुः। उन दोनों ने खाया। जक्षुः। उन सबने खाया।

सिद्धि-(१) पदान्तविधि। *(कौ स्तः) अस्+लट्। अस्+शप्+तस्। अस्+०+तस्। अस्+तस्। स्+तस्। स्तः। यहां* ***'श्नसोरल्लोपः'*** *(६।४।१११) से ङित् सार्वधातुक प्रत्यय के परे होने पर अस् धातु के अकार का लोप होता है।* ***यह अकार लोप परनिमित्तक अच् आदेश है, यह पूर्व की विधि*** *'एचोऽयवायावः' (६।१।७८) से* ***'कौ' को आव् आदेश करने में स्थानिवत् नहीं होता है।*** *यदि वह स्थानिवत् हो जाये तो यहां प्राप्त 'आव्' आदेश हो जाये। इसी प्रकार 'तानि सन्ति' में* ***'इको यणचि'*** *(६।१।७०) से 'तानि' को यण्-आदेश नहीं होता है।*

(२) द्विर्वचनविधि। *(दद्ध्यत्र) दधि+अत्र। दध् च्+अत्र। दध् ध् य्+ अत्र। दद्ध्यत्र। यहां* ***'इको यणचि'*** *(६।१।७७) से* ***'यण्'*** *आदेश,* ***'अनचि च'*** *(८।४।४७)*

से धकार को द्विर्वचन और 'झलां जश् झशि' (८।४।५३) से पूर्व धकार को जश् दकार होता है। यहां यण् परनिमित्तक अय्-आदेश है, यह 'अनचि च' (८।४।४७) से धकार को द्विर्वचन करने में स्थानिवत् नहीं होता है। यदि यह स्थानिवत् हो जाये तो उक्त द्विर्वचन नहीं हो सकता। इसी प्रकार मद्ध्वत्र।

(३) वरेविधि। (यायावरः) या+यङ्। या या+य। या या य+वरच्। या या य+वर। या या+वर। या या व र+सु। यायावरः। यहां 'या गतौ' (अदा०प०) धातु से धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (३।२।२२) से 'यङ्' प्रत्यय, उससे 'यश्च यङः' (३।२।१७६) से कृत् वरच् प्रत्यय, 'अतो लोपः' (६।४।४८) से अकार का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) से 'य' का लोप होता है। यहां अकार-लोप परनिमित्तक अच्-आदेश है। यदि यह स्थानिवत् हो जाये तो 'यङ्' को मानकर 'आतो लोप इटि च' (६।४।६४) से आकार का लोप हो जाये।

(४) यलोपविधि। (कण्डूतिः) कण्डू+यक्। कण्डूय+क्तिच्। कण्डूय+ति। कण्डू+ति। कण्डूति+सु। कण्डूतिः। यहां 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' (३।१।२७) से 'यक्' प्रत्यय उससे 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' (३।३।१७४) से 'क्तिच्' प्रत्यय, 'अतो लोपः' (६।४।४८) से परनिमित्तक अकार का लोप, 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) से य का लोप होता है। यदि य के लोप की पूर्वविधि करने में अकार-लोप रूप अच्-आदेश स्थानिवत् हो जाये तो 'य' का लोप न हो सके। अकार-लोप के स्थानिवत् न होने से य का लोप हो जाता है।

(५) स्वरविधिः। (चिकीर्षकः) चिकीर्ष+ण्वुल्। चिकीर्ष्+अक्। चिकीर्षक+सु। चिकीर्षकः। यहां सनन्त 'चिकीर्ष' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से ण्वुल् प्रत्यय, 'अतो लोपः' (६।४।४८) से अकार का लोप होता है। उसके स्थानिवत् न होने से 'लिति' (६।१।१९३) से प्रत्यय से पूर्ववर्ती अच् ईकार को उदात्त स्वर हो जाता है। यदि अकार लोप रूप परनिमित्तक अच्-आदेश स्थानिवत् हो जाये तो प्रत्यय से पूर्ववर्ती ईकार को उदात्त स्वर नहीं हो सकता। अकार लोप के स्थानिवत् न होने से ईकार को उदात्त स्वर हो जाता है। इसी प्रकार जिहीर्षकः।*

(६) सवर्णविधि। (शिण्ढि) शिष्+लोट्। शिष्+सिप्। शिष्+हि। शिष्+धि। शिष्+ढि। शि श्नम् ष्+ढि। शि न ष्+ढि। शि न् ष्+ढि। शि ं ढि। शिण् ं ढि। शि ं ड् ढि। शि ं ढि। शिण् ढि। शिण्ढि। यहां शिष्लृ विशेषणे (रुधा०प०) धातु से 'लोट् च' (३।३।१६२) से लोट् प्रत्यय, 'तिप् तस् झि०' (३।४।७८) से ल् के स्थान में तिप् आदेश, 'सेर्ह्यपिच्च' (३।४।८७) से 'सि' के स्थान में अपित् 'हि' आदेश, 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' ६।४।८७) से 'हि' को 'धि' आदेश, 'रुधादिभ्यः श्नम्' (३।४।७८) से विकरण 'श्नम्' प्रत्यय, 'श्नसोरल्लोपः' (६।४।१११) से परनिमित्तक श्नम् के अकार का लोप, 'नश्चापदान्तस्य झलि' (८।३।२४) से पूर्वविधि न् को अनुस्वार, 'अनुस्वारस्य

यथि परसवर्णः' (८।४।५८) से अनुस्वार को पूर्वविधि परसवर्ण ण् करते समय परनिमित्तक अच् आदेश रूप अकार का लोप स्थानिवत् नहीं होता है। यदि वह स्थानिवत् हो जाये तो अनुस्वार को परसवर्ण नहीं हो सके। अकार लोप स्थानिवत् नहीं होता इसलिये अनुस्वार को परसवर्ण हो जाता है। इसी प्रकार **'पिष्लृ पेषणे'** (रुधादि०) से पिण्ढि।

(७) **अनुस्वारविधि।** (शिंषन्ति) शिष्+लट्। शिष्+झि। शिष्+अन्ति। शि श्नम् ष्+अन्ति। शि न् ष्+अन्ति। शि ष्+अन्ति। शिंषन्ति। यहां 'शिष्लृ विशेषणे' (रुधादि०) से **'वर्तमाने लट्'** (३।२।१२३) से लट् प्रत्यय **'तिप्तस्झि०'** (३।४।७८) से ल् के स्थान में 'झि' आदेश, **'झोऽन्तः'** (७।१।३) से 'झ' को 'अन्त' आदेश, **'रुधादिभ्यः श्नम्'** (३।१।७८) से विकरण 'श्नम्' प्रत्यय, **'श्नसोरल्लोपः'** (६।४।१११) से परनिमित्तक 'श्नम्' के अकार का लोप, **'नश्चापदान्तस्य झलि'** (८।३।२४) से न को अनुस्वार करते समय परनिमित्तक अच् आदेश रूप अकार का लोप स्थानिवत् नहीं होता है। यदि वह स्थानितवत् हो जाये तो 'न्' को अनुस्वार नहीं हो सकता। अकार लोप के स्थानिवत् न होने से 'न्' को अनुस्वार हो जाता है।

(८) **दीर्घविधि।** (प्रतिदीव्ना) प्रतिदिवन्+टा। प्रतिदीवन्+आ। प्रतिदीव्ना। यहां **'अल्लोपोऽनः'** (६।४।१३४) से अकार का लोप परनिमित्तक अच्-आदेश है। वह **'हलि च'** (८।२।७७) से पूर्वविधि दीर्घ करने में स्थानिवत् नहीं होता है। यदि वह स्थानिवत् हो जाये तो हल् परे न रहने से दीर्घ नहीं हो सकता, अकार लोप के स्थानिवत् न होने से दीर्घ हो जाता है।

(९) **जश्विधि।** (सग्धिः) अद्+क्तिन्। घस्लृ+ति। घस्+ति। घ्स्+ति। घ्+ति। घ्+धि। ग्+धि। ग्धि+सु। ग्धिः। समाना ग्धिरिति सग्धिः। यहां **'अद् भक्षणे'** (अद०प०) से **'स्त्रियां क्तिन्'** (३।३।९४) से 'क्तिन्' प्रत्यय, **'बहुलं छन्दसि'** (२।४।३९) से अद् के स्थान में घस्लृ आदेश, **'घसिभसोर्हलि च'** (६।४।१००) से 'घस्' की उपधा का लोप परनिमित्तक अच् आदेश है। वह **'झलां जश् झषि'** (८।४।५३) से पूर्वविधि जश्त्व ग् करते समय स्थानिवत् नहीं होता है। यदि वह स्थानिवत् हो जाये तो 'घ्' को जश्त्व नहीं हो सकता। अकार लोप के स्थानिवत् न होने से जश्त्व हो जाता है।

(१०) **चर्विधि।** (जक्षतुः) अद्+लिट्। अद्+तस्। अद्+अतुस्। घस्लृ+अतुस्। घस्+अतुस्। घ् स्+अतुस्। घस् घस्+अतुस्। घ+घस्+अतुस्। ज+घ्स्+अतुस्। ज+क्स्+अतुस्। ज+क्+ष्+अतुस्। जक्षतुः। यहां **'अद् भक्षणे'** (अदा०प०) धातु से **'परोक्षे लिट्'** (३।२।११५) से लिट् प्रत्यय, **'तिप्तस्झि०'** (३।४।७८) से 'तस्' प्रत्यय, **'परस्मैपदानां णलतुस्०'** (३।४।८२) से तस् के स्थान में 'अतुस्' आदेश, **'लिट्यन्यतरस्याम्'** (३।१।४) से अद् के स्थान में 'घस्लृ' आदेश, **'गमहनजनखनघसां०'** (६।४।९७) से घस् की उपधा अकार का लोप परनिमित्तक अच्-आदेश है। यदि वह

स्थानिवत् हो जाये तो 'खरि च' (८।४।५५) से पूर्वविधि 'घ' को चर् 'क्' नहीं हो सकता। अकार लोप के स्थानिवत् न होने से 'घ' को चर् 'क' हो जाता है।

*इस प्रकार परनिमित्तक अच्-आदेश पदान्त आदि विधि करने में उस अच् आदेश **से** पूर्ववर्ण सम्बन्धी कोई विधि करने में स्थानिवत् नहीं होता है, जिससे कि अच् **आदेश** से पूर्ववर्ण को वह प्राप्त विधि की जा सके।*

द्विर्वचनविधिः–

(४) द्विर्वचनेऽचि ।५६।

प०वि०-द्विर्वचने ७।१ अचि ७।१

अनु०-(निमित्तसप्तमी)। 'अचः स्थानिवत् आदेशः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-द्विर्वचनेऽचि अच आदेशः स्थानिवत्।

अर्थः-द्विर्वचननिमित्तेऽचि परतोऽच आदेशः स्थानिवत् भवति, द्विर्वचन एव कर्त्तव्ये। अत्र आल्लोप-उपधालोप-णिलोप-यण्-अय् अव्-आय्-आवादेशाः प्रयोजयन्ति।

उदा०-(१) **आल्लोपः।** पपतुः। पपुः। (२) **उपधालोपः।** जघ्नतुः जघ्नुः। (३) **णिलोपः।** आटिटत् (४) **यण्।** चक्रतुः। चक्रुः। (५) **अय्।** निनय। (६) **अव्।** लुलव। (७) **आय्।** निनाय। (८) **आव्।** लुलाव।

*__आर्यभाषा-अर्थ__-(द्विर्वचने) द्विर्वचन के निमित्त (अचि) अच् के परे होने **पर** (परस्मिन्) पर के कारण से किया गया (अचः) अच् के स्थान में (आदेशः) कोई आदेश (द्विर्वचने) केवल द्विर्वचन करने के लिये ही (स्थानिवत्) स्थानिवत् होता है। इसके (१) आल्लोप, (२) उपधालोप, (३) णिलोप, (४) यण्, (५) अय्, (६) अव् (७) आय् **और** (८) आव् आदेश प्रयोजन हैं।*

*उदा०-**आल्लोप**। पपतुः। उन दोनों ने पीया। पपुः। उन सबने पीया। उपधा। जघ्नतुः। उन दोनों ने मारा। जघ्नुः। उन सबने मारा। णिलोप। आटिटत्। उसने घुमाया। यण्। चक्रतुः। चक्रुः। उन सबने किया। अय्। निनय। मैंने लिया। अव्। लुलव। मैंने काटा। आय्। निनाय। वह ले गया। आव्। लुलाव। उसने काटा।*

*__सिद्धि__-(१) **आल्लोप।** (पपतुः) पा+लिट्। पा+तस्। पा+अतुस्। प्+अतुस्। पा+पा+अतुस्। प+प्+अतुस्। पपतुः। यहां **'परोक्षे लिट्'** (३।२।११५) से 'लिट्' प्रत्यय, **'तिप्तस्झि०'** (३।४।७८) से 'ल्' के स्थान में 'तस्' आदेश, **'आतो लोप इटि च'** (६।४।६४) **से पा धातु के आकार का लोप परनिमित्तक अच्-आदेश है, वह केवल 'लिटि धातोरनभ्यासस्य'** (६।१।८) **से 'पा' धातु को द्विर्वचन करने में स्थानिवत् हो जाता है,** जिससे धातु के प्रथम एकाच् अवयव को द्विर्वचन हो सके। **इसी प्रकार** से-पपुः।*

(२) **उपधा लोप।** (जघ्नतुः) हन्+लिट्। हन्+तस्। हन्+अतुस्। हन्+अतुस्। हन्+हन्+अतुस्। ह+हन्+अतुस्। झ+हन्+अतुस्। ज+हन्+अतुस्। जघ्नतुः। यहां '**हन् हिंसागत्योः**' (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् लिट् प्रत्यय, '**गमहनजनखनघसां०**' (६।४।९८) **से किया गया उपधा का लोप परनिमित्त अच्-आदेश है, वह केवल पूर्ववत् हन् धातु को द्विर्वचन करने में स्थानिवत्** हो जाता है, जिससे धातु के प्रथम एकाच् अवयव **को** द्विर्वचन हो सके। इसी प्रकार से-जघ्नुः।

(३) **णिलोप।** (आटिटत्) अट्+णिच्। आट्+इ। आटि+लुङ्। आट्+आटि+च्लि+तिप्। आ+आटि+चङ्+ति। आ+**आटि**+अ+त्। आ+आट्+अ+त्। आ+आटि+टि+अ+त्। आ आटि ट्+अ+त्। आटिटत्। **यहां 'अट् गतौ'** (भ्वा०प०) धातु से '**हेतुमति च**' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय, '**अत उपधायाः**' ७।२।११६) से धातु की उपधा को वृद्धि, णिजन्त 'आटि' धातु से 'लुङ्' (३।१।११०) से 'लुङ्' प्रत्यय, '**च्लि लुङि**' (३।१।४३) से 'च्लि' के स्थान में 'चङ्' आदेश '**णेरनिटि**' (६।४।५१) **से** '**णि**' **का लोप हो जाने पर** 'चङि' (६।१।११) **से अजादि धातु के द्वितीय एकाच् अवयव को द्विर्वचन प्राप्त नहीं होता है,** णि लोप **के स्थानिवत्** हो जाने **से आटि धातु के द्वितीय एकाच् अवयव** 'टि' **को** 'टि-टि' **द्विर्वचन हो जाता है।**

(४) **यण् आदेश।** (चक्रतुः) कृ+लिट्। कृ+तस्। कृ+अतुस्। क्र्+अतुस्। कृ+कृ+अतुस्। कृ+कर्+अतुस्। क् अ+क्र्+अतुस्। च+क्र्+अतुस्। चक्रतुः। **यहां** पूर्ववत् 'लिट्' प्रत्यय करने पर '**इको यणचि**' (६।१।७७) से 'कृ' धातु के 'ऋ' को **यण्** 'र्' **आदेश करने पर** '**लिटि धातोरनभ्यासस्य**' (६।१।८) **से अच् के अभाव में प्रथम एकाच् अवयव को द्विर्वचन प्राप्त नहीं होता है। यहां यण्-आदेश को स्थानिवत् मानकर** 'कृ' **धातु के प्रथम** एकाच् **अवयव को द्वित्व हो जाता है।**

(५) **अय् आदेश।** (निनय) नी+लिट्। नी+मिप्। नी+णल्। नी+अ। ने+अ। न् अय्+अ। ने+ने+अ। नि+नय्+अ। निनय। यहां '**णीञ् प्रापणे**' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लिट्' प्रत्यय '**तिप्तस्झि०**' (३।४।७८) से 'ल्' के स्थान में 'मिप्' आदेश, '**परस्मैपदानां णलतुस०**' (३।४।८२) से मिप् के स्थान में 'णल्' आदेश '**णलुत्तमो वा**' (७।१।९१) से उत्तम पुरुष के णल् का विकल्प से 'णित्व' '**सार्वधातुकार्धधातुकयोः**' (७।३।८४) से अंग को गुण, '**एचोऽयवायावः**' (६।१।७८) से अय् आदेश। उसे स्थानिवत् मानकर '**लिटि धातोरनभ्यासस्य**' (६।१।८) **से** 'ने' को द्विर्वचन होता है।

(६) **आय् आदेश।** (निनाय) नी+लिट्। नी+मिप्। नी+णल्। नी+अ। नै+अ। न् आय्+य। नै+नै+अ। नि+नाय्+अ। निनाय। यहां **पूर्ववत्** लिट् प्रत्यय, '**णलुत्तमो वा**' (७।१।९१) से णल् के णित्त्व पक्ष में '**अचो ञ्णिति**' (७।१।११५) से अंग **को** वृद्धि, '**एचोऽयवायावः**' (६।१।७८) से आय् आदेश। उसे स्थानिवत् मानकर **पूर्ववत्** 'नै' को **द्विर्वचन होता है।**

(७) अव् आदेश। (लुलव) लूञ् छेदने (क्र्या०उ०) धातु से पूर्ववत् लिट् प्रत्यय। शेष सब कार्य निनय के सहाय से समझ लें।

(८) आव् आदेश। (लुलाव) लूञ् छेदने (क्र्या०उ०) धातु से पूर्ववत् लिट् प्रत्यय। शेष कार्य निनाय के सहाय से समझ लें।

लोप-प्रकरणम्

लोप-संज्ञा–

(१) अदर्शनं लोपः।५६।

प०वि०–अदर्शनम् १।१ लोपः१।१।

स०–न दर्शनमिति अदर्शमिति अदर्शनम् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–'न वेति विभाषा' इत्यस्मात्–मण्डूकप्लुत्या 'इति' शब्दोऽनुवर्तते।

अन्वयः–अदर्शनम् इति लोपः।

अर्थः–वर्णस्यादर्शनम् (विनाशः) इति लोपसंज्ञकं भवति।

उदा०–गौधेरः। पचेरन्। जीरदानुः।

आर्यभाषा–अर्थ–(अदर्शनम्) अदर्शन, अश्रवण, अनुच्चारण, अनुपलब्धि, अभाव और वर्णविनाश ये पर्यायवाची हैं, (इति) इन शब्दों से जो अर्थ कहा जाता है, उसकी (लोपः) लोप संज्ञा होती है।

*उदा०–**गौधेरः**। गोहेरा। **पचेरन्**। वे सब पकावें। **जीरदानुः**। प्राण को धारण करनेवाला जीव।*

*सिद्धि–(१) **गौधेरः**। गोधा+ढ्रक्। गोधा+एय्र। गोधा+ए०र। गोध्+एर्। गौध्+एर। गौधेर+सु। गौधेरः। यहां गोधा शब्द से '**गोधाया ढ्रक्**' (४।१।१२९) से 'ढ्रक' प्रत्यय, '**आयनेय०**' (७।१।२) से 'ढ्' के स्थान में एय् आदेश और उसके य् का '**लोपो व्योर्वलि**' (६।१।६६) से लोप हो जाता है। उसकी लोप संज्ञा है।*

*(२) **पचेरन्**। पच्+लिङ्। पच्+झ। पच्+रन्। पच्+शप्+रन्। पच्+अ+रन्। पच्+अ+सीयुट्+रन्। पच्+अ+इय्+रन्। पच्+ई+रन्। पचेरन्। यहां '**डुपचष् पाके**' (भ्वा०प०) धातु से '**विधिनिमन्त्रणा०**' (३।३।१६१) से 'लिङ्' प्रत्यय, '**तिप्तसझि०**' (३।४।७८) से ल् के स्थान में झ आदेश, '**झस्य रन्**' (३।४।१०५) से झ के स्थान में रन् आदेश, '**लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य**' (७।२।७९) से 'सीयुट्' से सकार का लोप और '**लोपो व्योर्वलि**' (६।१।६६) से 'सीयुट्' के य् का लोप होता है, उसकी लोप संज्ञा है।*

*(४) **जीरदानुः**। जीव्+रदानुक्। जीव+रदानु। जीरदानुः। यहां '**जीव प्राणधारणे**' (भ्वा०प०) धातु से '**जीवे रदानुक्**' (उणादि०) (२।३।२) से '**रदानुक्**' प्रत्यय करने पर*

'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) से 'व्' का लोप होता है। उसकी लोप संज्ञा है।

विशेष-इस व्याकरणशास्त्र में 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' (१।१।६८) से शब्द के अपने रूप का ही ग्रहण किया जाता है, उसके अर्थ का नहीं। यहां 'न वेति विभाषा' (१।१।४४) से मण्डूकप्लुति न्याय से 'इति' शब्द के सहाय से यहां अदर्शन शब्द के अर्थ की लोप संज्ञा होती है।

लुक्-श्लु-लुप्-संज्ञाः—

(२) प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः।६०।

प०वि०-प्रत्ययस्य ६।१ लुक्-श्लु-लुपः १।३।

स०-लुक् च श्लुश्च लुप् च ते-लुक्श्लुलुपः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अदर्शनम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-लुक्श्लुलुपभिः प्रत्ययस्य अदर्शनं लुक्श्लुलुपः।

अर्थः-लुक्-श्लु-लुप्शब्दैः प्रत्ययस्यादर्शनं लुक्-श्लुलुप्संज्ञकं भवति।

उदा०-(लुक्) अत्ति। (श्लुः) जुहोति। (लुप्) वरणाः।

आर्यभाषा-अर्थ-लुक्, श्लु, लुप् शब्दों के द्वारा (प्रत्ययस्य) प्रत्यय के (अदर्शनम्) लोप की (लुक्-श्लु-लुपः) लुक्, श्लु और लुप् संज्ञा होती है।

उदा०-(लुक्) अत्ति। वह खाता है। श्लु। जुहोति। वह होम करता है। लुप्। वरणाः। एक जनपद का नाम है।

सिद्धि-(१) लुक्। अत्ति। अद्+लट्। अद्+तिप्। अद्+शप्+ति। अद्+०+ति। अत्ति। यहां अद् भक्षणे (अदा०प०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।१।१२३) से लट् प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से 'ल्' के स्थान में 'तिप्' आदेश, 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' विकरण प्रत्यय और उसका 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (२।४।७२) से लुक् होता है। अतः 'शप्' प्रत्यय के अदर्शन की यहां 'लुक्' संज्ञा है।

(२) श्लु। (जुहोति) हु+लट्। हु+शप्+तिप्। हु+०+ति। हु+हु+ति। हु+हो+ति। जु+हो+ति। जुहोति। यहां 'हु दानादनयोः, आदाने चेत्येके' (जु०प०) धातु से पूर्ववत् लट् प्रत्यय, 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' (२।४।७५) से शप् को श्लु होता है। तत्पश्चात् 'श्लौ' (६।१।१०) से हु धातु को द्विर्वचन होता है। यहां शप् प्रत्यय के अदर्शन की 'श्लु' संज्ञा है।

(३) लुप्। (वरणाः) वरण+अण्+जस्। वरण+अ+अस्। वरण++०+अस्। वरणाः। यहां 'वरणादिभ्यश्च' (४।२।८२) से 'अण्' प्रत्यय 'लुप्' होता है। उसकी 'लुप्' संज्ञा है।

विशेष-किसी वर्ण के अदर्शन को लोप कहते हैं और किसी प्रत्यय विशेष के अदर्शन को लुक्, श्लु और लुप् कहा जाता है।

प्रत्ययलक्षणकार्यम्-

(३) प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्।६१।

प०वि०-प्रत्ययलोपे ७।१ प्रत्ययलक्षणम् १।१।

स०-प्रत्ययस्य लोप इति प्रत्ययलोपः, तस्मिन्-प्रत्ययलोपे (षष्ठी तत्पुरुषः) प्रत्ययलक्षणं यस्य तत् प्रत्ययलक्षणम्, प्रत्ययहेतुकमित्यर्थः (बहुव्रीहिः)।

अर्थः-प्रत्ययस्य लोपे सति प्रत्ययलक्षणम् (प्रत्ययहेतुकम्) कार्यं भवति।

उदा०-अग्निचित्। सोमसुत्। अधोक्।

आर्यभाषा-अर्थ-(प्रत्ययलोपे) किसी प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी (प्रत्ययलक्षणम्) प्रत्ययहेतुक कार्य हो जाता है।

*उदा०-**अग्निचित्।** अग्नि का चयन करनेवाला। **सोमसुत्।** सोम का सवन करनेवाला। **अधोक्।** उसने दुहा।*

*सिद्धि-(१) **अग्निचित्।** अग्नि+अम्+चि+क्विप्। अग्नि+चि+वि। अग्नि+चि+तुक्+वि। अग्निचि+त्+वि। अग्निचित्+०। अग्निचित्+सु। अग्निचित्+०। अग्निचित्। यहां '**अग्नौ चेः**' (३।२।९१) से अग्नि कर्म उपपद होने पर '**चिञ् चयने**' (स्वा०उ०) धातु से 'क्विप्' प्रत्यय, '**ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्**' (६।१।७१) से तुक् आगम, तत्पश्चात् '**हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०**' (६।१।६८) से 'सु' प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी '**सुप्तिङन्तं पदम्**' (१।४।१४) से प्रत्यय लक्षण कार्य पदसंज्ञा हो जाती है।*

*(२) **सोमसुत्।** यहां '**सोमे सुञः**' (३।२।९०) से सोम कर्म उपपद '**षुञ् अभिषवे**' (स्वा०उ०) धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होता है। शेष कार्य 'अग्निचित्' के समान है।*

*(३) **अधोक्।** दुह्+लङ्। अट्+दुह्+तिप्। अ+दुह्+शप्+ति। अ+दुह्+०+त्। अदोह्+तु। अदोह्+०। अदोध्। अधोध्। अधोग्। अधोक्। यहां '**दादेर्धातोर्घः**' (८।१।३२) से हकार को घकार, '**एकाचो बशो भष्०**' (८।२।२७) से दकार को भष् धकार, '**झलां जशोऽन्ते**' (८।२।३९) से पदान्त में 'घ' को जश् गकार और '**वाऽवसाने**' (८।४।५६) से 'ग्' को चर् ककार होता है। 'अधोक्' यहां 'हल्याङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६८) से तिप् प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी '**सुप्तिङन्तं पदम्**' (१।४।१४) से प्रत्यय लक्षण कार्य पदसंज्ञा होती है।*

प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः–

(४) न लुमताऽङ्गस्य।६३। (६२)

प०वि०–न अव्ययपदम्। लुमता ३।१ अङ्गस्य ६।१।

लु अस्मिन्नस्तीति लुमान्, तेन-लुमता (तद्धितवृत्तिः)।

अनु०–प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्, इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–लुमता प्रत्ययलोपेऽङ्गस्य प्रत्ययलक्षणं न।

अर्थः–लुमता शब्देन प्रत्ययलोपे सति अङ्गस्य प्रत्ययलक्षणं कार्यं न भवति।

उदा०–(लुक्) मृष्टः। (श्लुः) जुहुतः। (लुप्) गर्गाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(लुमता) लुमान्। लुक्, श्लु और लुप् के द्वारा (प्रत्ययलोपे) प्रत्यय का लोप हो जाने पर (अङ्गस्य) जो अङ्ग है उसको (प्रत्ययलक्षणम्) प्रत्ययहेतुक कार्य (न) नहीं होता है।

उदा०–(लुक्) मृष्टः। वे दोनों शुद्ध करते हैं। (श्लु) जुहुतः। वे दोनों होम करते हैं। (लुप्) पञ्चालाः। पंचाल जनपद के निवासी।

***सिद्धि-(१) लुक्।** (मृष्टः) मृज्+लट्। मज्+तस्। मृज्+शप्+तस्। मृज्+अ+तस्। मृज्+०+तस्। मृष्+तस्। मृष्+टस्। मृष्टः। यहां **'मृजूष् शुद्धौ'** (अदा०प०) धातु से **'अदिप्रभृतिभ्यः शपः'** (२।४।७२) से शप् का लुक् हो जाने पर, प्रत्यय लक्षण कार्य **'मृजेर्वृद्धिः'** (७।२।११४) से अङ्ग को वृद्धि नहीं होती है।*

***(२) श्लु।** (जुहुतः) हु+लट्। हु+तस्। हु+शप्+तस्। हु+अ+तस्। हु+०+तस्। हु+हु+तस्। झु+हु+तस्। जु+हु+तस्। जुहुतः। यहां **'हु दानादनयोः, आदाने चेत्येके'** (जु०प०) धातु से **'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः'** (२।४।७५) से शप् का श्लु हो जाने पर, प्रत्यय लक्षण कार्य **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (७।३।८४) से अङ्ग को गुण नहीं होता है।*

***(३) लुप्।** (पञ्चालाः) पञ्चाला+अण्+तस्। पञ्चाल+अ+अस्। पञ्चाल+०+अस्। पञ्चालाः। पञ्चालानां जनपदो निवासः पञ्चालाः। यहां **'तस्य निवासः'** (४।२।६८) से 'अण्' प्रत्यय और उसका **'जनपदे लुप्'** (४।१।८१) से लुप् हो जाने पर **'तद्धितेष्वचामादेः'** (७।२।११७) से प्राप्त प्रत्यय लक्षण कार्य आदि वृद्धि नहीं होती है।*

टि-संज्ञा–

(१) अचोऽन्त्यादि टि।६३।

प०वि०–अचः ६।१ अन्त्यादि १।१ टि १।१।

स०–अन्ते भवोऽन्त्यः। **अन्त्य आदिर्यस्य तद्-अन्त्यादि** (बहुव्रीहिः)

अर्थः-अचां मध्ये योऽन्त्योऽच्, तदादि शब्दरूपं टिसंज्ञकं भवति।

उदा०-अग्निचित्। सोमसुत्। पचेते। पचेथे।

आर्यभाषा-अर्थ-(अचाम्) अचों के मध्य में (अन्त्यादि) जो अन्त्य अच् है और वह अन्त्य अच् जिस हल्-समुदाय के आदि में है, उस शब्द की (टि) टि संज्ञा होती है।

*उदा०-**अग्निचित्**। अग्नि का चयन करनेवाला। **सोमसुत्**। सोम का सवन करनेवाला। **पचेते**। वे दोनों पकाते हैं। **पचेथे**। तुम दोनों पकाते हो।*

*सिद्धि-(१) **अग्निचित्**। यहां अन्तिम अच् 'इ' है और वह त् हल् के आदि में है, इसलिये यहां 'इत्' शब्द की 'टि' संज्ञा है। इसी प्रकार (२) 'सोमसुत्' में 'उत्' शब्द की 'टि' संज्ञा होती है।*

*(३) **पचेते**। पच्+लट्। पच्+शप्+आताम्। पच्+अ+आताम्। पच्+अ+इयताम्। पच्+अ+इ० ते। पचेते। यहां 'आताम्' प्रत्यय में 'आम्' भाग की 'टि' संज्ञा होती है और उसे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (३।४।७९) से 'ए' आदेश हो जाता है। इसी प्रकार 'पचेथे' में 'आथाम्' प्रत्यय के 'आम्' भाग की टि संज्ञा है और उसे पूर्ववत् 'ए' आदेश होता है।*

विशेष-यहां अग्निचित् आदि उदाहरण टि संज्ञा को समझाने के लिए दिये गये हैं। उनमें टि संज्ञा का कोई कार्य नहीं है।

उपधा-संज्ञा—

अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा।६४।

प०वि०-अलः ५।१ अन्त्यात् ५।१ पूर्वः १।१ उपधा १।१

अन्ते भवम् अन्त्यम् तस्मात् अन्त्यात् (तद्धितवृत्तिः)।

अन्वयः-अन्त्याद् अलः पूर्व उपधा।

अर्थः-धात्वादिवर्णसमुदायेऽन्त्याद् अलः पूर्वो यो वर्णः स उपधा संज्ञको भवति भवति।

उदा०-(भिद्) भेत्ता। (छिद्) छेत्ता।

आर्यभाषा-अर्थ-धातु आदि वर्णसमुदाय में (अन्त्यात्) अन्तिम (अलः) अल् से (पूर्वः) पहला जो वर्ण है, उसकी (उपधा) उपधा संज्ञा होती है। जैसे पच् और पठ् यहां अकार की उपधा संज्ञा है। भिद् और छिद् यहां इकार की उपधा संज्ञा है। बुध् और युध् यहां उकार की उपधा संज्ञा है। वृत् और वृध् यहां ऋकार की उपधा संज्ञा है। व्याकरणशास्त्र में उपधा के अनेक कार्य किये जाते हैं। जो यथास्थान उपलब्ध हो जायेंगे।

सप्तम्या-अर्थनिर्देशः–

(१) तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य।६५।

प०वि०–तस्मिन् ७।१ इति अव्ययपदम्, निर्दिष्टे ७।१ पूर्वस्य ६।१।

अर्थः–तस्मिन्निति सप्तम्या निर्दिष्टे व्यवधानरहितस्य पूर्वस्य कार्यं भवति।

उदा०–**इको यणचि**–दध्यत्र। मध्वत्र।

*आर्यभाषा–अर्थ–(तस्मिन् इति) सप्तमी विभक्ति के द्वारा (निर्दिष्टे) किसी का निर्देश करने पर वहां (पूर्वस्य) पूर्व को कार्य होता है, उत्तर को नहीं। जैसे–'**इको यणचि**' (६।१।७७) यहां 'अचि' का सप्तमी विभक्ति से निर्देश किया गया है। अतः यहां अच् के परे होने पर पूर्ववर्ण को कार्य किया जाता है। दधि+अत्र। दध्यत्र। मधु+अत्र। मध्वत्र। इत्यादि।*

*विशेष–इस व्याकरणशास्त्र में '**स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा**' (१।१।६८) से शब्द का अपना रूप ही ग्रहण किया जाता है। यहां 'तस्मिन्' शब्द का जो सप्तमी अर्थ है, वह ग्रहण किया जाता है, तस्मिन् शब्द नहीं।*

पञ्चम्या-अर्थनिर्देशः–

(१) तस्मादित्युत्तरस्य।६६।

प०वि०–तस्मात् ५।१ इति अव्ययपदम्, उत्तरस्य ६।१।

अर्थः–तस्मादिति पञ्चम्यानिर्दिष्टे व्यवधानरहितस्योत्तरस्य कार्यं भवति।

उदा०–तिङ्ङतिङः–ओदनं पचति।

*आर्यभाषा–अर्थ–(तस्मात् इति) पञ्चमी विभक्ति के द्वारा (निर्दिष्टे) किसी अर्थ का निर्देश करने पर वहां (उत्तरस्य) उत्तर को कार्य होता है, पूर्व को नहीं। जैसे '**तिङ्ङतिङः**' (८।१।२८) तिङ् १।१ अतिङः ५।१ अतिङन्त से उत्तर तिङन्त पद को अनुदात्त होता है। जैसे–ओदनं पचति। वह चावल पकाता है।*

विशेष–यहां भी पूर्ववत् 'तस्मात्' शब्द के साथ 'इति' शब्द का प्रयोग करने से 'तस्मात्' शब्द का जो पञ्चमी अर्थ है, वह ग्रहण किया जाता है, 'तस्मात्' शब्द नहीं।

शब्दग्रहणप्रकरणम्

स्वरूपग्रहणम्–

(१) स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा।६७।

प०वि०-स्वम् १।१ रूपम् १।१ शब्दस्य ६।१ अशब्दसंज्ञा १।१।

स०-शब्दस्य संज्ञा इति शब्दसंज्ञा, न शब्दसंज्ञा इति अशब्दसंज्ञा (षष्ठीतत्पुरुषगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अर्थः-अस्मिन् व्याकरणशास्त्रे शब्दस्य स्वकीयं रूपं ग्राह्यं भवति, व्याकरणसंज्ञां वर्जयित्वा।

उदा०-**अग्नेर्ढक्**। आग्नेयम्। **दध्नष्ठक्**-दाधिकम्।

__आर्यभाषा-अर्थ__-इस व्याकरणशास्त्र में (शब्दस्य) शब्द का (स्वम्) अपना (रूपम्) रूप ग्रहण किया जाता है, उसका अर्थ नहीं (अशब्दसंज्ञा) शब्दशास्त्र की संज्ञा को छोड़कर। शब्दशास्त्र की जो वृद्धि आदि संज्ञायें हैं, वहां वृद्धि आदि शब्दों का ग्रहण नहीं किया जाता अपितु जिसकी ये वृद्धि आदि संज्ञायें की हैं, उनका ही ग्रहण किया जाता है। __'अग्नेर्ढक्'__ (४।२।३३) आग्नेयम् अष्टाकपालं निर्वपेत्। यहां अग्नि शब्द से ढक् प्रत्यय का विधान किया गया है। अतः अग्नि शब्द का ही यहां ग्रहण किया जाता है, उसके अर्थ अङ्गार का नहीं और न ही उसके पर्यायवाची ज्वलन, पावक और धूमकेतु आदि का ग्रहण होता है। __आग्नेयम्।__ अग्नि देवतावाली हवि। __दाधिकम्।__ दही में संस्कृत लवण आदि।

__सिद्धि-(अग्नेयम्।__ अग्नि+ढक्। अग्नि+एय्। आग्न्+एय्। आग्न्+एय। आग्नेय+सु। आग्नेयम्। यहां __'अग्नेर्ढक्'__ (४।२।३३) से ढक् प्रत्यय, __'आयनेय०'__ (७।१।२) से 'ढ' के स्थान में 'एय्' आदेश, __'यस्येति च'__ (६।४।१४८) से इकार का लोप और __'किति च'__ (७।२।११८) से आदिवृद्धि होती है। ऐसे ही __दाधिकम्।__

(२) यहां अग्नि शब्द से 'ढक्' प्रत्यय कहा गया है वह उसके __अर्थ__ अंगार से तथा उसके पर्यायवाची ज्वलन आदि से नहीं होता है।

सवर्णग्रहणम्-

(२) अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः।६८।

प०वि०-अण्-उदित् १।१ सवर्णस्य ६।१ च अव्ययम्, अप्रत्ययः १।१।

स०-अण् च उदित् च एतयोः समाहारः अणुदित् (समाहारद्वन्द्वः) न प्रत्यय इतिअप्रत्ययः (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-स्वं रूपम्, इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अणुदित् सवर्णस्य स्वं रूपं चाप्रत्ययः।

अर्थः-अण् उदिच्च वर्णः सवर्णस्य स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति, प्रत्ययं वर्जयित्वा।

उदा०-(अण्) **आद्गुणः**-खट्वेन्द्रः। **'क्यचि च'**-मालीयति। **यस्येति च**-मालीयः। (उदित्) **लशक्वतद्धिते। चुटू।**

आर्यभाषा-अर्थ-(अण्-उदित्) अण् और उदित् (सवर्णस्य) सवर्णों का और (स्वम्) अपने (रूपम्) रूप का (च) भी ग्राहक होता है (अप्रत्ययः) प्रत्यय को छोड़कर।

उदा०-(अण्) 'आद्गुणः' खट्वेन्द्रः। खाट का राजा। 'क्यचि च' मालीयति। किसी वस्तु को माला के समान धारण करता है। 'यस्येति च'-मालीयः। माला में रहनेवाला पुष्प आदि। इत्यादि स्थानों पर अकार आदि को कार्य कहने पर वहां ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और निरनुनासिक तथा सानुनासिक भेद से युक्त १८ अठारह प्रकार के अकार आदि का ग्रहण किया जाता है। अकार के १८ भेद 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) सूत्र के प्रवचन में दिखा दिये हैं, वहां देख लेवें। (उदित्) 'लशक्वतद्धिते' (१।३।८) यहां 'कु' से कवर्ग और 'चुटू' (१।३।७) यहां चु से चवर्ग और टु से टवर्ग का ग्रहण किया जाता है।

विशेष-प्रत्याहार सूत्रों में दो (अण्) प्रत्याहार बनाये गये हैं, एक 'अइउण्' (६।१।८७) में तथा दूसरा 'लण्' सूत्र में। 'लण्' सूत्र में जो अण् प्रत्याहार बनाया गया है उसका प्रयोग केवल इसी सूत्र में किया गया है। अन्यत्र सर्वत्र 'अ इ उ ण्' के अण् प्रत्याहार का ही प्रयोग किया गया है।

सिद्धि-(१) खट्वेन्द्रः। खट्वा+इन्द्रः। खट्वेन्द्रः। यहां 'आद्गुण' से 'अ' से परे 'अच्' को कहा गुणरूप एकादेश सवर्ण ग्रहण से 'आ' से परे भी अच् को गुणरूप एकादेश हो जाता है।

(२) मालीयति। माला+क्यच्। माली+य। मालीय+लट्। मालीय+शप्+तिप्। मालीय+अ+ति। मालीयति। यहां 'क्यचि च' (७।४।३३) से 'अ' को कहा ईकार-आदेश सवर्ण ग्रहण से 'आ' के स्थान में भी हो जाता है।

(३) मालीयः। माला+छ। माल्+ईय। मालीय+सु। मालीयः। यहां 'यस्येति च' (६।४।१४८) से 'अ' का लोप होता है किन्तु सवर्ण ग्रहण से 'आ' का भी लोप हो जाता है।

तत्कालग्रहणम्-

(३) तपरस्तत्कालस्य।६६।

प०वि०-तपरः १।१ तत्कालस्य ६।१।

स०-तः परो यस्मात् सः-तपरः (बहुव्रीहिः)। तादपि परस्तपरः

(पञ्चमीतत्पुरुषः)। तस्य कालस्तत्कालः, तत्काल इव कालो यस्य सः-तत्कालः, तस्य तत्कालस्य (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'स्वं रूपम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-तपरस्तत्कालस्य स्वं रूपम्।

अर्थः-तपरो वर्णस्तत्कालस्य स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति।

उदा०-**'अतो भिस ऐस्'**-वृक्षैः। प्लक्षैः।

आर्यभाषा-अर्थ-(तपरः) तपर वर्ण (तत्कालस्य) अपने तुल्यकालवाले वर्ण का (सवर्णस्य) और गुणान्तर से युक्त सवर्ण का तथा (स्वम्) अपने(रूपम्) रूप का ग्राहक होता है।

*उदा०-**'अतो भिस ऐस्'** (७।१।९) वृक्षैः। वृक्षों के द्वारा। प्लक्षैः। प्लक्षों के द्वारा।*

*सिद्धि-(१) वृक्षैः। वृक्ष+भिस्। वृक्ष+ऐस्। वृक्षैस्। वृक्षैः। यहां **'अतो भिस ऐस्'** (७।१।९) में 'अ' को तपर करके निर्देश किया गया है कि उससे उत्तर 'भिस्' प्रत्यय को 'ऐस्' आदेश हो जाये। अतः उसके तुल्य कालवाले 'अ' से उत्तर ही 'भिस्' को 'ऐस्' आदेश होता है, उससे भिन्न कालवाले 'आ' से उत्तर नहीं, जैसे रमाभिः।*

*विशेष-तपर की व्याख्या **'वृद्धिरादैच्'** (१।१।१) के प्रवचन में लिख दी है, वहां देख लेवें।*

अन्त्येन सहादिग्रहणम्-

(४) आदिरन्त्येन सहेता।७०।

प०वि०-आदिः १।१ अन्त्येन ३।१ सह अव्ययम्, इता ३।१।

अन्ते भवम् अन्त्यम् तेन-अन्त्येन (तद्धितवृत्तिः)।

अनु०-स्वं रूपम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-आदिरन्त्येन इता सह स्वं रूपम्।

अर्थः-आदिर्वर्णोऽन्त्येन इता वर्णेन सह, तन्मध्ये पतितानां स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति।

उदा०-अण्। अक्। अच्। हल्। सुप्। तिङ्।

आर्यभाषा-अर्थ-(आदिः) आदिमवर्ण (अन्त्येन) अन्तिम (इता) इत् संज्ञावाले वर्ण के (सह) साथ ग्रहण किया जाता हुआ उसके मध्य में पतित वर्णों का तथा (स्वम्) अपने (रूपम्) रूप का भी ग्राहक होता है।

उदा०-अण्। अक्। अच्। हल्। सुप्। तिङ्। इत्यादि।

सिद्धि-(१) अण्। यह 'अ इ उ ण्' सूत्र में प्रत्याहार है 'अण्' कहने से अ, इ, उ, वर्णों का ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार अक्, अच् और हल् को समझ लेवें।

*(२) **सुप्।** सु, औ, जस्, अम्, औट्, शस्, टा, भ्याम्, भिस्, ङे, भ्याम्, भ्यस्, ङसि, भ्याम्, भ्यस्, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस्, सुप्। यहां सु से लेकर प् तक एक 'सुप्' प्रत्याहार बनाया गया है। सु अन्तिम इत् प् वर्ण के साथ उसके मध्य में पतित प्रत्ययों का और अपने रूप का भी ग्राहक होता है। अतः 'सुप्' कहने से सु आदि २१ इक्कीस प्रत्ययों का ग्रहण किया जाता है।*

*(३) **तिङ्।** तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप् वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महिङ्। यहां 'ति' से लेकर 'ङ्' तक एक 'तिङ्' प्रत्याहार बनाया गया है। ति अन्तिम वर्ण ङ् के साथ उसके मध्य में पतित प्रत्ययों का और अपने रूप का भी ग्राहक होता है। अतः 'तिङ्' कहने से तिप् आदि १८ अठारह प्रत्ययों का ग्रहण किया जाता है।*

तदन्तग्रहणम्–

(५) येन विधिस्तदन्तस्य।७१।

प०वि०–येन ३।१ विधिः १।१ तदन्तस्य ६।१।

स०–सोऽन्ते यस्य सः–तदन्तः, तस्य–तदन्तस्य (बहुव्रीहिः)।

अनु०–स्वं रूपम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–येन विधिः स तदन्तस्य स्वं रूपम्।

अर्थः–येन विशेषणेन विधिर्विधीयते स तदन्तस्य (आत्मान्तस्य समुदायस्य) स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति।

उदा०–एरच्। जयः। चयः। अयः। **ओरावश्यके**–अवश्यलाव्यम्। अवश्यपाव्यम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(येन) जिस विशेषण से (विधिः) कोई विधि की जाती है वह (तदन्तस्य) आत्मान्त समुदाय की और (स्वम्) अपने (रूपम्) रूप की भी ग्राहक होती है।

*उदा०-**एरच्।** जयः। जीतना। चयः। चुनना। अयः। गति करना। **ओरावश्यके।** अवश्यलाव्यम्। अवश्य काटने योग्य। अवश्यपाव्यम्। अवश्य पवित्र करने योग्य।*

*सिद्धि-(१) **जयः।** जि+अच्। जे+अ+। ज् अय्+अ। जय+सु। जयः। यहां जि जये (भ्वा०प०) धातु से 'एरच्' (३।३।५६) इकारान्त धातु से अच् प्रत्यय होता है। यहां 'इ' कहने से इकारान्त का ग्रहण किया जाता है। **चिञ् चयने** (स्वा०उ०) धातु से 'चयः'।*

*(२) **अयः।** इ+अच्। ए+अ। अय्+अ। अय+सु। अयः। यहां 'इण् **गतौ**' (अदा०प०) धातु से 'एरच्' (३।३।५६) से 'अच्' प्रत्यय होता है। यह धातु 'इ' स्वरूप है अतः स्वरूप ग्रहण से 'इ' धातु से भी अच् प्रत्यय हो जाता है।*

(३) अवश्यलाव्यम्। अवश्य+लू+ण्यत्। अवश्य+लौ+य। अवश्य+लाव्+य। अवश्यलाव्य+सु। अवश्यलाव्यम्। यहां 'ओरावश्यके' (३।१।१२५) से आवश्यकता द्योतित होने पर 'लूञ् लवने' (क्र्या०उ०) धातु से ण्यत् प्रत्यय का विधान किया है। यहां 'ओ' कहने से ओकारान्त का ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार 'पूञ् पवने' (क्रयादि०) धातु से अवश्यपाव्यम्।

वृद्धसंज्ञाप्रकरणम्

वृद्धसंज्ञा–

(१) वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्।७२।

प०वि०–वृद्धिः १।१ यस्य ६।१ अचाम् ६।३ आदिः १।१ तद् १।१ वृद्धम् १।१।

अन्वयः–यस्याचामादिर्वृद्धिस्तद् वृद्धम्।

अर्थः–यस्य वर्णसमुदायस्याचां मध्ये आदिमोऽच् वृद्धिसंज्ञको भवति, स वर्णसमुदायो वृद्धसंज्ञको **भवति।**

उदा०–वृद्धाच्छः–शालीयः। मालीयः।

आर्यभाषा–अर्थ–(यस्य) जिस वर्णसमुदाय के (अचाम्) अचों में (आदिः) आदिम अच् (वृद्धिः) वृद्धि संज्ञावाला होता है (तत्) उस वर्ण समुदाय की (वृद्धम्) वृद्ध संज्ञा होती है।

उदा०–वृद्धाच्छ–शालीयः। मालीयः।

सिद्धि–(१) शालीयः। शाला+छ। शाला+ईय। शाल्+ईय। शालीय+सु। शालीयः। यहां शाला शब्द का आदिम अच् 'आ' वृद्धि संज्ञावाला है, अतः इसकी वृद्ध संज्ञा होने से 'वृद्धाच्छः' (४।२।११४) से 'छ' को 'ईय' आदेश हो जाता है। इसी प्रकार माला शब्द से–मालीयः।

त्यदादयः–

(२) त्यदादीनि च।७३।

प०प०–त्यद्-आदीनि १।३ च अव्ययम्।

स०–त्यद् आदिर्येषां तानीमानि त्यदादीनि (बहुव्रीहिः)।

अनु०–'वृद्धम्' इत्युनवर्तते।

अन्वयः–त्यदादीनि च वृद्धम्।

अर्थः–त्यदादीनि **शब्दरू**पाणि च वृद्धसंज्ञकानि भवन्ति।

उदा०–त्यद्–**त्यदीयम्।** तद्–तदीयम्। एतद्–एतदीयम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(त्यद्-आदीनि) त्यद् आदि शब्दों की (च) भी (वृद्धम्) वृद्ध संज्ञा होती है। त्यदीयम्। तदीयम्। एतदीयम्।

सिद्धि-(१) त्यदीयम्। त्यद्+छ। त्यद्+ईय् अ। त्यदीय+सु। त्यदीयम्। यहां 'त्यद्' शब्द की वृद्ध संज्ञा होने से 'वृद्धाच्छः' (४।२।११४) से 'छ' प्रत्यय होता है और 'छ' को पूर्ववत् 'ईय्' आदेश हो जाता है। इसी प्रकार 'तद्' शब्द से 'तदीयम्' और 'एतद्' शब्द से 'एतदीयम्' समझें।

***विशेष**-त्यद् आदि शब्दों का सर्वादिगण में पाठ किया गया है। त्यद् आदि शब्द ये हैं-त्यद्। तद्। यद्। एतद्। इदम्। अदस्। एक। द्वि। युष्मद्। अस्मद्। भवतु। किम्।*

प्राग्देशीय एङ्–

(३) एङ् प्राचां देशे।७४।

प०वि०-एङ् १।१ प्राचाम् ६।३ देशे ७।१।

अनु०-'यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-यस्याचामादिरेङ् प्राचां देशे वृद्धम्।

अर्थः-यस्य वर्णसमुदायस्यादिमोऽच् एङ् भवति, स वर्णसमुदायः प्राचां देशेऽभिधेये वृद्धसंज्ञको भवति।

उदा०-एणीपचनीयः। भोजकटीयः। गोनर्दीयः।

आर्यभाषा-अर्थ-(यस्य) जिस वर्णसमुदाय के (अचाम्) अचों में (आदिः) आदिम अच् (एङ्) एङ् हो, उसकी (प्राचाम्) पूर्व दिशा के (देशे) देश के कथन में (वृद्धम्) वृद्ध संज्ञा होती है।

उदा०-एणीपचनीयः। भोजकटीयः। गोनर्दीयः।

सिद्धि-एणीपचनीयः। एणीपचन+छ। एणीपचन+इय् अ। एणीपचनीय+सु। एणीपचनीयः। यहां एणीपचन शब्द की वृद्ध संज्ञा होने से 'वृद्धाच्छः' (४।२।११४) से 'छ' प्रत्यय होता है और उसको पूर्ववत् 'ईय्' आदेश हो जाता है। इसी प्रकार 'भोजकट' शब्द से 'भोजकटीयः' और गोनर्द शब्द से 'गोनर्दीयः' समझें।

प्राची और उदीची का विभाजन–

प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती।।

अर्थ-जैसे हंस नीर और क्षीर को पृथक्-पृथक् कर देता है, वैसे वैयाकरण विद्वानों की शब्द-सिद्धि के लिये पूर्व और उत्तर देश का शरावती (साबरमती) नदी विभाग कर देती है।

इति पण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते पाणिनीयाष्टाध्यायीप्रवचने प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः।

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः

ङित्-प्रकरणम्

अञ्णित्प्रत्ययाः—

(१) गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित्।१।

प०वि-गाङ्-कुटादिभ्यः ५।३ अञ्णित् १।१ ङित् १।१।

स०-कुट आदिर्येषां ते-कुटादयः, गाङ् च कुटादयश्च ते-गाङ्-कुटादयः, तेभ्यः-गाङ्कुटादिभ्यः (बहुव्रीहिगर्भितेतरेतरयोगद्वन्द्वः)। ञश्च णश्च तौ-ञ्णौ। इच्च इच्च तौ-इतौ। ञ्णौ इतौ यस्य सः-ञ्णित्। न ञ्णित् इति अञ्णित् (इतरेतरयोगद्वन्द्वबहुव्रीहिगर्भितनञ्तत्पुरुषः) ङ इत् यस्य सः-ङित् (बहुव्रीहिः)।

अर्थः-गाङ्-आदेशात् कुटादिभ्यश्च धातुभ्यः परे ञित्-णिद्भिन्नाः प्रत्यया ङिद्वद् भवन्ति।

उदा०-**(गाङ्-आदेशात्)** अध्यगीष्ट। अध्यगीषाताम्। अध्यगीषत। **(कुटादिभ्यः)** कुटिता। कुटितुम्। कुटितव्यम्। उत्पुटिता। उत्पुटितुम्। उत्पुटितव्यम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(गाङ्-कुटादिभ्यः) गाङ् आदेश और कुट आदि धातुओं से परे (अञ्णित्) ञित् और णित् से भिन्न प्रत्यय (ङित्) ङिद्वत् होते हैं।

उदा०-(गाङ्) अध्यगीष्ट। उसने पढ़ा। अध्यगीषाताम्। उन दोनों ने पढ़ा। अध्यगीषत। उन सबने पढ़ा। (कुटादि) कुटिता। कुटिलता करनेवाला। कुटितुम्। कुटिलता करने के लिये। कुटितव्यम्। कुटिलता करनी चाहिये। उत्पुटिता। जोड़नेवाला। उत्पुटितुम्। जोड़ने के लिये। उत्पुटितव्यम्। जोड़ना चाहिये।

*सिद्धि-**(१) अध्यगीष्ट।** इङ्+लुङ्। इ+ल्। गाङ्+च्लि+ल्। अ+गा+सिच्+त। अ+गा स्+त्। अ+ग् ई+स्+त। अ+गी+ष्+ट। अगीष्ट। अधि+अगीष्ट। अध्यगीष्ट।*

यहां 'इङ् अध्ययने' (अदा०आ०) धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से 'लुङ्' प्रत्यय, 'विभाषा लुङ्लृङोः' (अ० २।४।५०) से 'इङ्' के स्थान में 'गाङ्' आदेश 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (६।४।६६) से ईत्व करने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४)

से अङ्ग को गुण प्राप्त होता है, किन्तु इस सूत्र से 'सिच्' प्रत्यय के 'ङित्' हो जाने से 'क्ङिति च' (१।१।५) से गुण का निषेध हो जाता है।

*(२) **कुटिता।** कुट्+तृच्। कुट्+इट्+तृ। कुट्+इ+तृ। कुटितृ+सु। कुटित् अनङ्+स्। कुटितन्+स्। कुटितान्+स्। कुटितान्+०। कुटिता।*

*यहां **'कुट कौटिल्ये'** (तु०प०) धातु से **'ण्वुल्तृचौ'** (३।१।१३३) से 'तृच्' प्रत्यय, **'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'** (७।२।३५) से उसे 'इट्' का आगम होने पर **'पुगन्तलघूपधस्य च'** (७।२।८६) से अङ्ग को लघूपध गुण प्राप्त होता है। इस सूत्र से 'तृच्' प्रत्यय के 'ङित्' हो जाने से **'क्ङिति च'** (१।१।५) से गुण का निषेध हो जाता है। इसी प्रकार से कुट्+तुमुन्। कुटितुम्। कुट+तव्यत्। कुटितव्यम्। उत् उपसर्गपूर्वक पुट धातु से उत्पुटिता आदि शब्द सिद्ध होते हैं।*

*(३) **कुटादिः।** कुट कौटिल्ये। पुट संश्लेषणे। कुच सङ्कोचने। गुज शब्दे। गुड रक्षायाम्। डिप क्षेपे। छुर छेदने। स्फुट विकसने। मुट आक्षेप-प्रमर्दनयोः। त्रुट छेदने। तुट कलहकर्मणि। चुट, छुट छेदने। जुड बन्धने। कड मदे। लुट संश्लेषणे। लुठ इत्येके। कृड घनत्वे। कुड बाल्ये। पुड उत्सर्गे। घुट प्रतिघाते। तुड तोडने। थुड, स्थुड संवरणे। खुड, छुड इत्येके। स्फुर स्फुरणे। स्फर इत्येके। स्फुल सञ्चलने। फुल इत्येके। स्फुड, चुड, व्रड संवरणे। क्रुड, भृड निमज्जने। गुरी उद्यमने। णू स्तवने। धू विधूनने। गु पुरीषोत्सर्गे। ध्रु गतिस्थैर्ययोः। ध्रुव इत्येके। कूङ् शब्दे। कुङ् शब्द इत्येके। (इति कुटादिगणः)।*

***विशेष**-यहां 'गाङ्' से **'विभाषा लुङ्लृङोः'** (अ० २।४।५०) से 'इङ्' के स्थान में विहित 'गाङ्' आदेश का ग्रहण किया जाता है, **'गाङ् गतौ'** (भ्वा०आ०) धातु का नहीं, क्योंकि 'गाङ्' आदेश को 'ङित्' करने का अन्य कोई प्रयोजन नहीं है।*

इडादिप्रत्ययः–

(२) विज इट्।२।

प०वि०-विजः ५।१ इट् १।१।

अनु०-'ङित्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-विज इट् ङित्।

अर्थः-विजो धातोः पर इडादिप्रत्ययो ङिद्वद् भवति।

उदा०-(विज) उद्विजिता। उद्विजितुम्। उद्विजितव्यम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(विजः) विज धातु से परे (इट्) इडादि प्रत्यय (ङित्) ङिद्वत् होता है।

उदा०-उद्विजिता। डरनेवाला। उद्विजितुम्। डरने के लिये। उद्विजितव्यम्। डरना चाहिये।

सिद्धि-(१) उद्विजिता। विज्+तृच्। विज्+इट्+तृ। विज्+इ+तृ। विजितृ+सु। विजित् अनङ्+स्। विजितन्+स्। विजितान्+स्। विजितान्+०। विजिता। उत्+विजिता। उद्विजिता।

*यहां उत् उपसर्गपूर्वक **'ओविजी भय-सञ्चलनयोः'** (तु०आ०) धातु से **'ण्वुल्-तृचौ'** (३।१।१३३) से 'तृच्' प्रत्यय और उसको **'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'** (७।२।३५) से 'इट्' का आगम करने पर **'पुगन्तलघूपधस्य च'** (७।३।८६) अङ्ग को लघूपध गुण प्राप्त होता है। इस सूत्र से इडादि 'तृच्' प्रत्यय के 'ङित्' हो जाने से **'क्ङिति च'** (१।१।५) से गुण का निषेध हो जाता है।*

ङिद्विकल्पः-

(३) विभाषोर्णोः।३।

प०वि०-विभाषा १।१ ऊर्णोः ५।१।

अनु०-'ङित्, इट्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-ऊर्णोरिड् विभाषा ङित्।

अर्थः-ऊर्णो धातोः पर इडादिप्रत्ययो विकल्पेन ङिद्वद् भवति।

उदा०-(ऊर्णु) प्रोर्णुविता। प्रोर्णविता।

__आर्यभाषा-अर्थ-__(ऊर्णोः) ऊर्णु धातु से परे (इट्) इडादिप्रत्यय (विभाषा) विकल्प से (ङित्) ङिद्वत् होता है।

उदा०-(ऊर्णु) प्रोर्णुविता। प्रोर्णविता। ढकनेवाला।

*सिद्धि-(१) **प्रोर्णुविता।** ऊर्णु+तृच्। ऊर्णु+इट्+तृ। ऊर्णु+इ+त्। ऊर्ण् उवङ्+इ+तृ। ऊर्ण् उव्+इ+तृ। ऊर्णुवितृ+सु। ऊर्णुविता। प्र+ऊर्णुविता। प्रोर्णुविता।*

*यहां **'ऊर्णुञ् आच्छादने'** (अदा०उ०) धातु से **'ण्वुल्तृचौ'** (३।१।१३३) से 'तृच्' प्रत्यय, **'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'** (७।२।३५) से उसे 'इट्' का आगम होने पर **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (७।३।८४) से अङ्ग को गुण प्राप्त होता है, किन्तु इस सूत्र से इडादि 'तृच्' प्रत्यय के 'ङित्' हो जाने से **'क्ङिति च'** (१।१।५) से गुण का निषेध हो जाता है। तत्पश्चात् यथाप्राप्त **'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ'** (६।४।७७) से अङ्ग को 'उवङ्' आदेश होता है।*

*(२) **प्रोर्णविता।** ऊर्णु+तृच्। ऊर्णु+इट्+तृ। ऊर्णु+इ+तृ। ऊर्णो+इ+तृ। ऊर्ण् अव्+इ+तृ। ऊर्णवितृ+सु। ऊर्णविता। प्र+ऊर्णविता। प्रोर्णविता।*

*यहां पूर्ववत् 'तृच्' प्रत्यय और उसको 'इट्' का आगम करने पर विभाषा वचन से इडादि 'तृच्' प्रत्यय के 'ङित्' न होने से **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (७।३।८४) से अङ्ग को गुण हो जाता है और **'एचोऽयवायावः'** (६।१।७८) से 'अव्' आदेश होता है।*

अपित् सार्वधातुकम्–

(४) सार्वधातुकमपित्।४।

प०वि०–सार्वधातुकम् १।१ अपित् १।१।

स०–प इत् यस्य सः–पित्। न पित् इति अपित् (बहुव्रीहिगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–'ङित्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–अपित् सार्वधातुकं ङित्।

अर्थः–पिद्भिन्नः सार्वधातुकप्रत्ययो ङिद्वद्भवति।

उदा०–कुरुतः। कुर्वन्ति। चिनुतः। चिन्वन्ति।

आर्यभाषा–अर्थ–(अपित्) पित् से भिन्न (सार्वधातुकम्) सार्वधातुक प्रत्यय (ङित्) ङिद्वद् होते हैं।

उदा०–कुरुतः। वे दोनों करते हैं। कुर्वन्ति वे सब करते हैं। चिनुतः। वे दोनों चुनते हैं। चिन्वन्ति। वे सब चुनते हैं।

सिद्धि–(१) कुरुतः। कृ+लट्। कृ+तस्। क् उ र्+उ+तस्। कुरुतः।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से 'ल्' के स्थान में 'तस्' आदेश, 'तनादिकृञ्भ्य० उः' (३।१।७९) से 'उ' विकरण प्रत्यय, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से 'कृ' अङ्ग को गुण, 'अत उत् सर्वधातुके' (६।४।१००) से अङ्ग के 'अ' को उकार आदेश होता है।

'तस्' प्रत्यय सार्वधातुक है, उसके परे होने पर भी 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से अङ्ग 'उ' को गुण प्राप्त होता है, किन्तु इस सूत्र से अपित् 'तस्' प्रत्यय के ङित् होने से 'क्ङिति च' (१।१।५) से गुण का निषेध हो जाता है।

विशेष– 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' (३।४।११३) से तिङ् और शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा की गई है। इस सूत्र से उन सार्वधातुक प्रत्ययों में पित् को छोड़कर शेष प्रत्यय 'ङित्' हो जाते हैं। तिङ् प्रत्यय निम्नलिखित हैं–तिप्, तस्, झि, सिप्, थस् थ, मिप्, वस् मस्, त, आताम् झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महिङ्।

कित्-प्रकरणम्

अपित् लिट् प्रत्ययः–

(१) असंयोगाल्लिट् कित्।५।

प०वि०–असंयोगात् ५।१। लिट् १।१ कित् १।१।

स०-न संयोग इति-असंयोगः, तस्मात्-असंयोगात् (नञ्तत्पुरुषः) क इत् यस्य सः-कित् (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'अपित्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-असंयोगाद् अपित् लिट् कित्।

अर्थः-असंयोगान्ताद् धातोः परः पिद्भिन्नो लिट्प्रत्ययः किद्वद् भवति।

उदा०-(भिद्) बिभिदतुः। बिभिदुः। (छिद्) चिच्छिदतुः। चिच्छिदुः। (यज्) ईजतुः। ईजुः।

आर्यभाषा-अर्थ-(असंयोगात्) संयोग जिसके अन्त में न हो, उस धातु से परे (अपित्) पित् से भिन्न (लिट्) लिट् प्रत्यय (कित्) किदवत् होता है।

*उदा०-(भिद्) **बिभिदतुः।** उन दोनों ने भेदन किया। **बिभिदुः।** उन सबने भेदन किया। (छिद्) **चिच्छिदतुः।** उन दोनों ने छेदन किया। **चिच्छिदुः।** उन सबने छेदन किया। (यज्) ईजतुः। उन दोनों यज्ञ किया। ईजुः। उन सबने यज्ञ किया।*

*सिद्धि-(१) **बिभिदतुः।** भिद्+लिट्। भिद्+तस्। भिद्+अतुस्। भिद्+भिद्+अतुस्। बि+भिद्+अतुस्। बिभिदतुः।*

*यहां 'भिदिर् विदारणे' (रुधा०प०) धातु से **'परोक्षे लिट्'** (३।२।११५) से 'लिट्' प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से 'ल्' के स्थान में 'तस्' आदेश, **'परस्मैपदानां णल०'** (३।४।८२) से 'तस्' के स्थान में 'अतुस्' आदेश, **'लिटि धातोरनभ्यासस्य'** (६।१।८) से धातु के प्रथम एकाच् अवयव को द्विर्वचन, **'अभ्यासे चर्च'** (८।४।५८) से अभ्यास के भकार को जश् बकार होता है।*

*यहां लिट् प्रत्यय के कित् होने से **'पुगन्तलघूपधस्य च'** (७।३।८६) से प्राप्त अङ्ग को लघूपध गुण नहीं होता है। इसी प्रकार से **'छिदिर् द्वैधीकरणे'** (रुधा०प०) धातु से 'चिच्छिदतुः' आदि शब्द सिद्ध होते हैं।*

*(२) ईजतुः। यज्+लिट्। यज्+तस्। यज्+अतुस्। इ अ ज्+**अतुस्।** इज्+इज्+अतुस्। इ+इज्+अतुस्। ईजतुः।*

*यहां **'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु'** (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लिट्' प्रत्यय। यहां लिट् प्रत्यय के कित् होने से **'वचिस्वपियजादीनां किति'** (६।१।१५) से 'यज्' धातु को सम्प्रसारण होता है। **'सम्प्रसारणाच्च'** (६।१।१०८) से 'अ' को पूर्वरूप तथा **'अकः सवर्णे दीर्घः'** (६।१।१०१) से दीर्घ ई हो जाता है।*

लिट्प्रत्ययः–

(२) इन्धिभवतिभ्यां च।६।

प०वि०–इन्धि-भवतिभ्याम् ५।२ च अव्ययम्। इन्धिश्च भवतिश्च तौ–इन्धिभवती, ताभ्याम्–इन्धिभवतिभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–'लिट् कित्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–इन्धिभवतिभ्यां च लिट् कित्।

अर्थः–इन्धिभवतिभ्यामपि धातुभ्यां परो लिट् प्रत्ययः किद्वद् भवति।

उदा०–(**इन्धिः**) पुत्र ईधे अथर्वणः। समीधे दस्युहन्ततमम्। (**भवतिः**) बभूव।

*आर्यभाषा-**अर्थ**-(**इन्धि-भवतिभ्याम्**) इन्धि और भवति धातु से परे (च) भी (लिट्) लिट् प्रत्यय (**कित्**) किद्वत् होता है।*

*उदा०-(इन्धि) **पुत्र** ईधे अथर्वणः। अथर्व का पुत्र प्रकाशित होता है। (ऋ० ६।१६।१४)। समीधे दस्युहन्ततम्। मैं दस्यु के घातक को प्रकाशित करता हूं। (ऋ० ६।१६।१५)। (भवति) बभूव। वह हुआ।*

***सिद्धि**-(१) **ईधे**। इन्ध्+लिट्। इन्ध्+त। इन्ध्+एश्। इन्ध्+इन्ध्+ए। इ+इन्ध्+ए। इ+इध्+ए। ईधे।*

*यहां '**ञिइन्धी दीप्तौ**' (रुधा०आ०) धातु से पूर्ववत् लिट् प्रत्यय, '**लिटस्तझयोरेशिरेच्**' (३।४।८१) से 'त' प्रत्यय के स्थान में 'एश्' आदेश, '**लिटि धातोरनभ्यासस्य**' (६।१।८) से 'इन्ध्' धातु को द्विर्वचन, '**हलादिः शेषः**' (७।४।८२) से अभ्यास कार्य होता है।*

*यहां 'लिट्' प्रत्यय 'कित्' होने से '**अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति**' (६।४।२४) से उपधा-नकार का लोप होता है। तत्पश्चात् '**अकः सवर्णे दीर्घः**' (६।१।१०१) से दीर्घत्व (ई) होता है। सम्+ईधे। समीधे।*

(२) बभूव। भू+लिट्। भू+णल्। भू+अ। भू+भू+अ। भ् अ+भू+अ। ब+भू+वुक्+अ। ब+भू+व्+अ। बभूव।

*यहां '**भू सत्तायाम्**' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लिट्' प्रत्यय तथा भू धातु को पूर्ववत् द्विर्वचन, '**भवतेरः**' (७।४।७३) से धातु के अभ्यास ऊकार को अकार आदेश होता है।*

*यहां लिट् प्रत्यय कित् होने से '**सार्वधातुकार्धधातुकयोः**' (७।३।८४) से अङ्ग को प्राप्त गुण का '**क्ङिति च**' (१।१।५) से निषेध हो जाता है। तत्पश्चात् '**भुवो वुक्**'*

लुङ्लिटोः' (६।४।८८) से 'भू' धातु को 'वुक्' का आगम तथा 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५८) से 'भू' धातु के अभ्यास भकार को जश् बकार होता है।

विशेष-पाणिनि मुनि अपने शब्दशास्त्र में 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इस गुरुवचन के अनुसार धातु का निर्देश 'इक्' प्रत्यय और 'श्तिप्' प्रत्यय लगाकर करते हैं। जैसे कि यहां इन्धि धातु का 'इक्' प्रत्यय और भू धातु का 'श्तिप्' प्रत्यय लगाकर निर्देश किया है। अन्यत्र भी ऐसा ही समझें।

क्त्वाप्रत्ययः-

(३) मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वा।७।

प०वि०-मृड-मृद-गुध-कुष-क्लिश-वद-वसः ५।१ क्त्वा १।१।

स०-मृडश्च मृदश्च गुधश्च कुषश्च क्लिशश्च वदश्च वस् च एतेषां समाहारः-मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवस्, तस्मात्-मृडमृदगुधकुष-क्लिशवदवसः (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-'कित्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-मृड० वसः क्त्वा कित्।

अर्थः-मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवसिभ्यो धातुभ्यः क्त्वा प्रत्ययः किद्वद् भवति।

उदा०-(मृड) मृडित्वा। (मृद) मृदित्वा। (गुध) गुधित्वा। (कुष) कुषित्वा। (क्लिश) क्लिशित्वा। (वद) उदित्वा। (वस) उषित्वा।

आर्यभाषा-अर्थ-मृड, मृद, गुध, कुष, क्लिश, वद और वस धातु से परे (क्त्वा) क्त्वा प्रत्यय (कित्) कित् होता है।

उदा०-(मृड) मृडित्वा। सुखी करके। (मृद) मृदित्वा। मसलकर। (गुध) गुधित्वा। रुष्ट होकर। (कुष) कुषित्वा। निष्कर्ष निकालकर। (क्लिश) क्लिशित्वा। क्लेश पाकर। (वद) उदित्वा। बोलकर। (वस) उषित्वा। रहकर।

सिद्धि-(१) मृडित्वा। मृड्+क्त्वा। मृड्+इट्+त्वा। मृड्+इ+त्वा। मृडित्वा+सु। मृडित्वा।

यहां 'मृड सुखने' (तु०प०) धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) से 'क्त्वा' प्रत्यय, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से 'इट्' का आगम होता है।

यहां 'क्त्वा' प्रत्यय के कित् होने से 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से अङ्ग को प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' (१।१।५) से निषेध हो जाता है।

इसी प्रकार 'मृद क्षोदे' (क्र्या०प०) मुध रोधे (क्र्या०प०) कुष निष्कर्षे (क्र्या०प०) क्लिशू विबाधने (क्र्या०प०) धातु से 'मृदित्वा' आदि शब्दों की सिद्धि करें।

(२) उदित्वा। वद्+क्त्वा। वद्+इट्+त्वा। वद्+इ+त्वा। उ अ द्+इ+त्वा। उद्+इ+त्वा। उदित्वा+सु। उदित्वा।

यहां 'वद व्यक्तायां वाचि' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्त्वा' प्रत्यय और 'इट्' का आगम होने पर, 'क्त्वा' प्रत्यय के 'कित्' होने से 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) से 'वद्' धातु को सम्प्रसारण होता है। तत्पश्चात् 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०८) से 'अ' को पूर्वरूप 'उ' हो जाता है।

यहां 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से अङ्ग को लघूपध गुण प्राप्त होता है। 'क्त्वा' प्रत्यय के कित् होने से 'क्ङिति च' (१।१।५) से गुण का निषेध हो जाता है।

(३) उषित्वा। वस्+क्त्वा। वस्+इट्+त्वा। वस्+इट्+त्वा। वस्+इ+त्वा। उ अ स्+इ+त्वा। उस्+इ+त्वा। उष्+इ+त्वा। उषित्वा+सु। उषित्वा।

यहां 'वस निवासे' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्त्वा' प्रत्यय, इट् आगम और सम्प्रसारण कार्य होता है।

यहां पूर्ववत् लघूपध गुण प्राप्त होता है। 'क्त्वा' प्रत्यय के 'कित्' होने से 'क्ङिति च' (१।१।५) से गुण का निषेध हो जाता है। यहां 'शासिवसिघसीनां च' (८।३।६०) से 'वस्' धातु के सकार को मूर्धन्य षकार होता है।

विशेष-प्रश्न-क्त्वा प्रत्यय स्वयं कित् है, फिर उसे यहां कित् क्यों किया गया है?

उत्तर-आगे 'न क्त्वा सेट्' (अ० १।२।१८) से सेट् (इट् सहित) 'क्त्वा' प्रत्यय के कित् होने का निषेध किया गया है। अतः 'मृड' आदि धातुओं से 'सेट्' क्त्वा प्रत्यय को फिर कित् विधान किया गया है।

क्त्वासनौ-

(४) रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः सँश्च।८।

प०वि०-रुद-विद-मुष-ग्रहि-स्वपि-प्रच्छः ५।१ सन् १।१। च अव्ययम्।

स०-रुदश्च विदश्च मुषश्च ग्रहिश्च स्वपिश्च प्रच्छ् च एतेषां समाहारः-रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छ्, तस्मात्-रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-'क्त्वा कित्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-रुद० प्रच्छः क्त्वा सँश्च कित्।

अर्थः-रुदविदमुषग्रहिस्वपि प्रच्छिभ्यो धातुभ्यः क्त्वा-सनौ प्रत्ययौ किद्वद् भवतः।

उदा०-(रुद) क्त्वा-रुदित्वा। सन्-रुरुदिषति। (विद) क्त्वा-विदित्वा। सन्-विविदिशषति। (मुष) क्त्वा-मुषित्वा। सन्-मुमुषिषति। (ग्रहि) क्त्वा गृहीत्वा। सन्-जिघृक्षति। (प्रच्छ) क्त्वा-पृष्ट्वा। सन्-पिपृच्छिषति।

आर्यभाषा-अर्थ-*(रुद०) रुद, विद, मुष, ग्रहि, स्वपि और प्रच्छ धातु से परे (क्त्वा) क्त्वा प्रत्यय (सन् च) और सन् प्रत्यय (कित्) किद्वत् होता है।*

उदा०-(रुद) क्त्वा। रुदित्वा। रोकर। सन्। रुरुदिषति। रोना चाहता है। (विद) क्त्वा। विदित्वा। जानकर। सन्-विविदिषति। जानना चाहता है। (मुष) क्त्वा। मुषित्वा। चोरी करके। सन्-मुमुषिषति। चोरी करना चाहता है। (ग्रहि) क्त्वा-गृहीत्वा। लेकर। सन्-जिघृक्षति। लेना चाहता है। (प्रच्छ) क्त्वा। पृष्ट्वा। पूछकर। सन्-पिपृच्छिषति। पूछना चाहता है।

सिद्धि-*(१)* ***रुदित्वा।*** *रुद्+क्त्वा। रुद्+इट्+त्वा। रुद्+इ+त्वा। रुदित्वा+सु। रुदित्वा।*

यहां ***'रुदिर् अश्रुविमोचने'*** *(अदा०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्त्वा' प्रत्यय और 'इट्' का आगम होने पर* ***'पुगन्तलघूपधस्य च'*** *(७।३।८६) से 'रुद्' धातु को लघूपध गुण प्राप्त होता है, किन्तु 'क्त्वा' प्रत्यय के कित् होने से* ***'क्ङिति च'*** *(१।१।५) से गुण का निषेध हो जाता है। इसी प्रकार से* ***'विद ज्ञाने'*** *(अदा०प०)* ***'मुष स्तेये'*** *(क्रया०प०) धातु से विदित्वा और मुषित्वा शब्द सिद्ध करें।*

(२) ***गृहीत्वा।*** *ग्रह्+क्त्वा। ग्रह+इट्+त्वा। ग्रह+इ+त्वा। गृ अ ह्+इ+त्वा। गृह+ई+त्वा। गृहीत्वा+सु। गृहीत्वा।*

यहां ***'ग्रह उपादाने'*** *(क्रया०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्त्वा' प्रत्यय और 'इट्' का आगम होने पर 'क्त्वा' प्रत्यय के 'कित्' होने से 'ग्रह्' धातु को* ***'ग्रहिज्यावयि०'*** *(अ० ६।१।१६) से सम्प्रसारण होता है।* ***'सम्प्रसारणाच्च'*** *(६।१।१०८) से 'अ' को पूर्वरूप हो जाता है।* ***'ग्रहोऽलिटि दीर्घः'*** *(७।२।३७) से 'इट्' को दीर्घ होता है।*

इसी प्रकार ***'ञिष्वप् शये'*** *(अदा०प०) तथा* ***'प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्'*** *(तु०प०) धातु से सुप्त्वा और पृष्ट्वा शब्द सिद्ध करें।*

(३) ***रुरुदिषति।*** *रुद्+सन्। रुद्+रुद्+स। रु+रुद्+इट्+स। रु+रुद्+इ+स। रुरुदिष+लट्। रुरुदिष+ल्। रुरुदिष+शप्+तिप्। रुरुदष+अ+ति। रुरुदिषति।*

यहां 'रुदिर् अश्रुविमोचने' (अ०द०) धातु से 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' (३।१।७) से 'सन्' प्रत्यय, 'सन्यङोः' (६।१।९) से धातु को द्विर्वचन, पूर्ववत् 'इट्' का आगम, 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से 'सन्' के सकार को षत्व होता है।

यहां 'सन्' प्रत्यय के किद्वत् होने से 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से प्राप्त लघूपध गुण का 'क्ङिति च' (१।१।५) से निषेध हो जाता है। इसी प्रकार 'विद ज्ञाने' आदि धातुओं से 'विविदिषति' आदि शब्द सिद्ध करें।

झलादिसन्प्रत्ययः–

(५) इको झल्।६।

प०वि०–इकः ५।१ झल् १।१।

अनु०–'सन् कित्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–इको झल् सन् कित्।

अर्थः–इगन्ताद् धातोः परो झलादिः सन्प्रत्ययः किद्वद् भवति।

उदा०–(इ) चिचीषति। (उ) तुष्टूषति। (ऋ) चिकीर्षति। जिहीर्षति।

आर्यभाषा-अर्थ–(इकः) इगन्त धातु से परे (झल्) झल्-आदि (सन्) सन् प्रत्यय (कित्) किद्वत् होता है। इक्=इ, उ, ऋ।

उदा०–(इ) चिचीषति। चुनना चाहता है। (उ) तुष्टूषति। स्तुति करना चाहता है। (ऋ) चिकीर्षति। करना चाहता है। जिहीर्षति। हरना चाहता है।

सिद्धि–(१) चिचीषति। चि+सन्। चि+चि+स। चि+ची+ष। चिचीष+लट्। चिचीष+शप्+तिप्। चिचीष+अ+ति। चिचीषति।

यहां 'चिञ् चयने' (स्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'सन्' प्रत्यय तथा 'चि' धातु को द्विर्वचन करने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से 'चि' धातु को गुण प्राप्त होता है। उसका 'सन्' प्रत्यय के कित् होने से 'क्ङिति च' (१।१।५) से निषेध हो जाता है।

इसी प्रकार 'ष्टुञ् स्तुतौ' (अ०उ०) 'डुकृञ् करणे' (त०उ०) 'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) धातु से तुष्टूषति आदि शब्द सिद्ध करें।

विशेष–प्रश्न–झल् आदि सन् किसे कहते हैं ?

उत्तर–शुद्ध सन् को झलादि सन् कहते हैं और सेट् (इट्-सहित) सन् को अजादि सन् कहते हैं।

(६) हलन्ताच्च ।१०।

प०वि०-हल् १।१ अन्तात् ५।१ च अव्ययम्।

अनु०-'इको झल् सन् कित्' इत्यनुवर्तते। अन्तशब्दोऽत्र समीपवाची।

अन्वयः-इकोऽन्ताद् हल् च झल् सन् कित्।

अर्थः-इकः समीपाद् यो हल् तस्मात् परोऽपि झलादिः सन्प्रत्ययः किदवद् भवति।

उदा०-(इ) भिद्। बिभित्सति। (उ) बुध्। बुभुत्सति। (ऋ) ×।

आर्यभाषा-अर्थ-(इको) इक् के (अन्तात्) समीपवर्ती (हल्) हल् से परे (च) भी (झल्) आदि (सन्) सन् प्रत्यय (कित्) किद्वत् होता है। यहां 'अन्त' शब्द समीपवाची है।

उदा०-(इ) भिद्। बिभित्सति। वह भेदन करना चाहता है। (उ) बुध्। बुभुत्सति। वह जानना चाहता है। (ऋ) ×।

सिद्धि-(१) बिभित्सति। भिद्+सन्। भिद्+भिद्+स। बि+भित्+स। बिभित्स+लट्। बिभित्स+शप्+ति। बिभित्स+अ+ति। बिभित्सति।

यहां 'भिदिर् विदारणे' (रुधा०प०) धातु से पूर्ववत् 'सन्' प्रत्यय और 'भिद्' धातु को द्विर्वचन करने पर 'पुगन्तलघूपस्य च' (७।३।८६) से 'भिद्' धातु को लघूपध गुण प्राप्त होता है, किन्तु 'सन्' प्रत्यय के कित् होने से 'क्ङिति च' (१।१।५) से उसका निषेध हो जाता है।

इसी प्रकार 'बुध अवगमने' (भ्वा०प०) धातु से बुभुत्सति शब्द सिद्ध करें।

लिङ्सिचौ--

(७) लिङ्सिचावात्मनेपदेषु ।११।

प०वि०-लिङ्-सिचौ १।१ आत्मनेपदेषु ७।३।

स०-लिङ् च सिच् च तौ-लिङ्सिचौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'इकः, हलन्ताच्च, झल् कित्' इत्यनुवर्तते। 'सन्' इति निवृत्तम्।

अन्वयः-इकोऽन्ताद् हल् झल् लिङ्सिचावात्मनेषु कित्।

अर्थः-इकः समीपाद् यो हल्, तस्मात् परौ झलादी लिङ्सिचौ प्रत्ययौ, आत्मनेपदेषु किद्वद् भवतः।

उदा०-(भिद्) लिङ्-भित्सीष्ट। सिच्-अभित्त। (बुध) लिङ्-भुत्सीष्ट। सिच्-अबुद्ध।

आर्यभाषा-अर्थ-(इकः) इक् के (अन्तात्) समीपवर्ती (हल्) हल् से परे (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद विषयक (झल्) झलादि (लिङ्-सिचौ) लिङ् और सिच् प्रत्यय (कित्) किद्वत् होते हैं।

उदा०-(भिद्) लिङ्-भित्सीष्ट। वह भेदन करे। सिच्-अभित्त। उसने भेदन किया। (बुध्) लिङ्-भुत्सीष्ट। वह जाने। सिच्-अबुद्ध। उसने जाना।

*सिद्धि-(१) **भित्सीष्ट।** भिद्+लिङ्। भिद्+सीयुट्+ल्। भिद्+सीय्+त। भिद्+सीय्+सुट्+त। भिद्+सीय्+स्+त। भित्+सी+ष्+ट। भित्सीष्ट।*

*यहां **'भिदिर् विदारणे'** (रुधा०प०) धातु से **'विधिनिमन्त्रणा०'** (३।३।१६१) से 'लिङ्' प्रत्यय, **'लिङः सीयुट्'** (३।४।१०२) से **'सीयुट्'** तथा **'सुट्तिथोः'** (३।४।१०७) से 'सुट्' का आगम होने पर **'पुगन्तलघूपधस्य च'** (७।३।८६) से 'भिद्' धातु को लघूपध गुण प्राप्त होता है किन्तु 'लिङ्' प्रत्यय के कित् होने से **'क्ङिति च'** (१।१।५) से गुण का निषेध हो जाता है। इसी प्रकार **बुध अवगमने** (भ्वा०प०) धातु से 'भुत्सीष्ट' शब्द सिद्ध करें।*

*(२) **अभित्त।** भिद्+लुङ्। भिद्+च्लि+ल्। भिद्+सिच्+त। अट्+भिद्+स्+त। अ+भित्+०+त। अभित्त।*

*यहां **'भिदिर् विदारणे'** (रुधा०प०) धातु से **'लुङ्'** (३।२।११०) से 'लुङ्' प्रत्यय, **'च्लि लुङि'** (३।१।४३) से 'च्लि' प्रत्यय, **'च्लेः सिच्'** (३।१।४४) से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश होने पर भिद् धातु को **'पुगन्तलघूपधस्य च'** (७।३।८६) से लघूपध गुण प्राप्त होता है, किन्तु 'सिच्' प्रत्यय के कित् होने से **'क्ङिति च'** (१।१।५) से गुण का निषेध हो जाता है।*

*इसी प्रकार **'बुध अवगमने'** (भ्वा०प०) धातु से **'अबुद्ध'** सिद्ध करें।*

(८) उश्च।१२।

प०वि०-उः ५।१ च अव्ययम्।

अनु०-'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु झल् कित्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-उश्च झल् लिङ्सिचावात्मनेपदेषु कित्।

अर्थः-ऋकारान्ताद् धातोः परौ झलादी लिङ्सिचावात्मनेपदेषु किद्वद् भवतः।

उदा०-(कृ) लिङ्-कृषीष्ट। (हृ) हृषीष्ट। (क) सिच्-अकृत। (हृ) अहृत।

आर्यभाषा-अर्थ-(उः) ऋकारान्त धातु से परे (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद विषयक (झल्) झल् आदि (लिङ्सिचौ) लिङ् और सिच् प्रत्यय (कित्) किद्वत् होते हैं।*

उदा०-(कृ) लिङ्-कृषीष्ट। वह करे। (हृ) हृषीष्ट। वह हरण करे। (कृ) सिच्-अकृत। उसने किया। (हृ) अहृत। उसने हरण किया।

सिद्धि-(१) कृषीष्ट। कृ+लिङ्। कृ+सीयुट्+ल्। कृ+सीय्+त। कृ+सीय्+सुट्+त। कृ+सीय्+स्+त। कृ+सी+ष्+ट। कृषीष्ट।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लिङ्' प्रत्यय करने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से 'कृ' धातु के गुण प्राप्त होता है, किन्तु 'लिङ्' प्रत्यय के कित् होने से 'क्ङिति च' (१।१।५) से गुण का निषेध हो जाता है। इसी प्रकार 'हृञ् हरणे' (भ्वा०प०) धातु से हृषीष्ट शब्द सिद्ध करें।

(२) अकृत। कृ+लुङ्। अट्+कृ+च्लि+ल्। अ+कृ+सिच्+त। अ+कृ+स्+त। अ+कृ+०+त। अकृत।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' प्रत्यय, 'च्लि' और 'सिच्' आदेश करने पर 'कृ' धातु को 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से गुण प्राप्त होता है, किन्तु 'सिच्' प्रत्यय के कित् होने से 'क्ङिति च' (१।१।५) से गुण का निषेध हो जाता है।

इसी प्रकार 'हृञ् हरणे' (भ्वा०प०) धातु से 'अहृत' शब्द सिद्ध करें।

(६) वा गमः।१३।

प०वि०-वा अव्ययपदम्, गमः ५।१।

अनु०-'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु झल् कित्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-गमो झल् लिङ्सिवाचात्मनेपदेषु वा कित्।

अर्थः-गमो धातोः परौ झलादी लिङ्सिचावात्मनेपदेषु विकल्पेन किद्वद् भवतः।

उदा०-(लिङ्) संगसीष्ट। संगंसीष्ट। **(सिच्)** समगत। समगंस्त।

आर्यभाषा-अर्थ-(गमः) गम् धातु से परे (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपदविषयक (झल्) आदि (लिङ्सिचौ) लिङ् और सिच् प्रत्यय (वा) विकल्प से (कित्) किद्वत् होते हैं।

उदा०-(लिङ्) संगसीष्ट। संगंसीष्ट। वह संगति करे। समगत। समगंस्त। उसने संगति की।

सिद्धि-(१) संगसीष्ट। सम्+गम्+लिङ्। सम्+गम्+ल्। सम्+गम्+सीयुट्+ल्। सम्+गम्+सीय्+त। सम्+गम्+सीय्+सुट्+त। सम्+गम्+सी+स्+त। सम्+गम्+सी+ष्+ट। सं+गं+सी+ष्+ट। संगसीष्ट।

यहां 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'गम्लृ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लिङ्' प्रत्यय तथा सीयुट् और 'सुट्' आगम के होने पर 'लिङ्' के कित् होने से 'अनुदात्तोपदेश-

'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (६।४।३७) से गम् धातु के अनुनासिक का लोप हो जाता है। विकल्प पक्ष में जहां 'लिङ्' प्रत्यय कित् नहीं होता है, वहां अनुनासिक का लोप नहीं होता है-संगंसीष्ट।

*(२) **समगत।** सम्+गम्+लुङ्। सम्+अट्+गम्+च्लि+ल्। सम्+अ+गम्+स्+त। सम्+अ+गं+स्+त। सम्+अ+ग+०+त। समगत।*

*यहां 'सम्' उपसर्गपूर्वक **'गम्लृ गतौ'** (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' प्रत्यय, 'च्लि' और 'सिच्' आदेश करने पर 'सिच्' के कित् होने से पूर्ववत् **'अनुदात्तोपदेश०'** (६।४।३७) से 'गम्' धातु के अनुनासिक का लोप हो जाता है। विकल्प पक्ष में जहां 'सिच्' प्रत्यय कित् नहीं होता वहां अनुनासिक का लोप नहीं होता है-समगंस्त।*

*विशेष- **'गम्लृ गतौ'** (भ्वा०प०) धातु परस्मैपद है किन्तु **'समो गम्यृच्छिभ्याम्'** (१।३।२९) से 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'गम्' धातु से आत्मनेपद का विधान किया गया है।*

सिच् प्रत्ययः--

(१०) हनः सिच्।१४।

प०वि०-हनः ५।१ सिच् १।१

अनु०-'आत्मनेपदेषु कित्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-हनः सिच् आत्मनेपदेषु कित्।

अर्थः-हनो धातोः परः सिच् प्रत्यय आत्मनेपदेषु किद्वद् भवति।

उदा०-(सिच्) आहत। आहसाताम्। आहसत।

आर्यभाषा-अर्थ- *(हनः) हन् धातु से परे (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपदविषयक (सिच्) सिच् प्रत्यय (कित्) किद्वत् होता है।*

उदा०-(सिच्) आहत। उसने धक्का दिया। आहसाताम्। उन दोनों ने धक्का दिया। आहसत। उन सबने धक्का दिया।

सिद्धि-(१) आहत। *आङ्+हन्+लुङ्। आ+अट् हन्+च्लि+ल्। आ+हन्+सिच्+त। आ+हन्+स्+त। आ+हं+स्+त। आ+ह+०+त। आहत।*

*यहां **'हन् हिंसागत्योः'** (अदा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' प्रत्यय, 'च्लि' और 'सिच्' आदेश करने पर 'सिच्' प्रत्यय के 'कित्' होने से हन् धातु के अनुनासिक का **'अनुदात्तोपदेश०'** (६।४।३७) से लोप हो जाता है।*

*विशेष- 'हन् हिंसागत्योः (अदा०प०) धातु परस्मैपदी है, किन्तु **'आङो यमहनः'** (१।३।२८) से आङ्पूर्वक 'हन्' धातु से आत्मनेपद का विधान किया गया है।*

(११) यमो गन्धने।१५।

प०वि०-यमः ५।१ गन्धने ७।१।

अनु०-'आत्मनेषु सिच् कित्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-गन्धने यमः सिच् कित्।

अर्थः-गन्धनेऽर्थे वर्तमानाद् यमो धातोः परः सिच् प्रत्ययः किद्वद् भवति।

उदा०-(सिच्) उदायत। उदायसाताम्। उदायसत।

आर्यभाषा-अर्थ-(यमः) यम् धातु से परे (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपदविषयक (सिच्) सिच् प्रत्यय (कित्) किद्वत् होता है।

*उदा०-**उदायत।** उसने चुगली की। **उदायसाताम्।** उन दोनों ने चुगली की। **उदायसत।** उन सबने चुगली की।*

*सिद्धि-(१) **उदायत।** (आङ्) यम्+लुङ्। आ+अट्+यम्+च्लि+ल्। आ+यम्+सिच्+त। आ+यम्+सिच्+त। आ+यं+स्+त। आ+य+स्+त। आ+य+०+त। आयत। उत्+आयत। उदायत।*

*यहां पूर्ववत् 'लुङ्' प्रत्यय, 'च्लि' और 'सिच्' आदेश करने पर 'सिच्' प्रत्यय के कित् होने से पूर्ववत् **'अनुदात्तपदेश०'** (६।४।३७) से 'यम्' धातु के अनुनासिक का लोप हो जाता है।*

***विशेष**-(१) 'यमु उपरमे' (भ्वा०प०) धातु परस्मैपदी है, किन्तु **'आङो यमहनः'** (१।३।२८) से आङ्पूर्वक 'यम्' धातु से आत्मनेपद का विधान किया गया है।*

*(२) धातु पाठ में **'यमु उपरमे'** अर्थ का पाठ है। **'अनेकार्था हि धातवो भवन्ति'** के प्रमाण से 'यम्' धातु गन्धन अर्थ में भी प्रयुक्त होती है। **गन्धन।** चुगली करना। रहस्य खोलना।*

(१२) विभाषोपयमने।१६।

प०वि०-विभाषा १।१ उपयमने ७।१।

अनु०-'यम आत्मनेपदेषु सिच् कित्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-उपयमने यमः सिच् आत्मनेपदेषु विभाषा कित्।

अर्थः-उपयमनेऽर्थे वर्तमानाद् यमो धातोः परः सिच् प्रत्यय आत्मनेपदेषु विकल्पेन किदवद् भवति।

उदा०-(सिच्) उपायत कन्यां देवदत्तः। उपायंस्त कन्यां देवदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(उपयमने) विवाह करने अर्थ में विद्यमान (यमः) यम धातु से परे (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद विषयक (सिच्) सिच् प्रत्यय (विभाषा) विकल्प से (कित्) किद्वत् होता है।

*उदा०-यम्-**उपायत कन्यां देवदत्तः। उपायंस्त कन्यां देवदत्तः।** देवदत्त ने कन्या से विवाह किया।*

*सिद्धि-(१) **उपायत।** यहां सब कार्य 'उदायत' के समान हैं। जहां 'सिच्' प्रत्यय कित् हो जाता है वहां पूर्ववत् 'अनुदात्तोपदेश०' (६।४।३७) से 'यम्' धातु के अनुनासिक का लोप हो जाता है और विकल्पपक्ष में जहां 'सिच्' प्रत्यय कित् नहीं होता है, वहां अनुनासिक का लोप नहीं होता है-**उपायंस्त।***

*विशेष-धातुपाठ में **'यमु उपरमे'** (भ्वा०उ०) ऐसा पाठ है। **'अनेकार्था हि धातवो भवन्ति'** के प्रमाण से 'यम्' धातु विवाह करने अर्थ में भी प्रयुक्त होती है।*

(१३) स्थाघ्वोरिच्च।१७।

प०वि०-स्थाघ्वोः, पञ्चम्यर्थे ६।२, इत् १।१ च अव्ययपदम्।

स०-स्थाच्च घुश्च तौ-स्थाघू, तयोः-स्थाघ्वोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'आत्मनेपदेषु सिच् कित्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-स्थाघ्वोः सिज् आत्मनेपदेषु कित् इच्च।

अर्थः-स्था-घुभ्यां धातुभ्यां परः सिच् प्रत्यय आत्मनेपदेषु किद्वद् भवति, धातोरन्त्यवर्णस्य चेकारादेशो भवति।

उदा०-स्था। **(सिच्)** उपास्थित। उपास्थिषाताम्। उपास्थिषत। घु **(सिच्)** अदित। अधित।

आर्यभाषा-अर्थ-(स्था-घ्वोः) स्था और घु संज्ञावाली धातु से परे (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपदविषयक (सिच्) सिच् प्रत्यय (कित्) किदवत् होता है। (इत् च) और धातु के अन्त्य वर्ण को इकार आदेश भी होता है।

उदा०-(स्था) उपास्थित। वह उपस्थित हुआ। उपास्थिषाताम्। वे दोनों उपस्थित हुये। उपास्थिषत। वे सब उपस्थित हुये। (घु) अदित। उसने दिया। अधित। उसने धारण किया।

*सिद्धि-(१) **उपास्थित।** स्था+लुङ्। अट्+स्था+च्लि+ल्। अ+स्था+सिच्+त। अ+स्था+स्+त। अ+स्थ् इ+स्+त। अ+स्थि+०+त। अस्थित। उप+अस्थित। **उपास्थित।***

*यहां **'ष्ठा गतिनिवृत्तौ'** (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' प्रत्यय तथा **'ह्रस्वादङ्गात्'** (८।२।२७) से 'सिच्' प्रत्यय का लोप हो जाने पर **'प्रत्ययलोपे प्रत्यक्षलक्षणम्'** (१।१।६२) से उसे प्रत्यय लक्षण मानकर **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (८।३।८४) से*

'स्थि' को गुण प्राप्त होता है, किन्तु 'सिच्' प्रत्यय के कित् हो जाने से 'क्ङिति च' (१।१।५) से गुण का निषेध हो जाता है।

इसी प्रकार घुसंज्ञक 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) तथा 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जु०उ०) धातु से 'अदित' और 'अधित' शब्द सिद्ध करें।

विशेष-धातुपाठ में 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' (भ्वा०प०) धातु परस्मैपद है किन्तु 'उपाद् देवपूजासंगतिकरणमित्रीकरणपथेष्विति वाच्यम्' (वा० १।३।२५) से आत्मनेपद का विधान किया गया है।

क्त्वाकित्त्वप्रतिषेधः—

(१४) न क्त्वा सेट्।१८।

प०वि०-न अव्ययपदम्, क्त्वा १।१ सेट् १।१।

अनु०-इटा सहेति सेट् (बहुव्रीहिः)। 'कित्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-सेट् क्त्वा किद् न।

अर्थः-सेट् क्त्वाप्रत्ययः किद्वद् न भवति।

उदा०-(दिव्) देवित्वा। **(वृतु)** वर्तित्वा।

*आर्यभाषा-**अर्थ**-(सेट्) इट् आगमवाला (क्त्वा) क्त्वा प्रत्यय (कित्) कित् (न) नहीं माना जाता है।*

*उदा०-**(दिव्)** देवित्वा। क्रीडा आदि करके। **(वृतु)** वर्तित्वा। होकर।*

*सिद्धि-(१) **देवित्वा।** दिव्+क्त्वा। दिव्+इट्+त्वा। देव+इ+त्वा। देवित्वा+सु। देवित्वा।*

यहां 'दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु' (दि०प०) धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) से 'क्त्वा' प्रत्यय, उसे 'आर्धधातुधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से 'इट्' आगम होने पर, सेट् 'क्त्वा' प्रत्यय के कित् न होने से 'दिव्' धातु को 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से लघूपध गुण हो जाता है।

*इसी प्रकार 'वृतु वर्तने' (भ्वा०आ०) धातु से **वर्तित्वा** शब्द शब्द सिद्ध करें।*

निष्ठाकित्त्वप्रतिषेधः—

(१५) निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः।१६।

प०वि०-निष्ठा १।१ शीङ्-स्विदि-मिदि-क्ष्विदि-धृषः ५।१।

स०-शीङ् च स्विदिश्च मिदिश्च क्ष्विदिश्च धृष् च एतेषां

समाहार:-शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृष्, तस्मात्-शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृष: (समाहारद्वन्द्व:)।

अनु०-'न सेट् कित्' इत्यनुवर्तति।

अन्वय:-शीङ्० धृष: सेट् निष्ठा किद् न।

अर्थ:-शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषिभ्यो धातुभ्य: पर: सेट् निष्ठाप्रत्यय: किद्वद् न भवति।

उदा०-**(शीङ्)** शयित:, शयितवान्। **(स्विदि)** प्रस्वेदित:। प्रस्वेदितवान्। **(मिदि)** प्रमेदित:। प्रमेदितवान्। **(क्ष्विदि)** प्रक्ष्वेदित:। प्रक्ष्वेदितवान्। **(धृष्)** प्रधर्षित:। प्रधर्षितवान्।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(शीङ्०) शीङ्, स्विदि, मिदि, क्ष्विदि और धृष् धातु से परे (सेट्) इट् आगमवाला। (निष्ठा) क्त और क्तवतु प्रत्यय (कित्) कित् (न) नहीं माना जाता है।

उदा०-__(शीङ्)__ शयित:। शयितवान्। सोया। __(स्विदि)__ प्रस्वेदित:। प्रस्वेदितवान्। पसीना बहाया। __(मिदि)__ प्रमेदित:। प्रमेदितवान्। स्नेह किया। __(क्ष्विदि)__ प्रक्ष्वेदित:। प्रक्ष्वेदितवान्। स्नेह किया/मुक्त किया। __(धृष्)__ प्रधर्षित:। प्रधर्षितवान्। धमकाया।

__सिद्धि-(१) शयित:।__ शीङ्+क्त। शी+इट्+त। शे+इ+त। श् अय्+इ+त। शयित+सु। शयित:।

यहां __'शीङ् स्वप्ने'__ (अदा०आ०) धातु से __'निष्ठा'__ (३।२।१०२) से भूतकाल में 'क्त' प्रत्यय, उसे __'आर्धधातुकस्येड्वलादे:'__ (७।२।३५) से 'इट्' का आगम होने पर, सेट् 'क्त' प्रत्यय के कित् न रहने से शीङ् धातु को __'सार्वधातुकार्धधातुकयो:'__ (७।३।८४) से गुण हो जाता है और __'एचोऽयवायाव:'__ (६।१।७८) से 'अय्' आदेश होता है। इसी प्रकार __'क्तवतु'__ प्रत्यय लगाकर __शयितवान्__ शब्द सिद्ध करें।

(२) __'ञिष्विदा गात्रप्रक्षरणे'__ (दिवादि०), __'ञिमिदा स्नेहने'__ (दि०आ०) __'ञिक्ष्विदा स्नेहनमोचनयो:'__ (दिवा०प०) और __'ञिधृषा प्रागल्भ्ये'__ (स्वा०प०) धातु से क्रमश: 'प्रस्वेदित:' आदि शब्द सिद्ध करें। यहां सर्वत्र सेट् निष्ठा प्रत्यय के कित् न मानने से __'पुगन्तलघूपधस्य च'__ (७।३।८६) से धातु को लघूपध गुण हो जाता है।

(१६) मृषस्तितिक्षायाम्।२०।

प०वि०-मृष: ५।१ तितिक्षायाम् ७।१।

अनु०-'सेट् निष्ठा कित् न' इत्यनुवर्तते।

अन्वय:-तितिक्षायां मृष: सेट् निष्ठा किद् न।

अर्थः-तितिक्षार्थे वर्तमानाद् मृषो धातोः परः सेट् निष्ठाप्रत्ययः किद्वद् न भवति।

उदा०-(मृष्) मर्षितः। मर्षितवान्।

आर्यभाषा-अर्थ-(मृषः) मृष् धातु से परे (सेट्) इट् आगमवाला (निष्ठा) क्त और क्तवतु प्रत्यय (कित्) कित् (न) नहीं माना जाता है।

उदा०-(मृष्) मर्षितः। मर्षितवान्। द्वन्द्वों को सहन किया।

सिद्धि-(१) मर्षितः। मृष्+क्त। मृष+इट्+त। म् अर् ष्+इ+त। मर्षित+सु। मर्षितः।

यहां 'मृष तितिक्षायाम्' (दि०उ०) धातु से पूर्ववत् निष्ठाप्रत्यय और इट् का आगम होने पर सेट् निष्ठाप्रत्यय के कित् न रहने से मृष् धातु को 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से लघूपध गुण हो जाता है। इसी प्रकार 'मृष्' धातु से क्तवतु प्रत्यय लगाकर मर्षितवान् शब्द सिद्ध करें।

(२) भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, हानि-लाभ और मान-अपमान रूप द्वन्द्वों का सहन करना तितिक्षा कहलाती है।

निष्ठाकित्त्वविकल्पः-

(१७) उदुपधाद् भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम्।२१।

प०वि०-उत्-उपधात् ५।१ भाव-आदिकर्मणोः ७।२ अन्तरस्याम् अव्ययम्।

स०-उद् उपधायां यस्य सः-उदुपधः, तस्मात्-उदुपधात् (बहुव्रीहिः)। भावश्च आदिकर्म च ते भावादिकर्मणी, तयोः-भावादिकर्मणोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'सेट् निष्ठा कित् न' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-उदुपधाद् भावकर्मणोः सेट् निष्ठाऽन्यतरस्यां किद् न।

अर्थः-उदुपधाद् धातोः परो भावे आदिकर्मणि च वर्तमानः सेट् निष्ठाप्रत्ययो विकल्पेन किद्वद् न भवति।

उदा०-(द्युत्) **भावे**-द्युतितमनेन। द्योतितमनेन। **(आदिकर्मणि)** प्रद्युतितः। प्रद्योतितः। **(मुद) भावे**-मुदितमनेन। मोदितमनेन **(आदिकर्मणि)** प्रमुदितः। प्रमोदितः।

आर्यभाषा-अर्थ-(उत्-उपधात्) उकार उपधावाली धातु से (सेट्) इट् आगमवाला (निष्ठा) क्त प्रत्यय (भाव-आदिकर्मणोः) भाववाच्य और आदिकर्म अर्थ में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (कित्) कित् (न) नहीं होता है।

उदा०-(द्युत्) भाव-द्युतितम् अनेन। द्योतितम् अनेन। इसके द्वारा चमका गया। आदिकर्म-प्रद्युतितः। प्रद्योतितः। उसने चमकना प्रारम्भ किया। (मुद्) भाव-मुदितम् अनेन। मोदितम् अनेन। आदिकर्म-प्रमुदितः। प्रमोदितः। उसने प्रसन्न होना प्रारम्भ किया।

सिद्धि-(१) द्युतितम्। द्युत्+क्त। द्युत्+इट्+त। द्युत्+इ+त। द्युतित+सु। द्युतितम्।

यहां 'द्युत दीप्तौ' (भ्वा०आ०) धातु के 'नपुंसके भावे क्तः' (३।३।११४) से भाव अर्थ में 'क्त' प्रत्यय और पूर्ववत् 'इट्' का आगम होने पर एक पक्ष में 'क्त' प्रत्यय को कित् मानने से 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' (१।१।५) से निषेध हो जाता है।

(२) द्योतितम्। यहां विकल्प पक्ष में 'क्त' प्रत्यय को 'कित्' न मानने से 'द्युत्' धातु को 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से लघूपध गुण हो जाता है।

(३) 'मुद हर्षे' (भ्वादि०) धातु से मुदितम् आदि शब्द सिद्ध करें।

(४) 'धात्वर्थो भावः' धातु के अर्थ मात्र को कहना 'भाव' कहलाता है। आदिकर्म शब्द का अर्थ क्रिया का प्रारम्भ करना है।

(५) 'क्तक्तवतू निष्ठा' (१।१।२६) सूत्र से 'क्त' और 'क्तवतु' प्रत्यय की निष्ठा संज्ञा की गई है। भाव और आदिकर्म में 'क्तवतु' प्रत्यय नहीं होता। इसलिये यहां 'क्त' प्रत्यय के उदाहरण दिये गये हैं।

(६) यहां 'अन्यतरस्याम्' एक व्यवस्थित विभाषा है। इसलिये 'शप्' विकरण की उकार-उपधावाली धातुओं से परे ही भाव और आदिकर्म अर्थ में सेट् 'क्त' प्रत्यय विकल्प से कित् होता है। अन्य विकरण की उकार उपधावाली धातुओं से परे भाव और आदिकर्म अर्थ में सेट् 'क्त' प्रत्यय विकल्प से कित् नहीं होता है। जैसे-गुध परिवेष्टने (दिवादि०) गुधितमनेन इत्यादि।

निष्ठाक्त्वाकित्त्वप्रतिषेधः-

(१८) पूङः क्त्वा च।२२।

प०वि०-पूङः ५।१ क्त्वा १।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-'सेट् निष्ठा कित् न' इत्यनुवर्तते। अत्र 'अन्यतरस्याम्' इति नानुवर्तते, अग्रिमे सूत्रे 'वा' इति वचनात्।

अन्वयः-पूङः सेट् निष्ठा क्त्वा च किद् न।

अर्थः-पूङो धातोः परः सेट् निष्ठा क्त्वा च प्रत्ययः किद्वद् न भवति।

उदा०-(पूङ्) निष्ठा-पवितः, पवितवान्। **क्त्वा**-पवित्वा।

*आर्यभाषा-अर्थ-(पूङः) पूङ् धातु से परे (सेट्) इट् आगमवाला (निष्ठा) **क्त**, क्तवतु प्रत्यय (च) और (क्त्वा) क्त्वा प्रत्यय (कित्) कित् (न) नहीं माना जाता है।*

*उदा०-(पूङ्) निष्ठा-पवितः। पवितवान्। पवित्र किया। **क्त्वा-पवित्वा**। पवित्र करके।*

सिद्धि-(१) पवितः। पूङ्+क्त। पू+इट्+त। पो+इ+त्। प् अव्+इ+त। पवित+सु। पवितः।

*यहां 'पूङ् पवने' (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'क्त' प्रत्यय और 'पूङश्च' (७।२।५१) 'इट्' का आगम होने पर 'क्त' प्रत्यय को कित् न मानने से पू धातु को 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से गुण हो जाता है। 'एचोऽयवायावः' (६।१।७८) से 'आय्' आदेश होता है। इसी प्रकार 'क्तवतु' और 'क्त्वा' प्रत्यय करके **पवितवान् और पवित्वा** शब्द सिद्ध करें।*

(२) 'न क्त्वा सेट्' (१।२।१८) से सेट् 'क्त्वा' प्रत्यय को कित् मानने का निषेध किया गया है। पूङ् धातु से सेट् 'क्त्वा' प्रत्यय को पुनः कित् न मानने का कथन यहां के लिये नहीं अपितु आगे के लिये किया गया है।

क्त्वाकित्त्वविकल्पः—

(१६) नोपधात् थफान्ताद् वा। २३।

प०वि०-न-उपधात् ५।१ थ-फान्तात् ५।१ वा अव्ययपदम्।

स०-न उपधायां यस्य सः-नोपधः, तस्मात्-नोपधात्। (बहुव्रीहिः)। थश्च फश्च तौ-थफौ। थफावन्ते यस्य सः-थफान्तः, तस्मात्-थफान्तात् (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-'सेट् क्त्वा कित् न' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-नोपधात् थफान्तात् सेट् क्त्वा वा किद् न।

अर्थः-नकारोपधात् थकारान्तात् फकारान्ताच्च धातोः परः सेट् क्त्वाप्रत्ययो विकल्पेन किद्वद् न भवति।

उदा०-थकारान्तात् (ग्रन्थ) ग्रथित्वा। ग्रन्थित्वा। **फकारान्तात्** (गुम्फ) गुफित्वा। गुम्फित्वा।

आर्यभाषा-अर्थ-(न-उपधात्) नकार उपधावाली (थ-फान्तात्) थकारान्त और फकारान्त धातु से परे (सेट्) इट् आगमवाला (क्त्वा) क्त्वा प्रत्यय (वा) विकल्प से (कित्) कित् (न) नहीं होता है।

उदा०-थकारान्त (ग्रन्थ) ग्रथित्वा। ग्रन्थित्वा। गांठ लगाकर। श्रथित्वा। श्रन्थित्वा। ढीला करके/छोड़कर। फकारान्त (गुम्फ) गुफित्वा, गुम्फित्वा। गूंथकर।

सिद्धि-(१) ग्रथित्वा। ग्रन्थ्+क्त्वा। ग्रन्थ्+इट्+त्वा। ग्रथ्+इ+त्वा। ग्रथित्वा+सु। ग्रथित्वा।

यहां 'ग्रन्थ सन्दर्भे' (क्र्या०प०) धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) से 'क्त्वा' प्रत्यय और पूर्ववत् 'इट्' का आगम होने पर एक पक्ष में 'क्त्वा' को कित् मानने से 'अनुदात्तोपदेश०' (६।४।३७) से धातु के अनुनासिक न् (ं) का लोप हो जाता है। विकल्प पक्ष में जहां क्त्वा प्रत्यय को कित् नहीं माना जाता है, वहां धातु के अनुनासिक न् (ं) का लोप नहीं होता है-ग्रन्थित्वा।

(२) इसी प्रकार 'श्रन्थ विमोचन प्रतिहर्षयोः' (क्र्या०प०) धातु से श्रथित्वा और श्रन्थित्वा शब्द सिद्ध करें और 'गुम्फ ग्रन्थे' (तु०प०) धातु से गुफित्वा और गुम्फित्वा शब्द सिद्ध करें।

विशेष- 'न क्त्वा सेट्' (१।२।१८) सूत्र से सेट् 'क्त्वा' को कित् मानने का निषेध किया गया है। यहां कहा गया है कि सेट् 'क्त्वा' प्रत्यय विकल्प से कित् नहीं होता है। 'न वेति विभाषा' (१।१।४४) के वचन से यहां नकार से पूर्व प्राप्ति 'न क्त्वा सेट्' (१।१।१८) को हटा दिया जाता है और 'वा' से विकल्प कर दिया जाता है। आगामी विभाषा सूत्रों में भी ऐसा ही समझें।

(२०) वञ्चिलुञ्च्यृतश्च।२४।

प०वि०-वञ्चि-लुञ्चि-ऋतः ५।१ च अव्ययपदम्।

स०-वञ्चिश्च लुञ्चिश्च ऋत् च एतेषां समाहारः-वञ्चिलुञ्च्यृत्, तस्मात्-वञ्चिलुञ्च्यृतः (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-'सेट् क्त्वा वा कित् न' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-वञ्चिलुञ्च्यृतश्च सेट् क्त्वा वा किद् न।

अर्थः-वञ्चिलुञ्च्यृतिभ्यो धातुभ्यः परः सेट् क्त्वाप्रत्ययो विकल्पेन किदवद् न भवति।

उदा०-(वञ्चि) वचित्वा। वञ्चित्वा। **(लुञ्चि)** लुचित्वा। **लुञ्चित्वा**। **(ऋत)** ऋतित्वा अर्तित्वा।

आर्यभाषा-अर्थ-(वञ्चि०) वञ्चि, लुञ्चि और ऋत् धातु से परे (सेट्) इट् आगमवाला (क्त्वा) क्त्वा प्रत्यय (वा) विकल्प से (कित्) कित् (न) नहीं होता है।

उदा०-(वञ्चि) वचित्वा। वञ्चित्वा। ठगकर। (लुञ्चि) लुचित्वा। लुञ्चित्वा। हराकर। (ऋत्) ऋतित्वा। अर्तित्वा। घृणा करके।

*सिद्धि-(१) **वचित्वा।** वञ्च्+क्त्वा। वञ्च्+इट्+त्वा। वच्+इ+त्वा। वचित्वा+सु। वचित्वा।*

*यहां 'वञ्चु **गत्यर्थः**' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्त्वा' प्रत्यय और उसे पूर्ववत् 'इट्' का आगम होने पर 'क्त्वा' प्रत्यय को एक पक्ष में कित् मानकर '**अनुदात्तोपदेश०**' (६।४।३७) से वञ्च् धातु के अनुनासिक 'ञ्' का लोप हो जाता है। दूसरे पक्ष में 'क्त्वा' प्रत्यय को कित् न मानने से वञ्च् धातु के अनुनासिक 'ञ्' का लोप नहीं होता है। इसी प्रकार लुञ्च् अपनयने (भ्वादि०) धातु से लुचित्वा और लुञ्चित्वा शब्द सिद्ध करें।*

*(२) **ऋतित्वा।** ऋत्+क्त्वा। ऋत्+इट्+त्वा। ऋतित्वा+सु। ऋतित्वा।*

*यहां '**ऋत घृणायाम्**' (माधव०) यह सौत्र धातु है। इससे पूर्ववत् 'क्त्वा' प्रत्यय और 'इट्' का आगम होने पर, 'क्त्वा' प्रत्यय को कित् मानने से '**पुगन्तलघूपधस्य च**' (७।३।८६) से लघूपध गुण नहीं होता है। दूसरे पक्ष में 'क्त्वा' प्रत्यय को कित् न मानने से लघूपध गुण हो जाता है-अर्तित्वा।*

(२१) तृषिमृषिकृशेः काश्यपस्य।२५।

प०वि०-तृषि-मृषि-कृशेः ५।१ काश्यपस्य ६।१।

स०-तृषिश्च मृषिश्च कृशिश्च एतेषां समाहारः-तृषिमृषिकृशि, तस्मात्-तृषिमृषिकृशेः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'सेट् क्त्वा वा कित् न' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-तृषिमृषिकृशेः सेट् क्त्वा वा किद् न काश्यपस्य।

अर्थः-तृषिमृषिकृशिभ्यो धातुभ्यः परः सेट् क्त्वाप्रत्ययो विकल्पेन किदवद् न भवति, काश्यपस्याचार्यस्य मतेन।

उदा०-(तृषि) तृषित्वा। तर्षित्वा। (मृषि) मृषित्वा। मर्षित्वा। (कृशि) कृशित्वा। कर्शित्वा।

आर्यभाषा-अर्थ-(तृषि०) तृषि, मृषि और कृशि धातु से परे (सेट्) इट् आगमवाला (क्त्वा) क्त्वा प्रत्यय (वा) विकल्प से (कित्) कित् (न) नहीं होता है। (काश्यपस्य) काश्यप आचार्य के मत में।

उदा०-(तृषि) तृषित्वा। तर्षित्वा। प्यासा होकर। (मृषि) मृषित्वा-मृषित्वा। मर्षित्वा। द्वन्द्व सहन करके। (कृशि) कृशित्वा। कर्शित्वा। पतला करके।

सिद्धि-(१) तृषित्वा। तृष्+क्त्वा। तृष+इट्+त्वा। तृषित्वा+सु। तृषित्वा।

यहां 'तृष पिपासायाम्' (दिवा०प०) धातु से पूर्ववत् 'क्त्वा' प्रत्यय और 'इट्' का आगम होने पर, 'क्त्वा' प्रत्यय को कित् मानकर 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से प्राप्त लघूपध गुण का 'क्ङिति च' (१।१।५) से निषेध हो जाता है। दूसरे पक्ष में 'क्त्वा' प्रत्यय के कित् न मानने से तृष धातु को लघूपध गुण हो जाता है-तर्षित्वा।

इसी प्रकार 'मृष तितिक्षायाम्' (दि०प०) धातु से मृषित्वा और मर्षित्वा शब्द सिद्ध करें। 'कृश तनूकरणे' (दि०प०) धातु से कृशित्वा और कर्शित्वा शब्द सिद्ध करें। मृषित्वा। द्वन्द्वों का सहन करके। सुख-दुःख आदि के जोड़े को द्वन्द्व कहते हैं।

विशेष-पाणिनि मुनि किसी आचार्य का नाम ग्रहण विकल्प के लिये करते हैं, किन्तु यहां काश्यप आचार्य का नामग्रहण पूजा के लिये है कि इस विषय में काश्यप आचार्य का भी यही मत है, क्योंकि यहां विकल्प के लिये तो 'वा' की अनुवृत्ति है ही।

क्त्वासन्कित्त्वविकल्पः-

(२२) रलो व्युपधाद्धलादेः सँश्च।२६।

प०वि०-रलः ५।१ उ-इ-उपधात् ५।१ हलादेः ५।१ सन् १।१ **च** अव्ययपदम्।

स०-उश्च इश्च तौ-वी, वी उपधायां यस्य सः-व्युपधः, तस्मात्-व्युपधात् (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)। हल् आदिर्यस्य सः-हलादिः, तस्मात्-हलादेः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-सेट् क्त्वा वा कित् न' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-रलो व्युपधाद् हलादेः सेट् क्त्वा सँश्च वा किद् न।

अर्थः-रलन्ताद् उकारोपधाद् इकारोपधाच्च हलादेर्धातोः परः सेट् क्त्वा सँश्च प्रत्ययो विकल्पेन किद्वद् न भवति।

उदा०-उकारोपधात् (द्युत्) क्त्वा-द्युतित्वा। द्योतित्वा। **सन्-**दिद्युतिषति। दिद्योतिषति। **इकारोपधात् (लिख्)** क्त्वा-लिखित्वा। लेखित्वा। **सन्-**लिलिखिषति। लिलेखिषति।

*आर्यभाषा-अर्थ-(रल्) रल् अन्तवाली **(उ-इ-उपधात्)** उकार और इकार उपधावाली **(हलादेः)** हल् आदिवाली धातु से (सेट्) इट् आगमवाला (क्त्वा) क्त्वा प्रत्यय (च) और (सन्) सन्प्रत्यय (वा) विकल्प से (कित्) किद्वत् (न) नहीं होता है।*

*उदा०-उकार-उपधावाली धातु (द्युत्) क्त्वा-द्युतित्वा, द्योतित्वा। चमक कर। **सन्-दिद्युतिषते, दिद्योतिषते।** चमकना चाहता है। इकार-उपधावाली धातु (लिख्)*

क्त्वा-लिखित्वा, लेखित्वा। लिखकर। सन्-लिलिखिषति, लिलेखिषति। लिखना चाहता है।

सिद्धि-(१) द्युतित्वा। द्युत्+क्त्वा। द्युत्+इट्+त्वा। द्युतित्वा+सु। द्युतित्वा।

यहां 'द्युत दीप्तौ' (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'क्त्वा' प्रत्यय और 'इट्' का आगम करने पर, 'क्त्वा' प्रत्यय को कित् मानकर 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' (१।१।५) से निषेध हो जाता है। दूसरे पक्ष में 'क्त्वा' प्रत्यय को कित् न मानने से द्युत् धातु को प्राप्त लघूपध गुण हो जाता है-द्योतित्वा।

इसी प्रकार 'लिख अक्षरविन्यासे' (तु०प०) धातु से लिखित्वा और लेखित्वा शब्द सिद्ध करें।

(२) दिद्युतिषते। द्युत+सन्। द्युत्+इट्+स। द्युत्+द्युत्+इ+स। द् इ उ त्+द्युत्+इ+स। दि+द्युत्+इ+ष। दिद्युतिष+लट्। दिद्योतिषते।

यहां 'द्युत् दीप्तौ' (भ्वा०प०) धातु से 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' (३।१।७) से 'सन्' प्रत्यय, और पूर्ववत् 'इट्' का आगम होने पर, 'सन्' प्रत्यय को कित् मानकर 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से द्युत् धातु को प्राप्त लघूपध गुण का 'क्ङिति च' (१।१।५) से निषेध हो जाता है। दूसरे पक्ष में 'सन्' प्रत्यय को कित् न मानने से 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से द्युत् धातु को लघूपध गुण हो जाता है-दिद्योतिषते।

इसी प्रकार 'लिख अक्षरविन्यासे' (तुदादि०) धातु से लिलिखिषति और लिलेखिषति शब्द सिद्ध करें।

ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञाः–

(१) ऊकालोऽज् ह्रस्वदीर्घप्लुतः।२७।

प०वि०–उ–ऊ–उ३कालः १।१ अच् १।१ ह्रस्वदीर्घप्लुतः १।१।

स०–उश्च ऊश्च ऊ३श्च ते–वः, तेषाम्–वाम्। वां काल इव कालो यस्य सः–ऊकालः (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः) ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च एतेषां समाहारः–ह्रस्वदीर्घप्लुतः (समाहारद्वन्द्वः) समाहारे पुंस्त्वं छान्दसम्।

अर्थः–उ, ऊ, उ३ इत्येवं कालोऽच्, यथासंख्यं ह्रस्व–दीर्घ–प्लुतसंज्ञको भवति।

उदा०–(उकालः) दधि। मधु। (ऊकालः) कुमारी। गौरी। (उ३कालः) देवदत्त३ अत्र न्वसि।

आर्यभाषा–अर्थ–(उ-ऊ-उ३कालः) उ, ऊ और उ३ के काल के समान जिसका काल है, उस (अच्) स्वर की यथासंख्य (ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत) ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञा होती है।

उदा०-(उकाल) दधि। मधु। (ऊकाल) कुमारी। गौरी। (ऊ३काल) देवदत्त३ अत्र न्वसि।

ऊकालस्वर-तालिका

ह्रस्व	दीर्घ	प्लुत	योग
अ	आ	अ३	
इ	ई	इ३	
उ	ऊ	उ३	
ऋ	ॠ	ऋ३	
ऌ	×	ऌ३	
×	ए	ए३	
×	ऐ	ऐ३	
×	ओ	ओ३	
×	औ	औ३	
५	८	९	२२

*विशेष-(१) "स्वरों की ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद से तीन संज्ञा हैं। इनके उच्चारण समय का लक्षण यह है कि जितने समय में अंगुष्ठ की मूल की नाड़ी एक बार गति करती है उतने समय में ह्रस्व, उससे दूने काल में दीर्घ और उससे तिगुने काल में प्लुत का उच्चारण करना चाहिये" **(महर्षि दयानन्दकृत वर्णोच्चारणशिक्षा)**।*

(२) 'ऊकाल' यहां उ-ऊ-ऊ३काल इन तीनों का प्रश्लिष्ट उपदेश किया गया है।

*(३) 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः' यहां ह्रस्वश्च दीर्घश्च, प्लुतश्च एतेषां समाहारः- '**ह्रस्वदीर्घप्लुतम्**' इस द्वन्द्व एकवद्भाव में '**ह्रस्वदीर्घप्लुतम्**' ऐसा पद होना चाहिये, क्योंकि '**स नपुंसकम्**' (२।४।१७) से द्वन्द्व एकवद्भाव में नपुंसकलिङ्ग होता है। इसका उत्तर यह है कि **"छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति"** सूत्रों की रचना छन्द के समान है। जैसे छन्द में लिङ्ग का व्यत्यय होता है, वैसे यहां भी यह लिङ्ग-व्यत्यय समझना चाहिये।*

ह्रस्वदीर्घप्लुतानां स्थानिनियमः-

(२) अचश्च।२८।

प०वि०-अचः ६।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-'अच् ह्रस्वदीर्घप्लुतः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-ह्रस्वदीर्घप्लुतोऽच् अचश्च।

अर्थः-ह्रस्वः, दीर्घः, प्लुत इत्येवं यो विधीयमानोऽच् सोऽच एव स्थाने भवति।

उदा०-ह्रस्वः (रै) अतिरि। (गो) उपगु। (नौ) अतिनु। दीर्घः (चि) चीयते। (श्रु) श्रूयते। प्लुतः (अ) देवदत्त३। यज्ञदत्त३।

आर्यभाषा-अर्थ-(ह्रस्वदीर्घप्लुतः) ह्रस्व हो जाये, दीर्घ हो जाये, प्लुत हो जाये, जब शब्दशास्त्र में ऐसा कहा जाये तब (च) वह पूर्वोक्त ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत (अचः) अच् स्वर के स्थान में ही होता है। यह स्थानी का नियमन करनेवाला परिभाषा-सूत्र है।

उदा०-ह्रस्व (रै) अतिरि। (गो) उपगु। (नौ) अतिनु। दीर्घ (चि) चीयते। (श्रु) श्रूयते। प्लुत (अ) देवदत्त३। यज्ञदत्त३।

*सिद्धि-(१) **अतिरि।** अति+रै। अति+रि। अतिरि+सु। अतिरि। रायमतिक्रान्तमिति अतिरि कुलम्। यहां '**ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य**' (१।२।४७) से ह्रस्व होता है। अतिरिकुलम्=रै (धन) का अतिक्रमण करनेवाला कुल। नावमतिक्रान्तमिति अतिनुकुलम्। नौका का अतिक्रमण करनेवाला कुल। अतिक्रमण=जीतना।*

*(२) **चीयते।** चि+लट्। चि+त। चि+यक्+त। चि+य+ते। ची+य+त। चीयते।*

*यहां 'चिञ् चयने' (स्वा०उ०) धातु से '**सार्वधातुके यक्**' (३।१।६७) से यक् प्रत्यय और 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (७।४।२५) से चि धातु को दीर्घ हो जाता है। इसी प्रकार श्रु श्रवणे (स्वा०प०) धातु से-श्रूयते। **चीयते।** चुना जाता है। **श्रूयते।** सुना जाता है।*

*(३) देवदत्त३। यहां 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' (८।२।८२) से सम्बोधन में वाक्य की टि को प्लुत किया गया है-आगच्छ **भो! माणवक देवदत्त३।** हे बालक! देवदत्त तू आ।*

स्वरप्रकरणम्

उदात्तसंज्ञा—

(१) उच्चैरुदात्तः।२९।

प०वि०-उच्चैः अव्ययपदम्, उदात्तः १।१।

अनु०-'अच्' इत्यनुवर्तति।

अन्वयः-उच्चैरज् उदात्तः।

अर्थः-कण्ठादीनां स्थानानामुच्चैर्भागे निष्पन्नोऽच्, उदात्तसंज्ञको भवति।

उदा०-ये। के। ते।

आर्यभाषा-अर्थ-(उच्चैः) कण्ठ आदि स्थानों के ऊचे भाग से उत्पन्न होनेवाले (अच्) स्वर की (उदात्तः) उदात्त संज्ञा होती है।

उदा०-ये। के। ते।

विशेष-(१) आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः। दारुण्यं स्वरस्य, दारुणता रूक्षता। अणुता खस्य, कण्ठस्य संवृतता। उच्चैःकराणि शब्दस्य (व्याकरणमहाभाष्यम् १।२।२९)

अर्थः-शरीर के अवयवों का निग्रह करना, स्वर की रूक्षता और कण्ठ की संवृतता ये शब्द के उच्चैःकरण के हेतु हैं।

(२) ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद में उदात्त स्वर पर कोई चिह्न नहीं होता है। सामवेद में उदात्त स्वर एक अङ्क (१) का चिह्न दिया जाता है।

(३) यहां वर्ण की ध्वनिकृत उच्चता नहीं, अपितु स्थानकृत उच्चता है। जिस वर्ण का जो स्थान है और वहां जो उच्चता है, उस स्थान से उच्चारण किये गये स्वर षड्ज आदि स्वरों के समान अभ्यास से ही उपलब्ध होता है।

अनुदात्तसंज्ञा-

(२) नीचैरनुदात्तः।३०।

प०वि०-नीचैः अव्ययपदम्, अनुदात्तः १।१।

अनु०-'अच्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-नीचैरज् अनुदात्तः।

अर्थः-कण्ठादीनां स्थानानां नीचैर्भागे निष्पन्नोऽच्, अनुदात्तसंज्ञको भवति। त्व। सम। सिम।

आर्यभाषा-अर्थ-(नीचैः) कण्ठ आदि स्थानों के (नीचैः) नीचे भाग से उत्पन्न होनेवाले (अच्) स्वर की (अनुदात्तः) अनुदात्त संज्ञा होती है। त्वम्। कोई। सम। सब। सिम। सब।

सिद्धि-(१) त्व। यह 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१।१।२७) सर्वादिगण में अनुदात्त पढ़ा गया है। इसी प्रकार वहां 'सम' और 'सिम' शब्द भी अनुदात्त पढ़े गये हैं।

विशेष-(१) अन्वसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य। अन्वसर्गो गात्राणां शिथिलता। मार्दवं स्वरस्य मृदुता=स्निग्धता। उरुता खस्य, महत्ता कण्ठस्य नीचैःकराणि शब्दस्य (व्याकरणमहाभाष्यम् १।२।३०)

अर्थ-शरीर के अवयवों की शिथिलता, स्वर की कोमलता और कण्ठ की महत्ता ये शब्द के नीचैःकरण के हेतु हैं।

(२) ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद में अनुदात्त स्वर पर ऐसा चिह्न (–) लगता है। सामवेद में अनुदात्त का चिह्न (३क) स्वर के ऊपर लिखा जाता है।

(३) यहां वर्ण का ध्वनिकृत नीचत्व नहीं है, अपितु स्थानकृत नीचत्व है। जिस वर्ण का जो स्थान है और वहां जो नीचा भाग है, उस स्थान से उच्चारण किये गये स्वर को अनुदात्त कहते हैं। यह स्वर षड्ज आदि स्वरों के समान अभ्यास से ही उपलब्ध होता है।

स्वरितसंज्ञा—

(३) समाहारः स्वरितः।३१।

प०वि०-समाहारः १।१ स्वरितः १।१।

अनु०-'अच्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-उदात्तानुदात्तयोः समाहारोऽच् स्वरितः।

अर्थः-उदात्तानुदात्तयोर्यः समाहारोऽच्, स स्वरितसंज्ञको भवति।

उदा०-क्व। शिक्यम्। कन्या। सामान्यः।

आर्यभाषा-अर्थ-(समाहारः) उदात्त और अनुदात्त स्वर के समाहारवाले (अच्) स्वर की (स्वरितः) स्वरित संज्ञा होती है। क्व। कहां। शिक्यम्। छिक्का। कन्या। प्रसिद्ध। सामान्यः। सामवेद में कुशल।

*सिद्धि-(१) **क्व**। किम्+ङि+अत्। किम्+अ। कु+अ। क् व्+अ। क्व+सु। क्व। यहां किम् शब्द से **'किमोऽत्'** (५।३।१२) से 'अत्' प्रत्यय और **'कु तिहोः'** से 'किम्' के स्थान में 'कु' आदेश है। 'अत्' प्रत्यय के तित् होने से **'तित् स्वरितम्'** (६।१।१८५) से स्वरित होता है।*

*(२) **शिक्यम्। कन्या**। ये दोनों शब्द **'तिल्यशिक्यकाश्मर्यधान्यकन्याराजन्यमुनष्याणामन्तः'** (फिट्० ४।८) से अन्तस्वरित हैं। **'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'** (६।१।१५२) से शेष अच् अनुदात्त होता है।*

*(३) **सामान्यः**। सामन्+यत्। सामान्+य। सामान्य+सु। सामान्यः। यहां 'तत्र साधुः' (४।४।९८) से यत् प्रत्यय और **'तित् स्वरितम्'** (१।१।१७९) से स्वरित और शेष अच् पूर्ववत् अनुदात्त होता है। सामसु साधुः-सामान्यः।*

विशेष-(१) ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद में स्वरित का ऐसा (ᑊ) ऊर्ध्वरेखात्मकचिह्न अक्षर के ऊपर लगाया जाता है। सामवेद में स्वरित स्वर का चिह्न (२) अक्षर के ऊपर दिया जाता है।

स्वरिते उदात्तभागः—

(४) तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्।३२।

प०वि०-तस्य ६।१ आदितः अव्ययपदम्, उदात्तम् १।१ अर्धह्रस्वम् १।१।

स०-अर्धं ह्रस्वस्येति, अर्धह्रस्वम् (तत्पुरुषः)।

अन्वयः-तस्य स्वरितस्यादितोऽर्धह्रस्वम् उदात्तम्।

अर्थः-तस्योदात्तानुदात्तसमाहारस्य स्वरितस्वरस्यादौ, अर्धह्रस्वमात्र-

मुदात्तं शेषं चानुदात्तं भवति।

उदा०-क्व॑। शिक्य॑म्। कन्या॑। सामान्य॑ः।

*आर्यभाषा-अर्थ-(तस्य) उस उदात्त और अनुदात्त स्वर के समाहारवाले **स्वरित** स्वर के (आदितः) आदि में (अर्धह्रस्वम्) आधी ह्रस्व मात्रा (उदात्तम्) उदात्त होती है **और** शेष मात्रा अनुदात्त होती है।*

उदा०-क्वं॑। शिक्य॑म्। कन्या॑। सामान्य॑ः।

*सिद्धि-(१) **क्वं॑।** यहां ह्रस्व स्वरित में आदिम आधी मात्रा उदात्त और आधी मात्रा अनुदात्त है। इसी प्रकार से-शिक्य॑म् में भी।*

*(२) **कन्या॑।** यहां दीर्घ स्वरित में आदिम आधी मात्रा उदात्त और शेष डेढ़ अनुदात्त है। इसी प्रकार से 'सामान्य॑ः' में भी।*

*(३) **माणवक॑३।** यहां स्वरित में आदिम आधी मात्रा उदात्त और शेष अढ़ाई मात्रा अनुदात्त है।*

*__विशेष__-यहां महाभाष्यकार पतञ्जलि लिखते हैं कि '**समाहार**' ऐसा कहने पर यहां सन्देह उत्पन्न होता है कि स्वरित में कितना भाग उदात्त है और कितना भाग अनुदात्त है और उसमें भी किस अवकाश में उदात्त और किस अवकाश में अनुदात्त है। आचार्य पाणिनि मुनि ने इस सूत्र के द्वारा हमारा मित्र बनकर यह बतलाया है कि स्वरित आदि में आधी मात्रा भाग उदात्त है और शेष भाग अनुदात्त होता है।*

(व्याकरणमहाभाष्यम् १।२।३२)।

स्वरों के भेद

(१) ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और उदात्त, अनुदात्त स्वरित तथा निरनुनासिक और सानुनासिक स्वरों के भेद हैं। उन्हें अधोलिखित तालिका से समझ लेवें।

स्वर	ह्रस्व	दीर्घ	प्लुत	
उदात्त	अ	आ	अ३	
अनुदात्त	अ॒	आ॒	अ॒३	
स्वरित	अ॑	आ॑	अ॑३	
				निरनुनासिक
उदात्त	अँ	आँ	अँ३	
अनुदात्त	अँ॒	आँ॒	अँ॒३	
स्वरित	अँ॑	आँ॑	अँ॑३	
				सानुनासिक

इस प्रकार 'अ' स्वर के १८ अठारह भेद होते हैं।

(२) 'लृ वर्णस्य दीर्घा न सन्ति, तं द्वादशभेदं प्रचक्षते।' लृ वर्ण के दीर्घ भेद नहीं होते हैं अतः उसके १२ बारह भेद हैं।

(३) 'सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति, तान्यपि द्वादशप्रभेदानि।' (पाणिनीयशिक्षा) सन्ध्यक्षर अर्थात् ए, ऐ, ओ, औ के ह्रस्व भेद नहीं होते हैं। इसलिये उनके भी १२ बारह १२ बारह ही भेद हैं।

एकश्रुतिस्वरः–

(५) एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ।३३।

प०वि०–एकश्रुति १।१ दूरात् ५।१ सम्बुद्धौ ७।१।

स०–एका श्रुतिर्यस्य तत्–एकश्रुति (बहुव्रीहिः) श्रुतिः=श्रवणम्।

अन्वयः–दूरात् सम्बुद्धावुदात्तानुदात्तस्वरितानामेकश्रुति।

अर्थः–दूरात् सम्बोधने उदात्तानुदात्तस्वरितानामेकश्रुतिस्वरो भवति।

उदा०–आगच्छ भो माणवक देवदत्त३।

*आर्यभाषा-अर्थ–(दूरात्) किसी को दूर से (सम्बुद्धौ) सम्बोधित करनेवाले वाक्य में (एकश्रुति) उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का एकश्रुति स्वर होता है। **आगच्छ भो माणवक देवदत्त३।** हे बालक देवदत्त तू आ।*

विशेष–(१) उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर के अविभाग एवं तिरोधान को एकश्रुति कहते हैं। किसी को दूर से सबोधित करते समय उस वाक्य में उदात्त आदि स्वरों का एक जैसा श्रवण होता है। पृथक्-पृथक् श्रवण नहीं होता है।

(२) शब्दशास्त्र में सम्बोधन के एकवचन को 'एकवचनं सम्बुद्धिः' (२।३।४९) के अनुसार 'सम्बुद्धि' कहते हैं। किन्तु यहां सम्बुद्धि शब्द से सम्बोधन का ग्रहण किया जाता है।

(६) यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु।३४।

प०वि०–यज्ञकर्मणि ७।१ अजप-न्यूङ्ख-सामसु ७।३।

स०–यज्ञस्य कर्मेति यज्ञकर्म, तस्मिन्–यज्ञकर्मणि (षष्ठीतत्पुरुषः)। जपश्च न्यूङ्खश्च साम च तानि–जपन्यूङ्खसामानि, न जपन्यूङ्खसामानीति, अजपन्यूङ्खसामानि, तेषु–अजपन्यूङ्खसामसु (इतरेतरद्वन्द्वगर्भितनञ्-तत्पुरुषः)।

अनु०–'एकश्रुति' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-यज्ञकर्मणि उदात्तानुदात्तस्वरितानामेकश्रुति, अजपन्यूङ्ख-सामसु।

अर्थः-यज्ञकर्मणि, उदात्तानुदात्तस्वरितानामेकश्रुतिस्वरो भवति, जपन्यूङ्खसामानि वर्जयित्वा। यथा-

(१) ओ३म् अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्।
अपां रेताँसि जिन्वतो३म्। यजु० ३।१२।

(२) ओ३म् समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहातन। यजु० ३।१।

आर्यभाषा-अर्थ-(यज्ञकर्मणि) यज्ञ-कर्म में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का (एकश्रुति) एकश्रुति स्वर होता है (अजपन्यूङ्ख-साम्यसु) जप, न्यङ्ख और सामवेद को छोड़कर। जैसे-

(१) ओ३म् अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्।
अपां रेताँसि जिन्वतो३म्। यजु० ३।१२।

(२) ओ३म् समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहातन। यजु० ३।१।

विशेष-(प्रश्न) जप किसे कहते हैं।

उत्तर-अनुकरण मन्त्र को 'जप' कहते हैं। इसका ओठों से ही धीरे-धीरे उच्चारण किया जाता है। यह पास में बैठे हुये व्यक्ति को भी सुनाई नहीं देता है।

(प्रश्न) न्यूङ्ख किसे कहते हैं।

(उत्तर) (१) बारह ओकारों को न्यूङ्ख कहते हैं। उनमें कुछ उदात्त हैं और कुछ अनुदात्त हैं। किन्तु उनका यज्ञकर्म में एकश्रुति स्वर नहीं होता है।

(२) न्यूङ्खास्तु पृष्ठ्ये षडहे होतृवेदे प्रसिद्धा ओकारा द्वादश-पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वां यं तो ओ ओ ओ३ ओ ओ ओ ओ३ ओ ओ ओ३ सुषाव हर्यश्वाद्रिः कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्ये (१।१९४) कर्कः।

(३) आश्वलायनश्रौतसूत्र (७।११) में पढ़े हुये निगद विशेष को न्यूङ्ख कहते हैं।

(प्रश्न) साम किसे कहते हैं।

(उत्तर) (१) वाक्य विशेष में स्थित गीत को साम कहते हैं। जैसे-ए३ विश्वं समत्रिणं दह३। साम में एकश्रुति स्वर नहीं होता है।

(२) सामवेद के गान को साम कहते हैं।

एकश्रुतिविकल्पः–

(७) उच्चैस्तरां वा वषट्कारः।३५।

प०वि०–उच्चैस्तराम् अव्ययपदम्, वा अव्ययपदम्, वषट्कारः १।१।

अनु०–'यज्ञकर्मणि, एकश्रुति' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–यज्ञकर्मणि वषट्कारो वा उच्चैस्तराम्।

अर्थः–यज्ञकर्मणि वौषट् शब्दो विकल्पेन उदात्ततरो भवति, पक्षे चैकश्रुतिस्वरो भवति।

उदा०–उदात्ततरः–सोमस्याग्नेर्वीही३वौषट्। **एकश्रुतिस्वरः**–सोमस्याग्नेर्वीही३ वौषट्। वषट्कारः सरस्वती (मैत्रायणी संहिता ३।११।५)

आर्यभाषा-अर्थ-(यज्ञकर्मणि) यज्ञ-कर्म में (वषट्कारः) वौषट् शब्द (वा) विकल्प से (उच्चस्तैराम्) उदात्ततर होता है। द्वितीय पक्ष में एकश्रुति स्वर होता है। उदात्ततर-सोमस्याग्ने वीही३ वौ३षट्। एकश्रुति-सोमस्याग्ने वीही३ वौ३षट्।

विशेष-(१) यहां वषट्कार शब्द से वौषट् शब्द का ग्रहण किया जाता है। प्रश्न-यदि ऐसा है तो वौषट् शब्द का उपदेश क्यों नहीं किया ? उत्तर-विचित्रता के लिये। पाणिनिमुनि के सूत्रों की रचना विचित्र है। (पं० जयादित्य)।

*(२) महर्षि दयानन्द ने अपने अष्टाध्यायीभाष्य में '**वषट्कार**' शब्द का ही ग्रहण किया है, 'वौषट्' शब्द का नहीं और यहां '**वषट्कारः**' सरस्वती उदाहरण दिया है।*

(८) विभाषा छन्दसि।३६।

प०वि–विभाषा १।१ छन्दसि ७।१।

अनु०–'एकश्रुति' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–छन्दसि उदात्तानुदात्तस्वरितानां विभाषा एकश्रुति।

अर्थः–छन्दसि। वेदस्वाध्यायकाले उदात्तानुदात्तस्वरितानां विकल्पेनैकश्रुतिस्वरो भवति। पक्षे उदात्तानुदात्तस्वरितानां श्रवणमपि भवति। यथा–

(१) ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्। ऋग्० १।१।१।

(२) ओ३म् इषे त्वोर्जे त्वा वायवः स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा

मा वस्तेन ईशत माघशँसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि। यजु० १।१।

(३) ओ३म् अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि। साम० १।१।१।

(४) ओ३म् ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः। वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे। अथर्व० १।१।१।

आर्यभाषा-अर्थ-(छन्दसि) वेद के स्वाध्यायकाल में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों की (विभाषा) विकल्प से (एकश्रुति) एकश्रुति होती है। द्वितीय पक्ष में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का श्रवण भी होता है।

उदा०-संस्कृत भाग में देख लेवें।

विशेष-(१) कई आचार्यों का ऐसा मत है कि यह एक व्यवस्थित विभाषा (विकल्प) है। व्यवस्था यह है कि मन्त्रभाग में नित्य उदात्त अनुदात्त और स्वरित स्वर होता है और ब्राह्मणभाग में नित्य एकश्रुति होती है।

(२) श्री भट्टाचार्य का कहना है कि **'इच्छासंहितयोरार्षे छन्दो वेदे च छन्दसि'** *के अनुसार छन्द शब्द के इच्छा, संहिता, आर्षवचन, वेद और अनुष्टुप् आदि छन्द अर्थ में छन्द शब्द का प्रयोग होता है। इसलिये लौकिक संस्कृत भाषा में भी उदात्त, अनुदात्त और स्वरित की विकल्प से एकश्रुति होती है।*

एकश्रुतिप्रतिषेधः-

(६) न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः ३७।

प०वि०-न अव्ययपदम्, सुब्रह्मण्यायाम् ७।१ स्वरितस्य ६।१। तु अव्ययपदम्, उदात्तः १।१।

अनु०-'एकश्रुति' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-सुब्रह्मण्यायाम् उदात्तानुदात्तस्वरितानामेकश्रुति न स्वरितस्य तूदात्तः।

अर्थः-सुब्रह्मण्यानिगदे उदात्तानुदात्तस्वरितानामेकश्रुतिस्वरो न भवति, किन्तु तत्र स्वरितस्य स्थाने उदात्तादेशो भवति।

उदा०-सुब्रह्मण्यो३मिन्द्रागच्छ, हरिव आगच्छ, मेधातिथिर्मेष वृषणश्वस्य मेने, गौरवस्कन्दिन्नहिल्यायै जारः कौशिक ब्राह्मण, गौतम ब्रुवाण, श्वः सुत्यामागच्छ मघवन्। शतपथब्राह्मणम् ३।३।४।७।

आर्यभाषा-अर्थ-(सुब्रह्मण्यायाम्) सुब्रह्मण्या नामक निगद में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित की (एकश्रुति) एकश्रुति (न) नहीं होती है, (तु) किन्तु वहां (स्वरितस्य) स्वरित को (उदात्तः) उदात्त आदेश होता है।

उदा०-सुब्रह्मण्यो३मिन्द्रागच्छ, हरिव आगच्छ, मेधातिथिर्मेष वृषणश्वस्य मेने, गौरवस्कन्दिन्नहिल्लायै जारः कौशिक ब्राह्मण, गौतम ब्रुवाण, श्वः सुत्यामागच्छ मघवन्। शतपथब्राह्मणम् ३।३।४।७।

विशेष-शतपथब्राह्मण में तृतीय काण्ड, तृतीय प्रपाठक, चतुर्थ ब्राह्मण की सतरहवीं कण्डिका को लेकर बीसवीं कण्डिका तक जो वेदमन्त्र का व्याख्यानरूप पाठ है, उसे सुब्रह्मण्या निगद कहते हैं। उसमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित की एकश्रुति का यहां निषेध किया है।

(१०) देवब्रह्मणोरनुदात्तः।३८।

प०वि०-देव-ब्रह्मणोः ६।२ अनुदात्तः १।१। देवश्च ब्रह्मा च तौ देव-ब्रह्मणौ, तयोः-देवब्रह्मणोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-सुब्रह्मण्यायाम् एकश्रुति न स्वरितस्य अनुदात्तः।

अन्वयः-सुब्रह्मण्यायां देवब्रह्मणोरेकश्रुति न स्वरितस्तु अनुदात्तः।

अर्थः-सुब्रह्मण्यायां निगदे देवब्रह्मणोः शब्दयोरेकश्रुतिस्वरो न भवति किन्तु तत्र स्वरितस्य स्थानेऽनुदात्तः स्वरो भवति।

उदा०-देवा ब्रह्माण आगच्छत।

आर्यभाषा-अर्थ-(सुब्रह्मण्यायाम्) सुब्रह्मण्या नामक निगद में (देव-ब्रह्मणोः) देव और ब्रह्मन् शब्द का (एकश्रुति) एकश्रुति स्वर (न) नहीं होता है (तु) किन्तु (स्वरितस्य) स्वरित स्वर को (अनुदात्तः) अनुदात्त स्वर होता है।

*उदा०- देवाः, ब्रह्माणः। यहां इन दोनों पदों को **'आमन्त्रितस्य च'** (अ० ६।१।१८) से आद्युदात्त करने पर तथा शेष वर्णों को **'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'** (६।१।१५८) से अनुदात्त हो जाने पर **'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः'** (८।४।६६) से स्वरित हो जाता है, तत्पश्चात् इस सूत्र से उस स्वरित को अनुदात्त आदेश होता है। देवाः। ब्रह्माणः।*

एकश्रुतिः-

(११) स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्।३६।

प०वि०-स्वरितात् ५।१ संहितायाम् ७।१ अनुदात्तानाम् ६।३।

स०-अनुदात्तश्च अनुदात्तश्च अनुदात्तश्च तेऽनुदात्ताः, तेषाम्-अनुदात्तानाम् (एकशेषद्वन्द्वः)।

अनु०-'एकश्रुति' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-संहितायां स्वरिताद् अनुदात्तानामेकश्रुति।

अर्थः-संहितायां विषये स्वरितात् परेषाम् अनुदात्तानामेकश्रुति भवति।

उदा०-इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि (ऋ० १० ।७५ ।५)। माणवक जटिलकाध्यापक क्व गमिष्यसि ?

आर्यभाषा-अर्थ-*(संहितायाम्) संहिता विषय में (स्वरितात्) स्वरित स्वर से परे (अनुदात्तानाम्) अनुदात्त स्वरों के स्थान में (एकश्रुति) एकश्रुति स्वर होता है।*

उदा०- उदा०-इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि (ऋ० १० ।७५ ।५)। माणवक जटिलकाध्यापक क्व गमिष्यसि ?

सिद्धि-(१) इमं मे०। *यहां 'इमम्' यह आन्तोदात्त पद है। 'मे' यह अनुदात्त पद है। यहां '**उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः**' (८ ।४ ।६६) से स्वरित हो जाता है। इस स्वरित से परे इस सूत्र से गङ्गे आदि अनुदात्त पदों में एकश्रुति स्वर होता है।*

(२) माणवक जटिलकाध्यापक०। *यहां प्रथम आमन्त्रित 'माणवक' शब्द '**आमन्त्रितस्य च**' (६ ।१ ।१९८) से आद्युदात्त, '**अनुदात्तं पदमेकवर्जम्**' (६ ।१ ।१५८) से उसके प्रथम अक्षर को छोड़कर सब अनुदात्त हो जाता है। '**उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः**' (८ ।४ ।६६) से स्वरित करने पर परवर्ती अनुदात्त स्वरों के स्थान में एकश्रुति स्वर होता है।*

अनुदात्ततरः-

(१२) उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः ।४०।

प०वि०-उदात्त-स्वरितपरस्य ६ ।१ सन्नतरः १ ।१।

स०-उदात्तश्च स्वरितश्च तौ-उदात्तस्वरितौ, परश्च परश्च तौ-परौ, उदात्तस्वरितौ परौ यस्मात् सः-उदात्तस्वरितपरः, तस्य-उदात्तस्वरितपरस्य (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-अनुदात्तानाम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-उदात्तस्वरितपरस्यानुदात्तस्य सन्नतरः।

अर्थः-उदात्तपरस्य स्वरितपरस्य चाऽनुदात्तस्य स्थाने सन्नतरः= अनुदात्ततर आदेशो भवति।

उदा०-(उदात्तपरस्य) देवा मरुतः पृश्निमातरोऽपः। इमं मे सरस्वति शुतुद्रि। (स्वरितपरस्य) अध्यापक क्व।

आर्यभाषा-अर्थ-(उदात्त-स्वरितपरस्य) उदात्त-परक तथा स्वरित-परक (अनुदात्तानाम्) अनुदात्त स्वर के स्थान में (सन्नतरः) अनुदात्ततर स्वर आदेश होता है।

उदा०-देवा मरुतः पृश्निमातरोऽपः। सरस्वति शुतुद्रि।

*(१) **मातरोऽपः।** यहां 'मातरः' यह अनुदात्त पद है। 'अपः' **'ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः'** (६।१।१७१) से अन्तोदात्त है और उसका 'अ' अनुदात्त है। दोनों अनुदात्त अकारों का एकादेश 'ओ' अनुदात्त होता है। उसको उदात्त परे होने पर अनुदात्ततर आदेश होता है, अर्थात् वह अनुदात्ततर हो जाता है।*

*(२) **सरस्वति शुतुद्रि।** यहां 'शुतुद्रि' यह आमन्त्रित पद पाद के आदि में है। उसको **अनुदात्तं सर्वमपादादौ'** (८।१।१८) से अनुदात्त नहीं होता है। इसलिये उसका प्रथम अक्षर 'शु' उदात्त है। उसके परे होने पर 'सरस्वति' के 'अनुदात्त' 'इ' को अनुदात्ततर आदेश होता है।*

***विशेष-** 'सन्नतर' यह अनुदात्त की पूर्वाचार्यों की संज्ञा है।*

अपृक्तसंज्ञा-

(१) अपृक्त एकाल् प्रत्ययः।४१।

प०वि०-अपृक्तः १।१ एकाल् १।१ प्रत्ययः १।१।

स०-एकश्चासावल् इति एकाल् (कर्मधारयतत्पुरुषः)।

अन्वयः-एकाल् प्रत्ययोऽपृक्तः।

अर्थः-एकाल् प्रत्ययोऽपृक्तसंज्ञको भवति। एकशब्दोऽसहायवाची।

उदा०-घृतस्पृक्। अर्धभाक्। पादभाक्।

आर्यभाषा-अर्थ-(एकाल्-प्रत्ययः) एक अल् रूप प्रत्यय की (अपृक्तः) अपृक्त संज्ञा होती है। यहां एक शब्द असहायवाची है।

*उदा०-**घृतस्पृक्।** घृत+स्पृश्+क्विन्। घृत+स्पृश्+वि। घृत+स्पृश्+व्। घृत+स्पृश्+०। घृतस्पृश्। घृतस्पृश्+सु। घृतस्पृक्।*

*यहां घृत उपपदवाली **'स्पृश संस्पर्शने'** (तु०प०) धातु से **'स्पृशोऽनुदके क्विन्'** (३।२।५८) क्विन् प्रत्यय और उसकी इस सूत्र से 'अपृक्त' संज्ञा होकर **'वेरपृक्तस्य'** (६।१।६७) से उसका लोप हो जाता है। यहां **'क्विन् प्रत्ययस्य कुः'** (८।२।६२) से कुत्व होता है।*

*(२) **अर्धभाक्।** अर्ध+भज्+ण्वि। अर्ध+भज्+वि। अर्ध+भाज्+व्। अर्ध+भाज्+०। अर्धभाज्+सु। अर्धभाक्।*

*यहां अर्ध उपपदवाली **'भज सेवायाम्'** (भ्वा०आ०) धातु से **'भजो ण्विः'** (३।२।६२) से 'ण्वि' प्रत्यय और उसकी इस सूत्र से अपृक्त संज्ञा होकर उसका पूर्ववत् लोप हो जाता*

है। यहां 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) से पदान्त 'ज्' को 'ग्' तथा 'वाऽवसाने' (८।४।५६) से 'ग्' को चर् 'क्' होता है।

कर्मधारयसंज्ञा–

(१) तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः।४२।

प०वि०–तत्पुरुषः १।१ समानाधिकरणः १।१ कर्मधारयः १।१।

स०–समानम् अधिकरणं यस्य सः–समानाधिकरणः (बहुव्रीहिः)।

अन्वयः–समानाधिकरणस्तत्पुरुषः समासः कर्मधारयसंज्ञको भवति।

उदा०–परमं च तद् राज्यं चेति–परमराज्यम्। उत्तमं च तद् राज्यं चेति–उत्तमराज्यम्।

आर्यभाषा–अर्थ–(समानाधिकरणः) समान अभिधेयवाले (तत्पुरुषः) तत्पुरुष समास की (कर्मधारयः) कर्मधारय संज्ञा होती है। यहां अधिकरण शब्द अभिधेय अर्थ का वाचक है।

*उदा०–परमं च तद् राज्यं चेति **परमराज्यम्**। बड़ा राज्य। उत्तमं च तद् राज्यं चेति **उत्तमराज्यम्**। श्रेष्ठ राज्य।*

*सिद्धि–(१) **परमराज्यम्**। यहां 'राज्य' शब्द कर्मधारय समास में है। अतः **'अकर्मधारयेराज्यम्'** (६।२।१३०) से उत्तरपद में आद्युदात्त स्वर नहीं होता है। इसी प्रकार से **उत्तम राज्यम्**।*

*(२) यहां **'परमराज्यम्'** पद के **परम** और राज्य दोनों पदों का अधिकरण=अभिधेय=वाच्यार्थ समान=एक है। अतः यहां समानाधिकरण है। जहां समानाधिकरण होता है वहां समान लिङ्ग, समान वचन और समान ही विभक्ति होती है।*

उपसर्जनसंज्ञा–

(१) प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्।४३।

प०वि०–प्रथमानिर्दिष्टम् १।१ समासे ७।१ उपसर्जनम् १।१।

स०–प्रथमया निर्दिष्टम् इति प्रथमानिर्दिष्टम् (तृतीयातत्पुरुषः)।

अन्वयः–समासे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनम्।

अर्थः–समासे=समासप्रकरणे प्रथमया विभक्त्या निर्दिष्टं पदम् उपसर्जनसंज्ञकं भवति।

उदा०-द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः-कष्टं श्रित इति कष्टश्रितः। **तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन।** शङ्कुलया खण्ड इति शङ्कुलखण्डः, इत्यादि।

आर्यभाषा-अर्थ-(समासे) समास-प्रकरण में (प्रथमा-निर्दिष्टम्) प्रथमा विभक्ति से निर्देश किये हुये पद की (उपसर्जनम्) उपसर्जन संज्ञा होती है। अष्टाध्यायी द्वितीय अध्याय के प्रथम और द्वितीय पाद में समास का प्रकरण है। उन सूत्रों में जिन पदों का प्रथमा विभक्ति लगाकर उपदेश किया है, उनकी यहां उपसर्जन संज्ञा की गई है। जैसे- ***द्वितीया श्रितातीतपतितप्राप्तापन्नैः***-*कष्टं श्रित इति कष्टश्रितः।* ***तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन***-*शङ्कुलया खण्ड इति शङ्कुलखण्डः।* ***चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः***-*यूपाय दारु इति यूपदारु।* ***पञ्चमी भयेन*** *सिंहाद्भयम् इति सिंहभयम्।* ***षष्ठी***-*राज्ञःपुरुष इति राजपुरुषः।* ***सप्तमी-शौण्डैः***-*अक्षेषु शौण्ड इति अक्षशौण्डः।*

सिद्धि-(१) कष्टश्रितः। *कष्टं श्रित इति 'कष्टश्रितः' यहां* ***'द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्त्यप्राप्तापन्नैः'*** *(२।१।२४) से द्वितीया तत्पुरुष समास होता है। यहां समास विधायक सूत्र के* ***'द्वितीया'*** *पद में प्रथमा विभक्ति लगाकर निर्देश किया गया है। उसकी यहां उपसर्जन संज्ञा की है।*

उपसर्जन संज्ञा का लाभ यह है कि समास में दो पद होते हैं। उनका समास करते समय किस पद का पहले और किस पद का बाद में प्रयोग किया जाये? जिस पद की उपसर्जन संज्ञा है, उसका ***'उपसर्जनं पूर्वम्'*** *(२।२।३०) से पहले प्रयोग किया जाता है। जैसे-'कष्टश्रितः' में* ***द्वितीयान्त पद 'कष्टम्'*** *है, उसका समस्त पद में पहले प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार अन्यत्र* ***भी समझ लेवें।***

(२) एकविभक्ति चापूर्वनिपाते।४४।

प०वि०-एकविभक्ति १।१ च अव्ययपदम्, अपूर्वनिपाते ७।१।

स०-एका विभक्तिर्यस्य तद्-एकविभक्ति (बहुव्रीहिः)। पूर्वश्चासौ निपातश्चेति-पूर्वनिपातः, न पूर्वनिपात इति अपूर्वनिपातः, तस्मिन्-अपूर्वनिपाते (कर्मधारयगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-'समासे, उपसर्जनम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-समासे एकविभक्ति च उपसर्जमपूर्वनिपाते।

अर्थः-समासे विधीयमाने यद् एकविभक्तिकं पदं तद् उपसर्जनसंज्ञकं भवति, पूर्वनिपातम् उपसर्जनकार्यं वर्जयित्वा।

उदा०-निष्क्रान्तः कौशाम्ब्या इति निष्कौशाम्बिः। **निष्क्रान्तं** **कौशाम्ब्या** इति निष्कौशाम्बिम्, इत्यादि। **कौशाम्बी**=प्रयागनगरम्। इलाहाबाद इति लौकिकाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(समासे) समास-विधान में (एकविभक्ति) जो पद नियत विभक्तिवाला होता है, उसकी (च) भी (उपसर्जनम्) उपसर्जन संज्ञा होती है, किन्तु (अपूर्वनिपाते) उसका समास में पूर्व प्रयोग नहीं होता है।

उदा०-प्रथमा-निष्क्रान्तः कौशम्ब्या इति निष्कौशाम्बिः। ***द्वितीया***-निष्क्रान्तं कौशाम्ब्या इति निष्कौशाम्बिम्। ***तृतीया***-निष्क्रान्तेन कौशाम्ब्या इति निष्कौशाम्बिना। ***चतुर्थी***-निष्क्रान्ताय कौशाम्ब्या इति निष्कौशाम्बये। ***पञ्चमी***-निष्क्रान्तात् कौशाम्ब्या इति निष्कौशाम्बेः। ***षष्ठी***-निष्क्रान्तस्य ***कौशाम्ब्या*** इति निष्कौशाम्बेः। ***सप्तमी***-निष्क्रान्ते कौशाम्ब्या इति निष्कौशाम्बौ। निष्कौशाम्बिः=कौशाम्बी (प्रयाग) से निकला हुआ।

सिद्धि-(१) निष्कौशाम्बिः। यहां 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्याः' (वा० २।२।१८) इस वार्तिक से समास करने पर पूर्वपद के नानाविभक्तिवाला होने पर भी उत्तरपद ***'कौशाम्ब्याः'*** पञ्चमी विभक्तिवाला ही रहता है। अतः वह एक विभक्तिवाला पद होने से उसकी यहां उपसर्जन संज्ञा की गई है। 'उपसर्जनं पूर्वम्' (२।२।३०) से उपसर्जन संज्ञावाले पद का समस्त पद में पहले प्रयोग किया जाता है, किन्तु इस एक विभक्तिवाले उपसर्जन-संज्ञक पद का पूर्व प्रयोग नहीं होता है। यहां 'कौशाम्बी' शब्द की उपसर्जन संज्ञा होने से 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (१।२।४८) से ह्रस्व हो जाता है।

प्रातिपदिकप्रकरणम्

प्रातिपदिक-संज्ञा-

(१) अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्।४५।

प०वि०-अर्थवत् १।१ अधातुः १।१ अप्रत्ययः १।१ प्रातिपदिकम् १।१।

स०-अर्थोऽस्यास्तीति अर्थवत् (तद्धितवृत्तिः)। न धातुः-अधातुः (नञ्तत्पुरुषः)। न प्रत्ययः-अप्रत्ययः (नञ्तत्पुरुषः)।

अन्वयः-अर्थवत् प्रातिपदिकमधातुरप्रत्ययः।

अर्थः-अर्थवत् शब्दरूपं प्रातिपदिकसंज्ञकं भवति, धातुं प्रत्ययं च वर्जयित्वा।

उदा०-डित्थः। **कपित्थः**। कुण्डम्। **वनम् इत्यादि**।

आर्यभाषा-अर्थ-(अर्थवत्) अर्थवान् शब्द की (प्रातिपदिकम्) प्रातिपदिक संज्ञा होती है, किन्तु (अधातुः) धातु को छोड़कर तथा (अप्रत्ययः) प्रत्यय को छोड़कर। धातु और प्रत्यय भी अर्थवान् शब्द हैं, उनकी प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती है।

उदा०-डित्थः। कपित्थः। कुण्डम्। वनम् इत्यादि।

***सिद्धि-(१)** डित्थः। डित्थ+सु। डित्थ+स्। डित्थ+र्। डित्थ+ः। डित्थ। 'डित्थ' किसी व्यक्ति का नाम है। उसके अर्थवान् होने से उसकी यहां प्रातिपदिक संज्ञा की गई है। जिसकी प्रातिपदिक संज्ञा होती है उससे 'स्वौजस०' (४।१।२) से सु, औ, जस् आदि प्रत्यय होते हैं।*

(२) अष्टाध्यायी के चतुर्थ अध्याय से आरम्भ करके पञ्चम अध्याय के अन्त तक प्रातिपदिक का अधिकार है। वहां पाणिनिमुनि ने प्रातिपदिक से स्त्री-प्रत्यय और तद्धित प्रत्ययों का विधान किया है।

प्रातिपदिक-संज्ञा-

(२) कृत्तद्धितसमासाश्च।४६।

प०वि०-कृत्-तद्धित-समासाः १।३ च अव्ययपदम्।

स०-कृत् च तद्धितश्च समासश्च ते-कृत्तद्धितसमासाः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'प्रादिपदिकम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-कृत्तद्धितसमासाश्च प्रातिपदिकम्।

अर्थः-कृत्प्रत्ययान्ताः, तद्धितप्रत्ययान्ताः शब्दाः, समासाश्च प्रातिपदिकसंज्ञका भवन्ति।

उदा०-(कृत्प्रत्ययान्ताः) कारकः। हारकः। **कर्ता।** हर्ता। **(तद्धितप्रत्ययान्ताः)** औपगवः। **कापटवः। (समासः)** राजपुरुषः। कष्टश्रितः।

आर्यभाषा-अर्थ-(कृत्-तद्धित-समासाः) कृत्-प्रत्ययान्त, तद्धित-प्रत्ययान्त शब्दों की और समास की (प्रातिपदिकम्) प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

*उदा०-(कृत्) कारकः। करनेवाला। हारकः। करनेवाला। कर्ता। करनेवाला। हर्ता। हरनेवाला। **(तद्धित)** औपगवः। उपगु का पुत्र। कापटवः। कपटु का पुत्र। **(समासः)** राजपुरुषः। राजा का पुरुष। ब्राह्मणकम्बलः। ब्राह्मण का कम्बल।*

***सिद्धि-(१)** कारकः। कृ+ण्वुल्। कृ+वु। कृ+अक। कार्+अक। कारक+सु। कारकः।*

यहां 'डुकृञ् करणे' (त०उ०) धातु से ***'ण्वुल्तृचौ'*** *(३।१।१३३) से* ***कृत् ण्वुल्*** *प्रत्यय,* ***'युवोरनाकौ'*** *(७।१।१) से 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश और* ***'अचो ञ्णिति'*** *(७।२।११५) से अङ्ग को वृद्धि होती है। 'ण्वुल्' कृत्-संज्ञक प्रत्यय है। कारक शब्द को कृदन्त होने से उसकी प्रातिपदिक संज्ञा होती है। प्रातिपदिक संज्ञा होने से 'कारक' शब्द से* ***'स्वौजस०'*** *(४।१।२) से 'सु' आदि प्रत्यय होते हैं। इसी प्रकार* ***'हृञ् हरणे'*** *(भ्वादि०) धातु से 'हारकः' शब्द सिद्ध करें।*

(२) ***कर्ता।*** *कृ+तृच्। कर्+तृ। कर्तृ+सु। कर्ता। यहां पूर्ववत् कृ धातु से* ***'ण्वुल्तृचौ'*** *(३।१।१३३) से 'तृच्' प्रत्यय करने पर* ***'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'*** *(७।३।८४) से अङ्ग को गुण होता है। 'तृच्' प्रत्यय कृत्संज्ञक है। कर्तृ शब्द के कृदन्त होने से उसकी प्रातिपदिक संज्ञा होती है। प्रातिपदिक संज्ञा होने से पूर्ववत् 'सु' आदि प्रत्यय होते हैं। इसी प्रकार* ***'हृञ् हरणे'*** *धातु से हर्ता शब्द सिद्ध करें।*

(३) ***औपगवः।*** *उपगु+अण्। औपगु+अ। औपगो+अ। औपगव्+अ। औपगव+अ। औपगव+सु। औपगवः।*

यहां उपगु शब्द से ***'तस्यापत्यम्'*** *(४।१।९२) से अपत्य अर्थ में तद्धित अण्प्रत्यय,* ***'तद्धितेष्वचामादेः'*** *(७।२।११७) से अङ्ग को आदिवृद्धि और* ***'ओर्गुणः'*** *(६।४।१४६) से अङ्ग को गुण होता है। 'अण्' प्रत्यय के तद्धित होने से* ***'औपगवः'*** *की प्रातिपदिक संज्ञा होती है और उससे पूर्ववत् 'सु' आदि प्रत्यय होते हैं। इसी प्रकार 'कपटु' शब्द से कापटवः शब्द सिद्ध करें।*

(४) ***राजपुरुषः।*** *राज्ञः पुरुष इति राजपुरुषः। यहां* ***'षष्ठी'*** *(२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास है। यहां समास की प्रातिपदिक संज्ञा की है। अतः इससे पूर्ववत् 'सु' आदि प्रत्यय होते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणस्य कम्बल इति ब्राह्मणकम्बलः।*

विशेष- *(१)* ***'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'*** *(१।४।४५) से प्रत्यय की प्रातिपदिक संज्ञा का पर्युदास प्रतिषेध किया गया था किन्तु इस सूत्र के द्वारा कृत् और तद्धित प्रत्यय की प्रातिपादिक संज्ञा का विधान किया गया है।*

(२) समास में पदों का समुदाय होता है। अर्थवान् पदसमुदाय में केवल समास की ही प्रातिपदिक संज्ञा का नियम किया गया है। इससे वाक्यरूप पदसमुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती है-देवदत्तो वेदं पठति।

प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः–

(३) ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य।४७।

प०वि०–ह्रस्वः १।१ नपुंसके ७।१ प्रातिपदिकस्य ६।१।

अन्वयः–नपुंसके प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः।

अर्थः–नपुंसकलिङ्गेऽर्थे वर्तमानस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वो भवति।

उदा०-(रै) अतिरि कुलम्। (नौ) अतिनु कुलम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(नपुंसके) नपुंसकलिङ्ग अर्थ में विद्यमान (प्रातिपदिकस्य) प्रातिपदिक के अन्तिम अच् को (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश होता है।

उदा०-(रै) अतिरि कुलम्। धन को जीतनेवाला कुल। (नौ) अतिनु कुलम्। नौका को जीतनेवाला कुल।

*सिद्धि-(१) अतिरि। अति+रै। अति+रि। अतिरि+सु। अतिरि। यहां '**अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया**' (वा० २।२।१८) से प्रादि-समास है। '**रायम् अतिक्रान्तमिति अतिरि कुलम्**' यहां 'अतिरि' शब्द 'कुलम्' का विशेषण होने से नपुंसकलिङ्ग अर्थ में विद्यमान है, अतः उसे इस सूत्र से ह्रस्व हो जाता है। '**एच इग्घ्रस्वादेशे**' (१।१।४८) से 'एच्' के स्थान में 'इक्' ही ह्रस्व होता है। इसी प्रकार से '**नावमतिक्रान्तमिति अतिनु कुलम्**' समझें।*

प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः-

(४) गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य।४८।

प०वि०-गो-स्त्रियोः ६।२ उपसर्जनस्य ६।१।

स०-गौश्च स्त्री च ते-गोस्त्रियौ, तयोः-गोस्त्रियोः। (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'ह्रस्वः, प्रातिपदिकस्य' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-उपसर्जनस्य गोस्त्रियोः प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः।

अर्थः-उपसर्जनगोशब्दान्तस्य, उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तस्य च प्रातिपदिकस्य ह्रस्वो भवति।

उदा०-**(उपसर्जनगोशब्दान्तस्य)** चित्रा गावो यस्य सः-चित्रगुः। शबला गावो यस्य सः-शबलगुः। **(उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तस्य)** निष्क्रान्तः कौशाम्ब्या इति निष्कौशाम्बिः।

आर्यभाषा-अर्थ-(उपसर्जनस्य) उपसर्जन संज्ञावाले (गो-स्त्रियोः) गो-शब्दान्त तथा स्त्रीप्रत्ययान्त (प्रातिपदिकस्य) प्रातिपदिक के अन्त्य अच् को (ह्रस्वः) ह्रस्व होता है।

उदा०-(उपसर्जनगोशब्दान्त) चित्रा गावो यस्य सः-चित्रगुः। शबला गावो यस्य सः-शबलगुः। (उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्त) निष्क्रान्तः कौशाम्ब्या इति निष्कौशाम्बिः।

*सिद्धि-(१) चित्रगुः। चित्र+गो+सु। यहां '**अनेकमन्यपदार्थे**' (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास है। सूत्र में 'अनेकम्' पद प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट होने से बहुव्रीहि*

समास में दोनों पद उपसर्जन होते हैं। यहां बहुव्रीहि समास में गो शब्द के उपसर्जन होने से गोशब्दान्त प्रातिपदिक 'चित्रगो' शब्द को ह्रस्व हो जाता है।

*(२) **निष्कौशाम्बिः।** निस्+कौशाम्बी। निष्कान्तः कौशाम्ब्या इति निष्कौशाम्बिः। यहां '**निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्याः**' (वा० २।२।१८) से प्रादि समास है और '**एकविभक्ति चापूर्वनिपाते**' से स्त्रीप्रत्ययान्त कौशाम्बी शब्द की उपसर्जन संज्ञा है। इस सूत्र से उसे ह्रस्व का विधान किया गया है।*

उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययस्य लुक्–

(१) लुक् तद्धितलुकि।४६।

प०वि०–लुक् १।१ तद्धितलुकि ७।१।

स०–तद्धितस्य लुक् इति तद्धितलुक्, तस्मिन्-तद्धितलुकि (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०–'स्त्री, उपसर्जनस्य' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–तद्धितलुकि उपसर्जनस्य स्त्रीप्रत्ययस्य लुक्।

अर्थः–तद्धितप्रत्ययस्य लुकि सति, उपसर्जनस्य स्त्रीप्रत्ययस्यापि लुग् भवति।

उदा०–पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्येति-पञ्चेन्द्रः। पञ्चभिः शष्कुलीभिः क्रीत इति पञ्चशष्कुलिः। आमलक्याः फलमिति आमलकम्।

***आर्यभाषा-अर्थ**-(तद्धित-लुकि) तद्धितप्रत्यय का लुक् हो जाने पर (उपसर्जनस्य) उपसर्जनसंज्ञावाले (स्त्रियः) स्त्रीप्रत्यय का (लुक्) लुक् हो जाता है।*

उदा०-पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्येति-पञ्चेन्द्रः। वह पुरोडाश जिसकी पांच इन्द्राणियां स्वामिनी हैं। दशेन्द्राण्यो देवता अस्येति-दशेन्द्रः। वह पुरोडाश जिसकी दस इन्द्राणियां स्वामिनी हैं। पञ्चभिः शष्कुलीभिः क्रीत इति पञ्चशष्कुलिः। पांच कचोरियों से खरीदा हुआ पदार्थ। आमलक्याः फलमिति आमलकम्। आंवला फल।

*(१) **पञ्चेन्द्रः।** पञ्च+इन्द्राणी+अण्। पञ्च+इन्द्राणी+०। पञ्चेन्द्र+सु। पञ्चेन्द्रः। यहां '**साऽस्य देवता**' (४।२।२४) से तद्धित 'अण्' प्रत्यय, उसका '**द्विगोर्लुगनपत्ये**' (४।१।८८) से लुक् हो जाने पर इस सूत्र से इन्द्राणी शब्द में विद्यमान स्त्री-प्रत्यय का भी लुक् हो जाता है। इसी प्रकार से दशेन्द्रः।*

*(२) **पञ्चशष्कुलिः।** पञ्च+शष्कुली+अण्। पञ्च+शष्कुली+०। पञ्च+शष्कुलि+सु। पञ्चशष्कुलिः। यहां '**तेन क्रीतम्**' (५।१।३७) से तद्धित 'अण्' प्रत्यय और पूर्ववत् उसका लुक् हो जाने पर इस सूत्र से शष्कुली शब्द में विद्यमान स्त्री-प्रत्यय का भी लुक् हो जाता है।*

(३) आमलकम्। आमलकी+अण्। आमलकी+०। आमलक+सु। आमलकम्। यहां 'अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः' (४।३।१३५) से विकार और अवयव अर्थ में तद्धित अण् प्रत्यय और उसका 'फले लुक्' (४।३।१६३) से लुक् हो जाने पर आमलकी शब्द में विद्यमान स्त्री-प्रत्यय का भी लुक् हो जाता है।

गोणीशब्दस्य इकारादेशः—

इद् गोण्याः।५०।

प०वि०—इत् १।१ गोण्याः १।१।

अनु०—'तद्धितलुकि' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः—तद्धितलुकि गोण्या इत्।

अर्थः—तद्धितप्रत्ययस्य लुकि सति गोणीशब्दस्य इकारादेशो भवति। पूर्वसूत्रेण लुकि प्राप्ते तदपवाद इकारादेशो विधीयते।

उदा०—पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीत इति पञ्चगोणिः पटः। दशभिर्गोणीभिः क्रीत इति दशगोणिः पटः।

आर्यभाषा-अर्थ—*(गोण्याः) गोणी शब्द से विहित (तद्धित-लुकि) तद्धित प्रत्यय का लुक् हो जाने पर, उस गोणी शब्द के अन्त्य अच् को (इत्) इकार आदेश होता है। पूर्वसूत्र से स्त्रीप्रत्यय के लुक् करने का विधान किया गया था। इस सूत्र से स्त्रीप्रत्यय का लुक् न होकर इकार आदेश का विधान किया है।*

उदा०-पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीत इति पञ्चगोणिः पटः। दशभिर्गोणीभिः क्रीत इति दशगोणिः पटः। पांच वा दश गोणी देकर खरीदा हुआ कपड़ा।

सिद्धि-(१) पञ्चगोणिः। *पञ्चगोणी+अण्। पञ्चगोणी+०। पञ्चगोणि+सु। पञ्चगोणिः। यहां '**तेन क्रीतम्**' (५।१।३७) से तद्धित अण् प्रत्यय और उसका पूर्ववत् लुक् हो जाने पर गोणी शब्द में विद्यमान स्त्रीप्रत्यय को इस सूत्र से इकार आदेश हो जाता है। **गोणी**=एकद्रोण (२० सेर)।*

पूर्वाचार्यमतस्थापना

लिङ्गवचनस्य पूर्ववद्भावः—

(१) लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने।५१।

प०वि०—लुपि ७।१, युक्तवद् अव्ययपदम्, व्यक्तिवचने १।२।

स०—युक्तेन तुल्यमिति युक्तवत् (तद्धितवृत्तिः)। व्यक्तिश्च वचनं च ते-व्यक्तिवचने (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-तद्धितलुपि व्यक्तिवचने।

अर्थः-तद्धितप्रत्ययस्य लुपि सति व्यक्तिवचने=लिङ्गसंख्ये युक्तवत्=पूर्ववद् भवतः। पञ्चाला नाम क्षत्रियाः, तेषां निवासो जनपदः-पञ्चालाः। कुरवः। मगधाः। मत्स्याः। अङ्गाः। बङ्गा। सुह्माः। पुण्ड्राः।

आर्यभाषा-अर्थ-(लुपि) तद्धित प्रत्यय का लुप् हो जाने पर (व्यक्ति-वचने) लिङ्ग और संख्या (युक्तवत्) जिससे वह प्रत्यय युक्त किया था उस प्रकृति के ही समान होते हैं।

उदा०-पञ्चाला नाम क्षत्रियाः, तेषां निवासो जनपदः पञ्चाला कुरवः। मगधाः। मत्स्याः। अङ्गा। बङ्गा। सुह्माः। पुण्ड्राः।

सिद्धि-(१) पञ्चालाः। पञ्चाल+अण्। पञ्चाल+०। पञ्चाल+जस्। पाञ्चालाः। यहां क्षत्रियवाची पुंलिङ्ग बहुवचन विषय पञ्चाल शब्द से 'तस्य निवासः' ४।२।६।९) से तद्धित अण् प्रत्यय और 'जनपदे लुप्' (४।२।८१) से उसका लुप् हो जाने पर पञ्चाल शब्द के लिङ्ग और वचन पूर्ववत् रहते हैं।

विशेष-व्यक्ति और वचन क्रमशः लिङ्ग और संख्या की पूर्वाचार्यकृत संज्ञायें हैं।

विशेषणानामपि लिङ्गवचनस्य पूर्ववद्भावः-

(२) विशेषणानां चाजातेः।५२।

प०वि०-विशेषणानाम् ६।३ च अव्ययपदम्, अजातेः ६।१।

स०-विशेषणं च विशेषणं च विशेषणं च तानि-विशेषणानि, तेषाम्-विशेषणानाम् (एकशेषद्वन्द्वः) न जातिरिति-अजातिः, तस्याः-अजातेः।

अनु०-'लुपि युक्तवद व्यक्तिवचने' इति सर्वमनुवर्तते।

अन्वयः-तद्धितलुपि विशेषणानां च व्यक्तिवचने युक्तवद् अजातेः।

अर्थः-तद्धितप्रत्ययस्य लुपि सति तस्य विशेषणानामपि व्यक्तिवचने= लिङ्गसंख्ये युक्तवत्=पूर्ववद् भवतः, जातिं वर्जयित्वा।

उदा०-पञ्चाला नाम क्षत्रियाः, तेषां निवासो जनपदः पञ्चालाः, ते रमणीयाः, बह्वन्नाः, बहुक्षीरघृताः बहुमाल्यफलाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(लुपि) प्रत्यय का लुप् हो जाने पर (विशेषणानाम्) विशेषणवाची शब्दों के (च) भी (व्यक्ति-वचने) लिङ्ग और वचन (युक्तवत्) जिससे वह प्रत्यय युक्त किया था उस प्रकृति के समान ही होते हैं (अजातेः) जातिवाची विशेषणों को छोड़कर।

उदा०-पञ्चाला नाम क्षत्रियाः, तेषां निवासो जनपदः पञ्चालाः । ते-रमणीयाः, बह्वन्नाः, बहुक्षीरघृताः, बहुमाल्यफलाः । पञ्चाल नामक क्षत्रियों का पञ्चाल नामक जनपद सुन्दर, बहुत अन्नवाला, बहुत दूध और घीवाला और बहुत फूल और फलवाला है ।

सिद्धि-(१) पञ्चाला रमणीयाः । यहां पञ्चाल शब्द से पूर्ववत् तद्धित प्रत्यय के लुप् हो जाने पर उसके विशेषणवाची रमणीय आदि शब्दों के लिङ्ग और वचन भी युक्तवत् (प्रकृतिवत्) रहते हैं ।

पूर्वाचार्यमतखण्डनम्

युक्तवद्भाववचनमशिष्यम्—

(१) तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् ।५३ ।

प०वि०-तत् १ ।१ अशिष्यम् १ ।१ संज्ञा-प्रमाणत्वात् ५ ।१ ।

स०-शासितुं योग्यं शिष्यम्, न शिष्यमिति-अशिष्यम् (नञ्तत्पुरुषः), संज्ञायाः प्रमाणमिति संज्ञाप्रमाणम् (षष्ठीतत्पुरुषः), संज्ञाप्रमाणस्य भाव इति संज्ञाप्रमाणत्वम्, तस्मात्-संज्ञाप्रमाणत्वात् (तद्धितवृत्तिः) ।

अर्थः-तद् युक्तवद्भाववचनं अशिष्यम्=न कर्त्तव्यम्, संज्ञाप्रमाणत्वात्=लोकप्रमाणत्वात् ।

उदा०-पञ्चालाः, वरणाः । जनपदसंज्ञा एताः । अत्र लिङ्गवचनं लोकसिद्धमेव ।

आर्यभाषा-अर्थ-(तद्) वह पूर्वोक्त युक्तवद् भाव (अशिष्यम्) उपदेश करने के योग्य नहीं है, क्योंकि (संज्ञा-प्रमाणत्वात्) संज्ञा के प्रमाण होने से ।

प्रत्यय का लुप् हो जाने पर शब्द के लिङ्ग और वचन को युक्तवत्=पूर्ववत् बनाये रखने के लिये पूर्वाचार्यों ने जो सूत्र बनाये हैं, उनका पाणिनिमुनि ने यहां खण्डन किया है कि उस युक्तवद् भाव के उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'पञ्चालाः' आदि शब्द कोई योगजन्य शब्द नहीं हैं, अपितु ये संज्ञा शब्द हैं । ये जनपद की संज्ञायें हैं । उनमें लिङ्ग और वचन स्वभावसिद्ध हैं, यत्नसाध्य नहीं । जैसे आपः, दाराः, गृहाः, सिकताः, वर्षाः आदि शब्दों के लिङ्ग और वचन संज्ञाप्रमाण से सिद्ध हैं ।

लुब्विधायकसूत्रमशिष्यम्—

(२) लुब् योगाप्रख्यानात् ।५४ ।

प०वि०-लुप् १ ।१ योग-अप्रख्यानात् ५ ।१ ।

स०-न प्रख्यानमिति अप्रख्यानम् (नञ्तत्पुरुषः) । योगस्य

अप्रख्यानमिति योगाप्रख्यानम्, तस्मात्-योगाप्रख्यानात् (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-'अशिष्यम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-लुब् अशिष्यं योगाप्रख्यानात्।

अर्थः-लुप्-विधायकं सूत्रमपि अशिष्यम्=न वक्तव्यम्, योगाप्रख्यानात्=सम्बन्धस्याऽप्रसिद्धत्वात्।

उदा०-पञ्चालाः। वरणाः। एता देशविशेषस्य संज्ञाः, न हि निवाससम्बन्धादेव पञ्चालाः कथ्यन्ते, न हि वृक्षविशेषसम्बन्धादेव ते 'वरणाः' इत्युच्यन्ते।

आर्यभाषा-अर्थ-(लुप्) विधायक सूत्र भी (अशिष्यम्) उपदेश करने के योग्य नहीं है, क्योंकि (रोग अप्रख्यानात्) योग=सम्बन्ध के अप्रसिद्ध होने से।

उदा०-पञ्चालाः। वरणाः।

*सिद्धि-लुप् का विधान करनेवाले **'जनपदे लुप्'** (४।२।८१) और **'वरणादिभ्यश्च'** (४।२।८२) सूत्रों के उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वरण नाम वृक्षविशेष के योग से 'वरणाः' शब्द प्रख्यात होगया है; ऐसी बात नहीं है किन्तु ये तो जनपद आदि की संज्ञायें ही हैं। इसलिये यहां **'तस्य निवासः'** (४।२।६९) तथा **'अदूरभवश्च'** (४।२।७०) से तद्धित प्रत्यय ही नहीं हो सकता, फिर उसे लुप् करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।*

योगप्रमाणेऽपि दोषदर्शनम्-

३) योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात्।५५।

प०वि०-योगप्रमाणे ७।१ च अव्ययपदम्, तदभावे ७।१। अदर्शनम् १।१, स्यात् क्रियापदम्।

स०-योगस्य प्रमाणमिति योगप्रमाणम्, तस्मिन् योगप्रमाणे (षष्ठीतत्पुरुषः)। तस्याभाव इति तदभावः, तस्मिन्-तदभावे (षष्ठीतत्पुरुषः)। न दर्शनमिति अदर्शनम् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-'लुप् अशिष्यम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-योगप्रमाणे च तद् अशिष्यं तदभावेऽदर्शनं स्यात्।

अर्थः-योगप्रमाणे=सम्बन्धविशेषस्य प्रमाणे सत्यपि लुप्-विधायकं सूत्रम् अशिष्यम्=न वक्तव्यम्, यतो हि तदभावे=सम्बन्धविशेषस्याभावे तस्य शब्दप्रयोगस्यापि अदर्शनम्=लोपः स्यात्, न च तथा भवति।

आर्यभाषा-अर्थ-(योगप्रमाणे) यदि योग=सम्बन्धविशेष को प्रमाण मान लेने पर (च) भी (लुप्) लुप् विधायक सूत्र (अशिष्यम्) उपदेश करने योग्य नहीं है क्योंकि (तदभावे) उस योग सम्बन्धविशेष का अभाव हो जाने पर (अदर्शनम्) उस शब्द के प्रयोग का भी लोप (स्यात्) हो जाना चाहिये।

सिद्धि-यदि कोई आचार्य यह कहता है कि 'पञ्चालाः' नामक क्षत्रियों के निवास के योग से उस जनपद का नाम 'पञ्चालाः' है और 'वरणाः' नामक वृक्षविशेष के योग से किसी जनपद का नाम 'वरणाः' है तो यह नाम योग (सम्बन्ध) के अभाव में नहीं रहना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है। अब उन क्षत्रियों के सम्बन्ध के विना भी उस जनपद को 'पञ्चालाः' कहा जाता है और 'वरण' नामक वृक्षविशेष के सम्बन्ध के विना भी 'वरणाः' कहा जारहा है। रोहितक (रोहेड़ा) वन न रहने पर भी रोहतक कहा जारहा है।

प्रकृतिप्रत्ययार्थवचनमशिष्यम्–

(४) प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्।५६।

प०वि०-प्रधान-प्रत्ययार्थवचनम् १।१ अर्थस्य ६।१ अन्यप्रमाणत्वात् ५।१।

स०-प्रधानं च प्रत्ययश्च तौ-प्रधानप्रत्ययौ, तयोः-प्रधानप्रत्यययोः, अर्थस्य वचनम् इति अर्थवचनम्, प्रधानप्रत्यययोरर्थवचनमिति प्रधानप्रत्ययार्थवचनम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितषष्ठीतत्पुरुषः)। अन्यस्य प्रमाणमिति-अन्यप्रमाणम्, अन्यप्रमाणस्य भावोऽन्यप्रमाणत्वम्, तस्मात्-अन्यप्रमाणत्वात् (षष्ठीतत्पुरुषगर्भिततद्धितवृत्तिः)।

अनु०-'अशिष्यम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-प्रधानप्रत्ययार्थवचनं चाशिष्यमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्।

अर्थः-प्रधानार्थवचनं प्रत्ययार्थवचनं चाशिष्यम्=न वक्तव्यम्, अर्थस्याऽन्यप्रमाणत्वात्=लोकप्रमाणत्वात्। शास्त्रादन्यो लोकः।

पुरा वैयाकरणैः **'प्रधानोपर्सजने प्रधानार्थं सह ब्रूतः', प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः'** इति प्रधानार्थवचनं प्रत्ययार्थवचनं च कृतम्। तत् पाणिनिः प्रत्याचष्टे-प्रधानार्थवचनं प्रत्ययार्थवचनं च लोकप्रमाणत एव सिद्धम्। 'राजपुरुषमानय' इत्युक्ते न राजानमानयन्ति, न च पुरुषमात्रम्, अपितु राजविशिष्टः पुरुष आनीयते। 'औपगवमानय' इत्युक्ते नोपगुमानयन्ति न

चापत्यमात्रम्, अपितु उपगुविशिष्टमपत्यमानीयते। लोको हि प्रधानार्थवचनं च सम्यग् अवगच्छति, किं तत्र शास्त्रप्रयासेन ?

आर्यभाषा-अर्थ-(प्रधान-प्रत्ययार्थवचनम्) प्रधानार्थ और प्रत्ययार्थ का कथन भी (अशिष्यम्) उपदेश करने के योग्य नहीं है क्योंकि (अर्थस्य) अर्थ के सम्बन्ध में (अन्यप्रमाणत्वात्) शास्त्र से अन्य=लोक को ही प्रमाण मानने से।

*सिद्धि-पूर्वाचार्यों ने "**प्रधानोपसर्जने प्रधानार्थं सह ब्रूत**'" अर्थात् प्रधान और उपसर्जन=गौण दोनों पद मिलकर समास में प्रधान अर्थ का कथन करते हैं।, '**प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः**' प्रकृति और प्रत्यय मिलकर प्रत्ययार्थ का कथन करते हैं, इस प्रकार के सूत्र बनाये थे। इस विषय में पाणिनिमुनि का मत यह है कि इस प्रकार के सूत्र-उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि शब्दों के द्वारा अर्थ का कथन स्वाभाविक है, पारिभाषिक नहीं और वह लोक-प्रमाण से सिद्ध हो जाता है। जिन लोगों ने व्याकरण नहीं पढ़ा वे भी, जब यह कहा जाता है कि '**राजपुरुषमानय**' अर्थात् राजपुरुष को बुलाओ तो वे राजविशिष्ट पुरुष को ले आते हैं, राजा को अथवा पुरुषमात्र को नहीं लाते। जो प्रयोजन लोक से सिद्ध है, उसमें शास्त्र उपदेश रूप प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है ?*

कालोपसर्जनलक्षणमशिष्यम्–

(५) कालोपसर्जने च तुल्यम्।५७।

प०वि०-काल-उपसर्जने १।२ च अव्ययपदम्, तुल्यम् १।१।

स०-कालश्च उपसर्जनं च ते-कालोपसर्जने (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'अशिष्यम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-कालोपसर्जने च तुल्यम् अशिष्यम्।

अर्थः-काल उपसर्जनं च पूर्वेण तुल्यम् अशिष्यम्=न वक्तव्यम्, तत्रापि लोकप्रमाणत्वात्।

पुरा वैयाकरणैः '**आन्याय्यादुत्थानादान्याय्याच्च संवेशनाद् एषोऽद्यतनः कालः**' इति काललक्षणं कृतम्, '**अप्रधानमुपसर्जनम्**' इति चोपसर्जन-लक्षणं कृतम्। तत् पाणिनिः प्रत्याचष्टे-इदं काललक्षणमुपसर्जनलक्षणं च लोकप्रमाणत एव सिद्धम्, किं तत्र शास्त्रप्रयत्नेन ?

*आर्यभाषा-अर्थ-(काल-उपसर्जने) काल और उपसर्जन (च) भी (तुल्यम्) **पूर्व के** समान (अशिष्यम्) उपदेश करने योग्य नहीं हैं क्योंकि उनमें भी (अन्यप्रमाणत्वात्) **शास्त्र से अन्य=लोक को ही प्रमाण मानने से।***

सिद्धि-कुछ वैयाकरणों ने काल और उपसर्जन की परिभाषायें की हैं। जैसे- 'आन्याय्यादुत्थानादान्याय्याच्च संवेशनात्, एषोऽद्यतनः कालः' अर्थात् उठने से लेकर सोने तक के काल को अद्यतन काल कहते हैं। 'अहरुभयतोऽर्धरात्रम् एषोऽद्यतनः कालः' अर्धरात्रि के दोनों ओर जो दिन है, उसे अद्यतन काल कहा जाता है। 'अप्रधानमुपसर्जनम्' अप्रधान को उपसर्जन कहते हैं। इस विषय में पाणिनिमुनि का मत यह है कि काल और उपसर्जन के लक्षण-उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह लोकप्रमाण से ही सिद्ध हो जाता है। जिन लोगों ने व्याकरण नहीं पढ़ा वे भी ऐसा कहते हैं कि 'इदमस्माभिरद्य कृतम्, इदं श्वः कर्त्तव्यम्, इदं ह्यः कृतम्' इत्यादि। इसी प्रकार 'उपसर्जनं वयमत्र गृहे ग्रामे वा' ऐसा कहने पर लोक में यह समझा जाता है कि हम इस घर में अथवा ग्राम में अप्रधान हैं। अतः जो अर्थ लोक से सिद्ध है, उसमें शास्त्र के द्वारा प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है ?

वचनप्रकरणम्

एकवचने बहुवचनविकल्पः-

(१) जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् ।५८।

प०वि०-जाति-आख्यायाम् ७।१ एकस्मिन् ७।१ बहुवचनम् १।१ अन्यतरस्याम् अव्ययम्।

स०-जातेराख्या इति जात्याख्या, तस्याम्-जात्याख्यायाम् (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अन्वयः-जात्याख्यायामेकस्मिन् अन्यतरस्यां बहुवचनम्।

अर्थः-जाति-आख्यामेकस्मिन्नर्थे विकल्पेन बहुवचनं भवति।

उदा०-(एकवचनम्) सम्पन्नो यवः। सम्पन्नो व्रीहिः। पूर्ववया ब्राह्मणो प्रत्युत्थेयः। **(बहुवचनम्)** सम्पन्ना यवाः। सम्पन्ना व्रीहयः। पूर्ववयसो ब्राह्मणाः प्रत्युत्थेयाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(जाति-आख्यायाम्) जाति का कथन करते समय (एकस्मिन्) एकवचन में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (बहुवचन) बहुवचन होता है।

*उदा०-**(एकवचन)** सम्पन्नो यवः। **(बहुवचन)** सम्पन्ना यवाः। समृद्ध जौ। **(एकवचन)** सम्पन्नो व्रीहिः। **(बहुवचन)** सम्पन्ना व्रीहयः। समृद्ध चावल। **(एकवचन)** पूर्ववया ब्राह्मणः प्रत्युत्थेयः। **(बहुवचन)** पूर्ववयसो ब्राह्मणा प्रत्युत्थेयाः। पूर्वज ब्राह्मण का प्रत्युत्थानपूर्वक आदर करना चाहिये।*

विशेष-जाति एक अर्थ की वाचक होती है, इसलिये उसमें 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' (१।४।२२) से एकवचन ही हो सकता है। इस सूत्र से एकार्थवाची जाति शब्द में बहुवचन का भी उपदेश किया है।

एकवचने द्विवचने च बहुवचनविकल्पः-

(२) अस्मदो द्वयोश्च।५६।

प०वि०-अस्मदः ६।१ द्वयोः ७।२ च अव्ययपदम्।

अनु०-'एकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अस्मद एकस्मिन् द्वयोश्चान्यतरस्यां बहुवचनम्।

अर्थः-अस्मद्-शब्दस्यैकवचने द्विवचने च विकल्पेन बहुवचनं भवति।

उदा०-(एकवचने) अहं ब्रवीमि। वयं ब्रूमः। **(द्विवचने)** आवां ब्रूवः। वयं ब्रूमः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अस्मदः) अस्मद् शब्द के प्रयोग में (एकस्मिन्) एकवचन में और (द्वयोः) द्विवचन में (च) भी (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (बहुवचनम्) बहुवचन होता है।

उदा०-एकवचन में बहुवचन-अहं ब्रवीमि। मैं बोलता हूं। वयं ब्रूमः। हम बोलते हैं। (द्विवचन में बहुवचन) आवां ब्रूवः। हम दोनों बोलते हैं। वयं ब्रूमः। हम सब बोलते हैं।

द्विवचने बहुवचनविकल्पः-

(३) फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे।६०।

प०वि०-फल्गुनी-प्रोष्ठपदानाम् ६।३ च अव्ययपदम्, नक्षत्रे ७।१।

स०-फल्गुन्यौ च प्रोष्ठपदे च ताः-फल्गुनीप्रोष्ठपदाः, तासाम्-फल्गुनीप्रोष्ठपदानाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'द्वयोः, बहुवचनम्, अन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-नक्षत्रे फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च द्वयोर्बहुवचनमन्यतरस्याम्।

अर्थः-नक्षत्रवाचिनां फल्गुनी-प्रोष्ठपदानां च द्विवचने विकल्पेन बहुवचनं भवति।

उदा०-(फल्गुनी) द्विवचनम्-कदा पूर्वे फल्गुन्यौ। **बहुवचनम्-**कदा पूर्वाः फल्गुन्यः। **(प्रोष्ठपदा)** द्विवचनम्-कदा पूर्वे प्रोष्ठपदे। **बहुवचनम्-**कदा पूर्वाः प्रोष्ठपदाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(नक्षत्रे) नक्षत्रवाची (फल्गुनी-प्रोष्ठपदयोः) फल्गुनी और प्रोष्ठपदा शब्दों के (द्वयोः) द्विवचन में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (बहुवचनम्) बहुवचन होता है।

*उदा०-(फल्गुनी) **द्विवचन**-कदा पूर्वे फल्गुन्यः। **बहुवचन**-कदा पूर्वाः फल्गुन्यः। पूर्वा फल्गुनी नक्षत्र कब है? (प्रोष्ठपदा) द्विवचन-कदा पूर्वे प्रोष्ठपदे। **बहुवचन**-कदा पूर्वाः प्रोष्ठपदाः। पूर्वा प्रोष्ठपदा नक्षत्र कब है?*

*विशेष-(१) नक्षत्रों के **नाम**-अश्विनी (अश्वयुक्)। भरणी। कृत्तिका। रोहिणी। मृगशीर्ष (मृगशिरः, आग्रहायणी)। आर्द्रा। पुनर्वसु। पुष्य (सिध्य, तिष्य)। आश्लेषा। मघा। पूर्वा फल्गुनी। उत्तरा फल्गुनी। हस्त। चित्रा। स्वाति। विशाखा। अनुराधा। ज्येष्ठा। मूल। पूर्वाषाढा। उत्तराषाढा। श्रवण। धनिष्ठा (श्रविष्ठा)। शतभिषज्। पूर्वा भाद्रपदा (पूर्वा प्रोष्ठपदा)। उत्तरा भाद्रपदा (उत्तरा प्रोष्ठपदा)। रेवती। ये २७ सत्ताईस नक्षत्र होते हैं।*

अथर्ववेद का० १९ सू० ७ में २८वें अभिजित् नक्षत्र का भी वर्णन है। 'अष्टाविंशानि शिवानि' (अ० १९।८।२)।

(२) पूर्वा फल्गुनी दो नक्षत्रों का नाम है, किन्तु उनके द्विवचन में विकल्प से बहुवचन भी होता है। प्रोष्ठपदा (पूर्वा भाद्रपदा, उत्तरा भाद्रपदा) भी दो नक्षत्रों का नाम है किन्तु उनके द्विवचन में विकल्प से बहुवचन भी होता है।

द्विवचन-एकवचनविकल्पः-

(४) छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम्।६१।

प०वि०-छन्दसि ७।१ पुनर्वस्वोः ६।२ एकवचनम् १।१।

अनु०-'नक्षत्रे द्वयोरन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि नक्षत्रे पुनर्वस्वोर्द्वयोरन्यतरस्यामेकवचनम्।

अर्थः-छन्दसि=वैदिकभाषायां नक्षत्रवाचिनोः पुनवस्वोर्द्विवचने विकल्पेन एकवचनं भवति।

उदा०-(**द्विवचनम्**) पुनर्वसू नक्षत्रमदितिर्देवता। (**एकवचनम्**) पुनर्वसुर्नक्षत्रमदितिर्देवता।

पुनर्वसू नाम द्वे नक्षत्रे। तत्र द्वित्वविवक्षायां द्विवचने प्राप्ते पक्षे एकवचनं विधीयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(छन्दसि) छन्द विषय में (नक्षत्रे) नक्षत्रवाची (पुनर्वस्वोः) पुनर्वसु शबद के (द्वयोः) द्विवचन में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (एकवचनम्) एकवचन होता है।

उदा०-(द्विवचन) पुनर्वसू नक्षत्रमदितिर्देवता। (एकवचन) पुनर्वसुर्नक्षत्रमदितिर्देवता।

विशेष-पुनर्वसु दो नक्षत्र हैं, उनके द्विवचन में छन्द विषय में एकवचन भी हो जाता है। ***पुनर्वसुर्नक्षत्रमदितिर्देवता।*** *पुनर्वसु नक्षत्र है और अदिति उसका देवता है।*

(५) विशाखयोश्च।६२।

प०वि०-विशाखयो: ७।२ च अव्ययपदम्।

अनु०-'छन्दसि नक्षत्रे द्वयो: एकवचनम्, अन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वय:-छन्दसि नक्षत्रे विशाखायोश्च द्वयोरन्यतरस्यामेकवचनम्।

अर्थ:-छन्दसि=वैदिकभाषायां नक्षत्रवाचिनोर्विशाखयोर्द्विवचने विकल्पेन एकवचनं भवति।

उदा०-(द्विवचनम्) विशाखे नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवता। (एकवचनम्) विशाखा नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवता।

विशाखा नाम द्वे नक्षत्रे। तत्र द्वित्वविवक्षायां द्विवचने प्राप्ते पक्षे एकवचनं विधीयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(छन्दसि) छन्द विषय में (नक्षत्रे) नक्षत्रवाची (विशाखयो:) विशाखा शब्द के (द्वयो:) द्विवचन में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (एकवचनम्) एकवचन होता है। द्विवचन- ***विशाखे नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवता।*** *एकवचन-* ***विशाखा नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवता।***

विशेष-(१) विशाखा दो नक्षत्र हैं। उनके द्विवचन में छन्द विषय में एकवचन भी हो जाता है। ***विशाखा नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवता।*** *विशाखा नक्षत्र है और उसका इन्द्राग्नी देवता है।*

बहुवचने नित्यं द्विवचनम्-

(६) तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम्।६३।

प०वि०-तिष्य-पुनर्वस्वो: ६।२ नक्षत्रद्वन्द्वे ७।१ बहुवचनस्य ६।१ द्विवचनम् १।१ नित्यम् १।१।

स०-तिष्यश्च पुनर्वसू च तौ-तिष्य-पुनर्वसू, तयो:-तिष्यपुनर्वस्वो: (इतरेतरयोगद्वन्द्व:)। नक्षत्राणां द्वन्द्व इति नक्षत्रद्वन्द्व:, तस्मिन् नक्षत्रद्वन्द्वे (षष्ठीतत्पुरुष:)।

अन्वय:-तिष्य पुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य नित्यं द्विवचनम्।

अर्थः-तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे कर्त्तव्ये बहुवचनस्य स्थाने नित्यं द्विवचनं भवति। उदितौ तिष्यपुनर्वसू दृश्येते।

तिष्यो नाम एकं नक्षत्रम्, पुनर्वसू नाम द्वे नक्षत्रे। तत्र नक्षत्रद्वन्द्वे कर्त्तव्ये बहुत्वविवक्षायां बहुवचने प्राप्ते नित्यं द्विवचनं विधीयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(तिष्य-पुनर्वस्वोः) तिष्य और पुनर्वसु शब्दों के (नक्षत्रद्वन्द्वे) नक्षत्रविषयक द्वन्द्व समास में (बहुवचनस्य) बहुवचन के स्थान में (नित्यम्) सदा (द्विवचनम्) द्विवचन होता है।

उदा०-(द्विवचन) उदितौ तिष्यपुनर्वसू दृश्येते। उदित हुये तिष्य और पुनर्वसु नक्षत्र दिखाई दे रहे हैं।

सिद्धि-(१) तिष्यपुनर्वसू। तिष्यश्च पुनर्वसू च ते-तिष्यपुनर्वसू। (द्वन्द्वसमास) यहां तिष्य एक नक्षत्र है और पुनर्वसु दो नक्षत्र हैं। इनके द्वन्द्व समास में बहुत्व विवक्षा में बहुवचन होना चाहिये किन्तु इस सूत्र से वहां नित्य द्विवचन का ही विधान किया गया है।

एकशेषप्रकरणम्

एकशेषः सरूपाणाम्-

(१) सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ।६४।

प०वि०-सरूपाणाम् ६।३ एकशेषः १।१ एकविभक्तौ ७।१।

स०-समानं रूपं येषां ते-सरूपाः, तेषाम्-सरूपाणाम (बहुव्रीहिः) एकस्य शेष इति एकशेषः (षष्ठीतत्पुरुषः)। एका चासौ विभक्तिश्चेति एकविभक्तिः, तस्याम्-एकविभक्तौ (कर्मधारयः)

अन्वयः-सरूपाणामेकविभक्तावेकशेषः।

अर्थः-सरूपाणां शब्दानामेकविभक्तौ परत एकशेषो भवति, एकः शिष्यते; अन्ये निवर्तन्ते।

उदा०-वृक्षश्च वृक्षश्च तौ-वृक्षौ। वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च ते-वृक्षाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(एकविभक्तौ) समान विभक्ति में विद्यमान (सरूपाणाम्) एकरूपवाले शब्दों में (एकशेषः) एक शब्द शेष रहता है, अन्य निवृत्त हो जाते हैं।

उदा०-वृक्षश्च वृक्षश्च तौ वृक्षौ। दो वृक्ष। वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च ते वृक्षाः। सब वृक्ष।

विशेष-प्रत्येक अर्थ में शब्द का निवेश आवश्यक होने से एक शब्द से अनेक अर्थों का कथन नहीं किया जा सकता, और चाहते हैं कि एक शब्द से अनेक अर्थों का कथन किया जा सके। इसलिये यहां एकशेष प्रकरण का आरम्भ किया गया है।

यूना सह गोत्रं शेषः–

(२) वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः।६५।

प०वि०–वृद्धः १।१ यूना ३।१ तल्लक्षणः १।१ चेत् अव्ययपदम्, **एव** अव्ययपदम्, विशेषः १।१।

स०–सः (गोत्रप्रत्ययः, युवप्रत्ययश्च) लक्षणम् निमित्तं यस्य **स**:–तल्लक्षणः (बहुव्रीहिः)।

अनु०–'शेषः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–वृद्धो यूना सह शेषः, तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः।

अर्थः–वृद्धः=गोत्रप्रत्ययान्तः शब्दः, यूना=युवप्रत्ययान्तेन शब्देन **सह** शिष्यते, तत्र यदि तल्लक्षणः=गोत्रप्रत्ययलक्षणो युवप्रत्ययलक्षश्**चैव** **विशेषो** भवति। वृद्ध इति पूर्वाचार्याणां **गोत्रस्य** संज्ञा।

उदा०–गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च **तौ**–**गार्ग्यौ**। वात्स्यश्च वात्स्यायनश्च **तौ**–वात्स्यौ।

आर्यभाषा-अर्थ-(यूना) युवप्रत्ययान्त शब्द के साथ (वृद्धः) गोत्रप्रत्ययान्त शब्द (शेषः) शेष रहता है (चेत्) यदि वहां (तत्-लक्षणः) युवा और गोत्र प्रत्यय को बतलानेवाली (एव) ही (विशेषः) विशेषता हो। 'वृद्ध' यह पूर्वाचार्यों की गोत्र की संज्ञा है।

*उदा०-गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च तौ गार्ग्यौ। गार्ग्य और उसका पुत्र गार्ग्यायण, दोनों। **वात्स्यश्च** वात्स्यानश्च तौ वात्स्यौ। वात्स्य और उसका पुत्र वात्स्यायन, दोनों।*

*सिद्धि-(१) **गार्ग्यौ**। गार्ग्य+गार्ग्यायण+औ। गार्ग्यौ। यहां 'गार्ग्य' शब्द में '**गर्गादिभ्यो यञ्**' (४।१।१०५) से गोत्रापत्य अर्थ में यञ् प्रत्यय है और तत्पश्चात् गार्ग्य शब्द से '**यञिञोश्च**' (४।१।१०१) से युवापत्य अर्थ में फक् प्रत्यय है। गार्ग्य और **गार्ग्यायण को एक** साथ कहने में गोत्रप्रत्ययान्त 'गार्ग्य' शब्द शेष रह जाता है और **युवप्रत्ययान्त गार्ग्यायण** शब्द निवृत्त हो जाता है-गार्ग्यौ।*

गोत्रं स्त्रीशेषस्तस्याः पुंवद्भावश्च–

(३) स्त्री पुंवच्च।६६।

प०वि०–स्त्री १।१ पुंवत् अव्ययपदम्, च अव्ययपदम्।

पुंसा तुल्यमिति पुंवत् (तद्धितवृत्तिः)।

अनु०–'शेषः, वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–वृद्धा स्त्री यूना सह शेषः पुंवच्च, तल्लक्षणश्चेदेव **विशेषः**।

अर्थः-वृद्धा=गोत्रप्रत्ययान्ता स्त्री युवप्रत्ययन्तेन शब्देन सह शिष्यते, सा च स्त्री पुंवद् भवति। तत्र यदि तल्लक्षणः=गोत्रप्रत्ययलक्षणो युवप्रत्ययलक्षणश्चैव विशेषो भवति।

उदा०-गार्गी च गार्ग्यायणश्च तौ-गार्ग्यौ। वात्सी च वात्स्यायनश्च तौ-वात्स्यौ।

आर्यभाषा-अर्थ-(यूना) युवप्रत्ययान्त शब्द के साथ (वृद्धः) वृद्धप्रत्ययान्त (स्त्री) स्त्रीलिङ्ग (च) भी (शेषः) शेष रहता है और वह (पुंवत्) पुंलिङ्ग के तुल्य हो जाता है। (चेत्) यदि वहां (तल्लक्षणः) युवा और गोत्र प्रत्यय को बतलानेवाली (एव) ही (विशेषः) विशेषता हो।

उदा०-गार्गी च गार्ग्यायणश्च तौ गार्ग्यौ। गार्गी और गार्ग्य का पुत्र दोनों। वात्सी च वात्स्यायनश्च तौ वात्स्यौ। वात्सी और वात्स्य का पुत्र दोनों।

सिद्धि-(१) गार्ग्यौ। गार्गी+गार्ग्यायण+औ। गार्ग्यौ। यहां प्रथम गर्ग शब्द से गोत्रापत्य अर्थ में 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४।१।१०५) से यञ् प्रत्यय होता है-गार्ग्य। उससे स्त्रीलिङ्ग में 'यञश्च' (४।१।१६) से ङीप् प्रत्यय होता है-गार्ग्य+ङीप्। गार्ग्य+ई। गार्गी। गोत्रप्रत्ययान्त गार्गी स्त्री और युवप्रत्ययान्त गार्ग्यायण के एक साथ कथन करने में गार्गी स्त्री शेष रह जाती है। उसके पुंवद् भाव होने से 'गार्ग्य' ही शब्द रह जाता है। ऐसे ही-वात्स्यः।

स्त्रिया सह पुमान्-

(४) पुमान् स्त्रिया।६७।

प०वि०-पुमान् १।१ स्त्रिया ३।१।

अनु०-'शेषः, तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-पुमान् स्त्रिया सह शेषः, तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः।

अर्थः-पुमान्=पुरुषवाची शब्दः स्त्रीवाचिना शब्देन सह शिष्यते, तत्र यदि तल्लक्षणः=लिङ्गलक्षण एव विशेषो भवति।

उदा०-ब्रह्मणी च ब्राह्मणश्च तौ ब्राह्मणौ। कुक्कुटी च कुक्कुटश्च तौ-कुक्कुटौ।

आर्यभाषा-अर्थ-(स्त्रिया) स्त्रीवाची शब्द के साथ (पुमान्) पुरुषवाची शब्द (शेषः) शेष रहता है (चेत्) यदि वहां (तल्लक्षणः) स्त्रीलिङ्ग और पुंल्लिङ्ग को बतलानेवाली (एव) ही (विशेषः) विशेषता हो।

उदा०-ब्राह्मणी च ब्राह्मणश्च तौ ब्राह्मणौ। ब्राह्मणी और ब्राह्मण दोनों। कुक्कुटी च कुक्कुश्च तौ-कुक्कुटौ। मुर्गी और मुर्गा दोनों।

स्वसृदुहितृभ्यां सह भ्रातृपुत्रौ-

(५) भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्।६८।

प०वि०-भ्रातृ-पुत्रौ १।२ स्वसृ-दुहितृभ्याम् ५।२।

स०-भ्राता च पुत्रश्च तौ-भ्रातृपुत्रौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः), स्वसा च दुहिता च ते-स्वसृदुहितरौ ताभ्याम्-स्वसृदुहितृभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'शेष' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्यां शेषः।

अर्थः-भ्रातृपुत्रौ शब्दौ यथासंख्यं स्वसृदुहितृभ्यां शब्दाभ्यां सह शिष्येते।

उदा०-(भ्राता) स्वसा च भ्राता च तौ-भ्रातरौ (पुत्रः) दुहिता च पुत्रश्च तौ पुत्रौ।

आर्यभाषा-अर्थ-(स्वसृ-दुहितृभ्याम्) स्वसा और दुहिता शब्द के साथ यथासंख्य (भ्रातृपुत्रौ) भ्राता और पुत्र शब्द (शेषः) शेष रहता है अर्थात् स्वसा के साथ भ्राता और दुहिता के साथ पुत्र।

*उदा०-(भ्राता) स्वसा च भ्राता च तौ **भ्रातरौ**। बहन और भाई। (पुत्र) दुहिता च पुत्रश्च तौ **पुत्रौ**। पुत्री और पुत्र।*

अनपुंसकेन सह नपुंसकं वा चैकवद्भावः-

(६) नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्।६९।

प०वि०-नपुंसकम् १।१ अनपुंसकेन ३।१ एकवत् अव्ययपदम्, च अव्ययपदम्, अस्य ६।१ अन्यतरस्याम् ७।१।

स०-न नपुंसकम् इति अनपुंसकम्, तेन-अनपुंसकेन (नञ्तत्पुरुषः)। एकेन तुल्यमिति एकवत् (तद्धितवृत्तिः)।

अनु०-'शेषः, तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-नपुंसकमनपुंसकेन शेषः, तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः **अस्य चान्यतरस्यामेकवत्**।

अर्थः-नपुंसकलिङ्गशब्दोऽनपुंसकलिङ्गशब्देन सह शिष्यते, तत्र यदि तल्लक्षणः=पुलिङ्गलक्षण एव विशेषो भवति, अस्य शेषस्य च नपुंसकलिङ्गशब्दस्य विकल्पेन एकवत् कार्यं भवति, एकवचनं भवतीत्यर्थः।

उदा०-शुक्लश्च कम्बलः, शुक्ला च बृहतिका, शुक्लं च वस्त्रम् तदिदम्-शुक्लम्। तानीमानि-शुक्लानि।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनपुंसकेन) पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग शब्द के साथ (नपुंसकम्) नपुंसकलिङ्ग शब्द (शेषः) शेष रहता है, (चेत्) यदि वहां (तल्लक्षणः) पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग को बतलानेवाली ही (विशेषः) विशेषता हो। (च) और (अस्य) इस शेष नपुंसक शब्द को (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (एकवत्) एक वचन के समान कार्य होता है।

उदा०-शुक्लश्च कम्बलः, शुक्ला च बृहतिका, शुक्लं च वस्त्रम्, तदिदम्-शुक्लम् (एकवचन)। तानीमानि शुक्लानि (बहुवचन)। बृहतिका=दुपट्टा।

मात्रा सह वा पिता-

(७) पिता मात्रा।७०।

प०वि०-पिता १।१ मात्रा ३।१।

स०-'शेषः, अन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-पिता मात्रा शेषः।

अर्थः-पितृशब्दो मातृशब्देन सह विकल्पेन शिष्यते, पक्षे मातृशब्दो निवर्तते।

उदा०-माता च पिता च तौ-पितरौ। माता च पिता च तौ-मातापितरौ।

आर्यभाषा-अर्थ-(मात्रा) माता शब्द के साथ (पिता) पिता शब्द (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (शेषः) शेष रहता है।

*उदा०-**पिता**-माता च पिता च तौ **पितरौ**। **माता-पिता**-माता च पिता च तौ मातापितरौ। **पितरौ**=माता और पिता।*

श्वश्र्वा सह वा श्वशुरः-

(८) श्वशुरः श्वश्र्वा।७१।

प०वि०-श्वशुरः १।१ श्वश्र्वा ३।१।

अनु०-'शेषः, अन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-श्वशुरः श्वश्र्वा शेषः।

अर्थः-श्वशुरशब्दः श्वश्रूशब्देन सह विकल्पेन शिष्यते। पक्षे श्वश्रूशब्दो निवर्तते।

उदा०-श्वश्रूश्च श्वशुरश्च तौ-श्वशुरौ। श्वश्रूश्च श्वशुरश्च तौ श्वश्रूश्वशुरौ।

आर्यभाषा-अर्थ-(श्वश्र्वा) श्वश्रू शब्द के साथ (श्वशुरः) श्वशुर शब्द (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (शेषः) शेष रहता है।

उदा०-श्वश्रूश्च श्वशुरश्च तौ श्वशुरौ। श्वश्रूश्च श्वशुरश्च तौ श्वश्रूश्वशुरौ। श्वशुरौ=सास और ससुर।

सर्वैः सह त्यदादीनि-

(९) त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्।७२।

प०वि०-त्यदादीनि १।३ सर्वैः ३।३ नित्यम् १।१।

स०-त्यद् आदिर्येषां तानीमानि-त्यदादीनि (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'शेषः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-त्यदादीनि सर्वैर्नित्यं शेषः।

अर्थः-त्यद्-आदीनि शब्दरूपाणि सर्वैः शब्दैः सह नित्यं शिष्यन्ते।

उदा०-(तद्) स च देवदत्तश्च-तौ। (यद्) यश्च देवदत्तश्च-यौ।

आर्यभाषा-अर्थ-(सर्वैः) सब शब्दों के साथ (त्यद्-आदीनि) त्यद् आदि शब्द (नित्यम्) सदा (शेषः) शेष रहते हैं।

उदा०-(तद्) स च देवदत्तश्च-तौ। (यद्) यश्च देवदत्तश्च-यौ। तौ=वह और देवदत्त। यौ=जो और देवदत्त।

त्यदादिगण-त्यद्। तद्। यद्। एतद्। इदम्। अदस्। एक। द्वि। युष्मद्। अस्मद्। भवतु। किम्। (सर्वाद्यन्तर्गतः)।

विशेष-यदि त्यद् आदि शब्दों का ही परस्पर कथन किया जाये तो वहां जो परवर्ती शब्द होता है, वह शेष रहता है- स च यश्च-यौ। यश्च कश्च-कौ।

पशुसंघेषु स्त्री-

(१०) ग्राम्यपशुसंघेष्वतरुणेषु स्त्री।७३।

प०वि०-ग्राम्य-पशुसंघेषु ७।३ अतरुणेषु ७।३ स्त्री १।१।

स०-ग्रामे भवा ग्राम्याः (तद्धितवृत्तिः)। ग्राम्याश्च ते पशव इति

ग्राम्यपशवः, तेषाम्-ग्राम्यपशूनाम्, ग्राम्यपशूनां संघा इति ग्राम्यपशुसंघाः, तेषु-ग्राम्यपशुसंघेषु (कर्मधारयगर्भितषष्ठीतत्पुरुषः)। न विद्यन्ते तरुणा येषु ते-अतरुणाः, तेषु-अतरुणेषु (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'शेषः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अतरुणेषु ग्राम्यपशुसंघेषु स्त्री शेषः।

अर्थः-अतरुणेषु=तरुणरहितेषु ग्रामीणपशूनां संघेषु उच्यमानेषु स्त्री शिष्यते, पुमाँश्च निवर्तते।

उदा०-गावश्च वृषभाश्च ताः-गावः। गाव इमाश्चरन्ति। महिषाश्च महिष्यश्च ताः-महिष्यः। महिष्य इमाश्चरन्ति।

'पुमान् स्त्रियां' (१।२।६७) इति पुंसः शेषत्वे प्राप्तेऽत्र स्त्रीशेषो विधीयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(अतरुणेषु) तरुण पशुओं से रहित (ग्राम्य-पशुसंघेषु) ग्रामीण पशुसंघों के कथन में (स्त्री) स्त्रीलिङ्ग शब्द (शेषः) शेष रहता है।

उदा०-गावश्च वृषभाश्च ता गावः। गाव इमाश्चरन्ति। ये गौवें चरती हैं। महिष्यश्च महिषाश्च ता महिष्यः। महिष्य इमाश्चरन्ति। ये भैंसें चरती हैं।

विशेष-यहां 'पुमान् स्त्रिया' (अ० १।२।६७) से पुंलिङ्ग शब्द का शेषत्व प्राप्त था, अतः यहां स्त्री शब्द के शेष रहने का उपदेश किया है।

इति पण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचने प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः।

प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः

धातुसंज्ञा–

भूवादयो धातवः।१।

प०वि०–भूवादयः १।३ धातवः १।३।

स०–(१) भू आदिर्येषां ते भूवादयः (बहुव्रीहिः)। भू+व्+आदयः= भूवादयः। अत्र मङ्गलार्थो वकार इति केचित्। (२) भुवोऽर्थं वदन्तीति भूवादयः (उपपदसमासः)। (३) भूश्च वाश्चेति भूवौ। भूवौ आदी येषां ते भूवादयः (बहुव्रीहिः)। भू इत्येवमादयो वा इत्येवं प्रकारका इत्यर्थः, इत्यन्ये।

अर्थः–क्रियावाचिनो भूवादयः शब्दा धातुसंज्ञका भवन्ति।

उदा०–(भू सत्तायाम्) भवति। (एध वृद्धौ) एधते। (स्पर्ध संघर्षे) स्पर्धते, इत्यादि।

आर्यभाषा-अर्थ–(भूवादयः) क्रियावाची, भू के तुल्य अर्थ को बतलानेवाले शब्दों की (धातवः) धातु संज्ञा होती है।

उदा०–(भू सत्तायाम्) भवति। (एध वृद्धौ) एधते। (स्पर्ध संघर्षे) स्पर्धते, इत्यादि।

*सिद्धि–**भवति**। भू+लट्। भू+शप्+तिप्। भो+अ+ति। भव्+अ+ति। भवति।*

*यहां 'भू' शब्द की धातु संज्ञा होने से, उससे **'वर्तमाने लट्'** (३।२।१२३) से लट् प्रत्यय, **'तिप्तस्झि०'** (३।४।७८) से 'ल्' के स्थान में 'तिप्' आदेश, **'कर्तरि शप्'** (३।१।६८) से विकरण शप्प्रत्यय **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (७।३।८४) से अङ्ग को गुण तथा **'एचोऽयवायावः'** (६।१।७८) से 'अव्' आदेश होता है। इसी प्रकार 'एधते' आदि।*

विशेष–(१) भू+आदयः='भ्वादयः' ऐसा पाठ होना चाहिये ? कुछ लोग यहां 'व्' का निर्देश मङ्गलार्थ मानते हैं-भू+व्+आदयः=भूवादयः। कुछ लोग भू+वादयः=भूवादयः, ऐसा स्वीकार करते हैं। किन्हीं का कहना है कि जो भू अर्थवाले जो वा आदि शब्द हैं उनकी धातु संज्ञा होती है।

(१) भूवादीनां वकारोऽयं मङ्गलार्थः प्रयुज्यते।
भुवो वाऽर्थं वदन्तीति भ्वर्था वा वादयः स्मृताः।।

(२) 'धातु' यह पूर्वाचार्यों की संज्ञा है। उन्होंने क्रियावाची शब्दों की यह संज्ञा की है।

इत्संज्ञाप्रकरणम्

अनुनासिकोऽच्–

(१) उपदेशेऽजनुनासिक इत्।२।

प०वि०–उपदेशे ७।१ अच् १।१ अनुनासिकः १।१ इत् १।१।

अन्वयः–उपदेशेऽनुनासिकोऽच् इत्।

अर्थः–पाणिनीय–उपदेशेऽनुनासिकोऽच् इत्–संज्ञको भवति।

उदा०–(एधँ वृद्धौ) एधते। (स्पर्धँ संघर्षे) स्पर्धते।

***आर्यभाषा–अर्थ**–(उपदेशे) पाणिनिमुनि के उपदेश में (अनुनासिकः) अनुनासिक गुणवाले (अच्) स्वर की (इत्) इत् संज्ञा होती है।*

उदा०–(एधँ वृद्धौ) एधते। वह बढ़ता है। (स्पर्धँ संघर्षे) स्पर्धते। वह संघर्ष करता है।

***सिद्धि**–(१) एधते। एधँ+लट्। एध्+शप्+त। एध्+अ+ते। एधते।*

*यहां **'एधँ वृद्धौ'** (भ्वा०आ०) धातु से **'वर्तमाने लट्'** प्रत्यय, होने पर इस सूत्र से 'एधँ' धातु के अनुनासिक 'अँ' स्वर का लोप होता है। **'तिप्तस्झि०'** (३।४।७८) से 'ल्' के स्थान में 'त्' आदेश और **'कर्तरि शप्'** (३।१।६८) से विकरण 'शप्' प्रत्यय होता है। ऐसे ही–**स्पर्धते**।*

***विशेष**–अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिकोष, गणपाठ और लिङ्गानुशासन के रूप में पाणिनिमुनि का उपदेश आज उपलब्ध होता है। उसमें इत् (लोप) किये जानेवाले स्वर का अनुनासिक गुण लगाकर उपदेश नहीं किया गया है, किन्तु **'प्रतिज्ञाऽनुनासिक्याः पाणिनीयाः'** पाणिनि के शिष्य जिस स्वर की इत् संज्ञा करनी है उसे गुरु के प्रतिज्ञामात्र (कथनमात्र) से अनुनासिक मानते हैं कि अमुक स्वर अनुनासिक है और उसकी इत् संज्ञा कर लेते हैं। यहां 'एधँ' धातु में समझने के लिये अनुनासिक गुण दिखा दिया है।*

अन्तिम-हल्–

(२) हलन्त्यम्।३।

प०वि०–हल् १।१ अन्त्यम् १।१।

अनु०–'उपदेशे, इत्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–उपदेशेऽन्त्यं हल् इत्।

अर्थः–पाणिनीय–उपदेशेऽन्तिमं हल् इत्संज्ञकं भवति।

उदा०–'अइउण्' इति णकारस्य, 'ऋलृक्' इति ककारस्य इत् संज्ञा वेदितव्या।

आर्यभाषा-अर्थ-(उपदेशे) पाणिनिमुनि के उपदेश में (अन्त्यम्) अन्तिम (हल्) व्यञ्जन की (इत्) संज्ञा होती है।

उदा०-अइउण्। यहां णकार की इत् संज्ञा है। ऋलृक्। यहां ककार की इत् संज्ञा है, इत्यादि।

इत्संज्ञाप्रतिषेधः (विभक्तिस्थास्तुस्माः)–

(३) न विभक्तौ तुस्माः।४।

प०वि०–न अव्ययपदम्, विभक्तौ ७।१ तुस्माः १।३।

स०–तुश्च स् च मश्च ते–तुस्माः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–'उपदेशे इत्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–विभक्तौ तुस्मा इद् न।

अर्थः–पाणिनीय–उपदेशे विभक्तौ वर्तमानानां तवर्ग–सकार–मकाराणाम् इत् संज्ञा न भवति।

उदा०–(तवर्गस्य) वृक्षात्। प्लक्षात्। (सकारस्य) ब्राह्मणाः। पचतः। पचथः। (मकारस्य) अपचताम्। अपचतम्। **'हलन्त्यम्'** (१।३।३) इति इत्संज्ञायां प्राप्तायां प्रतिषेधो विधीयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(विभक्तौ) किसी विभक्ति में विद्यमान (तु-स्-माः) तु=तवर्ग, सकार और मकार की (इत्) इत् संज्ञा (न) नहीं होती है। 'हलन्त्यम्' (अ० १।३।३) से इनकी इत् संज्ञा प्राप्त होती थी, अतः उसका यहां निषेध किया गया है।

उदा०-(तवर्ग) वृक्षात्। वृक्ष से। प्लक्षात्। पीपल या पिलखन वृक्ष से। (सकार) ब्राह्मणाः। सब ब्राह्मण। पचतः। वे दोनों पकाते हैं। पचथः। तुम दोनों पकाते हो। मकार-अपचताम्। उन दोनों ने पकाया। अपचतम्। तुम सबने पकाया।

सिद्धि-(१) वृक्षात्। *वृक्ष+ङसि। वृक्ष+अस्। वृक्ष+आत्। वृक्षात्।*

यहां वृक्ष शब्द से 'ङसि' प्रत्यय और उसके स्थान में ***'टाङसिङसामिनात्स्याः'*** *(७।१।१२) से 'आत्' आदेश होता है। इस सूत्र से विभक्ति संज्ञक 'आत्' के तकार की इत् संज्ञा का निषेध है। इसी प्रकार से-* ***प्लक्षात्।***

(२) ब्राह्मणाः। ब्राह्मण+जस्। ब्राह्मण+अस्। ब्राह्मणास्। ब्राह्मणारु। ब्राह्मणार्। ब्राह्मणाः।

यहां ब्राह्मण शब्द से विहित विभक्ति संज्ञक प्रत्यय के सकार की इत् संज्ञा नहीं होती है। इसी प्रकार से पच्+तस्=पचतः। पच्+थस्=पचथः।

*(३) **अपचताम्।** पच्+लङ्। अट्+पच्+तस्। अ+पच्+ताम्। अ+पच्+शप्+ताम्। अ+पच्+अ+ताम्। अपचताम्।*

*यहां '**डुपचष् पाके**' (भ्वा०उ०) धातु से '**अनद्यतने लङ्**' (३।२।१११) से 'लङ्' प्रत्यय, '**तिप्तस्झि०**' (३।४।७८) से 'ल्' के स्थान में 'तस्' आदेश और उसके स्थान में '**तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः**' (३।१।१०१) से 'ताम्' आदेश होता है। इस सूत्र से विभक्ति संज्ञक 'ताम्' के मकार की इत् संज्ञा नहीं होती है।*

आदिमा ञिटुडवः–

(४) आदिर्ञिटुडवः।५।

प०वि०–आदिः १।१ ञि–टु–डवः १।३।

स०–ञिश्च टुश्च डुश्च ते-ञिटुडवः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–उपदेशे, इत् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–उपदेशे आदिर्ञिटुडव इत्।

अर्थः–पाणिनीय-उपदेशे आदौ वर्तमाना ञि–टु–डव इत्-संज्ञका भवति।

उदा०–(ञि) ञिमिदा स्नेहने-मिन्नः। ञिधृषा प्रागल्भ्ये-धृष्टः। ञिइन्धी दीप्तौ-इद्धः। (टु) टुवेपृ कम्पने-वेपथुः। टुओश्वि गतिवृद्धयोः-श्वयथुः। (डु) डुपचष् पाके-पक्त्रिमम्। डुवप् बीजसन्ताने छेदने च-वप्त्रिमम्। डुकृञ् करणे-कृत्रिमम्।

*आर्यभाषा-**अर्थ**-(आदिः) आदि में विद्यमान (ञि–टु–डवः) ञि, टु, डु इन शब्दों की (इत्) इत् संज्ञा होती है।*

***उदा०**–(ञि) ञिमिदा-मिन्नः। स्नेह किया। ञिधृषा-धृष्टः। प्रगल्भता=चतुराई की। ञिक्ष्विदा-क्ष्विण्णः। स्नेह किया, मुक्त किया। ञिइन्धी-इद्धः। प्रदीप्त हुआ। (टु) टुवेपृ-वेपथुः। कम्पन। टुओश्वि-श्वयथुः। गति। वृद्धि। (डु) डुपचष्-पक्त्रिमम्। पकाया हुआ। डुवप्-वप्त्रिमम्। बोया हुआ। डुकृञ्-कृत्रिमम्। बनाया हुआ।*

*सिद्धि-(१) **मिन्नः।** ञिमिदा+क्त। मिद्+त। मिद्+न। मिन्+न। मिन्न+सु। मिन्नः। यहां '**ञिमिदा स्नेहने**' (दि०प०) धातु से क्त प्रत्यय करने पर इस सूत्र से धातु के 'ञि' की इत् संज्ञा हो जाती है। '**रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः**' (८।२।४२) से निष्ठा के 'त' को न-आदेश तथा पूर्ववर्ती द् को भी न आदेश होता है।*

इसी प्रकार से 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये' (स्वा०प०) 'ञिष्विदा स्नेहनमोचनयोः' (दिवादि०) 'ञिइन्धी दीप्तौ' (रुधादि०) इन धातुओं के आदि में विद्यमान 'ञि' की इस सूत्र से इत् संज्ञा होती है। ञिधृषा+क्त। धृष्टः। ञिष्विदा+क्त। श्विण्णः। ञिइन्धी+क्त। इद्धः।

(२) वेपथुः। टुवेपृ+अथुच्। वेप्+अथु। वेपथु+सु। वेपथुः।

यहां 'टुवेपृ कम्पने' (भ्वा०आ०) धातु से 'ट्वितोऽथुच्' (३।३।८९) से 'अथुच्' प्रत्यय होने पर इस सूत्र से धातु के 'टु' की इत् संज्ञा होती है।

(३) पक्त्रिमम्। डुपचष्+क्त्रि। पच्+त्रि। पक्+त्रि। पक्त्रि+मप्। पक्त्रि+म। पक्त्रिम+सु। पक्त्रिमम्।

यहां 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से 'ड्वितः क्त्रिः' (३।३।८८) से 'क्त्रि' प्रत्यय होने पर इस सूत्र से धातु के 'डु' की इत् संज्ञा होती है। 'क्त्रि' प्रत्यय के पश्चात् 'क्त्रेः मम् नित्यम्' (४।४।२०) से नित्य मप् प्रत्यय होता है। पक्त्रिमम्। इसी प्रकार से 'डुवप् बीजसन्ताने छेदने च' (भ्वा०प०) से ववित्रमम् और 'डुकृञ् करणे' (त०उ०) धातु से 'कृत्रिमम्' शब्द सिद्ध करें। वप्त्रिमम्। बोया हुआ अथवा काटा हुआ। कृत्रिमम्। बनाया हुआ।

प्रत्ययस्यादिमः षकारः–

(५) षः प्रत्ययस्य।६।

प०वि०–षः १।१ प्रत्ययस्य ६।१। 'उपदेशे, आदिः, इत्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–प्रत्ययस्यादिः ष इत्।

अर्थः–पाणिनीय–उपदेशे प्रत्ययस्यादिमः षकार इत्-संज्ञको भवति।

उदा०–शिल्पिनि ष्वुन्–नर्तकी। रजकी।

आर्यभाषा–अर्थ–(प्रत्ययस्य) प्रत्यय के (आदिः) आदि में विद्यमान (षः) ष् की (इत्) इत् संज्ञा होती है। (ष्) शिल्पिनि ष्वुन्–नर्तकी। नाचनेवाली। रजकी। रंगनेवाली।

सिद्धि–(१) नर्तकी। नृत्+ष्वुन्। नृत्+वु। नृत्+अक। नर्त्+अक्। नर्तक+ङीप्। नर्तक+ई। नर्तकी+सु। नर्तकी।

यहां 'नृती गात्रविक्षेपे' (दिवा०प०) धातु से 'शिल्पिनि ष्वुन्' (३।१।१४५) से -ष्वुन्' प्रत्यय करने पर इस सूत्र से 'ष्वुन्' के षकार की इत् संज्ञा होती है। प्रत्यय के षित् होने से स्त्रीलिङ्ग में 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (४।१।४१) से 'ङीष्' प्रत्यय होता है। इसी प्रकार 'रञ्ज रागे' (दि०उ०) धातु से ष्वुन् प्रत्यय करने पर रजकी शब्द सिद्ध होता है।

प्रत्ययस्यादिमौ चवर्गटवर्गौ–

(६) चुटू।७।

प०वि०-चु-टू १।२।

स०-चुश्च टुश्च तौ-चुटू (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'उपदेशे, प्रत्ययस्य, आदिः, इत्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-उपदेशे प्रत्ययस्यादिश्चुटू इत्।

अर्थः-पाणिनीय-उपदेशे प्रत्ययस्यादिमौ चवर्ग-टवर्गौ इत्संज्ञकौ भवतः।

उदा०-चवर्ग-(च्) **'गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्'** कौञ्जायन्यः। (छ्) छस्य स्थाने ईयादेशो भवति। (ज्) जस्-ब्राह्मणाः। (झ्) झस्य स्थानेऽन्तादेशो भवति। (ञ्) 'शण्डिकादिभ्यो ञ्यः' शाण्डिक्यः। टवर्गः-(ट्) **'चरेष्टः'** कुरुचरी। मद्रचरी। (ठ्) ठस्य स्थाने इकादेशो भवति। (ड्) **'सप्तम्यां जनेर्डः'** उपसरजः। मन्दुरजः। (ढ्) ढस्य स्थाने एयादेशो भवति। (ण्) **'अन्नाण्णः'** आन्नः।

आर्यभाषा-अर्थ-(प्रत्ययस्य) प्रत्यय के (आदिः) आदि में विद्यमान (चु-टू) चवर्ग और टवर्ग की (इत्) इत् संज्ञा होती है।

*उदा०-चवर्ग (च्) गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्-कौञ्जायन्यः। कुञ्ज के पौत्र। (छ्) छ् को ईय् आदेश हो जाता है। (ज्) जस्-ब्राह्मणाः। सब ब्राह्मण। (झ्) को अन्त आदेश हो जाता है। (ञ्) **शण्डिकादिभ्यो ञ्यः**-शाण्डिक्यः। शण्डिक का अभिजन। पूर्वजों का देश। टवर्ग (ट्) **चरेष्टः-कुरुचरी। कुरु देश में** घूमनेवाली नारी। कुरु=दिल्ली के आस-पास का प्रदेश। मद्रचरी। **मद्रदेश में घूमनेवाली नारी**। (ठ्) ठ् के स्थान में इक् आदेश होता है। (ड्) **सप्तम्यां** जनेर्डः-उपसरजः। **प्रथम बार** गर्भ धारण करने पर उत्पन्न हुआ गाय का बछड़ा। **मन्दुरजः**। घुड़साल में पैदा **होनेवाला**। (ढ्) ढ् को एय् आदेश हो जाता है। (ण्) **अन्नाण्णः-आन्नः**। अन्न को प्राप्त **करनेवाला**।*

*सिद्धि-(१) **कौञ्जायन्यः**। कुञ्ज+च्फञ्। कुञ्ज+फ। कुञ्ज+**आयन**। **कौञ्जायन+ञ्य**। **कौञ्जायन्+य**। कौञ्जायन्य+सु। **कौञ्जायन्यः**।*

*यहां **'गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्'** (४।१।९८) से कुञ्ज शब्द से **च्फञ्** प्रत्यय करने पर इस सूत्र से **प्रत्यय के 'च्' की इत् संज्ञा होती है। च्फञ् प्रत्यय के पश्चात् 'व्रातच्फञोरस्त्रियाम्' (५।३।११३) से स्वार्थ में ञ्य प्रत्यय होता है।***

(२) ब्राह्मणाः । ब्राह्मण+जस् । ब्राह्मण+अस् । ब्राह्मणाः ।

यहां ब्राह्मण शब्द से 'स्वौजस०' (४।१।२) जस् प्रत्यय करने पर इस सूत्र से प्रत्यय के 'ज्' की इत् संज्ञा होती है।

(३) शाण्डिक्यः । शण्डिक+ञ्य । शण्डिक+य । शाण्डिक्+य । शाण्डिक्य+सु । शाण्डिक्यः ।

यहां शण्डिक शब्द से 'शण्डिकादिभ्यो ञ्यः' (४।३।९२) से 'ञ्य' प्रत्यय करने पर इस सूत्र से प्रत्यय के 'ञ्' की इत् संज्ञा होती है।

(४) कुरुचरी । कुरु+चर्+ट । कुरु+चर्+अ । कुरुचर+ङीप् । कुरुचर+ई । कुरुचरी+सु । कुरुचरी ।

यहां कुरु उपपदवाली 'चर् गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'चरेष्टः' (३।२।१६) से ट प्रत्यय करने पर इस सूत्र के प्रत्यय के 'ट्' की इत् संज्ञा होती है। स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टिड्ढाणञ्०' (४।१।१५) से ङीप् प्रत्यय होता है।

(५) उपसरजः । उपसर+जन्+ड । उपसर+जन्+अ । उपसर+ज्+अ । उपसरज+सु । उपसरजः ।

यहां उपसर उपपदवाली 'जनी प्रादुर्भावे' (दि०आ०) धातु से 'सप्तम्यां जनेर्डः' (३।२।९७) से ड प्रत्यय होता है। इस सूत्र से प्रत्यय के 'ड्' की इत् संज्ञा होती है। प्रत्यय के डित् होने से 'डित्त्वादभस्यापि टेर्लोपः' से जन् के टि भाग का लोप हो जाता है।

(६) आन्नः । अन्न+ण । आन्न्+अ । आन्न+सु । आन्नः । यहां 'अन्न' शब्द से 'लब्धा' अर्थ में 'अन्नाण्णः' (४।४।८५) से ण प्रत्यय है। इस सूत्र से ण प्रत्यय के ण् की इत् संज्ञा होती। 'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११७) से आदिवृद्धि होती है।

अतद्धिता लकारशकारकवर्गाः–

लशक्वतद्धिते ।६।

प०वि०–ल-श्-कु १।१ अतद्धिते ७।१।

स०–लश्च श् च कुश्च एतेषां समाहारः–लशकु (समाहारद्वन्द्वः)। न तद्धित इति अतद्धितः, तस्मिन्–अतद्धिते (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–'उपदेशे प्रत्ययस्य, आदिः, इत्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–उपदेशेऽतद्धिते लशकु इत्।

अर्थः–पाणिनीय-उपदेशे तद्धितवर्जितानां प्रत्ययस्यादौ वर्तमानानां लकार-शकार-कवर्गाणाम् इत् संज्ञा भवति।

उदा०–(ल्) **ल्युट् च**–चयनम्। जनयम्। (श्) **कर्तरि शप्**–भवति। पचति। कवर्गः–(क्) **क्तक्तवतू निष्ठा**–भुक्तः। भुक्तवान्। (ख्) **प्रियवशे**

वदः खच्-प्रियंवदः । वशंवदः । (ग) **ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः**-ग्लास्नुः । जिष्णुः । स्थास्नुः । भूष्णुः । (घ) **भञ्जभासमिदो घुरच्**-भङ्गुरम् । (ङ) **टाङसिङसामिनात्स्याः**-वृक्षात् । वृक्षस्य ।

आर्यभाषा-अर्थ-(अतद्धिते) तद्धित प्रकरण को छोड़कर (प्रत्ययस्य) प्रत्यय के (आदिः) आदि में वर्तमान (ल्-श्-कु) लकार, शकार और कवर्ग की (इत्) इत् संज्ञा होती है।

*उदा०-(ल्) ल्युट् च-चयनम् । चुनना । जयनम् । जीतना । (श्) **कर्तरि शप्**-भवति । होता है । पचति । पकाता है । कवर्ग (क्) **क्तक्तवतू निष्ठा**-भुक्तः । भुक्तवान् । खाया । (ख्) **प्रियवशे** वदः खच्-प्रियंवदः । प्रिय बोलनेवाला । वशंवदः । वश में रहनेवाला, आज्ञाकारी । (ग्) ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः । ग्लास्नुः । ग्लानि करनेवाला । जिष्णुः । जीतनेवाला । स्थास्नुः । स्थिर । भूष्णुः । सत्तावाला । (घ्) **भञ्जभासमिदो घुरच्**-भङ्गुरम् । नष्ट होनेवाला । (ङ्) टाङसिङसामिनात्स्याः-वृक्षात् । वृक्ष से । वृक्षस्य । वृक्ष का ।*

*सिद्धि-(१) **चयनम्** । चि+ल्युट् । चि+यु । चि+अन । चे+अन । चयन+सु । चयनम् ।*

यहां 'चिञ् चयने' (स्वा०उ०) धातु से 'ल्युट् च' (३ ।३ ।११५) लुट् प्रत्यय करने पर इस सूत्र से प्रत्यय के 'ल्' की इत्संज्ञा होती है। ऐसे ही-'जि जये' (भ्वा०प०) से जि+ल्युट् । जयनम् ।

*(२) **भवति** । भू+लट् । भू+शप्+तिप् । भू+अ+ति । भो+अ+ति । भवति ।*

यहां 'भू सत्तायाम्' (भ्वा०प०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३ ।२ ।१२३) से प्रत्यय तथा 'तिपतस्झि०' (३ ।४ ।७८) से ल् के स्थान में तिप् आदेश करने पर 'कर्तरि शप्' (३ ।१ ।६८) से शप् प्रत्यय होता है। इस सूत्र से शप् प्रत्यय के 'श्' की इत् संज्ञा होती है। इसी प्रकार से 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से-पचति ।

*(३) **भुक्तः** । भुज्+क्त । भुज्+त । भुक्+त । भुक्त+सु । भुक्तः ।*

यहां 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' (रुधा०आ०) से क्त प्रत्यय करने पर इस सूत्र से प्रत्यय के 'क्' की इत् संज्ञा होती है। भुत्+क्तवतु । भुक्तवान् ।

*(४) **प्रियंवदः** । प्रिय+वद्+खच् । प्रिय+वद्+अ । प्रियमुम् अ+वद्+अ । प्रियंवद+अ । प्रियंवद+सु । प्रियंवदः ।*

यहां प्रिय शब्द उपपदवाली 'वद व्यक्तायां वाचि' (भ्वा०प०) धातु से 'प्रियवशे वदः खच्' (३ ।२ ।३८) से 'खच्' प्रत्यय होता है। इस सूत्र से प्रत्यय के 'ख्' की इत् संज्ञा होती है। तत्पश्चात् 'अरुर्द्विषदन्तजन्तस्य मुम्' (६ ।३ ।६७) से उपपद को 'मुम्' का आगम होता है।

*(५) **ग्लास्नुः** । ग्ला+ग्स्नु । ग्ला+स्नु । ग्लास्नु+सु । ग्लास्नुः ।*

यहां 'ग्लै हर्षक्षये' (भ्वा०प०) धातु से 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' (३ ।२ ।१३९) से 'ग्स्नु' प्रत्यय करने पर इस सूत्र से प्रत्यय के 'ग्' की इत् संज्ञा होती है।

(६) भङ्गुरम्। भञ्ज्+घुरच्। भञ्ज्+उर। भङ्ग्+उर। भङ्गुर+सु। भङ्गुरम्।

यहां 'भञ्जो आमर्दने' (रुधा०प०) धातु से 'भञ्जभासमिदो घुरच्' (३।२।१६१) से 'घुरच्' प्रत्यय करने पर इस सूत्र से प्रत्यय के 'घ' की इत् संज्ञा होती है। तत्पश्चात् प्रत्यय के घित् होने से 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (७।२।५२) से धातु के 'ज्' को कुत्व गकार हो जाता है।

(७) वृक्षात्। वृक्ष+ङसि। वृक्ष+अस्। वृक्ष+आत्। वृक्षात्।

यहां वृक्ष शब्द से ङसि प्रत्यय करने पर इस सूत्र से प्रत्यय के 'ङ्' की इत् संज्ञा होती है। तत्पश्चात् 'टाङसिङसामिनात्स्याः' (७।१।१२) से 'ङसि' प्रत्यय के स्थान में 'आत्' आदेश होता है। इसी प्रकार से वृक्ष+ङस्। वृक्ष+अस्। वृक्ष+स्य। वृक्षस्य।

इत्संज्ञकस्य लोपः-

तस्य लोपः।६।

प०वि०-तस्य ६।१ लोपः १।१।

अर्थः-तस्य इत्संज्ञकस्य वर्णस्य लोपो भवति।

उदा०-अइउण्, ऋॡक्। अत्र णकारस्य ककारस्येत्संज्ञायां लोपो विधीयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(तस्य) उस इत् संज्ञावाले अक्षर का (लोपः) लोप होता है।

उदा०-अ इ उ ण्। ऋॡक्। इत्यादि। यहां 'ण्' आदि की इत् संज्ञा होने से उनका लोप हो जाता है। लोप हो जाने से 'अक्' आदि प्रत्याहारों में 'ण्' आदि इत् संज्ञक वर्णों का ग्रहण नहीं किया जाता है।

यथासंख्यविधिः-

यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्।१०।

प०वि०-यथासङ्ख्यम् १।१ अनुदेशः १।१ समानाम् ६।३। सङ्ख्यामनतिक्रम्य इति यथासङ्ख्यम् (अव्ययीभावः)।

अन्वयः-समानां यथासङ्ख्यमनुदेशः।

अर्थः-अस्मिन् शास्त्रे समानाम्=समसङ्ख्यानां शब्दानां यथासङ्ख्यम् अनुदेशः=उच्चारणं भवति।

उदा०-तूदीशलातुरवर्मतीकूचवाराड् ढक्छण्ढञ्यकः (४।३।९४) इति।

आर्यभाषा-अर्थ-इस शब्दशास्त्र में (समानाम्) समान संख्यावाले शब्दों का (यथासंख्यम्) संख्या के अनुसार ही (अनुदेशः) उच्चारण किया जाता है। जैसे

'तूदीशलातुरवर्मतीकूचवाराड् ढक्छण्ढञ्यकः' (४।३।९४) अर्थात् तूदी, शलातुर, वर्मती, कूचवार शब्दों से ढक्, छण्, ढञ् और यक् प्रत्यय होते हैं। इस सूत्र से प्रथम शब्द से प्रथम प्रत्यय, द्वितीय शब्द से द्वितीय प्रत्यय, तृतीय शब्द से तृतीय प्रत्यय और चतुर्थ शब्द से चतुर्थ प्रत्यय संख्या के अनुसार किया जाता है, अन्यथा किसी शब्द से कोई भी प्रत्यय होना सम्भव है।

अधिकारलक्षणम्–

स्वरितेनाधिकारः ।१०।

प०वि०–स्वरितेन ३।१ अधिकारः १।१।

अर्थः–अस्मिन् शास्त्रे स्वरितेन चिह्नेनाधिकारो वेदितव्यः।

उदा०–प्रत्ययः (३।१।१) **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (४।१।१) **अङ्गस्य** (६।४।१) **भस्य** (६।४।१२९) **पदस्य** (८।४।१२९) इत्यादि।

आर्यभाषा-अर्थ–*इस शब्दशास्त्र में स्वरित नामक स्वर चिह्न से (अधिकारः) उस शब्द का अधिकार समझना चाहिये। जैसे-**प्रत्ययः** (३।१।१)। **धातोः** (अ० ३।१।९१)। **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (अ० ४।१।१)। **अङ्गस्य** (अ० ६।४।१)। **भस्य** (अ० ६।४।१२९) **पदस्य** (अ० ८।४।१२९) इत्यादि।*

विशेष–आजकल अष्टाध्यायी में अधिकारवाले शब्दों पर स्वरित स्वर का चिह्न दिखाई नहीं देता है। 'प्रतिज्ञास्वरिताः पाणिनीयाः' इस गुरुवचन से पाणिनिमुनि के शिष्य प्रतिज्ञामात्र से ही अधिकारवाले शब्दों को स्वरित मानते हैं कि यह शब्द स्वरित है, अतः अब इसका यहां अधिकार है। इस शब्द की आगामी सूत्रों में अनुवृत्ति ली जाती है।

आत्मनेपदप्रकरणम्

अनुदात्तेद् ङिच्च धातुः–

(१) अनुदात्तङित आत्मनेपदम् ।१२।

प०वि०–अनुदात्त-ङितः ५।१ आत्मनेपदम् १।१।

स०–अनुदात्तश्च ङश्च तौ–अनुदात्तङौ, इच्च इच्च तौ–इतौ। अनुदात्तङौ इतौ यस्य सः–अनुदात्तङित्, तस्मात्–अनुदात्तङितः (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अर्थः–अनुदात्तेतो ङितश्च धातोरात्मनेपदं भवति।

उदा०–(अनुदात्तेत्) **आस् उपवेशने**–आस्ते। **वस् आच्छादने–वस्ते।**
(ङित्) षूङ् प्राणिगर्भविमोचने–सूते। शीङ् स्वप्ने–शेते।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनुदात्त-ङित:) अनुदात्तेत् और ङित् धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय होता है।

उदा०-(अनुदात्तेत्) आस् उपवेशने-आस्ते। बैठता है। वस् आच्छाने-वस्ते। ढकता है। (ङित्) षूङ् प्राणिगर्भविमोचने-सूते। जन्म लेता है। शीङ् स्वप्ने-शेते। सोता है।

सिद्धि-(१) आस्ते। आस्+लट्। आस्+ल्। आस्+त्। आस्+शप्+त। आस्+०+त। आस्ते।

यहां 'आस् उपदेशने' (अदा०आ०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। पाणिनिमुनि ने अपने धातुपाठ में 'आस्' धातु को 'अनुदात्तेत्' पढ़ा है। अतः इससे 'त' आदि आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय होते हैं। इसी प्रकार से-वस्ते।

(२) सूते। षूङ्+लट्। सू+ल्। सू+त। सू+शप्+त। सू+०+त। सूते।

यहां षूङ् धातु के ङ् की 'हलन्त्यम्' (१।३।३) से इत् संज्ञा होती है। यह ङित् धातु है। ङित् धातु से इस सूत्र से 'त' आदि आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय होते हैं। इसी प्रकार से-शेते।

विशेष-आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय ये हैं-त। आताम्। झ। थास्। आथाम्। ध्वम्। इट्। वहि। महिङ्। शानच्। कानच्। चानश्। 'तङानावात्मनेपदम्' (१।४।१४०) से इन प्रत्ययों की आत्मनेपद संज्ञा की गई है।

भाववाच्ये कर्मवाच्ये च-

(२) भावकर्मणोः।१३।

प०वि०-भाव-कर्मणोः ७।२।

स०-भावश्च कर्म च ते भावकर्मणी, तयोः-भावकर्मणोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'आत्मनेपदम्' इति सर्वत्रानुवर्तते।

अन्वयः-भावकर्मणोरात्मनेपदम्।

अर्थः-भाववाच्ये कर्मवाच्ये चार्थे धातोरात्मनेपदं भवति।

उदा०-(**भाववाच्ये**) ग्लायते भवता। सुप्यते भवता। आस्यते भवता। (**कर्मवाच्ये**) क्रियते कटो देवदत्तेन। ह्रियते भारो देवदत्तेन। (**कर्मकर्तृवाच्ये**) लूयते केदारः स्वयमेव।

आर्यभाषा-अर्थ-(भाव-कर्मणोः) भाववाच्य और कर्मवाच्य अर्थ में धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मपद होता है।

उदा०-(भाववाच्य) ग्लायते भवता। सुप्यते भवता। आस्यते भवता। (कर्मवाच्य) क्रियते कटो देवदत्तेन। देवदत्त के द्वारा चटाई बनाई जाती है। ह्रियते भारो देवदत्तेन। देवदत्त के द्वारा भार हरण किया जाता है। (कर्मकर्तृवाच्य) लूयते केदारः स्वयमेव। खेत स्वयं ही कट रहा है।

सिद्धि-(१) क्रियते। कृ+लट्। कृ+त। कृ+यक्+त। क् रिङ्+य+त। क्रि+य+ते। क्रियते।

यहां 'डुकृञ् करणे' (त०उ०) धातु से कर्मवाच्य में लट् प्रत्यय, उसके स्थान में 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से आत्मनेपद का 'त' आदेश होता है। 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) से भाव और कर्मवाच्य में धातु से 'यक्' प्रत्यय और 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' (७।४।२८) से धातु के 'ऋ' को 'रिङ्' आदेश होता है। इसी प्रकार 'हृञ् हरणे' (भ्वा०उ०) धातु से ह्रियते और 'लूञ् लवने' (क्र्या०उ०) धातु से लूयते शब्द सिद्ध होता है।

विशेष-(१) सकर्मक और अकर्मक भेद से धातु दो प्रकार की होती है। जिनका कोई कर्म मिलता है, उन्हें सकर्मक और जिनका कोई कर्म नहीं मिलता है, उन्हें अकर्मक धातु कहते हैं। 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' (३।४।६९) अर्थात् सकर्मक धातुओं से कर्मवाच्य और कर्तृवाच्य अर्थ में लकार होते हैं। अकर्मक धातुओं से भाववाच्य और कर्तृवाच्य में लकार होते हैं। 'ग्लै हर्षक्षये' (भ्वा०प०) यह अकर्मक धातु है। इससे भाववाच्य में लकार होता है। ग्लायते भवता। आपके द्वारा ग्लानि की जाती है। इसी प्रकार से 'आस् उपवेशने' (अ०आ०) आस्यते भवता। आपके द्वारा बैठा जाता है। 'ञिष्वप् शये' (अ०आ०) सुप्यते भवता। आपके द्वारा सोया जाता है।

'डुकृञ् करणे' (त०उ०) धातु सकर्मक है। इसलिये इससे कर्मवाच्य अर्थ में लकार होता है-क्रियते कटो देवदत्तेन। देवदत्त के द्वारा चटाई बनाई जाती है। इसी प्रकार 'हृञ् हरणे' धातु से ह्रियते भारो देवदत्तेन। देवदत्त के द्वारा भार ढोया जाता है।

क्रियापदं कर्तृपदेन युक्तं
व्यपेक्षते यत्र किमित्यपेक्षाम्।
सकर्मकं तं सुधियो वदन्ति
शेषस्ततो धातुरकर्मकः स्यात्।।

अर्थ-जहां क्रियापद कर्तृपद से युक्त होकर 'किम्' शब्द की अपेक्षा करता है उस धातु को विद्वान् लोग सकर्मक कहते हैं और जहां क्रियापद, कर्तृपद से युक्त होकर 'किम्' शब्द की अपेक्षा नहीं करता, उसे अकर्मक धातु कहते हैं।

लज्जासत्तास्थितिजागरणं
वृद्धिक्षयभयजीवनमरणम्।
शयनक्रीडारुचिदीप्त्यर्थं
धातुगणं तमकर्मकमाहुः।।

अर्थ-लज्जा, सत्ता, स्थिति, जागरण, वृद्धि, क्षय, भय, जीवन, मरण, शयन, क्रीडा रुचि और दीप्ति अर्थवाली धातु अकर्मक होती हैं।

(२) जहां कर्म, कर्ता बनकर प्रयुक्त होता है, उसे 'कर्मकर्तृवाच्य' कहते हैं। जैसे ***'लूयते केदारः स्वयमेव।*** *खेत अपने आप कट रहा है। यहां 'केदार' शब्द 'कर्मकर्ता' है। जहां कर्म, कर्ता बन जाता है, वहां भी धातु से आत्मनेपद ही होता है। जहां केवल शुद्ध कर्ता होता है, वहां धातु से परस्मैपद का विधान किया गया है। इस विषय को निम्नलिखित रेखाचित्र से समझ लेवें।*
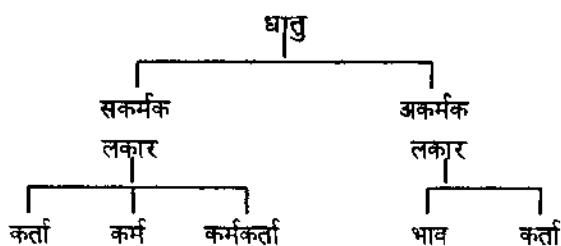
कर्मव्यतिहारे कर्तृवाच्ये-

(३) कर्तरि कर्मव्यतिहारे।१४।

प०वि०-कर्तरि ७।१ कर्म-व्यतिहारे ७।१।

स०-कर्मणो व्यतिहार इति कर्मव्यतिहारः, तस्मिन्-कर्मव्यतिहारे (षष्ठीतत्पुरुषः)। व्यतिहारः=विनिमयः।

अन्वयः-कर्मव्यतिहारे कर्तरि धातोरात्मनेपदम्।

अर्थः-कर्मव्यतिहारे=क्रियाया विनिमयेऽर्थे कर्तृवाच्ये धातोरात्मनेपदं भवति। कर्मशब्दोऽत्र क्रियावाची। कर्मव्यतिहारः=परस्परक्रियाकरणम्।

उदा०-व्यतिलुनते। व्यतिपुनते।

आर्यभाषा-अर्थ-(कर्मव्यतिहारे) क्रिया-विनिमय अर्थ में विद्यमान धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है। यहां 'कर्मव्यतिहार' शब्द में 'कर्म' शब्द क्रियावाची है। 'व्यतिहार' का अर्थ विनिमय है। जहां अन्य सम्बन्धिनी क्रिया को कोई अन्य करता है और इतर सम्बन्धी क्रिया को इतर करता है उसे कर्मव्यतिहार कहते हैं।

उदा०-व्यतिलुनते। परस्पर काटते हैं। व्यतिपुनते। परस्पर पवित्र करते हैं।

सिद्धि-(१) व्यतिलुनते। व्यति+लू+लट्। व्यति+लू+झ। व्यति+लू+अत। व्यति+लू+श्ना+अत। व्यति+लू+ना+अत। व्यति+लू+न्+अते। व्यतिलुनते।

यहां 'लूञ् लवने' (क्र्या०उ०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से लट् प्रत्यय, 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से 'ल्' के स्थान में आत्मनेपद 'झ' आदेश होता है और 'झ' के स्थान में 'आत्मनेपदेष्वनतः' (७।१।५) से 'अत्' 'क्र्यादिभ्यः श्ना' (३।१।८१) से श्ना प्रत्यय और 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (६।४।११२) से 'श्ना' प्रत्यय के आ का लोप और 'प्वादीनां ह्रस्वः' (७।३।८०) से धातु को ह्रस्व होता है। 'पूञ् पवने' (क्र्या०उ०)-व्यतिपुनते।

(२) 'लुञ्' धातु के ञित् होने से 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' (१।३।७२) से आत्मनेपद और परस्मैपद भी हो सकता है, किन्तु कर्मव्यतिहार अर्थ में इस सूत्र से आत्मनेपद ही होता है।

आत्मनेपदप्रतिषेधः-

(४) न गतिहिंसार्थेभ्यः।१५।

प०वि०-न अव्ययपदम्, गति-हिंसार्थेभ्यः ५।३।

स०-गतिश्च हिंसा च ते-गतिहिंसे, अर्थश्च अर्थश्च तौ-अर्थौ। गतिहिंसे अर्थौ येषां ते गतिहिंसार्थाः, तेभ्यः-गतिहिंसार्थेभ्यः (इतरेतरयोग-द्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-कर्मव्यतिहारे गतिहिंसार्थेभ्यः कर्तरि आत्मनेपदं न।

अर्थः-कर्मव्यतिहारे=क्रियाविनिमयेऽर्थे गत्यर्थेभ्यो हिंसार्थेभ्यश्च धातुभ्यः कर्तृवाच्ये आत्मनेपदं न भवति।

उदा०-(गत्यर्थेभ्यः) व्यतिगच्छन्ति। व्यतिसर्पन्ति। **(हिंसार्थेभ्यः)** व्यतिहिंसन्ति। व्यतिघ्नन्ति।

आर्यभाषा-अर्थ-(कर्मव्यतिहारे) क्रिया-विनिमय अर्थ में विद्यमान (गतिहिंसार्थेभ्यः) गति और हिंसा अर्थवाली धातुओं से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद (न) नहीं होता है।

उदा०-(गत्यर्थक) व्यतिगच्छन्ति। परस्पर जाते हैं। व्यतिसर्पन्ति। परस्पर सरकते हैं। (हिंसार्थक) व्यतिहिंसन्ति। परस्पर हिंसा करते हैं। व्यतिघ्नन्ति। परस्पर हिंसा/गति करते हैं।

सिद्धि-(१) व्यतिगच्छन्ति। व्यति+गम्+लट्। व्यति+गम्+ल्। व्यति+गम्+झि। व्यति+गम्+अन्ति। व्यति+गम्+शप्+अन्ति। व्यति+गम्+अ+अन्ति। व्यति+गच्छ्+अ+अन्ति। व्यतिगच्छन्ति।

*यहां 'गम्लृ गतौ' (भ्वा०प०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से लट् प्रत्यय **और** 'ल्' के स्थान में 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से परस्मैपद 'झि' आदेश होता है। **'इषुगमियमां छः'** (७।३।७७) से धातु के 'म्' को 'छ्' आदेश हो जाता है।*

*(२) **व्यतिसर्पन्ति। सृप्लृ गतौ** (भ्वा०प०)।*

*(३) **व्यतिहिंसन्ति। हिंसि हिंसायाम्** (रु०प०)।*

*(४) **व्यतिघ्नन्ति। हन् हिंसागत्योः** (अ०प०)।*

(५) इतरेतरान्योऽन्योपपदाच्च।१६।

प०वि०-इतरेतर-अन्योऽन्योपपदात् ५।१, च अव्ययपदम्।

स०-इतरेतरश्च अन्योऽन्यश्च तौ-इतरेतरान्योऽन्यौ। इतरेतरान्योऽन्यौ, उपपदे यस्य सः-इतरेतरान्योऽन्योपपदः, तस्मात्-इतरेतरान्योऽन्योपपदात् (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-'कर्तरि कर्मव्यतिहारे न' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-कर्मव्यतिहारे इतरेतरान्योऽन्योपपदात् धातोः कर्तरि आत्मनेपदं न।

अर्थः-कर्मव्यतिहारेऽर्थे इतरेतरोपपदाद् अन्योऽन्योपपदाच्च धातोः कर्तृवाच्ये आत्मनेपदं न भवति।

उदा०-(इतरेतरोपपदात्) इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति। **(अन्योऽन्योपपदात्)** अन्योऽन्यस्य व्यतिलुनन्ति।

आर्यभाषा-अर्थ-(कर्मव्यतिहारे) क्रिया-विनिमय अर्थ में विद्यमान (इतरेतर-अन्योऽन्योपपदात्) इतरेतर और अन्योऽन्य शब्द उपपदवाली धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद (न) नहीं होता है।

उदा०-(इतरेतर) इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति। (अन्योऽन्य) अन्योऽन्यस्य व्यतिलुनन्ति। एक-दूसरे का काटते हैं।

*(१) **व्यतिलुनन्ति।** व्यति+लू+लट्। व्यति+लू+ल्। व्यति+लू+झि। व्यति+लू+अन्ति। व्यति+लू+श्ना+अन्ति। व्यति+लू+ना+अन्ति। व्यति+लु+न्+अन्ति। व्यतिलुनन्ति।*

*यहां 'लूञ् छेदने' (क्र्या०उ०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से लट् प्रत्यय और 'तिप्तस्झि०' (३।४।७८) से परस्मैपद 'झि' आदेश होता है। **'क्र्यादिभ्यः श्ना'** (३।१।८१) से श्ना विकरण प्रत्यय, **'श्नाभ्यस्तयोरातः'** (६।४।११२) से श्ना के आ का लोप और **'प्वादीनां ह्रस्वः'** (७।३।८०) से लू धातु को ह्रस्व होता है।*

विश-प्रवेशने (तु०प०)–

(४) नेर्विशः ।७।

प०वि०–नेः ५ ।१ विशः ५ ।१ ।

अनु०–'कर्तरि आत्मनेपदम्' इति सर्वत्रानुवर्तते ।

अन्वयः–नेर्विशः कर्तरि आत्मनेपदम् ।

अर्थः–नि–उपसर्गपूर्वाद् विशो धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति ।

उदा०–निविशते ।

__आर्यभाषा-अर्थ__–(नेः) उपसर्ग से परे (विशः) विश् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है। निविशते। घुसता है।

__सिद्धि__–(१) __निविशते।__ नि+विश्+लट्। नि+विश्+त। नि+विश्+श+त। नि+विश्+अ+ते। निविशते।

यहां 'नि' उपसर्ग से परे __'विश प्रवेशने'__ (तु०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लट्' प्रत्यय और ल् के स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।

__विशेष__–(१) इस प्रकरण में प्रायः उपसर्ग से परे धातु से आत्मनेपद का विधान किया गया है। उपसर्ग ये हैं–प्र। परा। अप। सम्। अनु। अव। निस्। दुस्। वि। आङ्। नि। अधि। अपि। अति। सु। उत्। अभि। प्रति। परि। उप।

__अनुवृत्ति__– __'कर्तरि आत्मनेपदम्'__ की अनुवृत्ति __'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्'__ तक है। अतः प्रत्येक सूत्र में इसकी अनुवृत्ति नहीं दिखाई जायेगी।

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये (क्र्या०उ०)–

(७) परिव्यवेभ्यः क्रियः ।१८।

प०वि०–परि-वि-अवेभ्यः ५ ।३ क्रियः ५ ।१ ।

स०–परिश्च विश्व अवश्च ते-परिव्यवाः, तेभ्यः-परिव्यवेभ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः) ।

अन्वयः–परिव्यवेभ्यः क्रियः कर्तरि आत्मनेपदम् ।

अर्थः–परि–वि–अव–उपसर्गपूर्वात् क्री–धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति ।

उदा०–**(परि)** परिक्रीणीते । **(वि)** विक्रीणीते । **(अव)** अवक्रीणीते ।

__आर्यभाषा-अर्थ__–(परि-वि-अवेभ्यः) परि, वि, अव उपसर्ग से परे (क्रियः) क्री धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०–(परि) परिक्रीणीते। किसी को पैसे से खरीदता है। (वि) विक्रीणंते। बेचता है। (अव) अवक्रीणीते। किराये पर लेता है।

*सिद्धि-(१) **परिक्रीणीते।** परि+क्री+लट्। परि+क्री+त। परि+क्री+श्ना+त। परि+क्री+ना+त। परि+क्री+नी+ते। परिक्रीणीते।*

*यहां 'परि' उपसर्गपूर्वक **'डुकृञ् द्रव्यविनिमये'** (क्या०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। **'क्र्यादिभ्यः श्ना'** (३।१।८१) से श्ना प्रत्यय और 'ई हल्यघोः' (६।४।११३) से 'श्ना' प्रत्यय को ईत्व होता है।*

जि जये (भ्वा०प०)-

(८) विपराभ्यां जेः।१९।

प०वि०-वि-पराभ्याम् ५।२ जेः ५।१।

स०-विश्च पराश्च तौ-विपरौ, ताभ्याम्-विपराभ्याम् (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-विपराभ्यां जेः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-वि-परा-उपसर्गपूर्वाद् जि-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(वि) विजयते। **(परा)** पराजयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(वि-पराभ्याम्) वि और परा अपसर्ग से परे (जेः) जि धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०-(वि) विजयते। जीतता है। (परा) पराजयते। हारता है।

*सिद्धि-(१) **विजयते।** वि+जि+लट्। वि+जि+त। वि+जि+शप्+त। वि+जि+अ+त। वि+जे+अ+ते। विजयते।*

*यहां 'वि' उपसर्गपूर्वक **'जि जये'** (भ्वादि०प०) धातु से पूर्ववत् 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।*

डुदाञ् दाने (जु०उ०)-

(९) आङो दोऽनास्यविहरणे।२०।

प०वि०-आङः ५।१ दः ५।१ अनास्यविहरणे ७।१।

स०-आस्यस्य विहरणमिति आस्यविहरणम्, न आस्यविहरणमिति अनास्यविहरणम्, तस्मिन्-अनास्यविहरणे (षष्ठीतत्पुरुषगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अन्वयः-अनास्यविहरणे आङो दः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-अनास्यविहरणेऽर्थे आङ्-उपसर्गपूर्वाद् दा-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-विद्यामादत्ते।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनास्यविहरणे) मुख खोलना अर्थ को छोड़कर (आङः) आङ् उपसर्ग से परे (दः) दा धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-**विद्याम् आदत्ते।** विद्या को ग्रहण करता है।*

*सिद्धि-(१) **आदत्ते।** आङ्+दा+लट्। आ+दा+त। आ+दा+शप्+त। आ+दा+०+त। आ+दा दा+त। आ+द+द्+त। आ+द त्+ते। आदत्ते।*

यहां 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से शप् प्रत्यय और 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' (२।४।७५) से 'शप्' को श्लु और 'श्लौ' (६।१।१०) से धातु को द्विर्वचन होता है।

*(२) आङ् उपसर्गपूर्वक दा धातु का जहां आस्यविहरण=मुख खोलना अर्थ होता है, वहां उससे परस्मैपद ही होता है। **'व्याददाति पिपीलिका पतङ्गस्य मुखम्'** चींटी पतंग का मुख खोलती है।*

क्रीड़ विहारे (भ्वा०प०)-

(१०) क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च ।२१।

प०वि०-क्रीडः ५।१ अनु-सम्-परिभ्यः ५।३ च अव्ययपदम्।

स०-अनुश्च सम् च परिश्च ते-अनुसम्परयः, तेभ्यः-अनुसम्परिभ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'आङः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अनुसम्परिभ्य आङश्च क्रीडः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-अनु-सम्-परि-उपसर्गपूर्वाद् आङ्-पूर्वाच्च क्रीडो धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(अनु) अनुक्रीडते। **(सम्)** संक्रीडते। **(परि)** परिक्रीडते। **(आङ्)** आक्रीडते।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनु-सम्-परिभ्यः) अनु, सम्, परि उपसर्ग से (च) और (आङः) आङ् उपसर्ग से परे (क्रीडः) क्रीड् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-**अनु-अनुक्रीडते।** अनुकूल खेलता है। **सम्-संक्रीडते।** मिलकर खेलता है। **परि-परिक्रीडते।** सर्वत्र खेलता है। **आ-आक्रीडते।** दिल बहलाता है।*

*सिद्धि-(१) **अनुक्रीडते।** अनु+क्रीड्+लट्। अनु+क्रीड्+शप्+त। अनु+क्रीड्+अ+त। अनुक्रीडते।*

यहां 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'क्रीडृ विहारे' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लट्' प्रत्यय और 'ल्' के स्थान में आत्मनेपद 'त' होता है।

ष्ठा गतिनिवृत्तौ (भ्वा०प०)-

(११) समवप्रविभ्यः स्थः।२२।

प०वि०-सम्-अव-प्र-विभ्यः ५।३ स्थः ५।१।

स०-सं च अवश्च प्रश्च विश्च ते-समवप्रवयः, तेभ्यः-समवप्रविभ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-समवप्रविभ्यः स्थः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-सम्-अव-प्र-वि-उपसर्गपूर्वात् स्था-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-**(सम्)** संतिष्ठते। **(अव)** अवतिष्ठते। **(प्र)** प्रतिष्ठते। **(वि)** वितिष्ठते।

आर्यभाषा-अर्थ-(सम्-अव-प्र-विभ्यः) सम्, अव, प्र और वि उपसर्ग से परे (स्थः) स्था धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-सम्-**संतिष्ठते।** मिलकर रहता है। अव-**अवतिष्ठते।** अवस्थित रहता है। प्र-**प्रतिष्ठते।** प्रस्थान करता है। वि-**वितिष्ठते।** विरुद्ध रहता है।*

*सिद्धि-(१) **संतिष्ठते।** सम्+स्था+लट्। सम्+स्था+शप्+त। सम्+तिष्ठ्+अ+ते। संतिष्ठते।*

*यहां सम् उपसर्गपूर्वक **'ष्ठा गतिनिवृत्तौ'** (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। पूर्ववत् शप्-प्रत्यय और **'पाघ्राध्मा०'** (७।३।७८) से 'स्था' के स्थान में 'तिष्ठ' आदेश होता है।*

(१२) प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च।२३।

प०वि०-प्रकाशन-स्थेयाख्ययोः ७।२ च अव्ययपदम्।

स०-तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थेयः, स्थेयस्याऽऽख्या इति स्थेयाख्या। प्रकाशनं च स्थेयाख्या च ते-प्रकाशनस्थेयाख्ये, तयोः-प्रकाशनस्थेयाख्ययोः (षष्ठीतत्पुरुषगर्भितेतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'स्थः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च स्थः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-प्रकाशने स्थेयाख्यायां चार्थे स्था-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-प्रकाशनम्=स्वाभिप्रायकथनम्। स्थेयाख्या=विवादपद-निर्णायिकस्य प्रकथनम्। **(प्रकाशने)** तिष्ठते कन्या छात्रेभ्यः। तिष्ठते सरस्वती विद्वद्भ्यः। **(स्थेयाख्या)** स त्वयि तिष्ठते। स मयि तिष्ठते।

आर्यभाषा-अर्थ-(प्रकाशन-स्थेयाख्ययोः) अपने अभिप्राय को प्रकाशित करने और विवादास्पद के निर्णायिक अर्थ में विद्यमान (स्थः) स्था धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-(प्रकाशन) **तिष्ठते कन्या छात्रेभ्यः।** कन्या, छात्रों के लिये अपना अभिप्राय प्रकाशित करती है। **तिष्ठते सरस्वती विद्वद्भ्यः।** सरस्वती विद्वानों को अपना रूप प्रकाशित करती है। (स्थेयाख्या) **स त्वयि तिष्ठते।** वह तुझे निर्णायिक मानता है। **स मयि तिष्ठते।** वह मुझे निर्णायिक मानता है।*

(१३) उदोऽनूर्ध्वकर्मणि।२४।

प०वि०-उदः ५।१ अनूर्ध्व-कर्मणि ७।१।

स०-ऊर्ध्वस्य कर्म इति ऊर्ध्वकर्म, न ऊर्ध्वकर्म इति अनूध्वकर्म, तस्मिन्-अनूर्ध्वकर्मणि (षष्ठीतत्पुरुषगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-'स्थः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अनूर्ध्वकर्मणि उदः स्थः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-अनूर्ध्वकर्मण्यर्थे वर्तमानाद् उद्-उपसर्गपूर्वात् स्था-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(उत्) गेहे उत्तिष्ठते। कुटुम्बे उत्तिष्ठते। कर्मशब्दोऽत्र क्रियावाची।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनूर्ध्व-कर्मणि) ऊर्ध्व-कर्म को छोड़कर (उदः) 'उत्' उपसर्ग से परे (स्थः) स्था धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-(उत्) **गेहे उत्तिष्ठते।** घर की उन्नति के लिये प्रयत्न करता है। **कुटुम्बे उत्तिष्ठते।** परिवार की उन्नति के लिये प्रयत्न करता है।*

*यहां ऊर्ध्व-कर्म का निषेध इसलिये किया गया है कि यहां आत्मनेपद न हो-**देवदत्त आसनाद् उत्तिष्ठति। देवदत्त आसन से खड़ा होता है।***

(१४) उपान्मन्त्रकरणे।२५।

प०वि०-उपात् ५ ।१ मन्त्रकरणे ७ ।१ ।

स०-मन्त्रेण करणमिति मन्त्रकरणम्, तस्मिन्-मन्त्रकरणे (तृतीयातत्पुरुषः)।

अनु०-'स्थः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-मन्त्रकरणे उपात् स्थः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-मन्त्रकरणे=मन्त्रेणाऽनुष्ठानेऽर्थे वर्तमानाद् उप-उपसर्गपूर्वात् स्था-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(उप) उपतिष्ठते। ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते। आग्नेय्या-ऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते।

आर्यभाषा-अर्थ-(मन्त्र-करणे) मन्त्रकरण अर्थ में विद्यमान (उपात्) उप उपसर्ग से परे (स्थः) स्था धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०-(उप) उपतिष्ठते। ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते। इन्द्रदेवतावाली ऋचा के द्वारा गार्हपत्य अग्नि को प्राप्त करता है। आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते। अग्निदेवतावाली ऋचा से आग्नीध्र को प्राप्त करता है।

यहां मन्त्रकरण का कथन इसलिये किया गया है कि यहां आत्मनेपद न हो- भर्तारमुपतिष्ठति यौवनेन। यौवन से पति को प्राप्त करती है।

(१५) अकर्मकाच्च।२६।

प०वि०-अकर्मकात् ५ ।१ च अव्ययपदम्।

स०-न विद्यते कर्म यस्य सः-अकर्मकः, तस्मात्-अकर्मकात् (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'उपात्, स्थः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-उपाद् अकर्मकाच्च स्थः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-उप-उपसर्गपूर्वाद् अकर्मकात् स्था-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-यावद्भुक्तम् उपतिष्ठते देवदत्तः। यावदोदनमुपतिष्ठते यज्ञदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(उपात्) उप-उपसर्ग से परे (अकर्मकात्) अकर्मक (स्थः) स्था धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०-यावद्भुक्तमुपतिष्ठते देवदत्तः। देवदत्त प्रत्येक भोजन में उपस्थित होता है। यावदोदनमुपतिष्ठते यज्ञदत्तः। यज्ञदत्त प्रत्येक ओदन-भोजन में उपस्थित होता है।

सिद्धि-उपतिष्ठते। यहां उप उपसर्गपूर्वक अकर्मक स्था धातु से इस सूत्र से आत्मनेपद है।

तप सन्तापे (भ्वा०प०)-

(१६) उद्विभ्यां तपः।२७।

प०वि०-उद्-विभ्याम् ५।२ तपः ५।१।

स०-उत् च विश्च तौ-उद्वी, ताभ्याम्-उद्विभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'अकर्मकात्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-उद्विभ्याम् अकर्मकात् तपः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-उद्-वि-उपसर्गपूर्वाद् अकर्मकात् तपो धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(उत्) उत्तपते। **(वि)** वितपते।

आर्यभाषा-अर्थ-(उद्-विभ्याम्) उत् और वि उपसर्ग से परे (अकर्मकात्) अकर्मक (तपः) तप धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-उत्-**उत्तपते**। अतिसंतापयुक्त होता है। वि-**वितपते**। सन्ताप को हटाता है।*

*सिद्धि-(१) **उत्तपते**। उत्+तप्+लट्। उत्+तप्+शप्+त। उत्+तप्+अ+ते। उत्तपते।*

*यहां 'उत्' उपसर्गपूर्वक 'तप संतापे' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। ऐसे ही-**वितपते**।*

यम उपरमे (भ्वा०प०) हन् हिंसागत्योः (अ०प०)-

(१७) आङो यमहनः।२८।

प०वि०-आङः ५।१ यमहनः ५।१।

स०-यमश्च हन् च एतयोः समाहारः-यमहन्, तस्मात्-यमहनः (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-'अकर्मकात्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-आङोऽकर्मकाद्यमहनः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-आङ्-उपसर्गपूर्वाभ्याम् अकर्मकाभ्यां यमहन्भ्यां धातुभ्यां कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(**यम्**) आयच्छते। (**हन्**) आहते।

आर्यभाषा-अर्थ-(आङः) आङ् उपसर्ग से परे (अकर्मकात्) अकर्मक (यम-हनः) यम् और हन् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-**यम्-आयच्छते।** हाथ पसारता है। **हन्-आहते।** ठोकता है।*

*सिद्धि-(१) **आयच्छते।** आङ्+यम्+लट्। आ+यम्+शप्+त। आ+यम्+अ+त। आ+यच्छ+अ+ते। आयच्छते।*

*यहां 'आङ्' उपसर्गपूर्वक '**यम उपरमे**' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। पूर्ववत् शप् प्रत्यय और '**इषुगमियमां छः**' (७।३।७७) से 'यम्' धातु के 'म्' को 'छ्' आदेश होता है।*

*(२) **आहते।** आङ्+हन्+लट्। आ+हन्+शप्+त। आ+हन्+०+त। आ+ह+ते। आहते।*

*यहां 'आङ्' उपसर्गपूर्वक '**हन् हिंसागत्योः**' (अ०प०) धातु से पूर्ववत् 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। पूर्ववत् शप् प्रत्यय और '**अदिप्रभृतिभ्यः शपः**' (२।४।७२) से शप् का लुक् हो जाता है। '**अनुदात्तोपदेश०**' (६।४।३७) से हन् के अनुनासिक 'न्' का लोप होता है।*

गम्लृ गतौ (भ्वा०प०) ऋच्छ गतौ (तु०प०)-

(१८) समो गम्यृच्छिभ्याम्।२६।

प०वि०-समः ५।१ गमि-ऋच्छिभ्याम् ५।२।

स०-गमिश्च ऋच्छिश्च तौ-गम्यृच्छी, ताभ्याम्-गम्यृच्छिभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'अकर्मकात्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-समोऽकर्मकाभ्यां गम्यृच्छिभ्यां कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-सम्-उपसर्गपूर्वाभ्याम् अकर्मकाभ्यां गमि-ऋच्छिभ्यां धातुभ्यां कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(**गमि**) सङ्गच्छते। (**ऋच्छि**) समृच्छते।

आर्यभाषा-अर्थ-(समः) सम् उपसर्ग से परे (अकर्मकात्) अकर्मक (गमि-ऋच्छिभ्याम्) गमि और ऋच्छि धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०-(गमि) सङ्गच्छते। मिलता है। (ऋच्छि) समृच्छते। कठोर होता है।

सिद्धि-(१) संगच्छते। सम्+गम्+लट्। सम्+गम्+शप्+त। सम्+गम्+अ+त। सम्+गच्छ्+अ+ते। संगच्छते।

*यहां 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'गम्लृ गतौ' (भ्वादि) धातु से पूर्ववत् 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। '**इषुगमियमां छः**' (७।३।७७) से गम् के 'म्' को 'छ्' आदेश होता है। संगच्छते=मिलता है। '**ऋच्छ गतौ**' (तु०प०) धातु से-समृच्छते।*

ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च (भ्वा०उ०)-

(१६) निसमुपविभ्यो ह्वः।३०।

प०वि०-नि-सम्-उप-विभ्यः ५।३ ह्वः ५।१।

स०-निश्च सं च उपश्च विश्च ते-निसमुपवयः, तेभ्यः-निसमुपविभ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-निसमुपविभ्यो ह्वः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-नि-सम्-उप-वि-उपसर्गपूर्वाद् ह्वा-धातोः परः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(**नि**) निह्वयते। (**सम्**) संह्वयते। (**उप**) उपह्वयते। (**वि**) विह्वयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(नि-सम्-उप-विभ्यः) नि, सम्, उप और वि उपसर्ग से परे (ह्वः) ह्वा धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०-(नि) निह्वयते। (सम्) संह्वयते। (उप) उपह्वयते। (वि) विह्वयते। युद्ध के लिये बुलाता है।

*सिद्धि-(१) **निह्वयते**। नि+ह्वे+लट्। नि+ह्वे+शप्+त। नि+ह्वे+अ+त। निह्वयते।*

*यहां 'नि' उपसर्गपूर्वक 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। पूर्ववत् शप् प्रत्यय और '**एचोऽयवायावः**' (६।१।७८) से धातु के 'ए' को **अय्** आदेश होता है।*

(२०) स्पर्धायामाङः।३१।

प०वि०-स्पर्धायाम् ७।१ आङः ५।१।

अनु०-'ह्वः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-स्पर्धायाम् आङो ह्वः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-आङ्-उपसर्गपूर्वात् स्पर्धायामर्थे वर्तमानाद् ह्वा-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-कृष्णश्चाणूरमाह्वयते। मल्लो मल्लमाह्वयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(स्पर्धायाम्) स्पर्धा अर्थ में विद्यमान (आङ्) आङ् उपसर्ग से परे (ह्वः) ह्वा धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है। दूसरे को पराजित करने की इच्छा को 'स्पर्धा' कहते हैं।

*उदा०-**कृष्णश्चाणूरमाह्वयते।** श्रीकृष्ण चाणूर को पराजित करने की इच्छा से युद्ध के लिये बुलाता है। **मल्लो मल्लमाह्वयते।** एक पहलवान दूसरे पहलवान को पराजित करने की इच्छा से मल्लयुद्ध के लिये बुलाता है।*

डुकृञ् करणे (तना०उ०)-

(२१) गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्न-प्रकथनोपयोगेषु कृञः।३२।

प०वि०-गन्धन-अवक्षेपण-सेवन-साहसिक्य-प्रतियत्न-प्रकथन-उपयोगेषु ७।३ कृञः ५।१।

स०-गन्धनं च अवक्षेपणं च सेवनं च साहसिक्यं च प्रतियत्नश्च प्रकथनं च उपयोगश्च ते-गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्न-प्रकथनोपयोगाः, तेषु-गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-गन्धन०उपयोगेषु कृञः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-गन्धन-अवक्षेपण-सेवन-साहसिक्य-प्रतियत्न-प्रकथन-उपयोगेष्वर्थेषु वर्तमानात् कृञो धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(१) गन्धनम् (सूचनम्) उत्कुरुते। उदाकुरुते। (२) **अवक्षेपणम् (भर्त्सनम्)** श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते। (३) सेवनम् (सेवा)

गणकान् उपकुरुते। शिष्य आचार्यमुपकुरुते। (४) साहसिक्यम् (साहसिक कर्म) परदारान् प्रकुरुते। (५) प्रतियत्नः (गुणान्तराधानम्) एधो दकस्योपस्कुरुते। (६) प्रकथनम् (प्रवचनम्) गाथाः प्रकुरुते। जनापवादान् प्रकुरुते। (७) उपयोगः (धर्मकार्ये विनियोगः) शतं प्रकुरुते। सहस्रं प्रकुरुते।

आर्यभाषा-अर्थ- *(गन्धन०) गन्धन, अवक्षेपण, सेवन, साहसिक्य, प्रतियत्न, प्रकथन और उपयोग अर्थ में विद्यमान (कृञः) कृञ् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।*

(१) गन्धन। *हिंसा। अपकार से युक्त हिंसात्मक सूचना। उत्कुरुते। उदाकुरुते। सूचित करता है।*

(२) अवक्षेपण। *भर्त्सन=धमकाना। श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते। बाज बटेर को धमकाता है।*

(३) सेवन। *सेवा करना। गणकान् उपकुरुते। गणक लोगों की सेवा करता है। गणक=ज्योतिषी। महामात्रानुपकुरुते। महापुरुषों की सेवा करता है।*

(४) साहसिक्य। *साहसिक कार्य करना। परदारान् प्रकुरुते। परदाराओं के प्रति साहसपूर्वक प्रवृत्त होता है।*

(५) प्रतियत्न। *विद्यमान गुण को बदलना। एधो दकस्योपस्कुरुते। इन्धन जल के गुण को बदलता है। दक=उदक (जल)।*

(६) प्रकथन। *जोर से कहना। गाथाः प्रकुरुते। गाथाओं को जोर से कहता है। जनापवादान् प्रकुरुकुते। जन-अपवादों को जोर से कहता है।*

(७) उपयोग। *धर्मार्थ व्यय करना। शतं प्रकुरुते। सौ रुपये धर्मार्थ व्यय करता है। सहस्रं प्रकुरुते। हजार रुपये धर्मार्थ व्यय करता है।*

सिद्धि-(१) ***उत्कुरुते।*** *उत्+कृ+लट्। उत्+कृ+उ+त। उत्+कर्+उ+त। उत्+कुर्+उ+ते। उत्कुरुते।*

यहां 'उत्' उपसर्ग से परे ***'डुकृञ् करणे'*** *(त०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।* ***'तनादिकृञ्भ्य उः'*** *(३।१।७९) से यहां उ-प्रत्यय होता है। कृ धातु को* ***'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'*** *(७।३।८४) से गुण और* ***'अत उत् सार्वधातुके'*** *(६।४।११०) से 'अ' को उकार आदेश होता है।*

विशेष- *धातुपाठ में 'कृ' धातु करने अर्थ में पढ़ी गई है किन्तु* ***'अनेकार्था हि धातवो भवन्ति'*** *इस महाभाष्य-वचन से धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। यहां 'कृ' धातु के 'गन्धन' आदि सात अर्थ बतलाये गये हैं।*

(२२) अधेः प्रसहने।३३।

प०वि०-अधे: ५।१ प्रसहने ७।१।

अनु०-'कृञः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-प्रहसनेऽधेः कृञः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-अधि-उपसर्गपूर्वात् प्रहसनेऽर्थे वर्तमानात् कृञो धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-प्रसहनम्=क्षमाऽभिभवो वा। शत्रुमधिकुरुते।

आर्यभाषा-अर्थ-(प्रसहने) क्षमा अथवा अभिभव अर्थ में विद्यमान, (अधेः) अधि उपसर्ग से परे (कृञः) कृञ् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०-शत्रुमधिकुरुते। शत्रु को क्षमा करता है अथवा शत्रु को दबाता है।

(२३) वेः शब्दकर्मणः।३४।

प०वि०-वे: ५।१ शब्दकर्मण: ५।१।

स०-शब्दः कर्म यस्य सः-शब्दकर्म, तस्मात्-शब्दकर्मणः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'कृञः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-वेः शब्दकर्मणः कृञः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-वि-उपसर्गपूर्वात् शब्दकर्मकात् कृञो धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-क्रोष्टा स्वरान् विकुरुते।

आर्यभाषा-अर्थ-(वेः) वि उपसर्ग से परे (शब्दकर्मणि) शब्दकर्मवाली (कृञः) कृञ् धातु से (कर्तरि) कर्मवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-**क्रोष्टा स्वरान् विकुरुते।** गीदड़ स्वरों को बिगाड़ता है।*

*'शब्दकर्म' का कथन इसलिये किया है कि यहां आत्मनेपद न हो-**चित्तं विकरोति कामः।** काम चित्त को विकृत करता है।*

***सिद्धि-विकुरुते।** वि+कृ+लट्। पूर्ववत्।*

(२४) अकर्मकाच्च।३५।

प०वि०-अकर्मकात् ५ ।१ च अव्ययपदम्।

स०-न विद्यते कर्म यस्य सः-अकर्मकः, तस्मात्-अकर्मकात् (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'वेः, कृञः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-वेरकर्मकाच्च कृञः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-वि-उपसर्गपूर्वाद् अकर्मकात् कृञो धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-विकुर्वते सैन्धवाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(वेः) वि उपसर्ग से परे (अकर्मकात्) अकर्मक (कृञः) कृञ् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०-विकुर्वते सैन्धवाः। घोड़े हिनहिनाते हैं।

णीञ् प्रापणे (भ्वा०उ०)-

(२५) सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृति-विगणनव्ययेषु नियः।३६।

प०वि०-सम्मानन-उत्सञ्जन-आचार्यकरण-ज्ञान-भृति-विगणन-व्ययेषु ७।३ नियः ५।१।

स०-सम्माननं च उत्सञ्जनं च आचार्यकरणं च ज्ञानं च भृतिश्च विगणनं च व्ययश्च ते-सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययाः, तेषु-सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-सम्मानन०व्ययेषु नियः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-सम्मानोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेष्वर्थेषु वर्तमानाद् नियो धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(सम्मानने) शास्त्रे नयते। शास्त्रसिद्धान्तं शिष्येभ्यः प्रापयतीत्यर्थः। तेन च शिष्यसम्मानं फलितं भवति। (उत्सञ्जने) दण्डमुन्नयते। उत्क्षिपतीत्यर्थः। (आचार्यकरणे) माणवकमुपनयते। माणवकं विधिनाऽऽत्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः। उपनयनपूर्वकाध्यापनेन हि उपनेतरि

आचार्यत्वं क्रियते। (ज्ञाने) तत्त्वं नयते। तत्त्वं निश्चिनोतीत्यर्थः। (भृतौ) कर्मकरानुपनयते। भृतिदानेन तान् स्वसमीपं प्रापयतीत्यर्थः। (विगणने) करं विनयते। विगणनम्=ऋणादेर्निर्यातनम्। राज्ञे देयं भागं परिशोधयतीत्यर्थः। (व्यये) शतं विनयते। धर्मार्थं शतं विनुयङ्क्ते इत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(सम्मानन०) सम्मानन, उत्सञ्जन, आचार्यकरण, ज्ञान, भृति, विगणन और व्यय अर्थ में विद्यमान (नियः) नी धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०-(सम्मानन) शास्त्रे नयते। आचार्य शास्त्रसिद्धान्त को शिष्यजनों को प्राप्त कराता है, उससे शिष्यों का सम्मान फलित होता है। (उत्सञ्जन) दण्डम् उन्नयते। दण्ड को उठाता है। (आचार्यकरण) माणवकम् उपनयते। आचार्य बालक को विधिपूर्वक अपने समीप रखता है। उपनयनपूर्वक अध्यापन से उपनेता आचार्य बनता है।[1] (ज्ञान) तत्त्वं नयते। तत्त्व का निश्चय करता है। (भृति) कर्मकरान् उपनयते। वेतन के दान से कर्मचारियों को अपने पास रखता है। (विगणन) करं विनयते। विगणन का अर्थ ऋण आदि का चुकाना है। राजा के लिये देयभाग को चुकाकर साफ करता है। (व्यय) शतं विनयते। धर्म के लिये सौ रुपये लगाता है। व्यय शब्द का अर्थ धर्मकार्य के लिये खर्च करना है।

सिद्धि-नयते। नी++लट्+। नी+शप्+त। ने+अ+त। नय्+अ+ते। नयते।

यहां 'णीञ् प्रापणे' (भ्वा०उ०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। पूर्ववत् शप् प्रत्यय है।

(२६) कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि।३७।

प०वि०-कर्तृस्थे ७।१ च अव्ययपदम्, अशरीरे ७।१ कर्मणि ७।१।

स०-कर्तरि तिष्ठतीति कर्तृस्थः, तस्मिन् कर्तृस्थे (उपपदसमासः)। न शरीरम्, अशरीरम्, तस्मिन् अशरीरे (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-'नियः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-कर्तृस्थेऽशरीरे कर्मणि च नियः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-कर्तृस्थेऽशरीरे कर्मणि च सति नियो धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-क्रोधं विनयते। मन्युं विनयते। क्रोधं मन्युं वाऽपगमयतीत्यर्थः।

---

(१) उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।। (मनुस्मृति)

आर्यभाषा-अर्थ-(कर्तृस्थे) कर्ता में अवस्थित (अशरीरे) शरीर से भिन्न (कर्मणि) कर्म होने पर (च) भी (नियः) नी धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-**क्रोधं विनयते।** क्रोध को दूर करता है। **मन्युं विनयते।** मन्यु को दूर करता है। क्रोध वा मन्यु को हटाना कोई शारीरिक कर्म नहीं है, किन्तु वह देवदत्त आदि कर्ता में अवस्थित मानसिक कर्म है।*

*सिद्धि-**विनयते।** वि+नी+लट्। वि+नी+शप्+त। वि+ने+अ+ते। विनयते।*

*यहां 'वि' उपसर्गपूर्वक '**णीञ् प्रापणे**' (भ्वादि०) धातु से '**वर्तमाने लट्**' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। पूर्ववत् शप् प्रत्यय होता है।*

क्रमु पादविक्षेपे (भ्वा०प०)-

(२७) वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः।३८।

प०वि०-वृत्ति-सर्ग-तायनेषु ७।३ क्रमः ५।१।

स०-वृत्तिश्च सर्गश्च तायनं च तानि-वृत्तिसर्गतायनानि। तेषु-वृत्तिसर्गतायनेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-वृत्तिसर्गतायनेष्वर्थेषु वर्तमानात् क्रमो धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(वृत्तौ) ऋचि क्रमतेऽस्य बुद्धिः। वृत्तिरप्रतिबन्धः। न प्रतिहन्यते, इत्यर्थः। (सर्गे) व्याकरणाध्ययनाय क्रमते। सर्ग उत्साहः। उत्सहते, इत्यर्थः। (तायने) क्रमन्तेऽस्मिन् शास्त्राणि। तायनं स्फीतता। स्फीतानि भवन्तीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(वृत्ति०) वृत्ति, सर्ग और तायन अर्थ में विद्यमान (क्रमः) क्रम धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-(वृत्ति) **ऋचि क्रमतेऽस्य बुद्धिः।** ऋग्वेद में इसकी बुद्धि गति करती है, रुकती नहीं है। वृत्ति का अर्थ न रुकना है। (सर्ग) **व्याकरणाध्ययनाय क्रमते।** व्याकरणशास्त्र के अध्ययन के लिये उत्साह करता है। सर्ग का अर्थ उत्साह है। (तायन) **क्रमन्तेऽस्मिन् शास्त्राणि।** इस सुयोग्य शिष्य में शास्त्र वृद्धि को प्राप्त होते हैं।*

*सिद्धि-**क्रमते।** क्रम्+लट्। क्रम्+शप्+त। क्रम्+अ+ते। क्रमते।*

यहां 'क्रमु पादविक्षेपे' (भ्वा०प०) धातु से 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। पूर्ववत् 'शप्' प्रत्यय है।

(२८) उपपराभ्याम्।३६।

प०वि०-उप-पराभ्याम् ५।२।

स०-उपश्च पराश्च तौ-उपपरौ। ताभ्याम्-उपपराभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-वृत्तिसर्गतायनेषु उपपराभ्यां क्रमः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-वृत्तिसर्गतायनेष्वर्थेषु वर्तमानाद् उप-परा-उपसर्गपूर्वात् क्रमो धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(वृत्तौ) उपक्रमते। पराक्रमते। **न प्रतिहन्यते इत्यर्थः।** (सर्गे) उपक्रमते। पराक्रमते। **उत्सहते इत्यर्थः।** (तायने) उपक्रमते। पराक्रमते। **स्फीतीभवतीत्यर्थः।**

आर्यभाषा-अर्थ-(वृत्ति०) वृत्ति, सर्ग और तायन अर्थ में विद्यमान (उपपराभ्याम्) उप और परा उपसर्ग से परे (क्रमः) क्रम धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०-(वृत्ति) उपक्रमते। पराक्रमते। रुकता नहीं है। (सर्ग) उपक्रमते। पराक्रमते। उत्साह करता है। (तायन) उपक्रमते। पराक्रमते। बढ़ता है।

सिद्धि-उपक्रमते। *उप+क्रम+लट्। उप+क्रम+शप्+त। उप+क्रम+अ+ते। उपक्रमते। यहां 'उप' उपसर्ग से परे 'क्रमु पादविक्षेपे' (भ्वा०प०) धातु से 'वर्तमाने लट्' से लट् प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। ऐसे ही-परा+क्रमते।* ***पराक्रमते।***

(२६) आङ उद्गमने।४०।

प०वि०-आङः ५।१ उद्गमने ७।१।

अनु०-'क्रमः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-उद्गमने आङः क्रमः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-उद्गमनेऽर्थे वर्तमानाद् आङ्-उपसर्गपूर्वात् क्रमो धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-आक्रमते आदित्यः। आक्रमते चन्द्रमाः। उदयते इत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(उद्गमने) उदय होने अर्थ में विद्यमान (आङः) आङ् उपसर्ग से परे (क्रमः) क्रम धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०-आक्रमते आदित्यः। सूर्य उदय होता है। आक्रमते चन्द्रमाः। चन्द्रमा उदय होता है।

सिद्धि-आक्रमते। आङ्+क्रम्+लट्। आ+क्रम्+शप्+त। आ+क्रम+अ+ते। आक्रमते।

यहां 'क्रमु पादविक्षेपे' (भ्वा०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में 'आत्मनेपद' आदेश 'त' होता है।

(३०) वेः पादविहरणे।४१।

प०वि०-वेः ५।१ पाद-विहरणे ७।१।

स०-पादस्य विहरणमिति पादविहरणम्, तस्मिन्-पादविहरणे (षष्ठीतत्पुरुषः)। विहरणम्=विक्षेपः।

अनु०-'क्रमः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-पादविहरणे वेः क्रमः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-पादविहरणेऽर्थे वर्तमानाद् वि-परस्मात् क्रमो धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-सुष्ठु विक्रमते वाजी। साधु विक्रमते वाजी। अश्वः साधु पादविक्षेपं करोतीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(पादविहरणे) पांव से चलने अर्थ में विद्यमान, वि उपसर्ग से परे (क्रमः) क्रम् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०-सुष्ठु विक्रमते वाजी। घोड़ा अच्छे प्रकार से चलता है। अश्व आदि की गतिविशेष को विक्रमण कहते हैं।

सिद्धि-विक्रमते। वि+क्रम्+लट्। वि+क्रम्+शप्+त। वि+क्रम्+अ+ते। विक्रमते।

यहां 'वि' उपसर्ग से परे 'क्रमु पादविक्षेपे' (भ्वा०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।

(३१) प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्।४२।

प०वि०-प्र-उपाभ्याम् ५।२ समर्थाभ्याम् ५।२।

स०-प्रश्च उपश्च तौ-प्रोपौ, ताभ्याम्-प्रोपाभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-समर्थाभ्यां प्रोपाभ्यां क्रमः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-समर्थाभ्याम्=तुल्यार्थाभ्यां प्र-उपाभ्यामुपसर्गाभ्यां परस्मात् क्रमो धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(प्रात्) प्रक्रमते भोक्तुम्। (उपात्) उपक्रमते भोक्तुम्। आरभते इत्यर्थः। आदिकर्मणि प्र-उपौ समर्थौ=तुल्यार्थौ भवतः।

आर्यभाषा-अर्थ-(समर्थाभ्याम्) समान अर्थवाले (प्र-उपाभ्याम्) प्र और उप उपसर्ग से परे (क्रमः) क्रम् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०-(प्र) प्रक्रमते भोक्तुम्। खाना आरम्भ करता है। आदिकर्म=क्रिया को आरम्भ करने अर्थ में प्र और उप उपसर्ग समानार्थक होते हैं।

*सिद्धि-प्रक्रमते। प्र+क्रम्+लट्। पूर्ववत्। ऐसे ही-**उपक्रमते**।*

(३२) अनुपसर्गाद् वा।४३।

प०वि०-अनुपसर्गात् ५।१, वा अव्ययपदम्।

स०-न उपसर्ग इति अनुपसर्गः, तस्मात्-अनुपसर्गात् (नञ्तत्पुरुषः)

अनु०-'क्रमः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अनुपसर्गात् कृञः कर्तरि वाऽऽत्मनेपदम्।

अर्थः-अनुपसर्गात्=उपसर्गरहितात् क्रमो धातोः परो कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-क्रमते। क्रामति। गच्छतीत्यर्थः।

***आर्यभाषा-अर्थ**-(अनुपसर्गात्) उपसर्ग से रहित (क्रमः) क्रम् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (वा) विकल्प से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।*

उदा०-क्रमते। क्रामति।

*सिद्धि-(१) **क्रमते**। क्रम्+लट्। क्रम्+शप्+त। क्रम्+अ+ते। क्रमते। यहां '**क्रमु पादविक्षेपे**' (भ्वा०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' होता है।*

*(२) **क्रामति**। क्रम्+लट्। क्रम्+शप्+तिप्। क्रम्+अ+ति। क्राम्+अ+ति। क्रामति।*

*यहां '**क्रमु पादविक्षेपे**' (भ्वा०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है। '**क्रमः परस्मैपदेषु**' (७।३।७६) से 'क्रम्' धातु को दीर्घ होता है।*

ज्ञा अवबोधने (क्र्या०प०)–

(३३) अपह्नवे ज्ञः ।४४।

प०वि०–अपह्नवे ७ ।१ ज्ञः ५ ।१ ।

अर्थः–अपह्नवे=अपलापेऽर्थे वर्तमानाद् ज्ञा-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति ।

उदा०–शतमपजानीते । सहस्रमपजानीते । शतं सहस्रं वाऽपलपतीत्यर्थः ।

आर्यभाषा–अर्थ–(अपह्नवे) मिथ्याभाषण अर्थ में विद्यमान (ज्ञः) ज्ञा धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०–शतम् अपजानीते। सौ रुपये के लिये मिथ्याभाषण करता है। सहस्रम् अपजानीते। हजार रुपये के लिये झूठ बोलता है। अप उपसर्गपूर्वक ज्ञा धातु मिथ्याभाषण अर्थ में प्रयुक्त होती है।

सिद्धि–अपजानीते। अप+ज्ञा+लट्। अप+जा+श्ना+त। अप+ज्ञा+ना+त। अप+जा+नी+ते। अपजानीते।

यहां 'ज्ञा अवबोधने' (क्र्या०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश और 'क्र्यादिभ्यः श्ना' (३ ।१ ।८१) से 'श्ना' प्रत्यय होता है। 'ज्ञाजनोर्जा' (७ ।३ ।७९) से 'ज्ञा' के स्थान में 'जा' आदेश और 'ई हल्यघोः' (६ ।४ ।११३) से 'श्ना' के 'आ' को 'ई' आदेश होता है।

(३४) अकर्मकाच्च ।४५।

प०वि०–अकर्मकात् ५ ।१ च अव्ययपदम् ।

स०–न विद्यते कर्म यस्य सः-अकर्मकः, तस्मात्-अकर्मकात् (बहुव्रीहिः) ।

अनु०–'ज्ञः' इत्यनुवर्तते ।

अन्वयः–अकर्मकाच्च ज्ञः कर्तरि आत्मनेपदम् ।

अर्थः–अकर्मकात्=अकर्मकक्रियावचनात् ज्ञा-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति ।

उदा०–सर्पिषो जानीते । मधुनो जानीते । **सर्पिषो मधुनो वा उपायेन भोजने प्रवर्तते इत्यर्थः । सर्पिः=घृतम् ।**

आर्यभाषा-अर्थ-(अकर्मकात्) अकर्मक क्रियावाची (ज्ञः) ज्ञा धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०-सर्पिषो जानीते। मधुनो जानीते। घृत/मधु के कारण भोजन में प्रवृत्त होता है।

सिद्धि-जानीते। ज्ञा+लट्। ज्ञा+श्ना+तु। जानीते। पूर्ववत्।

*विशेष-प्रश्न-यहां ज्ञा धातु अकर्मक कैसे हैं? उत्तर-यहां सर्पि अथवा मधु ज्ञेय रूप में विवक्षित नहीं है किन्तु ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति करने में करणरूप में विवक्षित है। इसलिये **'सर्पिषो जानीते'** यहां **'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे'** (२।३।५१) से षष्ठी विभक्ति होती है।*

(३५) सम्प्रतिभ्यामनाध्याने।४६।

प०वि०-सम्+प्रतिभ्याम् ५।१ अनाध्याने ७।१।

स०-सं च प्रतिश्च तौ सम्प्रती, ताभ्याम्-संप्रतिभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। उत्कण्ठापूर्वकं स्मरणम्-आध्यानम्, न आध्यानम् इति अनाध्यानम्, तस्मिन्-अनाध्याने (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-'ज्ञः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अनाध्याने सम्प्रतिभ्यां ज्ञः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-अनाध्याने (उत्कण्ठापूर्वकेऽस्मरणे)ऽर्थे वर्तमानात् सम्प्रतिभ्याम् उपसर्गाभ्यां परस्माद् ज्ञा-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(सम्) शतं संजानीते। सहस्रं संजानीते। शतं सहस्रं वाऽवेक्षते इत्यर्थः। **(प्रति)** शतं प्रतिजानीते। सहस्रं प्रतिजानीते। शतं सहस्रं वा अङ्गीकरोतीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनाध्याने) उत्कण्ठापूर्वक स्मरण न करने अर्थ में विद्यमान (सम्प्रतीभ्याम्) सम् और प्रति उपसर्ग से परे (ज्ञः) ज्ञा धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद आदेश होता है।

उदा०-(सम्) शतं संजानीते। सहस्रं संजानीते। सौ अथवा हजार को ठीक जानता है। (प्रति) शतं प्रतिजानीते। सहस्रं प्रतिजानीते। सो अथवा हजार प्रतिज्ञा करता है।

*विशेष-प्रश्न-यहां उत्कण्ठापूर्वक स्मरण अर्थ का किसलिये निषेध किया है? उत्तर-यहां आत्मनेपद न हो-**मातुः संजानाति बालः। पितुः संजानाति बालः।** बालक माता अथवा पिता को उत्कण्ठापूर्वक स्मरण करता है।*

वद व्यक्तायां वाचि (भ्वा०प०)-

(३६) भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः ।४७।

प०वि०-भासन-उपसंभाषा-ज्ञान-यत्न-विमति-उपमन्त्रणेषु ७।३ वदः ५।१।

स०-भासनं च उपसंभाषा च ज्ञानं च यत्नश्च विमतिश्च उपमन्त्रणं च तानि-भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणानि, तेषु-भासनोपसंभाषा-ज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-भासन०उपमन्त्रणेषु वदः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-भासन-उपसंभाषा-ज्ञान-यत्न-विमति-उपमन्त्रणेष्वर्थेषु वर्तमानाद् वदो धातोः कर्तरि आत्मनेपदम् भवति।

उदा०-(भासने) व्याकरणशास्त्रे वदते। भासमानः= दीप्यमानस्तत्र-पदार्थान् व्यक्तीकरोतीत्यर्थः। **(उपसंभाषायाम्)** कर्मकरानुपवदते। उपसान्त्वयतीत्यर्थः। **उपसंभाषा**=उपसान्त्वनम्। **(ज्ञाने)** व्याकरणे वदते। जानाति वदितुमित्यर्थः। **ज्ञानम्**=सम्यगवबोधः। **(यत्ने)** क्षेत्रे वदते। तत्र उत्सहते इत्यर्थः। **यत्नः**=उत्साहः। **(विमतौ)** क्षेत्रे विवदन्ते। गेहे विवदन्ते। तत्र विमतिपतिता विचित्रं भाषन्ते इत्यर्थः। **विमतिः**=नानामतिः। **(उपमन्त्रणे)** कुलभार्यामुपवदते। परदारानुपवदते। उपच्छन्दयतीत्यर्थः। **उपमन्त्रणम्**=रहस्युपच्छन्दनम्।

__आर्यभाषा-अर्थ-__(भासन०) भासन, उपसंभाषा, ज्ञान, यत्न, विमति और उपमन्त्रण अर्थ में विद्यमान (वदः) वद् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-**(भासन)** व्याकरणशास्त्रे वदते। व्याकरणशास्त्र में दीप्यमान होकर उसके पदार्थों को प्रकाशित करता है। **(उपसंभाषा)** कर्मकरानुपवदते। नौकरों को सान्त्वना प्रदान करता है। **(ज्ञान)** व्याकरणशास्त्रे वदते। व्याकरणशास्त्र को बोलना जानता है। **(यत्न)** क्षेत्रे वदते। क्षेत्रविषयक उत्साह को प्रकट करता है। **(विमति)** क्षेत्रे विवदन्ते। खेत में नानामति में पड़े हुये विचित्र भाषण करते हैं। **(उपमन्त्रण)** कुलभार्यामुपवदते। कुलभार्या को बहकाता है। **परदारानुपवदते।** परदारा को फुसलाता है।*

__सिद्धि-वदते।__ वद्+लट्। वद्+शप्+त। वद्+अ+ते। वदते। यहां भासन आदि अर्थ में वद धातु से आत्मनेपद 'त' प्रत्यय है।

(३७) व्यक्तवाचां समुच्चारणे।४८।

प०वि०-व्यक्तवाचाम् ६।३ समुच्चारणे ७।१।

स०-व्यक्ता वाचो येषां ते व्यक्तवाचः, तेषाम्-व्यक्तवाचाम् (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'वदः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-व्यक्तवाचां समुच्चारणे वदः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-व्यक्तवाचाम्=मनुष्याणां समुच्चारणे=सहोच्चारणेऽर्थे वर्तमानाद् वद-धातोः कर्तरि आत्मनेपदम् भवति।

उदा०-सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः। सम्प्रवदन्ते क्षत्रियाः। मिलित्वा वेदमन्त्रादिकमुच्चारयन्तीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(व्यक्तवाचाम्) व्यक्तवाणीवाले मनुष्यों के (समुच्चारणे) साथ उच्चारण करने अर्थ में विद्यमान (वदः) वद् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-**सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः।** ब्राह्मण मिलकर मन्त्रोच्चारण करते हैं। सम्प्रवदन्ते क्षत्रियाः। क्षत्रिय मिलकर मन्त्रोच्चारण करते हैं।*

*सिद्धि-**सम्प्रवदन्ते।** सम+प्र+वद्+लट्। सम्+प्र+वद्+शप्+झ। सम्+प्र+वद्+अ+अन्ते। सम्प्रवदन्ते। यहां सम्-प्र उपसर्गपूर्वक मनुष्यों के समुच्चारण अर्थ में वद् धातु से लट् प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद में झ-आदेश होता है। 'झोऽन्तः' (७।१।३) से 'झ' के स्थान में अन्त आदेश होता है।*

(३८) अनोरकर्मकात्।४९।

प०वि०-अनोः ५।१ अकर्मकात् ५।१

स०-न विद्यते कर्म यस्य सः-अकर्मकः, तस्मात्-अकर्मकात् (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'वदः, व्यक्तवाचाम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-व्यक्तवाचाम् अनोरकर्मकाद् वदः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-व्यक्तवाग्विषयाद् अकर्मकाद् वद-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०–अनुवदते कठः कलापस्य। अनुवदते मौद्गः पैप्पलादस्य। **अनुः** सादृश्येऽर्थे वर्तते। यथा कलापोऽधीयानो वदति तथा कठ इति। यथा च पैप्पलादोऽधीयानो वदति तथा मौद्ग इति।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(व्यक्तवाचाम्) मनुष्यवाणी विषयक, (अनोः) अनु उपसर्ग से परे (अकर्मकात्) अकर्मक क्रियावाची (वदः) वद् धातु से परे (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०–__अनुवदते कठः कलापस्य।__ जैसे अध्ययन करता हुआ कलाप बोलता है, वैसे ही कठ बोलता है। अनुवदते मौद्गः पैप्लादस्य। जैसे पढ़ता हुआ पैप्लाद बोलता है, वैसे ही मौद्ग बोलता है। यहां 'अनु' शब्द सदृश अर्थ का वाचक है।

__सिद्धि-अनुवदते।__ अनु+वद्+लट्। अनु+वद्+शप्+त। अनु+वद्+अ+ते। अनुवदते। यहां अनु उपसर्गपूर्वक अकर्मक वद् धातु से लट् प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश है।

(३६) विभाषा विप्रलापे।५०।

प०वि०–विभाषा १।१ विप्रलापे ७।१।

अनु०–'वदः, व्यक्तवाचां समुच्चारणे' इत्यनुवर्तते।

अर्थः–विप्रलापात्मके व्यक्तवाचां समुच्चारणेऽर्थे वर्तमानाद् वद-धातोर्विकल्पेन कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०–विप्रवदन्ते सांवत्सराः। विप्रवदन्ति सांवत्सराः। युगपत् परस्परविरोधेन विरुद्धं वदन्तीत्यर्थः।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(विप्रलापे) परस्पर विरुद्ध कथन आत्मक (व्यक्तवाचाम्) मनुष्यों के (समुच्चारणे) साथ उच्चारण करने अर्थ में विद्यमान (वदः) वद् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०–विप्रवदन्ते सांवत्सराः। विप्रवदन्ति सांवत्सराः। सांवत्सरिक (ज्योतिषी) लोग एकदम परस्पर प्रतिषेधपूर्वक विरुद्ध बोलते हैं।

__सिद्धि-(१) विप्रवदन्ते।__ वि+प्र+वद्+लट्। वि+प्र+वद्+शप्+झ। वि+प्र+वद्+अन्ते। विप्रवदन्ते। यहां वि-प्र उपसर्गपूर्वक विप्रलाप अर्थ में वद् धातु से लट् प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद झ-आदेश है। 'झोऽन्तः' (७।१।३) से (झ) के स्थान में अन्त-आदेश होता है।

__(२) विप्रवदन्ति।__ वि+प्र+वद्+लट्। वि+प्र+वद्+झि। वि+प्र+वद्+अन्ति। विप्रवदन्ति। यहां वि-प्र उपसर्गपूर्वक विप्रलाप अर्थक वद् धातु से विकल्प पक्ष में लट् के स्थान में परस्मैपद झि-आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

गॄ निगरणे (तु०प०)–

(४०) अवाद् ग्रः।५१।

प०वि०–अवात् ५ ।१ ग्रः ५ ।१

अन्वयः–अवाद् ग्रः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः–अव–उपसर्गपूर्वाद् गॄ–धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०–अवगिरते। निगिरतीत्यर्थः।

***आर्यभाषा–अर्थ**–(अवात्) अव उपसर्ग से परे (ग्रः) गॄ धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।*

उदा०–अवगिरते। निगलता है।

***सिद्धि–(१) अवगिरते।** अव+गॄ+लट्। अव+गॄ+श+त। अव+गॄ+अ+त। अव+ग् इर्+अ+ते। अवगिरते।*

यहां 'गॄ निगरणे' (तु०प०) धातु से लट् प्रत्यय, और उसके स्थान में आत्मनेपद त–आदेश होता है। 'तुदादिभ्यः शः' (३।१।७७) से 'श' विकरण प्रत्यय है। 'ॠत इद्धातोः' (७।१।१००) से धातु के 'ॠ' को 'इ' आदेश और वह 'उरण् रपरः' (१।१।५१) से रपर है–इर्।

***विशेष**–'गॄ निगरणे' यह धातु तुदादिगण में पढ़ी गई है और 'गॄ शब्दे' यह धातु क्र्यादिगण में पढ़ी गई है। यहां तुदादिगण में पठित 'गॄ निगरणे' का ग्रहण होता है क्योंकि 'गॄ शब्दे' का अव उपसर्गपूर्वक प्रयोग नहीं है।*

(४१) समः प्रतिज्ञाने।५२।

प०वि०–समः ५ ।१ प्रतिज्ञाने ७ ।१।

अनु०–'ग्रः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–प्रतिज्ञाने समः ग्रः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः–प्रतिज्ञानेऽर्थे वर्तमानात् सम्–उपसर्गपूर्वाद् गॄ–धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०–शब्दं नित्यं संगिरते। प्रतिजानातीत्यर्थः। प्रतिज्ञानमभ्युपगमः, स्वीकरणम्।

***आर्यभाषा–अर्थ**–(प्रतिज्ञाने) स्वीकार करने अर्थ में विद्यमान, (समः) सम् उपसर्ग से परे (ग्रः) गॄ धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है। शब्दं नित्यं संगिरते। 'शब्द नित्य है' ऐसी प्रतिज्ञा करता है।*

सिद्धि-संगिरते। सम्+गॄ+लट्। सम्+गॄ+श+त। सम्+गिर्+अ+ते। संगिरते। यहां सम् उपसर्गपूर्वक प्रतिज्ञान अर्थ में 'गॄ' धातु से लट् प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४२) उदश्चरः सकर्मकात्।५३।

प०वि०-उदः ५।१। चरः ५।१ सकर्मकात् ५।१।

स०-कर्मणा सहेति सकर्मकः, तस्मात्-सकर्मकात् (बहुव्रीहिः)

अन्वयः-सकर्मकाद् उदश्चरः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-सकर्मकक्रियावचनाद् उत्-उपसर्गपूर्वात् चर-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-धर्ममुच्चरते। गुरुवचनमुच्चरते। उल्लङ्घ्य गच्छतीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(सकर्मकात्) सकर्मक क्रियावाची, (उदः) उत् उपसर्ग से परे (चरः) चर् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०-धर्ममुच्चरते। धर्म का उल्लंघन करता है। गुरुवचनमुच्चरते। गुरुवचन का उल्लंघन करता है।

सिद्धि-उच्चरते। उत्+चर्+लट्। उत्+चर्+शप्+त। उत्+चर्+अ+ते। उच्चरते। यहां उत् उपसर्गपूर्वक सकर्मक चर धातु से लट् प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद त-आदेश है।

(४३) समस्तृतीयायुक्तात्।५४।

प०वि०-समः ५।१ तृतीयायुक्तात् ५।१।

स०-तृतीयया युक्त इति तृतीयायुक्तः, तस्मात्-तृतीयायुक्तात् (तृतीयातत्पुरुषः)।

अनु०-'चरः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-तृतीयायुक्तात् समश्चरः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-तृतीयाविभक्तियुक्तात् सम्-उपसर्गात् चर-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-रथेन संचरते। अश्वेन संचरते। रथेनाऽश्वेन वा भ्रमतीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(तृतीयायुक्तात्) तृतीया विभक्ति से युक्त (समः) सम् उपसर्ग से परे (चरः) चर् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-**रथेन संचरते।** रथ से घूमता है। **अश्वेन संचरते।** घोड़े से भ्रमण करता है।*

*सिद्धि-**संरचते।** सम्+चर्+लट्। सम्+चर्+शप्+त। सम्+चर्+अ+ते। संचरते। यहां सम् उपसर्गपूर्वक तृतीया विभक्ति से युक्त चर् धातु से लट् प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद त-आदेश है।*

दाण् दाने (भ्वा०प०)-

(४४) दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे।५५।

प०वि०-दाणः ५।१ च अव्ययपदम्। सा १।१। चेत् अव्ययपदम्। चतुर्थी-अर्थे ७।१।

अनु०-'समः, तृतीयायुक्तात्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-तृतीयायुक्तात् समो दाणश्च कर्तरि आत्मनेपदं सा तृतीया चतुर्थ्यर्थे चेत्।

अर्थः-तृतीयाविभक्तियुक्तात् सम्-उपसर्गपूर्वाद् दाण्-धातोरपि कर्तरि आत्मनेपदं भवति, यदि सा तृतीया चतुर्थी-अर्थे भवति।

उदा०-दास्या सम्प्रयच्छते। कामुकः सन् दास्यै ददातीत्यर्थः। कथं पुनस्तृतीया चतुर्थी-अर्थे स्यात्। वक्तव्यमेवैतत्- **'अशिष्टव्यवहारे तृतीया चतुर्थ्यर्थे भवतीति वक्तव्यम्'** इति।

आर्यभाषा-अर्थ-(तृतीयायुक्तात्) तृतीया विभक्ति से युक्त (समः) सम् उपसर्ग से परे (दाणः) दाण् धातु से (च) भी (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है। (चेत्) यदि (सा) वह तृतीया विभक्ति (चतुर्थी-अर्थे) चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में विद्यमान हो।

*उदा०-**दास्याः सम्प्रयच्छते।** कामुक होकर दासी को कुछ देता है।*

*सिद्धि-(१) **सम्प्रयच्छते।** सम्+प्र+दाण्+लट्। सम्+प्र+दा+शप्+त। सम्+प्र+यच्छ्+अ+ते। सम्प्रयच्छते। यहां सम् और प्र उपसर्गपूर्वक 'दाण् दाने' (भ्वा०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। 'पाघ्राध्मा०' (७।३।७८) से 'दाण्' के स्थान में 'यच्छ्' आदेश है।*

विशेष-प्रश्न-तृतीया विभक्ति, चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में कैसे होती है ?
उत्तर-अशिष्ट व्यवहार में तृतीया विभक्ति चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में होती है।

उपाद् यमः स्वकरणे।५६।

प०वि०-उपात् ५।१ यमः ५।१ स्वकरणे ७।१।

अन्वयः-स्वकरणे उपाद् यमः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-स्वकरणेऽर्थे वर्तमानाद् उप-उपसर्गपूर्वाद् यमो धातोः परः कर्तरि आत्मनेपदं भवति। पाणिग्रहणरूपमिह स्वकरणं गृह्यते न स्वकरणमात्रम्।

उदा०-भार्यामुपयच्छते देवदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-*(स्वकरणे) अपना बनाने अर्थ में (उपः) उप-उपसर्ग से परे (यमः) यम धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है। यहां पाणिग्रहणरूप स्वकरण अर्थ का ग्रहण किया जाता है, केवल स्वकरणमात्र नहीं।*

*उदा०-**भार्यामुपयच्छते देवदत्तः।** देवदत्त पत्नी को अपनाता है (विवाह करता है)।*

सिद्धि-*उपयच्छते। उप+यम्+लट्। यप+यच्छ्+शप्+त। उप+यच्छ्+अ+ते। उपयच्छते। यहां 'इषुगमियमां छः' (७।३।७७) से यम् के 'म्' को 'छ' आदेश होता है।*

(४५) ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः।५७।

प०वि०-ज्ञा-श्रु-स्मृ-दृशाम्, पञ्चमी-अर्थे ६।३ सनः ५।१।

स०-ज्ञाश्च श्रुश्च स्मृश्च दृश् च ते-ज्ञाश्रुस्मृदशः, तेषाम्-ज्ञाश्रुस्मृदशाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-सनः ज्ञाश्रुस्मृदृशां कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-सन्नन्तेभ्यो ज्ञा-श्रु-स्मृ-दृश्भ्यो धातुभ्यः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-**(ज्ञा)** धर्मं जिज्ञासते। ज्ञातुमिच्छतीत्यर्थः। **(श्रु)** गुरुं शुश्रूषते। श्रोतुमिच्छतीत्यर्थः। **(स्मृ)** नष्टं सुस्मूर्षते। स्मर्तुमिच्छतीत्यर्थः। **(दृश्)** राजानं दिदृक्षते। द्रष्टुमिच्छतीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-*(सनः) सन् प्रत्ययान्त (ज्ञा-श्रु-स्मृ-दशाम्) ज्ञा, श्रु, स्मृ **और** दृश् धातुओं से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।*

उदा०-(ज्ञा) धर्मं जिज्ञासते। धर्म को जानना चाहता है। (श्रु) गुरुं शुश्रूषते। गुरु की शुश्रूषा=सेवा करना चाहता है। (स्मृ) नष्टं सुस्मूर्षते। भूले हुये को याद करना चाहता है। (दृश्) राजानं दिदृक्षते। राजा को देखना चाहता है।

*सिद्धि-(१) जिज्ञासते। यहां 'ज्ञा अवबोधने' धातु से '**धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा**' (३।१।७) से 'सन्' प्रत्यय, 'सन्यङोः' (६।१।९) से धातु को द्विर्वचन और अभ्यास-कार्य होकर 'जिज्ञास' सन्नन्त धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।*

*(२) **शुश्रूषते।** यहां '**श्रु श्रवणे**' धातु से पूर्ववत् 'सन्' प्रत्यय और '**अज्झनगमां सनि**' (६।४।१६) से धातु को दीर्घ होता है। शेष सब कार्य पूर्ववत् है।*

*(३) **सुस्मूर्षते।** यहां '**स्मृ चिन्तायाम्**' धातु से पूर्ववत् 'सन्' प्रत्यय और द्विर्वचन होकर 'अज्झनगमां सनि' (६।४।१६) से धातु को दीर्घ, उसे '**उदोष्ठ्यपूर्वस्य**' (७।१।१०२) से उकार आदेश '**र्वोरुपधाया दीर्घ इकः**' (८।२।७६) से दीर्घ '**आदेशप्रत्यययोः**' (८।३।५९) से षत्व होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*(४) **दिदृक्षते।** यहां '**दृशिर् प्रेक्षणे**' धातु से पूर्ववत् सन् प्रत्यय, धातु को द्विर्वचन, अभ्यास कार्य, 'उरत्' (७।४।६६) से अभ्यास के 'ऋ' को अकार आदेश और उसे 'सन्यतः' (७।४।७९) से इकार आदेश होता है। 'व्रश्चभ्रस्ज०' (८।२।३६) से 'दृश्' धातु के 'श्' को षकार आदेश और उसको 'षढोः कः सि' (८।२।४१) से ककार आदेश होकर 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से 'षत्व' हो जाता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

(४६) नानोर्ज्ञः ।५८।

प०वि०-न अव्ययपदम् अनोः ५।१ ज्ञः ५।१।

अनु०-'सन्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अनोर्ज्ञः सनः कर्तरि आत्मनेपदं न।

अर्थः-अनु-उपसर्गात् सन्नन्ताद् ज्ञा-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं न भवति।

उदा०-पुत्रमनुजिज्ञासति। आज्ञापयितुमिच्छतीत्यर्थः।

*आर्यभाषा-**अर्थ**-(अनोः) अनु उपसर्ग से परे (सनः) सन् प्रत्ययान्त (ज्ञः) ज्ञा धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद (न) नहीं होता है।*

*उदा०-**पुत्रमनुजिज्ञासति।** पुत्र को आज्ञा देना चाहता है।*

*सिद्धि-**अनुजिज्ञासति।** यहां अनु उपसर्गपूर्वक सन्नन्त ज्ञा धातु से आत्मनेपद का प्रतिषेध होने से लट् के स्थान में तिप्-आदेश होता है। शेष कार्य '**जिज्ञासते**' के समान है।*

(४७) प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः ।५९।

प०वि०-प्रति-आङ्भ्याम् ५।२ श्रुवः ५।१।

स०-प्रतिश्च आङ् च तौ प्रत्याङौ, ताभ्याम्-प्रत्याङ्भ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'न, सनः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-प्रत्याङ्भ्यां सनः श्रुवः कर्तरि आत्मनेपदं न।

अर्थः-प्रत्याङ्भ्यां परस्मात् सन्नन्तात् श्रु-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं न भवति।

उदा०-(**प्रतेः**) प्रतिशुश्रूषति। (**आङः**) आशुश्रूषति। प्रतिज्ञातुमिच्छतीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(प्रत्याङ्भ्याम्) प्रति और आङ् उपसर्ग से परे (सनः) सन् प्रत्ययान्त (ज्ञः) ज्ञा धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद (न) नहीं होता है, अपितु परस्मैपद होता है।

उदा०-(प्रति) प्रतिशुश्रूषति। प्रतिज्ञा करना चाहता है। (आङ्) आशुश्रूषति। प्रतिज्ञा करना चाहता है।

सिद्धि-प्रतिशुश्रूषति। *प्रतिशुश्रूष+लट्। प्रतिशुश्रूष+शप्+तिप्। प्रतिशुश्रूष+अ+ति। प्रतिशुश्रूषति।*

*यहां 'प्रति' उपसर्गपूर्वक '**श्रु श्रवणे**' (स्वादि०) सन्नन्त धातु से पूर्ववत् 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश है। ऐसे ही-**आशुश्रूषति।***

शद्लृ शातने (भ्वा०प०)-

(४८) शदेः शितः।६०।

प०वि०-शदेः ५।१ शितः ६।१।

स०-श इत् यस्य सः-शित्, तस्य-शितः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-शितः शदेः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-शित्-प्रत्ययसम्बन्धिनः शद-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-शीयते। तीक्ष्णं करोतीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(शितः) शित् प्रत्यय से सम्बन्धित (शदेः) शद् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०-शीयते। तीक्ष्ण करता है।

सिद्धि-शीयते। *शद्लृ+लट्। श द्+शप्+त। शद्+अ+त। शीय्+अ+ते। शीयते।*

यहां 'शद्लृ शातने' (भ्वा०प०) धातु से लट् प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। यहां 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' विकरण प्रत्यय होने से शद् धातु शित् प्रत्यय से सम्बन्धित है। 'पाघ्राध्मा०' (अ०७।३।७८) से 'शद्' के स्थान में 'शीय्' आदेश होता है।

मृङ् प्राणत्यागे (तु०आ०)–

(४६) म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च।६१।

प०वि०–म्रियते: ५।१। लुङ्-लिङो: ६।२ च अव्ययपदम्।

स०–लुङ् च लिङ् च तौ लुङ्लिङौ, तयो:-लुङ्लिङो: (इतरेतरयोगद्वन्द्व:)।

अनु०–'शित:' इत्यनुवर्तते।

अन्वय:–लुङ्लिङो: शितश्च म्रियते: कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थ:–लुङ्-लिङ्सम्बन्धिन: शित्प्रत्ययसम्बन्धिनश्च मृ-धातो: कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा–**(लुङ्)** अमृत। **(लिङ्)** मृषीष्ट। **(शित्)** म्रियते।

*आर्यभाषा-**अर्थ**-(लुङ्लिङो:) लुङ्, लिङ्सम्बन्धी (शित:, च) और शित् प्रत्यय सम्बन्धी (म्रियते:) मृ धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।*

उदा०-(लुङ्) अमृत। मर गया। (लिङ्) मृषीष्ट। मरे। (शित्) म्रियते। मरता है।

***सिद्धि**-(१) अमृत। मृ+लुङ्। अट्+मृ+च्लि+त। अ+मृ+सिच्+त। अट्+मृ+स्+त। अ+मृ+०+त। अमृत।*

यहां 'मृङ् प्राणत्यागे' (तु०आ०) धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से लुङ् प्रत्यय, और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। 'च्लि लुङि' (३।१।४३) से 'च्लि' प्रत्यय, 'च्ले: सिच्' (३।१।४४) से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश और 'ह्रस्वादङ्गात्' (८।२।२७) से 'सिच्' के सकार का लोप होता है।

(२) मृषीष्ट। मृ+लिङ्। मृ+सीयुट्+त। मृ+सीय्+सुट्+त। मृ+सी+स्+त। मृ+षी+ष्+ट। मृषीष्ट।

यहां 'मृङ् प्राणत्यागे' (तु०आ०) धातु से 'विधिनिमन्त्रणा०' (३।३।१६१) से लिङ्ग' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। 'लिङ: सीयुट्' (३।४।१०२) से 'सीयुट्' आगम और 'सुट् तिथो:' (३।४।१०७) से 'त' को सुट् आगम होता है। 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) से 'य्' का लोप, 'आदेश-प्रत्यययो:' (८।३।५९) से षत्व और 'ष्टुना ष्टु:' (८।४।४१) से टुत्व होता है।

(३) म्रियते। मृ+लट्। मृ+श+त। मृ+अ+त। म् रिङ्+अ+त। म् रि+अ+त। म् रियङ्+अ+त। म्रिय्+अ+ते। म्रियते।

*यहां 'मृङ् प्राणत्यागे' (तु०आ०) धातु से **'वर्तमाने लट्'** से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। 'तुदादिभ्यः शः' (३।१।७७) से विकरण 'श' प्रत्यय होने से मृ धातु शित् प्रत्यय से सम्बन्धित है। 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' (७।४।२८) से 'मृ' धातु को 'रिङ्' आदेश और उसको 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०' (६।४।७७) से 'इयङ्' आदेश होता है।*

विशेष-मृङ् धातु से 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (१।३।१२) से आत्मनेपद सिद्ध था, फिर यह आत्मनेपद का विधान इस नियम के लिये है कि लुङ्, लिङ्, और शित् प्रत्यय से सम्बन्धित मृङ् धातु से ही आत्मनेपद हो, अन्यत्र न हो।

सन्नन्त-धातुः–

(५०) पूर्ववत् सनः।६२।

प०वि०-पूर्ववत् अव्ययपदम्। सनः ५।१।

पूर्वेण तुल्यमिति पूर्ववत् (तद्धितवृत्तिः)।

अन्वयः-सनः पूर्ववत् कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-सनः पूर्वो यो धातुरात्मनेपदी, तेन तुल्यं सन्नन्तादपि कर्तरि आत्मनेपदं भवति। येन निमित्तेन पूर्वं धातोरात्मनेपदं विधीयते तेनैव निमित्तेन सन्नन्तादप्यात्मनेपदं भवतीत्यर्थः।

उदा०-**(आस्)** आस्ते। आसिसिषते। **(शीङ्)** शेते। शिशयिषते।

आर्यभाषा-अर्थ-(पूर्ववत्) सन् प्रत्यय से पूर्व जो धातु आत्मनेपदी है उसके समान (सनः) सन् प्रत्ययान्त धातु से भी (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-(आस्) आस्ते। बैठता है। सन्-आसिसिषते। बैठना चाहता है। **(शीङ्)** शेते। सोता है। सन्-शिशयिषते। सोना चाहता है।*

*सिद्धि-(१) **आसिसिषते।** आस्+सन्। आस्+इट्+स। आस्+इ+स। आसिष। आ सि+सि+ष। आसिसिष+लट्। आसिसिष+शप्+त। आसिसिष+अ+ते। आसिसिषते।*

*यहां **'आस् उपवेशने'** (अ०आ०) धातु आत्मनेपदी है। उसी निमित्त से, सन् प्रत्यय करने पर भी 'आस्' धातु से 'लट्' प्रत्यय के स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। यहां **'सन्यङोः'** (६।१।९) से धातु को द्विर्वचन की विधि होने पर **'अजादेर्द्वितीयस्य'** (६।१।२) से द्वितीय एकाच् अवयव को द्विर्वचन होता है।*

*(२) **शिशयिषते।** **'शीङ् स्वप्ने'** (अ०आ०) धातु आत्मनेपदी है। उसी निमित्त से 'सन्' प्रत्यय करने पर भी 'शीङ्' धातु से आत्मनेपद ही होता है।*

अनुप्रयोगी कृञ् (तना०उ०)–

(५१) आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य।६३।

प०वि०–आम्प्रत्ययवत् अव्ययपदम्, कृञः ५।१ अनुप्रयोगस्य ६।१।

स०–आम्प्रत्ययो यस्मात् सः–आम्प्रत्ययः। आम्प्रत्ययस्य इव आम्प्रत्ययवत् (पूर्वं बहुव्रीहिः, तत इवार्थे वतिः प्रत्ययः)।

अन्वयः–अनुप्रयोगस्य कृञ आम्प्रत्ययवत् कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः–अनुप्रयोगस्य कृञ्–धातोराम्प्रत्ययवत् कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०–एधांचक्रे। ईहांचक्रे।

आर्यभाषा–अर्थ–(अनुप्रयोगस्य) अनुप्रयोगवाली (कृञः) कृञ् धातु से आम्प्रत्ययवत् आम् प्रत्यय के समान (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०–एधांचक्रे। वह बढ़ा। ईहांचक्रे। उसने प्रयत्न किया।

सिद्धि–(१) एधांचक्रे। एध्+लिट्। एध्+आम्+ल्। एध्+आम्+ल्+कृ+लिट्। एध्+आम्+कृ+त। एध्+आम्+कृ+कृ+त। एध्+आम्+क+कृ+एश्। एध्+आम्+च+कर्+ए। एधांचक्रे।

यहां 'एध वृद्धौ' (भ्वा०आ०) धातु आत्मनेपदी है। उससे 'लिट्' प्रत्यय के परे रहने पर 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (३।१।३६) से 'आम्' प्रत्यय होता है। तत्पश्चात् 'कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि' (३।१।४०) से 'कृञ्' धातु का अनुप्रयोग होता है। यहां 'आम्' प्रत्यय आत्मनेपदी धातु से किया गया है अतः अनुप्रयोगी 'कृञ्' धातु से भी आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' (३।४।८१) से 'त' के स्थान में 'एश्' आदेश होता है। 'उरत्' (७।४।६६) से अभ्यास 'ऋ' को अकार आदेश और 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५४) से चर्त्व होता है। इसी प्रकार 'ईह चेष्टायाम्' (भ्वादि० आ०) धातु से 'ईहांचक्रे' शब्द सिद्ध करें।

युजिर् योगे (रु०प०)–

(५२) प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु।६४।

प०वि०–प्र–उपाभ्याम् ५।२ युजेः ५।१ अयज्ञपात्रेषु ७।३।

स०–प्रश्च उपश्च तौ प्रोपौ, ताभ्याम्–प्रोपाभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः) यज्ञस्य पात्राणीति यज्ञपात्राणि, न यज्ञपात्राणीति अयज्ञपात्राणि, तेषु–अयज्ञपात्रेषु (षष्ठीतत्पुरुषगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अन्वयः–अयज्ञपात्रेषु प्रोपाभ्यां युजेः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-अयज्ञपात्रप्रयोगविषये प्र-उपाभ्याम् उपसर्गाभ्यां परस्माद् युज-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(प्र) प्रयुङ्क्ते। **(उप)** उपयुङ्क्ते।

आर्यभाषा-अर्थ-*(अयज्ञपात्रेषु) यज्ञपात्रों के प्रयोग विषय को छोड़कर (प्रोपाभ्याम्) प्र और उप उपसर्ग से परे (युजः) युज् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) होता है।*

उदा०-(प्र) प्रयुङ्क्ते। प्रयोग करता है। उपयुङ्क्ते। उपयोग करता है।

सिद्धि-(१) प्रयुङ्क्ते। *प्र+युज्+लट्। प्र+यु श्नम् ज्+त। प्र+यु न ज्+त। प्र+यु न् ज्+त। प्र+यु न् ज्+त। प्र+यु न् ग्+त। प्र+युन्क्+त। प्र+यु ं क्+ते। प्रयुङ्क्ते।*

*यहां प्र उपसर्गपूर्वक **'युजिर् योगे'** (रु०प०) से लट् प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। यहां **'रुधादिभ्यः श्नम्'** (३।१।७८) से 'श्नम्' विकरण प्रत्यय और 'श्नसोरल्लोपः' (६।४।१११) से 'अ' का लोप, **'चोः कुः'** (८।२।३०) से युज् धातु के ज् को कवर्ग गकार और **'खरि च'** (८।४।५४) से ग् को चर् ककार होता है। **'नश्चापदान्तस्य झलि'** (८।३।२४) से 'न्' को अनुस्वार आदेश और उसको **'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः'** (८।४।५७) से परसवर्ण ङकार होता है। इसी प्रकार उप+युङ्क्ते=उपयुङ्क्ते।*

क्ष्णु तेजने (अ०प०)-

समः क्ष्णुवः।६५।

प०वि०-समः ५।१ क्ष्णुवः ५।१।

अन्वयः-समः क्ष्णुवः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-सम उपसर्गात् परस्मात् क्ष्णु-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(सम्) संक्ष्णुते शस्त्रम्। तीक्ष्णं करोतीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-*(समः) सम् उपसर्ग से परे (क्ष्णुवः) क्ष्णु धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।*

उदा०-सम्-संक्ष्णुते शस्त्रम्। शस्त्र को तेज करता है।

सिद्धि-(१) संक्ष्णुते। *सम्+क्ष्णु+लट्। सम्+क्ष्णु+शप्+त। सम्+क्ष्णु+०+ते। संक्ष्णुते।*

*यहां 'सम्' उपसर्गपूर्वक **'क्ष्णु तेजने'** (अ०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। **'अदिप्रभृतिभ्यः शपः'** (२।४।७२) से 'शप्' का लुक् हो जाता है।*

भुज पालनाभ्यवहारयोः–

भुजोऽनवने।६६।

प०वि०–भुजः ५।१ अनवने ७।१।

स०–अवनम्=रक्षणम्। न अवनमिति अनवनम्, तस्मिन-अनवने (नञ्तत्पुरुषः)।

अन्वयः–अनवने भुजः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः–अनवनेऽर्थे वर्तमानाद् भुज्-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०–ओदनं भुङ्क्ते। अभ्यवहरतीत्यर्थः। 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' इति रुधादिगणे पठ्यते। तस्मादनवने=अपालने (अभ्यवहारे) अर्थे आत्मनेपदं विधीयते।

आर्यभाषा-अर्थ-*(अनवने) खाने-पीने अर्थ में वर्तमान (भुजः) भुज् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।*

उदा०–ओदनं भुङ्क्ते। भात खाता है।

सिद्धि-भुङ्क्ते। *भुज्+लट्। भु श्नम् ज्+त। भु न ज्+त। भुन् ज्+त। भुन् ग्+त। भु न् क् +त। भु ं क्+ते। भुङ्क्ते।*

यहां 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' (रु०आ०) धातु से अभ्यवहार अर्थ में 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। शेष कार्य प्रयुङ्क्ते (अ० १।३।६४) के समान है।

ण्यन्तो धातुः–

णेरणौ यत् कर्म णौ चेत् स कर्ताऽनाध्याने।६७।

प०वि०–णेः ५।१ अणौ ७।१ यत् १।१ कर्म १।१ णौ ७।१ चेत् अव्ययपदम्, कर्ता १।१ अनाध्याने ७।१।

स०–न णिरिति अणिः, तस्मिन्–अणौ (नञ्तत्पुरुषः)। उत्कण्ठापूर्वकं स्मरणम् आध्यानम्, न आध्यानमिति अनाध्यानम्, तस्मिन्-अनाध्याने (नञ्तत्पुरुषः)।

अन्वयः–अनाध्याने णेः कर्तरि आत्मनेपदम्, अणौ यत् कर्म, णौ चेत् स कर्ता।

अर्थः-अनाध्यानेऽर्थे वर्तमानाद् णेः=णिजन्ताद् धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति, अणौ=अण्यन्तावस्थायां यत् कर्म णौ=ण्यन्तावस्थायां चेद्=यदि स कर्ता भवति।

उदा०-(**अणौ**) आरोहन्ति **हस्तिनं** हस्तिपकाः। (**णौ**) आरोहयते **हस्ती** स्वयमेव।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनाध्याने) उत्कण्ठापूर्वक स्मरण न करने अर्थ में विद्यमान (णेः) णिजन्त धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है, (अणौ) अणिजन्त अवस्था में (यत्) जो (कर्म) है, (णौ) णिजन्त अवस्था में (चेत्) यदि (सः) वह (कर्ता) कर्ता बन जाता है।

*उदा०-(अण्यन्त) आरोहन्ति **हस्तिनं** हस्तिपकाः। पीलवान हाथी पर चढ़ते हैं। **(ण्यन्त) आरोहयते** हस्ती स्वयमेव। हाथी पीलवानों को स्वयं चढ़ाता है।*

सिद्धि-*(१) **आरोहयते**। आङ्+रुह्+णिच्। आ+रोह्+इ। आरोहि+लट्। आरोहि+शप्+त। आरोहे+अ+ते। आरोहयते।*

यहां आङ्पूर्वक 'रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च' (भ्वा०प०) धातु से 'हेतुमति च' (३।१।२६) 'णिच्' प्रत्यय, 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से धातु को लघूपध गुण होकर णिजन्त धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।

*(२) यहां अण्यन्त अवस्था में जो '**हस्तिनम्**' कर्म है वह ण्यन्त अवस्था में '**हस्ती**' कर्ता बन जाता है।*

*(३) अनाध्यान अर्थात् उत्कण्ठापूर्वक स्मरण अर्थ का इसलिये निषेध किया है कि यहां आत्मनेपद न हो-**स्मरति वनगुल्मस्य कोकिलः**। कोयल वन-झाड़ी को उत्कण्ठापूर्वक स्मरण करती है। **स्मरयत्येनं वनगुल्मः स्वयमेव**। वन झाड़ी इसे स्वयं स्मरण कराती है।*

ञिभी भये/स्मिङ् ईषद्हसने (भ्वा०आ०)-

भीस्म्योर्हेतुभये।६८।

प०वि०-भी-स्म्योः पञ्चमी-अर्थे ६।२ हेतुभये ७।१।

स०-भीश्च स्मिश्च तौ भीस्मी, तयोः-भीस्म्योः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। हेतोर्भयमिति हेतुभयम्, तस्मिन्-हेतुभये (पञ्चमीतत्पुरुषः)।

अनु०-'णेः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-हेतुभये णेः भीस्म्योः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-हेतुभयेऽर्थे वर्तमानाभ्यां णिजन्ताभ्यां भी-स्मिभ्यां धातुभ्यां कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

हेतुः=प्रयोजकः कर्ता लकारवाच्यः, ततश्चेद् भयं भवति।

उदा०-(भी) जटिलो भीषयते। **(स्मि)** जटिलो विस्मापयते। अत्र भयग्रहणमुपलक्षणार्थम्, विस्मयोऽपि तत एव।

आर्यभाषा-अर्थ- *(हेतुभये) हेतु से भय अर्थ में विद्यमान (णेः) णिजन्त (भीस्म्योः) भी और स्मि धातुओं से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।*

उदा०- ***(भी)*** *जटिलो भीषयते। जटावाला डराता है।* ***(स्मि)*** *जटिलो विस्मापयते। जटावाला विस्मित (चकित) करता है।*

सिद्धि-(१) ***भीषयते।*** *भी+णिच्। भी+षुक्+इ। भी+ष्+इ। भीषि+लट्। भीषि+शप्+त। भीषि+अ+त। भीषे+अ+ते। भीषयते।*

यहां ***'ञिभी भये'*** *(जु०प०) धातु से* ***'हेतुमति च'*** *(३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय और* ***'भियो हेतुभये षुक्'*** *(७।३।४०) से 'षुक्' आगम होकर णिजन्त भीषि धातु से 'लट्' प्रतयय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।*

(२) ***विस्मापयते।*** *वि+स्मि+णिच्। वि+स्मि+इ। वि+स्मा+पुक्+इ। वि+स्मा+प्+इ। विस्मापि+शप्+त। विस्मापे+अ+ते। विस्मापयते।*

यहां वि उपसर्गपूर्वक ***'स्मिङ् ईषद्हसने'*** *(भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय और* ***'नित्यं स्मयतेः'*** *(६।१।५७) से धातु को नित्य आकार आदेश और* ***'अर्तिह्रीब्ली०'*** *(७।३।३६) से 'पुक्' आगम करने पर णिजन्त 'विस्मापि' धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।*

गृधु अभिकाङ्क्षायाम्, वञ्चु गतौ (भ्वा०प०)-

गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने।६८।

प०वि०-गृधि-वञ्च्योः, पञ्चमी-अर्थे ६।२ प्रलम्भने। ७।१।

स०-गृधिश्च वञ्चिश्च तौ-गृधिवञ्ची, तयोः-गृधिवञ्च्योः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-णेरित्यनुवर्तते।

अन्वयः-प्रलम्भने णेर्गृधिवञ्च्योः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-प्रलम्भनेऽर्थे वर्तमानाभ्यां णिजन्ताभ्यां गृधि-वञ्चिभ्यां धातुभ्यां कर्तरि आत्मनेपदं भवति। प्रगल्भनम्=प्रतारणम्।

उदा०-(गृधि) माणवकं गर्धयते। **(वञ्चि)** माणवकं वञ्चयते। प्रतारयतीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(प्रलम्भने) ठगने अर्थ में विद्यमान (णेः) णिजन्त (गृधि-वञ्च्योः) गृधि और वञ्चि धातुओं से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०-माणवकं गर्धयते। माणवकं वञ्चयते। बालक को ठगता है।

*सिद्धि-(१) **गर्धयते**। गृधु+णिच्। गर्ध्+इ। गर्धि+लट्। गर्धि+शप्+त। गर्धे+अ+ते। गर्धयते।*

*यहां गृधु अभिकाङ्क्षायाम् (दि०प०) धातु से प्रथम **'हेतुमति च'** (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय, तत्पश्चात् णिजन्त गर्धि धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। इसी प्रकार **'वञ्चु गतौ'** (भ्वा०प०) धातु से-वञ्चयते।*

लीङ् श्लेषणे (दि०आ०)-

लियः सम्माननशालीनीकरणयोश्च।७०।

प०वि०-लियः ५।१ सम्मानन-शालीनीकरणयोः ७।२। च अव्ययपदम्।

स०-सम्माननं च शालीनीकरणं च ते-सम्माननशालीनीकरणे, तयोः-सम्माननशालीनीकरणयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'णेः, प्रलम्भने' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-सम्माननशालीनीकरणयोश्च णेर्लियः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-सम्मानने शालीनीकरणे प्रलम्भने चार्थे वर्तमानात् णिजन्तात् ली-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(सम्मानने) जटाभिरालापयते। सम्माननम्=पूजा। पूजामधिगच्छतीत्यर्थः। **(शालीनीकरणे)** श्येनो वर्तिकामुल्लापयते। शालीनीकरणम्=न्यग्भावनम्। न्यक् करोतीत्यर्थः। **(प्रलम्भने)** माणवकमुल्लापयते। प्रलम्भनम्=प्रतारणम्। प्रतारयतीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(सम्मानन-शालीनीकरणयोः) सम्मानन, शालीनीकरण (प्रलम्भने च) और ठगने अर्थ में वर्तमान (णेः) णिजन्त (लियः) ली धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-(सम्मानन) जटाभिरालापयते। जटाओं से पूजा को **प्राप्त होता है।** (शालीनीकरण) श्येनो वर्तिकामुल्लापयते। बाज़ बटेर को दबाता है। **(प्रलम्भन)** माणवकमुल्लापयते। बालक को ठगता है/बहकाता है।*

*सिद्धि-(१) **उल्लापयते। उत्+ली+णिच्। उत्+ला+इ। उत्+ला+पुक्+इ। उल्लापि+लट्। उल्लापि+शप्+त। उल्लापे+अ+ते। उल्लापयते।***

यहां 'लीङ् श्लेषणे' (दि०आ०) धातु से प्रथम 'हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय, 'विभाषा लीयतेः' (६।१।५१) से धातु को आकार आदेश, 'अर्तिह्रीव्लीo' (७।३।३६) से धातु को 'पुक्' का आगम होकर णिजन्त 'उल्लापि' धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।

डुकृञ् करणे (तना०उ०)–

मिथ्योपपदात् कृञोऽभ्यासे।७१।

प०वि०–मिथ्या-उपपदात् ५।१ कृञः ५।१ अभ्यासे ७।१।

स०–मिथ्या उपपदं यस्य सः–मिथ्योपपदः, तस्मात्–मिथ्योपपदात् (बहुव्रीहिः)।

अनु०–'णेः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–अभ्यासे मिथ्योपपदात् णेः कृञः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः–अभ्यासेऽर्थे वर्तमानाद् मिथ्या-उपपदात् णिजन्तात् कृञ्-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति। अभ्यासः=पुनः-पुनः करणम्, आवृत्तिः।

उदा०–पदं मिथ्या कारयते। पदं स्वरादिदुष्टमसकृदुच्चारयतीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अभ्यासे) बार-बार करने अर्थ में विद्यमान (णेः) णिजन्त (कृञः) कृञ् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है। अभ्यास शब्द का अर्थ बार-बार करना अथवा आवृत्ति है।

*उदा०–पदं **मिथ्या कारयते**। एक पद को अनेक बार अशुद्ध उच्चारण करता है।*

स्वरितेत्, ञिच्च धातुः–

स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले।७२।

प०वि०–स्वरित-ञितः ५।१ कर्तृ-अभिप्राये ७।१ क्रिया-फले ७।१।

स०–स्वरितश्च ञश्च तौ स्वरितञौ। इच्च इच्च तौ इतौ। स्वरितञौ इतौ यस्य स स्वरितञित्, तस्मात्–स्वरितञितः (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)। कर्तारमभिप्रैतीति कर्त्रभिप्रायः, तस्मिन् कर्त्रभिप्राये (उपपदतत्पुरुषः)। क्रियायाः फलमिति क्रियाफलम्, तस्मिन्–क्रियाफले (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अन्वयः–क्रियाफले कर्त्रभिप्राये स्वरितञितः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-क्रियाफले कर्त्रभिप्राये सति स्वरितेतो ञितश्च धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-(स्वरितेतः) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु (भ्वा०उ०) यजते। **(ञितः)** षुञ् अभिषवे (स्वा०उ०) सुनुते।

आर्यभाषा-अर्थ-(क्रियाफले) क्रियाफल (कर्त्रभिप्राये) कर्ता को अभिप्रेत होने पर (स्वरितञितः) स्वरितेत् और ञित् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

उदा०-(स्वरितेत्) 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' (भ्वादि०उ०) यजते। अपने स्वर्ग आदि फल के लिये यज्ञ करता है। (ञित्) षुञ् अभिषवे (स्वा०उ०) सुनुते। अपने लिये सवन करता है। सवन=सोम आदि ओषधियों का रस निकालना।

सिद्धि-(१) यजते। यज्+लट्। यज्+शप्+त। यज्+अ+ते। यजते।

यहां 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' (भ्वा०उ०) स्वरितेत् धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।

(२) सुनुते। सु+लट्। सु+श्नु+त। सु+नु+ते। सुनुते।

यहां 'षुञ् अभिषवे' (स्वा०उ०) ञित् धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। 'स्वादिभ्यः श्नुः' (३।१।७३) से श्नु विकरण प्रत्यय है।

विशेष-पाणिनिमुनि के धातुपाठ में उदात्तेत्, अनुदात्तेत् और स्वरितेत् भेद से तीन प्रकार की धातु पढ़ी है। उदात्तेत् का अर्थ परस्मैपदी धातु है। अनुदात्तेत् का अर्थ आत्मनेपदी धातु है। स्वरितेत् का अर्थ उभयपदी धातु है। यदि क्रिया का फल कर्ता को अभप्रेत हो तो स्वरितेत् धातु से आत्मनेपद हो जाता है; अन्यथा परस्मैपद होता है।

इसी प्रकार पाणिनिमुनि के धातुपाठ में कुछ धातु ञित् पढ़ी गई हैं। यदि क्रिया का फल कर्त्ता को अभिप्रेत हो तो ञित् धातु से आत्मनेपद हो जाता है; अन्यथा परस्मैपद होता है।

वद व्यक्तायां वाचि (भ्वा०प०)-

अपाद् वदः।७३।

प०वि०-अपात् ५।१ वदः ५।१।

अनु०-'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-क्रियाफले कर्त्रभिप्रायेऽपाद्वदः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-क्रियाफले कर्त्रभिप्राये सति अपात् परस्मात् वद-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-धनकामो न्यायमपवदते।

आर्यभाषा-अर्थ-(क्रियाफले) क्रिया का फल (कर्त्रभिप्राये) कर्ता को अभिप्रेत होने पर (अपात्) अप उपसर्ग से परे (वद:) वद् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-धनकामो **न्यायमपवदते**। धन की कामनावाला न्याय का खण्डन करता है।*

***सिद्धि-अपवदते**। अप+वद्+लट्। अप+वद्+शप्+त। अप+वद्+अ+ते। अपवदते।*

*यहां अप उपसर्ग से परे **'वद व्यक्तायां वाचि'** (भ्वा०प०) धातु से लट् प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।*

णिजन्तो धातुः—

णिचश्च।७४।

प०वि०-णिच: ५।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-क्रियाफले कर्त्रभिप्राये णिचश्च कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थ:-क्रियाफले कर्त्रभिप्राये सति णिजन्ताद् धातो: कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-कटं कारयते। ओदनं पाचयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(क्रियाफले) क्रिया का फल (कर्त्रभिप्राये) कर्ता को अभिप्रेत होने पर (णिच:) णिजन्त धातु से (कर्तरि) कर्तवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-कटं **कारयते**। वह अपने लिये चटाई बनवाता है। ओदनं **पाचयते**। वह अपने लिये भात पकवाता है।*

***सिद्धि-कारयते**। कृ+णिच्। कृ+इ। कार्+इ। कारि+लट्। कारि+शप्+त। कारे+अ+ते। कारयते।*

*यहां **'डुकृञ् करणे'** (त०उ०) धातु से प्रथम **'हेतुमति च'** (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय और **'अचो ञ्णिति'** (७।२।११५) से कृ धातु को वृद्धि होकर णिजन्त कारि धातु से लट् प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।*

*इसी प्रकार **'डुपचष् पाके'** (भ्वा०उ०) धातु से-**पाचयते**। यहां पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय करने पर पच् धातु को **'अत उपधायाः'** (७।२।११६) से वृद्धि होती है।*

यम उपरमे (दि०प०)—

समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे।७५।

प०वि०-सम्-उद्-आङ्भ्य: ५।३ यम: ५।१ अग्रन्थे ७।१।

स०-सम् च उत् च आङ् च ते-समुदाङ:, तेभ्य:-समुदाङ्भ्य:

(इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। न ग्रन्थ इति अग्रन्थः, तस्मिन्-अग्रन्थे (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-कर्त्रभिप्राये क्रियाफले समुदाङ्भ्यो यमः कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-क्रियाफले कर्त्रभिप्राये सति **सम्-उत्-आङ्भ्यः** परस्माद् यम-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति। यदि ग्रन्थविषयकः प्रयोगो न भवति।

उदा०-(सम्) व्रीहीन् संयच्छते। (उदः) भारम् उद्यच्छते। (आङ्) वस्त्रमायच्छते।

आर्यभाषा-अर्थ-(क्रियाफले) क्रिया का फल (कर्त्रभिप्राये) कर्ता को अभिप्रेत होने पर (समुदाङ्भ्यः) सम्, उत् और आङ् उपसर्ग से परे (यमः) यम् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है (अग्रन्थे) यदि वहां ग्रन्थविषयक प्रयोग न हो।

*उदा०-(सम्) **व्रीहीन् संयच्छते।** चावलों को इकट्ठा करते हैं। उत्-**भारमुद्यच्छते।** भार को उठाता है। आङ्-**वस्त्रमायच्छते।** वस्त्र को फैलाता है।*

*सिद्धि-(१) **संयच्छते।** सम्+यम्+लट्। सम्+यम्+शप्+त। सम्+यच्छ्+अ+ते। संयच्छते।*

*यहां सम् उपसर्ग से परे **'यम उपरमे'** (दि०प०) धातु से लट् प्रत्यय करने पर उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। **'इषुगमियमां छः'** (७।३।७७) से 'यम्' धातु के 'म्' को 'छ्' आदेश होता है। इसी प्रकार उत् और आङ्पूर्वक 'यम्' धातु से-**उद्यच्छते** तथा **आयच्छते।***

*(२) **आयच्छते।** यहां 'आङो यमहनः' (१।३।२८) से आत्मनेपद सिद्ध था। सकर्मक से आत्मनेपद के लिये यह पुनर्वचन किया गया है।*

(३) ग्रन्थविषयक प्रयोग का निषेध इसलिये किया गया है कि यहां आत्मनेपद न हो-**उद्यच्छति चिकित्सां वैद्यः।** वैद्य चिकित्साशास्त्र को उठाता है।

ज्ञा अवबोधने (क्र्या०प०)-

अनुपसर्गाज्ज्ञः।७६।

प०वि०-अनुपसर्गात् ५।१ ज्ञः ५।१।

स०-न उपसर्गोऽनुपसर्गः, तस्मात्-अनुपसर्गात् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-कर्त्रभिप्राये क्रियाफलेऽनुपसर्गाज्ज्ञ आत्मनेपदम्।

अर्थः-क्रियाफले कर्त्रभिप्राये सति, उपसर्गरहिताद् ज्ञा-धातोः कर्तरि आत्मनेपदं भवति।

उदा०-गां जानीते। अश्वं जानीते।

आर्यभाषा-अर्थ-(क्रियाफले) क्रिया का फल (कर्त्रभिप्राये) कर्ता को अभिप्रेत होने पर (अनुपसर्गात्) उपसर्ग से रहित (ज्ञः) ज्ञा-धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

*उदा०-**गां जानीते।** अपनी गौ को जानता है। **अश्वं जानीते।** अपने घोड़े को जानता है।*

*सिद्धि-(१) **जानीते।** ज्ञा+लट्। ज्ञा+श्ना+त। जा+ना+त। जा+नी+ते। जानीते।*

यहां 'ज्ञा अवबोधने' (क्रया०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।

उपपदेन प्रतीतिः--

विभाषोपपदेन प्रतीयमाने।७७।

प०वि०-विभाषा १।१ उपपदेन ३।१ प्रतीयमाने ७।१।

अनु०-'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-क्रियाफले कर्त्रभिप्राये उपपदेन प्रतीयमाने धातुभ्यो विभाषा कर्तरि आत्मनेपदम्।

अर्थः-क्रियाफले कर्त्रभिप्राये इत्युपपदेन प्रतीयमाने सति पंचसूत्रोक्तेभ्यो धातुभ्यो विकल्पेन कर्तरि आत्मनेपदं भवति। यथा-

(१) **'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' स्वरितेतः**-स्वं यज्ञं यजते। स्वं यज्ञं यजति। **ञितः**-स्वं कटं कुरुते। स्वं कटं करोति।

(२) **'अपाद् वदः' वदः**-स्वं पुत्रमपवदते। स्वं पुत्रमपवदति।

(३) **'णिचश्च'** स्वं कटं कारयते। स्वं कटं कारयति। स्वमोदनं पाचयते। स्वमोदनं पाचयति।

(४) **'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे' सम्**-स्वान् व्रीहीन् संयच्छते। स्वान् व्रीहीन् संयच्छति। **उत्**-स्वं भारमुद्यच्छते। स्वं भारमुद्यच्छति। **आङ्**-स्वं वस्त्रमायच्छते। स्वं वस्त्रमायच्छति।

(५) **'अनुपसर्गाज्ज्ञः'** स्वां गां जानीते। स्वां गां जानाति। स्वमश्वं जानीते। स्वमश्वं जानाति।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(क्रियाफले) क्रिया के फल (कर्त्रभिप्राये) कर्ता को अभिप्रेत होने (उपपदेन) उपपद शब्द से (प्रतीयमाने) प्रतीति हो जाने पर पूर्व के पांच सूत्रों में विहित धातुओं से (विभाषा) विकल्प से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है। जैसे-

(१) स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले। स्वरितेत्-स्वं यज्ञं यजते। स्वं यज्ञं यजति। अपना यज्ञ करता है। ञित्-स्वं कटं कुरुते। स्वं कटं करोति। अपनी चटाई बनाता है।

(२) अपाद् वदः। वद-स्वं पुत्रमपवदते। स्वं पुत्रमपवदति। अपने पुत्र के विरुद्ध बोलता है।

(३) णिचश्च। स्वं कटं कारयते। स्वं कटं कारयति। अपनी चटाई बनवाता है। स्वमोदनं पाचयते। स्वमोदनं पाचयति। अपना भात पकवाता है।

(४) समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे। सम्-स्वान् व्रीहीन् संयच्छते। स्वान् व्रीहीन् संयच्छति। अपने चावलों को इकट्ठा करता है। उत्-स्वं भारमुद्यच्छते। स्वं भारमुद्यच्छति। अपने भार को उठाता है। आङ्-स्वं वस्त्रमायच्छति। अपने वस्त्र को फैलाता है।

(५) अनुपसर्गाज्ज्ञः। स्वां गां जानीते। स्वां गां जानाति। अपनी गौ को पहचानाता है। स्वमश्वं जानीते। स्वमश्वं जानाति। अपने घोड़े को जानता है।

परस्मैपदप्रकरणम्

शेष-धातुः—

शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्।७८।

प०वि०-शेषात् ५।१ कर्तरि ७।१ परस्मैपदम् १।१। उक्तादन्यः शेषः, तस्मात्-शेषात्।

अन्वयः-शेषाद् धातोः कर्तरि परस्मैपदम्।

अर्थः-शेषाद् धातोः कर्तरि परस्मैपदं भवति।

उदा०-भवति। याति। वाति। प्रविशति।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(शेषात्) पूर्वोक्त से अन्य शेष धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है।

उदा०-याति। जाता है। वाति। चलता है। प्रविशति। प्रवेश करता है।

__सिद्धि-(१)__ भवति। भू+लट्। भू+शप्+तिप्। भू+अ+ति। भो+अ+ति। भव्+अ+ति। भवति।

*यहां 'भू सत्तायाम्' (भ्वा०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है। इसी प्रकार '**या प्रापणे**' (अ०प०) तथा '**वा गतिगन्धनयोः**' (अ०प०) धातु से याति और वाति शब्द सिद्ध होते हैं।*

***विशेष-(१) 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** (१।३।१२) से जो आत्मनेपद का विधान किया गया है, भू, या और वा धातु उदात्तेत् होने से उससे शेष (अन्य) हैं, अतः इनसे परस्मैपद होता है।*

***(२) नेर्विशः** (१।३।१७) से नि उपसर्ग से परे विश् धातु से आत्मनेपद का विधान किया है। प्र उपसर्गपूर्वक विश् धातु उससे शेष (अन्य) है। अतः उससे परस्मैपद होता है। प्र+विशति=प्रविशति।*

***विशेष-प्रश्न- 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे'** (१।३।१४) से '**कर्तरि**' पद की अनुवृत्ति है ही, फिर यहां '**शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्**' में '**कर्तरि**' पद का ग्रहण क्यों किया गया है?*

*उत्तर-यहां '**कर्तरि**' पद का पुनः ग्रहण इसलिये किया गया है कि जो कर्ता ही कर्ता है। अर्थात् शुद्ध कर्ता है, वहां परस्मैपद हो, किन्तु जो कर्मकर्ता है अर्थात् कर्म से कर्ता बना है, वहां परस्मैपद न हो, अपितु वहां आत्मनेपद हो। देवदत्त **ओदनं पचति। पच्यते ओदनं स्वयमेव।** भात अपने आप ही पक रहा है।*

डुकृञ् करणे (त०उ०)-

अनुपराभ्यां कृञः।७६।

प०वि०-अनु-पराभ्याम् ५।२ कृञः ५।१।

स०-अनुश्च पराश्च तौ अनुपरौ, ताभ्याम्-अनुपराभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'कर्तरि, परस्मैपदम्' इत्यनुवर्तते, आपादसमाप्तेः।

अन्वयः-अनुपराभ्यां कृञः कर्तरि परस्मैपदम्।

अर्थः-अनुपराभ्यां परस्मात् कृञ्-धातोः कर्तरि परस्मैपदं भवति।

उदा०-(अनु) अनुकरोति। अनुकरणं करोतीत्यर्थः। **(परा)** पराकरोति। दूरं करोतीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनुपराभ्याम्) अनु और परा उपसर्ग से परे (कृञः) कृञ् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है।

*उदा०-**(अनु) अनुकरोति।** अनुकरण करता है। **(परा) पराकरोति।** दूर करता है।*

सिद्धि-अनुकरोति। अनु+कृ+लट्। अनु+कृ+उ+तिप्। अनु+कर्+ओ+ति। अनुकरोति।

यहां 'अनु' उपसर्ग से परे 'डुकृञ् करणे' (त०उ०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है। यहां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से 'कृ' धातु और 'उ' विकरण प्रत्यय को गुण होता है। ऐसे ही-परा+करोति=पराकरोति।

क्षिप प्रेरणे (तु०उ०)-

अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः ।८०।

प०वि०-अभि-प्रति-अतिभ्यः ५।३ क्षिपः ५।१।

स०-अभिश्च प्रतिश्च अतिश्च ते-अभिप्रत्यतयः, तेभ्यः-अभिप्रत्यतिभ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः कर्तरि परस्मैपदम्।

अर्थः-अभि-प्रति-अतिभ्यः परस्मात् क्षिप-धातोः कर्तरि परस्मैपदं भवति।

उदा०-(अभि) अभिक्षिपति। समक्षं क्षिपतीत्यर्थः। **(प्रति)** प्रतिक्षिपति। विरुद्धं क्षिपतीत्यर्थः। **(अति)** अतिक्षिपति। अधिकं क्षिपतीत्यर्थः।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(अभि-प्रति-अतिभ्यः) अभि, प्रति और अति उपसर्ग से परे (क्षिपः) क्षिप् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है।

*उदा०-अभि-**अभिक्षिपति**। सामने फैंकता है। प्रति-**प्रतिक्षिपति**। उलटा फैंकता है। अति-अतिक्षिपति। अधिक फैंकता है।*

__सिद्धि-अभिक्षिपति__। अभि+क्षिप्+लट्। अभि+क्षिप्+श+तिप्। अभि+क्षिप्+अ+ति। अभिक्षिपति।

यहां अभि उपसर्ग से परे 'क्षिप प्रेरणे' (तु०उ०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है। 'तुदादिभ्यः शः' ३।१।७७) से 'श' विकरण प्रत्यय होता है। प्रति+क्षिपति=प्रतिक्षिपति। अति+क्षिपति=अतिक्षिपति।

वह प्रापणे (भ्वा०उ०)-

प्राद् वहः ।८१।

प०वि०-प्रात् ५।१ वहः ५।१।

अनु०-प्राद् वहः कर्तरि परस्मैपदम्।

अर्थः-प्रात् परस्माद् वह-धातोः कर्तरि परस्मैपदं भवति।

उदा०-(प्र) प्रवहति। जोर से बहता है।

*सिद्धि-**प्रवहति**। प्र+वह्+लट्। प्र+वह्+शप्+तिप्। प्र+वह्+ अ+ति। प्रवहति।*

*यहां 'प्र' उपसर्ग से परे **'वह प्रापणे'** (भ्वा०उ०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है।*

मृष तितिक्षायाम् (दि०उ०)–

परेर्मृषः।८२।

प०वि०-परेः ५।१ मृषः ५।१।

अन्वयः-परेर्मृषः कर्तरि परस्मैपदम्।

अर्थः०-परेः परस्माद् मृष-धातोः कर्तरि परस्मैपदं भवति।

उदा०-(परि) परिमृष्यति। सर्वतस्तितिक्षते इत्यर्थः।

***आर्यभाषा-अर्थ**-(परेः) परि उपसर्ग से परे (मृषः) मृष् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है।*

*उदा०-(परि) **परिमृष्यति**। सब ओर से सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का सहन करता है।*

*सिद्धि-**परिमृष्यति**। परि+मृष्+लट्। परि+मृष्+श्यन्+तिप्। परि+मृष्+य+ति। परिमृष्यति।*

*यहां 'परि' उपसर्ग से परे **'मृष तितिक्षायाम्'** (दि०उ०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है। यहां **'दिवादिभ्यः श्यन्'** (३।१।७८) से 'श्यन्' विकरण प्रत्यय है।*

रमु क्रीडायाम् (भ्वा०आ०)–

व्याङ्परिभ्यो रमः।८३।

प०वि०-वि-आङ्-परिभ्यः ५।३ रमः ५।१।

स०-विश्च आङ् च परिश्च ते-व्याङ्परयः, तेभ्यः-व्याङ्परिभ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)

अन्वयः-व्याङ्परिभ्यो रमः कर्तरि परस्मैपदम्।

अर्थः-वि-आङ्-परिभ्यः परस्मात् रम-धातोः कर्तरि परस्मैपदं भवति।

उदा०-(वि) विरमति। तिष्ठतीत्यर्थः। **(आङ्)** आरमति। विश्रामं करोतीत्यर्थः। **(परि)** परिरमति। सर्वतो रमतीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(व्याङ्परिभ्यः) वि, आङ् और परि उपसर्ग से परे (रमः) रम् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है।

*उदा-(वि) **विरमति।** ठहरता है। **आङ्-आरमति।** विश्राम करता है। **परि-परिरमति।** सब ओर खेलता है।*

*सिद्धि-**विरमति।** वि+रम्+लट्। वि+रम्+शप्+तिप्। वि+रम्+अ+ति। विरमति।*

*यहां 'वि' उपसर्ग से परे '**रमु क्रीडायाम्**' (भ्वा०आ०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है। ऐसे ही-आङ्+रमति=आरमति। परि+रमति=परिरमति।*

उपाच्च।८४।

प०वि०-उपात् ५।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-'रमः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-उपाच्च रमः कर्तरि परस्मैपदम्।

अर्थः-उपात् परस्माद् अपि रम्-धातोः कर्तरि परस्मैपदं भवति।

उदा०-(उप) देवदत्तमुपरमति। उपरमयतीत्यर्थः। अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र रमिः।

आर्यभाषा-अर्थ-(उपात्) उप उपसर्ग से परे (च) भी (रमः) रम् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है।

*उदा०-देवदत्त**मुपरमति।** देवदत्त को हटाता है। यहां रम् धातु अन्तर्भावित णिजर्थक है।*

*सिद्धि-**उपरमति।** उप+रम्+लट्। उप+उप+रम्+शप्+तिप्। उप+रम्+अ+ति। उपरमति।*

*यहां उप उपसर्ग से परे '**रमु क्रीडायाम्**' (भ्वा०आ०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है।*

विभाषाऽकर्मकात्।८५।

प०वि०-विभाषा १।१ अकर्मकात् ५।१।

स०- न विद्यते कर्म यस्य सः-अकर्मकः, तस्मात्-अकर्मकात् (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'उपात्, रमः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अकर्मकाद् उपाद् रमः कर्तरि विभाषा परस्मैपदम्।

अर्थः-अकर्मकक्रियावचनाद् उपात् परस्माद् रम-धातोः विकल्पेन कर्तरि परस्मैपदं भवति।

उदा०-यावद्भुक्तम् उपरमति। यावद्भुक्तम् उपरमते। भोजनान्निवर्तते इत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अकर्मकात्) अकर्मक क्रियावाची, (उपात्) उप उपसर्ग से परे (रमः) रम् धातु से (विभाषा) विकल्प से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में परस्मैपद होता है। पक्ष में आत्मनेपद होता है।

*उदा०-**यावद्भुक्तम् उपरमति। यावद्भुक्तम् उपरमते।** प्रत्येक भोजन से निवृत्त होता है, भोजन नहीं करता है।*

बुधादयो धातवः-

बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः।८६।

प०वि०-बुध-युध-नश-जन-इङ्-प्रु-द्रु-स्रुभ्यः ५।३। णेः ५।१।

स०-बुधश्च युधश्च नशश्च जनश्च इङ् च प्रुश्च द्रुश्च स्रुश्च ते-बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुवः, तेभ्यः बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-णेर्बुध०स्रुभ्यः कर्तरि परस्मैपदम्।

अर्थः-णिजन्तेभ्यो बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो धातुभ्यः कर्तरि परस्मैपदं भवति।

उदा०-(**बुध**) बोधयति। (**युध**) योधयति। (**जन**) जनयति। (**इङ्**) अध्यापयति। (**प्रु**) प्रावयति। (**द्रु**) द्रावयति। (**स्रु**) स्रावयति। **'णिचश्च'** (१।३।७४) इति कर्त्रभिप्रायक्रियाफलविवक्षायामात्मनेपदे प्राप्ते, परस्मैपदं विधीयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(णेः) णिच् प्रत्ययान्त (बुध०) बुध्, युध्, नश्, जन्, इङ्, प्रु, द्रु और स्रु धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है।

*उदा०-**(बुध्)** बोधयति। जनाता है। **(युध्)** योधयति। लड़ाता है। **(नश्)** नाशयति। नाश करता है। **(जन्)** जनयति। उत्पन्न करता है। **(इङ्)** अध्यापयति। पढ़ाता है। **(प्रु)** प्रावयति। प्राप्त कराता है। **(द्रु)** द्रावयति। पिघलाता है। **(स्रु)** स्रावयति। टपकाता है।*

*सिद्धि-(१) **बोधयति।** बुध्+णिच्। बुध्+इ। बोधि+लट्। बोधि+शप्+तिप्। बोधे+अ+ति। बोधयति।*

*यहां 'बुध अवगमने' (दि०आ०) धातु से प्रथम 'हेतुमति च' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय और तत्पश्चात् णिजन्त 'बोधि' धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है। 'बुध्' धातु को 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।६।८६) से लघूपध गुण होता है। इसी प्रकार 'युध सम्प्रहारे' (दि०आ०) धातु से-**योधयति।***

*(२) **नाशयति।** यहां 'णश् अदर्शने' (दिवादि) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय करने पर 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से 'नश्' धातु के उपधा अकार को वृद्धि होती है। शेष पूर्ववत् है।*

*(३) **जनयति।** यहां 'जनी प्रादुर्भावे' (दिवादि) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय करने पर 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से जन् धातु के उपधा अकार को वृद्धि प्राप्त होती है, किन्तु 'जनिवध्योश्च' (७।३।३५) से उसका निषेध हो जाता है। शेष पूर्ववत्।*

*(४) **अध्यापयति।** अधि+इङ्+णिच्। अधि+इ+इ। अधि+आ+पुक्+इ। अध्यापि+लट्। अध्यापि+शप्+तिप्। अध्यापे+अ+ति। अध्यापयति।*

यहां अधि उपसर्गपूर्वक 'इङ् अध्ययने' (अ०आ०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय करने पर 'क्रीङ्जीनां णौ' (६।१।४८) से 'इङ्' धातु को आकार आदेश और 'अर्तिह्री०' (७।३।३६) से 'पुक्' आगम होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

*(५) **प्रावयति।** यहां 'प्रुङ् गतौ' (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय करने पर 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से 'प्रु' धातु को वृद्धि होती है। शेष कार्य पूर्ववत् है। इसी प्रकार 'द्रु गतौ' (भ्वा०प०) से 'द्रावयति' और 'स्रु गतौ' (भ्वा०न०) से **स्रावयति** शब्द सिद्ध होता है।*

विशेष-यहां 'णिचश्च' (१।३।७४) से क्रियाफल के कर्ता को अभिप्रेत होने पर 'णिचश्च' (१।३।७४) से आत्मनेपद प्राप्त था किन्तु इस सूत्र से परस्मैपद का विधान किया गया है।

निगरणचलनार्थेभ्यश्च।८७।

प०वि०-निगरण-चलनार्थेभ्यः ५।३ च अव्ययपदम्।

स०-निगरणं च चलनं च ते-निगरणचलने, निगरणचलने अर्थौ येषां ते-निगरणचलनार्थाः, तेभ्यः-निगरणचलनार्थेभ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्व-गर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-'णेः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-णेर्निगरणचलनार्थेभ्यश्च कर्तरि परस्मैपदम्।

अर्थः-णिजन्तेभ्यो निगरणार्थेभ्यश्चलनार्थेभ्यश्च धातुभ्यः कर्तरि **परस्मैपदं** भवति।

उदा०-(निगरणार्थेभ्य:) निगारयति। आशयति। भोजयति। (चलनार्थेभ्य:) चलयति। चोपयति। कम्पयति।

आर्यभाषा-अर्थ-(णे:) णिच् प्रत्ययान्त (निगरणचलनार्थेभ्य:) निगलना और चलना अर्थवाली धातुओं से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है।

*उदा०-(**निगरणार्थक**) **निगारयति**। निगलवाता है। **आशयति**। खिलाता है। **भोजयाति**। भोजन कराता है। (**चलनार्थक**) **चलयति**। चलाता है। **चोपयति**। मन्द-मन्द चलाता है। **कम्पयति**। कंपाता है।*

*सिद्धि-(१) **निगारयति**। नि+गॄ+णिच्। नि+गार्+इ। निगारि+लट्। निगारि+शप्+तिप्। निगारे+अ+ति। निगारयति।*

*यहां नि उपसर्गपूर्वक 'गॄ निगरणे' (तु०प०) धातु से '**हेतुमति च**' (३।१।२६) से 'णिच्' प्रत्यय करने पर '**अचो ञ्णिति**' (७।२।११५) से 'गॄ' धातु को वृद्धि होती है। णिजन्त 'निगारि' धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है।*

*(२) **आशयति**। यहां '**अश् भोजने**' (क्र्यादि०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय करने पर '**अत उपधाया:**' (७।२।११६) से अश् धातु की उपधा को वृद्धि होती है। शेष पूर्ववत् है।*

*(३) **भोजयति**। यहां '**भुज पालनाभ्यवहारयो:**' (रुधादि) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय करने पर '**पुगन्तलघूपधस्य च**' (७।३।८६) से 'भुज्' धातु की उपधा को गुण होता है। शेष पूर्ववत् है।*

*(४) **चलयति**। यहां '**चल गतौ**' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय करने पर '**अत उपधाया:**' (७।२।११६) से 'चल' धातु की उपधा को वृद्धि होती है, किन्तु उसे '**मितां ह्रस्व:**' (६।४।९२) से ह्रस्व हो जाता है। शेष पूर्ववत् है।*

*(५) **चोपयति**। यहां '**चुप मन्दायां गतौ**' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् णिच् प्रत्यय करने पर 'चुप्' धातु को '**पुगन्तलघूपधस्य च**' (७।३।८६) से लघूपध गुण होता है। शेष पूर्ववत् है।*

*(६) **कम्पयति**। यहां '**कपि चलने**' (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय करने पर '**इदितो नुम् धातो:**' (७।१।५८) से धातु को 'नुम्' आगम होता है। शेष पूर्ववत् है।*

अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्।८८।

प०वि०-अणौ ७।१ अकर्मकात् ५।१ चित्तवत्कर्तृकात् ५।१।

स०-न णिरिति अणि:, तस्मिन्-अणौ (नञ्तत्पुरुष:)। न विद्यते कर्म यस्य स:-अकर्मक:, तस्मात् अकर्मकात् (बहुव्रीहि:) चित्तवान् कर्ता यस्य स:-चित्तवत्कर्तृक:, तस्मात्-चित्तवत्कर्तृकात् (बहुव्रीहि:)।

अनु०-'णेः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अणावकर्मकाद् चित्तवत्कर्तृकाद् णेः कर्तरि परस्मैपदम्।

अर्थः-अण्यन्तावस्थायां यो धातुरकर्मकः, चित्तवत्कर्तृकश्च तस्माद् ण्यन्ताद् धातोः कर्तरि परस्मैपदं भवति।

उदा०-आस्ते देवदत्तः। आसयति देवदत्तम्। शेते देवदत्तः। शाययति देवदत्तम्। **'णिचश्च'** (१।३।७४) इति कर्त्रभिप्रायक्रियाफलविवक्षायामात्मनेपदे प्राप्ते परस्मैपदं विधीयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(अणौ) अण्यन्त अवस्था में जो (अकर्मकात्) अकर्मक क्रियावाची (चित्तवत् कर्तृकात्) चित्तवान् कर्तावाली धातु है, उससे (णेः) ण्यन्त अवस्था में (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है।

*उदा०-(अण्यन्त अवस्था) आस्ते देवदत्तः। देवदत्त बैठता है। (ण्यन्त अवस्था) **आसयति देवदत्तम्।** देवदत्त को बैठाता है। (अण्यन्त अवस्था) **शेते देवदत्तः।** देवदत्त सोता है। (ण्यन्त अवस्था) **शाययति देवदत्तम्।** देवदत्त को सुलाता है।*

*सिद्धि-(१) **आसयति।** यहां 'आस् उपवेशने' (अ०आ०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय करने पर 'अत उपधायाः' (७।२।११६) 'अस्' धातु की उपधा को वृद्धि होती है। शेष पूर्ववत् है।*

*(२) **शाययति।** यहां 'शीङ् स्वप्ने' (अ०आ०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय करने पर 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से 'शीङ्' धातु को वृद्धि होती है।*

विशेष-यहां क्रिया का फल कर्ता को अभिप्रेत होने पर 'णिचश्च' (१।३।७४) से आत्मनेपद प्राप्त था, किन्तु इस सूत्र से परस्मैपद का विधान किया है।

पादिभ्यः प्रतिषेधः-

न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः।८६।

प०वि०-न अव्ययपदम्। पा-दमि-आङ्यम-आङ्यस-परिमुह-रुचि-नृति-वद-वसः ५।१।

स०-पाश्च दमिश्च आङ्यमश्च आङ्यसश्च परिमुहश्च रुचिश्च नृतिश्च वदश्च वस् च एतेषां समाहारः-पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवस्, तस्मात्-पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-'णेः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-णेः पा०वसः कर्तरि परस्मैपदं न।

अर्थः-णिजन्तेभ्यः पा-दमि-आङ्यम-आङ्यस-परिमुह-रुचि-नृति-वद-वसिभ्यो धातुभ्यः कर्तरि परस्मैपदं न भवति।

उदा०-(पा) पाययते। **(दमि)** दमयते। **(आङ्यम)** आयामयते। **(आङ्यस)** आयासयते। **(परिमुह)** परिमोहयते। **(रुचि)** रोचयते। **(नृत)** नर्तयते। **(वद)** वादयते। **(वस)** वासयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(णेः) णिजन्त (पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः) पा, दमि, आङ्यम, आङ्यस, परिमुह, रुचि, नृति, वद और वस् धातु से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (परस्मैपरम्) परस्मैपद (न) नहीं होता है।

*उदा०-**(पा)** पाययते। पिलाता है। **(दमि)** दमयते। दमन कराता है। **(आङ्यम)** आयासयते। प्रयत्न कराता है। **(परिमुह)** परिमोहयते। मोहित करता है। **(रुचि)** रोचयते। पसन्द कराता है। **(नृति)** नर्तयते। नचाता है। **(वद)** वादयते। बुलवाता है। **(वस्)** वासयते। बसाता है।*

*सिद्धि-(१) **पाययते।** पा+णिच्। पा+युक्+इ। पाय्+इ। पायि+लट्। पायि+शप्+त।पाये+अ+ते। पाययते।*

*यहां **'पा पाने'** (भ्वा०प०) धातु से **'हेतुमति च'** (१।३।२६) से 'णिच्' प्रत्यय करने पर **'आतो युक् चिण्कृतोः'** (७।३।३३) से 'युक्' आगम होता है। तत्पश्चात् णिजन्त 'पायि' धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।*

***'पा पाने'** (पीना) धातु निगरणार्थक है, अतः **'निगरणचलनार्थेभ्यश्च'** (१।३।८७) से परस्मैपद प्राप्त था। इस सूत्र से प्राप्त परस्मैपद का निषेध किया गया है। अतः आत्मनेपद होता है।*

*(२) **दमयते।** यहां **'दमु उपरमे'** (दिवादि) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय करने पर **'अत उपधायाः'** (७।२।११६) से 'दम्' धातु की उपधा को वृद्धि होती है, किन्तु उसे **'मितां ह्रस्वः'** (६।४।९२) से ह्रस्व हो जाता है।*

*(३) **आयामयते।** यहां आङ् उपसर्गपूर्वक **'यमु उपरमे'** (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय करने पर **'अत उपधायाः'** (७।२।११६) यम् धातु की उपधा को वृद्धि होती है। इसी प्रकार आङ्पूर्वक **'यसु प्रयत्ने'** (दि०प०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय करने पर **'आयासयते'** शब्द सिद्ध होता है।*

*(४) **परिमोहयते।** यहां परि उपसर्गपूर्वक **'मुह वैचित्ये'** (दिवादि) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय करने पर 'मुह' धातु की उपधा को **'पुगन्तलघूपधस्य च'** (७।३।८६) से गुण होता है। इसी प्रकार **'रुच दीप्तौ'** (भ्वा०आ०) धातु से **रोचयते।** शब्द सिद्ध होता है।*

*(५) **नर्तयते।** यहां 'नृती गात्रविक्षेपे' (दिवादि०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय करने पर 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से 'नृत्' धातु की उपधा को गुण होता है।*

नृती गात्रविक्षेपे (नाचना) धातु के चलनार्थक होने से 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' (१।३।८७) से परस्मैपद प्राप्त था। इस सूत्र से आत्मनेपद का विधान किया है।

*(६) **वादयते।** यहां 'वद व्यक्तायां वाचि' (भ्वादि०) धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय करने पर 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से 'वद्' धातु की उपधा को वृद्धि होती है। इसी प्रकार 'वस निवासे' (भ्वादि०) धातु से 'वासयते' शब्द सिद्ध होता है।*

यहां (२-६) 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' (१।२।८८) से परस्मैपद प्राप्त था। इस सूत्र से आत्मनेपद का विधान किया है।

क्यषन्तात्-

वा क्यषः।९०।

प०वि०-वा अव्ययपदम्। क्यषः ५।१।

अन्वयः-क्यषः कर्तरि वा परस्मैपदम्।

अर्थः-क्यष्-प्रत्ययान्ताद् धातोर्विकल्पेन कर्तरि परस्मैपदं भवति।

उदा०-(लोहित) लोहितायति। लोहितायते। **(पटपटा)** पटपटायति। पटपटायते।

आर्यभाषा-अर्थ-(क्यषः) क्यष् प्रत्ययान्त धातु से (वा) विकल्प से (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है।

उदा०-(लोहित) लोहितायति। लोहतायते। जो लोहित (लाल) नहीं है वह लोहित होता है। (पटपट) पटपटायति। पटपटायते। जो पटपट (ध्वनि) नहीं है, वह पटपट होता है।

*सिद्धि-(१) **लोहितायते।** लोहित+क्यष्। लोहित+य। लोहिताय+लट्। लोहिताय+शप्+तिप्। लोहिताय+अ+ति। लोहितायति।*

यहां लोहित शब्द से प्रथम 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' (३।१।१३) से 'क्यष्' प्रत्यय और तत्पश्चात् क्यषन्त 'लोहिताय' धातु से 'लट्' धातु और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है। आत्मनेपद पक्ष में लट् के स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।

*(२) **पटपटायति।** पटत्+डाच्। पटत्+पटत्+आ। पट+पट+आ+पटपटा। पटपटा+क्यष्। पटपटा+य। पटपटाय+लट्। पटपटाय+शप्+तिप्। पटपटाय+अ+ति। पटपटायति।*

यहां प्रथम पटत् शब्द से 'अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्' (५।४।५७) से 'डाच्' प्रत्यय, 'डाचि द्वे भवतः' (वा० ८।१।१२) से पटत् शब्द को द्वित्व, 'तस्य

परमाम्रेडितम्' (८।१।१२) से द्वितीय 'पटत्' शब्द की आम्रेडित संज्ञा 'नित्यमाम्रेडिते डाचि' (वा० ६।१।९६) से प्रथम पटत् शब्द के त् को पररूप एकादेश होता है और डाच् प्रत्यय के परे होने पर द्वितीय पटत् शब्द के टि-भाग का 'टे:' (६।४।१४३) से लोप हो जाता है। तत्पश्चात् डाच्-प्रत्ययान्त 'पटापटा' शब्द से 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' (३।१।१३) से 'क्यष्' प्रत्यय होता है। क्यष्-प्रत्ययान्त 'लोहिताय' शब्द से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है। पक्ष में आत्मनेपद 'त' आदेश भी हो जाता है-पटपटायते।

द्युदादिभ्यः (भ्वा०आ०)-

द्युद्भ्यो लुङि।६१।

प०वि०-द्युद्भ्यः ५।३ लुङि ७।१।

अनु०-'वा' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-द्युद्भ्यो वा परस्मैपदं कर्तरि लुङि।

अर्थः-द्युदादिभ्यो धातुभ्यो विकल्पेन परस्मैपदं भवति कर्तृवाचिनि लुङि परतः।

उदा०-(द्युत्) व्यद्युतत्। व्यद्योतिष्ट। **(लुठ्)** अलुठत्। अलोठिष्ट, इत्यादि।

आर्यभाषा-अर्थ-(द्युद्भ्यः) द्युत् आदि धातुओं से परे (वा) विकल्प से (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है। (कर्तरि) कर्तृवाची (लुङि) लुङ् प्रत्यय परे होने पर।

उदा०-(द्युत्) व्यद्युत्। व्यद्योतिष्ट। वह चमका। (लुठ्) अलुठत्। अलोठिष्ट। उसने लूटा।

*सिद्धि-(१) **व्यद्युतत्।** द्युत्+लुङ्। अट्+द्युत्+च्लि+तिप्। अ+द्युत्+अङ्+त। अ+द्युत्+अ+त्। अद्युतत्। वि+अद्युतत्=व्यद्युतत्।*

*यहां **'द्युत दीप्तौ'** (भ्वा०आ०) धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से लुङ् प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद तिप् आदेश होता है। **'च्लि लुङि'** (३।१।४३) से च्लि प्रत्यय और **'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु'** (३।१।५५) से च्लि के स्थान में अङ् आदेश होता है।*

*(२) **व्यद्योतिष्ट।** द्युत्+लुङ्। अट्+द्युत्+च्लि+त। अ+द्युत्+सिच्+त। अ+द्युत्+इट्+स्+त। अ+द्योत्+इ+ष्+ट। अद्योतिष्ट। वि+अद्योतिष्ट=व्यद्योतिष्ट।*

*यहां **'द्युत दीप्तौ'** (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। **'च्लि लुङि'** (३।१।४३) से 'च्लि' प्रत्यय और **'च्लेः सिच्'** (३।१।४४) से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश और उसको*

'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से 'इट्' आगम, 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) से टुत्व होता है। इसी प्रकार 'लुठ उपघाते' (भ्वादि०) से-अलुठत्। अलोठिष्ट।

विशेष-यहां 'द्युद्भ्यः' पद का बहुवचन में निर्देश किया है। अतः इससे 'द्युदादि' अर्थ ग्रहण किया जाता है। द्युदादि धातु निम्नलिखित हैं-

द्युत दीप्तौ। श्विता वर्णे। ञिमिदा स्नेहने। ञिष्विदा स्नेहनमोचनयोः, स्नेहनमोहनयोरित्यके। ञिक्ष्विदा चेत्येके। रुच दीप्तावभिप्रीतौ च। घट परिवर्तने। रुट, लुट, लुठ उपघाते। शुभ दीप्तौ। क्षुभ संचलने। णभ तुभ हिंसायाम्, आद्योऽभावेऽपि। स्रंसु, ध्वंसु, भ्रंसु अवस्रंसने। ध्वंसु गतौ। भ्रशु भ्रंशु अधःपतने। स्रम्भु विश्वासे। वृतु वर्तने। वृधु वृद्धौ। शृधु शब्दकुत्सायाम्। स्यन्दू प्रस्रवणे। कृपू सामर्थ्ये। इति द्युदादयो भ्वादिगणे पठ्यन्ते।

वृदादयः (भ्वा०आ०)-

वृद्भ्यः स्यसनोः।६२।

प०वि०-वृद्भ्यः ५।३। स्य-सनोः ७।२।

स०-स्यश्च सन् च तौ-स्यसनौ, तयोः-स्यसनोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'वा' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-द्युद्भ्यो वा परस्मैपदं कर्तरि स्यसनोः।

अर्थः-वृदादिभ्यो धातुभ्यो विकल्पेन परस्मैपदं भवति कर्तृवाचिनि स्ये सनि च प्रत्यये परतः।

उदा०-वृत् (स्ये) वर्त्स्यति। वर्तिष्यते। अवर्त्स्यत्। अवर्तिष्यत। (सनि) विवृत्सति। विवर्तिषते। वृध् (स्ये) वर्त्स्यति। वर्धिष्यते। अवर्त्स्यत्। अवर्धिष्यत। (सनि) विवृत्सति। विवर्धिषते।

आर्यभाषा-अर्थ-(वृद्भ्यः) 'वृत्' आदि धातुओं से (वा) विकल्प से (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है (कर्तरि) कर्तृवाची (स्यसनोः) स्य और सन् प्रत्यय परे होने पर।

उदा०-वृत् (स्य) वर्त्स्यति। वर्तिष्यते। वह होगा। अवर्त्स्यत् अवर्त्स्यत। यदि वह होता। (सन्) विवत्सृति। विवर्तिषते। वह होना चाहता है।

सिद्धि-(१) वर्त्स्यति। वृत्+लट्। वृत्+स्य+तिप्। वर्त्+स्य+ति। वर्त्स्यति।

यहां 'वृतु वर्तने' (भ्वा०आ०) धातु से 'लट् शेषे च' (३।३।१३) से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है। 'स्यतासी लृलुटोः' (३।१।३३) से 'स्य' प्रत्यय और 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से 'वृत्' धातु की उपधा को लघूपध गुण होता है।

*(२) **वर्तिष्यते।** वृत्+लृट्। वृत्+स्य+त। वृत्+इट्+स्य+त। वर्त्+इ+ष्य+ते। वर्तिष्यते।*

*यहां **'वृतु वर्तने'** (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'लृट्' प्रत्यय और उसके स्थान में पक्ष में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। पूर्ववत् 'स्य' प्रत्यय और उसको **'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'** (७।२।३५) से 'इट्' आगम होता है।*

*(३) **अवर्त्स्यत्।** वृत्+लृङ्। अट्+वृत्+स्य+तिप्। अ+वृत्+स्य+त्। अ+वर्त्+स्य+त्। अवर्त्स्यत्।*

*यहां **'वृतु वर्तने'** (भ्वा०आ०) धातु से **'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ'** (३।३।१३९) से 'लृङ्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है। **'स्यतासी लृलुटोः'** (३।१।३३) से 'स्य' प्रत्यय और **'पुगन्तलघूपधस्य च'** (७।३।८६) से 'वृत्' धातु को लघूपध गुण होता है।*

*(४) **विवृत्सति।** वृत्+सन्। वृत्+वृत्+स। व+वृत्+स। वि+वृत्+स। विवृत्स+लट्। विवृत्स+शप्+तिप्। विवृत्स+अ+ति। विवृत्सति।*

*यहां **'वृतु वर्तने'** (भ्वा०आ०) धातु से **'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा'** (३।१।७) से 'सन्' प्रत्यय, **'सन्यङोः'** (६।१।९) से धातु को द्विर्वचन, **'उरत्'** (७।४।६६) से अभ्यास के 'ऋ' को अकार आदेश और **'सन्यतः'** (७।४।७९) से अभ्यास-अकार को इकार आदेश होता है। तत्पश्चात् सन्नन्त 'विवृत्स' धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है।*

*(५) **विवर्तिषते।** वृत्+सन्। वृत्+वृत्+स। व+वृत्+इट्+स। वि+वर्त्+इ+ष। विवर्तिष+लट्। विवर्तिष+शप्+त। विवर्तिष+अ+ते। विवर्तिषते।*

*यहां **'वृतु वर्तने'** (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'सन्' प्रत्यय और अभ्यास-कार्य, **'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'** (७।२।३५) से 'इट्' आगम होता है। तत्पश्चात् सन्नन्त 'विवर्तिष' धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।*

*इसी प्रकार **'वृधु वृद्धौ'** (भ्वा०आ०) धातु से 'वर्त्स्यति' आदि रूप सिद्ध करें।*

***विशेष**-यहां 'वृद्भ्यः' पद का बहुवचन में निर्देश किया है, अतः इससे 'वृदादि' अर्थ ग्रहण किया जाता है। वृदादि धातु निम्नलिखित हैं-वृतु वर्तने। वृधु वृद्धौ। शृधु शब्दकुत्सायम्। स्यन्दू प्रस्रवणे। कृपू सामर्थ्ये। इति वृदादयो भ्वादिगणे पठयन्ते।*

कृपू सामर्थ्ये (क्लृप्) (भ्वा०आ०)-

लुटि च क्लृपः।६३।

प०वि०-लुटि ७।१ च अव्ययपदम्। क्लृपः ५।१।

अनु०-'वा, स्यसनोः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-क्लृपो वा परस्मैपदं कर्तरि लुटि स्यसनोश्च।

अर्थः-क्लृपो धातोर्विकल्पेन परस्मैपदं भवति, कर्तृवाचिनि लुटि स्ये सनि च प्रत्यये परतः।

उदा०-(लुटि) कल्प्ता। कल्पिता। **(स्ये)** कल्प्स्यति। कल्पिष्यते। अकल्प्स्यत्। अकल्पिष्यत। **(सनि)** चिकल्प्सति चिकल्पिषते।

आर्यभाषा-अर्थ-(क्लृपः) क्लृप् धातु से (वा) विकल्प से (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है (कर्तरि) कर्तृवाची (लुटि) लुट् (च) और स्यसनोः, स्य तथा सन् प्रत्यय के परे होने पर।

*उदा०-(लुट्) कल्प्ता, कल्प्तारौ, कल्प्तारः। वह कल समर्थ होगा। **(स्य)** कल्प्स्यति कल्पिष्यते। वह समर्थ होगा। अकल्प्स्यत्। अकल्पिष्यत्। यदि वह समर्थ होता। सन्-चिक्लृप्सति। चिकल्पिषते। वह समर्थ होना चाहता है।*

*सिद्धि-(१) **कल्प्ता।** कृप्+लुट्। कृप्+कल्प्+तास्+तिप्। कल्प्+तास्+डा। कल्प्+त्+आ। कल्प्ता।*

*यहां 'कृपू सामर्थ्ये' (भ्वादि) धातु से '**अनद्यतने लुट्**' (३।३।१५) से 'लुट्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है और उसके स्थान में 'लुटः **प्रथमस्य** डारौरसः' (२।४।८५) से 'डा' आदेश होता है। 'डित्यभस्यापि, **अनुबन्धकरणसामर्थ्यात्**' (६।४।१४३ महा०) से 'तास्' प्रत्यय के 'टि' भाग का लोप होता है। '**तासि च क्लृपः**' (७।२।६०) से परस्मैपद में 'इट्' आगम का निषेध है। '**कृपो रो लः**'(८।२।१८) से 'कृप्' धातु के 'र' को 'ल्' आदेश होता है।*

*(२) **कल्पिता।** कृप्+लुट्। कल्प्+तास्+त। कल्प्+तास्+डा। कल्प्+इट्+तास्+आ। कल्प्+इ+त्+आ। कल्पिता।*

यहां 'कृपू सामर्थ्ये' (भ्वादि०) धातु से पूर्ववत् 'लुट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। उसके स्थान में पूर्ववत् डा-आदेश तथा 'तास्' प्रत्यय है। उस 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से 'इट्' आगम होता है।

*(३) **कल्प्स्यति।** कृप्+लृट्। कल्प+स्य+तिप्। कल्प+स्य+ति। कल्प्स्यति।*

*यहां 'कृपू सामर्थ्ये' (भ्वा०आ०) धातु से '**लृट् शेषे च**' (३।३।१३) से 'लृट्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है। '**स्यतासी लृलुटोः**' (३।१।३३) से 'स्य' प्रत्यय होता है। '**न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः**' (७।२।५९) से परस्मैपद में 'इट्' आगम का निषेध है।*

*(४) **कल्पिष्यते।** कृप्+लृट्। कल्प्+स्य+त। कल्प्+इट्+स्य+त। कल्प्+इ+ष्य+ते। कल्पिष्यते।*

*यहां '**कृपू सामर्थ्ये' (भ्वादि)** धातु से पूर्ववत् 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में*

आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। पूर्ववत् 'स्य' प्रत्यय और उसको **'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'** (७।२।३५) से 'इट्' आगम होता है।

(५) **अकल्प्स्यत्।** कृप्+लिङ्। अट्+कल्प्+स्य+तिप्। अ+कल्प् स्य+त्। अकल्प्स्यत्।

यहां **'कृपू सामर्थ्ये'** (भ्वादि०) धातु से **'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ'** (३।३।१३९) से 'लृङ्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है। **'स्यातासी लृलुटोः'** (३।१।३३) से 'स्य' प्रत्यय है। **'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः'** (७।२।५९) से परस्मैपद में 'इट्' आगम का निषेध है।

(६) **अकल्पिष्यत।** कृप्+लृङ्। अट्+कल्प्+स्य+त। अ+कल्प्+इट्+स्य+त। अ+कल्प्+इ+ष्य+त। अकल्पिष्यत।

यहां **'कृपू सामर्थे'** (भ्वादि०) धातु से पूर्ववत् 'लृङ्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है। पूर्ववत् 'स्य' प्रत्यय और उसको **'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'** (७।२।३५) से 'इट्' आगम होता है।

(७) **चिकल्प्सति।** कृप्+सन्। कल्प्+स। कल्प्+कल्प्+स। क+कल्प्+स। कि+कल्प्+स। चि+कल्प्+स। चिकल्प्स+लट्। चिकल्पस+शप्+तिप्। चिकल्प्स्+अ+ति। चिकल्प्सति।

यहां प्रथम **'कृपू सामर्थ्ये'** धातु से **'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा'** (३।१।७) से 'सन्' प्रत्यय, **'सन्यङोः'** (६।१।९) से धातु को द्विर्वचन, **'सन्यतः'** (७।४।७९) से अभ्यास के 'अ' को इकारादेश और **'अभ्यासे चर्च'** (८।२।५४) से अभ्यास के 'क' को चर्-आदेश होता है। तत्पश्चात् 'चिकल्प्स' धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है। **'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः'** (७।२।५९) से परस्मैपद में इट् आगम का निषेध है।

(८) **चिकल्पिषते।** कृप्+सन्। कल्प्+स। कल्प्+कल्प्+स। क+कल्प्+इट्+स। कि+कल्प्+इ+स। चि+कल्प्+इ+ष। चिकल्पिष+लट्। चिकल्पिष+शप्+त। चिकल्पिष+अ+ते। चिकल्पिषते।

यहां **'कृपू सामर्थ्ये'** (भ्वा०आ०) धातु से पूर्ववत् सन् प्रत्यय और अभ्यास-कार्य है। **'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'** (७।२।३५) से 'इट्' का आगम होता है। सन्नन्त 'चिकल्पिष' धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।

विशेष-पाणिनीय धातुपाठ में **'कृपू सामर्थ्ये'** (भ्वादि०) धातु पढ़ी है। **'कृपो रो लः'** (८।२।१८) से उसी के रेफ वर्णांश को लकार आदेश होकर 'क्लृप्' रूप बनता है।

इति पण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचने प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।

प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः

एकसंज्ञाधिकारः–

(१) आकडारादेका संज्ञा।१।

प०वि०–आ अव्ययपदम्। कडारात् ५।१ एका १।१ संज्ञा १।१।

अर्थः–कडारात्=’कडाराः कर्मधारये’ एतस्मात् आ=अवधेः पूर्वमेका संज्ञा भवतीत्यधिकारोऽयम्। का पुनरसौ ? या पराऽनवकाशा च। वक्ष्यति ह्रस्वं लघु, भिद्–भेत्ता। छिद्–छेत्ता। संयोगे गुरु–शिक्षा। भिक्षा। संयोगपरस्य ह्रस्वस्य लघुसंज्ञा प्राप्नोति, गुरुसंज्ञा च। कडारात् प्राग् एका संज्ञा भवतीति वचनाद् गुरुसंज्ञैव भवति।

*आर्यभाषा–अर्थ–(कडारात्) **'कडाराः कर्मधारये'** (२।२।३८) इस (आ) अवधि से पहले (एका) एक ही संज्ञा होती है, यह अधिकार है। कौनसी संज्ञा होती है ? जो पर हो और अवकाशरहित हो। जैसे कहेगा कि **'ह्रस्वं लघु'** (अ० १।४।१०) अर्थात् ह्रस्व वर्ण की लघु संज्ञा होती है, जैसे कि 'भिद्' यहां ह्रस्व 'इ' की लघुसंज्ञा है। इसलिये 'भेत्ता' शब्द में **'पुगन्तलघूपधस्य च'** (७।३।८६) से 'लघूपध' गुण हो जाता है। इसी प्रकार 'छिद्' धातु से 'छेत्ता' शब्द सिद्ध होता है।*

*'संयोगे गुरु' (अ० १।४।११) अर्थात् संयोग परे होने पर ह्रस्व वर्ण की गुरु संज्ञा होती है। जैसे–शिक्षा। भिक्षा। यहां ह्रस्व 'इ' की **'ह्रस्वं लघु'** (अ० १।४।१०) से ह्रस्व संज्ञा प्राप्त होती है और संयोग परे होने से **'संयोगे गुरु'** (अ० १।४।११) से गुरु संज्ञा भी मिलती है। **'कडाराः कर्मधारये'** (अ० २।२।३८) तक एक ही संज्ञा होती है, इस एक संज्ञा अधिकार से यहां परवर्तिनी और अवकाशरहित एक गुरु संज्ञा होती है, लघु संज्ञा नहीं। क्योंकि लघु को जहां संयोग परे नहीं है, वहां भिद्, छिद् आदि में अवकाश है।*

तुल्यबलविरोधे परं कार्यम्–

(१) विप्रतिषेधे परं कार्यम्।२।

प०वि०–विप्रतिषेधे ७।१ परम् १।१ कार्यम् १।१।

अर्थः–विप्रतिषेधे=तुल्यबलविरोधे सति परं कार्यं भवति। यत्र द्वौ प्रसङ्गौ भिन्नार्थौ, एकस्मिन्नर्थे युगपत् प्राप्नुतः, स तुल्यबलविरोधो

विप्रतिषेधः। यथा-'**अतो दीर्घो यञि, सुपि च**' (७।३।१०२) इत्यस्यावकाशः-**वृक्षाभ्याम्। प्लक्षाभ्याम्।** बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३) इत्यस्यावकाशः **वृक्षेषु। प्लक्षेषु।** अत्रोभयं प्राप्नोति-**वृक्षेभ्यः। प्लक्षेभ्यः।** अस्मिन् विप्रतिषेधे '**बहुवचने झल्येत्**' (७।३।१०३) इति परं कार्यं भवति।

*आर्यभाषा-अर्थ-(विप्रतिषेधे) तुल्य बल का विरोध होने पर (परम्) परवर्ती (कार्यम्) कार्य होता है। जहां भिन्नार्थक दो कार्य एक अर्थ में एकदम प्राप्त होते हैं, उसे विप्रतिषेध अर्थात् तुल्यबलविरोध कहते हैं। जैसे-'**सुपि च**' (अ० ७।३।१०२) अर्थात् यञादि 'सुप्' प्रत्यय परे होने पर अकारान्त अङ्ग को दीर्घ होता है, इसका अवकाश यहां है-वृक्ष+भ्याम्=वृक्षाभ्याम्। प्लक्ष+भ्याम्=प्लक्षाभ्याम् और '**बहुवचने झल्येत्**' (अ० ७।३।१०३) अर्थात् बहुवचन झलादि 'सुप्' प्रत्यय के परे होने पर अकारान्त अङ्ग को एकार आदेश होता है। इसका अवकाश यहां है-वृक्ष+सुप्=वृक्षेषु। प्लक्ष+सुप्=प्लक्षेषु। किन्तु यहां दोनों की प्राप्ति है-वृक्ष+भ्यस्=वृक्षेभ्यः। प्लक्ष+भ्यस्=प्लक्षेभ्यः। यहां परवर्ती 'बहुवचने झल्येत्' (७।३।१०३) से 'एकार' आदेश होता है।*

नदीसंज्ञाप्रकरणम्

नदीसंज्ञा-

(१) यू स्त्र्याख्यौ नदी।३।

प०वि०-यू इत्यविभक्तिको निर्देशः, स्त्री-आख्यौ १।२ नदी १।१।

स०-ई च ऊ चेति यू (ई+ऊ=यू)। स्त्रियमाचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ (उपपदतत्पुरुषः)। अत्र मूलविभुजादिषु दर्शनात् कः प्रत्ययः।

अर्थः-ईकारान्तं ऊकारान्तं च स्त्री-आख्यं शब्दरूपं नदी-संज्ञकं भवति।

उदा०-(ईकारान्तम्) कुमारी। गौरी। लक्ष्मी। शाङ्र्गरवी। (ऊकारान्तम्) ब्रह्मबन्धूः। यवागूः।

आर्यभाषा-अर्थ-(यू) ईकारान्त और ऊकारान्त (स्त्री-आख्यम्) स्त्रीलिङ्ग शब्द की (नदी) नदी संज्ञा होती है।

उदा०-(ईकारान्त) कुमारी। गौरी। लक्ष्मीः। शाङ्र्गरवी। (ऊकारान्त) ब्रह्मबन्धूः। मूर्ख नारी। यवागूः। तापसी।

नदीसंज्ञाप्रतिषेधः–

(२) नेयङुवङ्स्थानावस्त्री।४।

प०वि०-न अव्ययपदम्। इयङ्-उवङ्स्थानौ १।२ अस्त्री १।१

स०-इयङ् च उवङ् च तौ इयङुवङौ, तयोः-इयङुवङोः। इयङुवङोः स्थानमनयोरिति-इयङुवङ्स्थानौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)। न स्त्रीति-अस्त्री (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू नदी न अस्त्री।

अर्थः-इयङ्-उवङ्स्थानौ, स्त्री-आख्यौ, ईकारान्त-ऊकारान्तौ शब्दौ नदी-संज्ञकौ न भवतः, स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा।

उदा०-(ईकारान्तम्) हे श्रीः। (ऊकारान्तम्) हे भ्रूः। अस्त्रीति किमर्थम् ? हे स्त्रि।

आर्यभाषा-अर्थ-(इयङ्-उवङ्स्थानौ) इयङ् और उवङ् आदेश का स्थान रखनेवाले (यू) ईकारान्त और ऊकारान्त शब्द की नदी संज्ञा (न) नहीं होती है।

उदा०-(ईकारान्त) हे श्रीः। (ऊकारान्त) हे भ्रूः।

*यहां नदी संज्ञा न होने से सम्बोधन में **'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः'** (७।३।१०७) से ई और ऊ को ह्रस्व नहीं होता है। 'स्त्री' शब्द की नदी संज्ञा होने से उसे ह्रस्व हो जाता है-हे स्त्रि।*

नदीसंज्ञा-विकल्पः–

(३) वाऽऽमि।५।

प०वि०-वा अव्ययपदम्। आमि ७।१।

अनु०-'यू स्त्र्याख्यौ नदी, इयङुवङ्स्थानावस्त्री' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू वा नदी आमि अस्त्री।

अर्थः-इयङ्-उवङ्स्थानौ स्त्री-आख्यौ ईकारान्त-ऊकारान्तौ शब्दौ विकल्पेन नदीसंज्ञकौ भवतः, आमि प्रत्यये परतः, स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा।

उदा०-ईकारान्तः-(श्रीः) श्रियाम्, श्रीणाम्। ऊकारान्तः-(भ्रूः) भ्रुवाम्, भ्रूणाम्। अस्त्रीति किमर्थम् ? स्त्रीणाम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(इयङ्-उवङ्स्थानौ) इयङ् और उवङ् आदेश का स्थान रखनेवाले (स्त्री-आख्यौ) स्त्रीलिङ्ग (यू) ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों की (वा) विकल्प से (नदी) नदी संज्ञा होती है (आमि) आम् प्रत्यय के परे होने पर (अस्त्री) स्त्री शब्द को छोड़कर।

*उदा०-ईकारान्त-(श्री) श्रियाम्। श्रीणाम्। ऊकारान्त। (भ्रू) भ्रुवाम्। भ्रूणाम्। 'स्त्री' शब्द का निषेध इसलिये किया है कि यहां नदी संज्ञा का निषेध न हो-**स्त्रीणाम्।***

*सिद्धि-(१) **श्रियाम्।** श्री+आम्। श्री+नुट्+आम्। श्री+न्+आम्। श्रीणाम्।*

*यहां पक्ष में नदी संज्ञा होने से **'ह्रस्वनद्यापो नुट्'** (७।१।५४) से 'आम्' प्रत्यय को 'नुट्' आगम होता है।*

*इसी प्रकार 'भ्रू' शब्द से 'आम्' प्रत्यय करने पर भ्रुवाम् और भ्रूणाम् शब्द सिद्ध होते हैं। स्त्री शब्द की नदी संज्ञा होने से **'स्त्रीणाम्'** रूप बनता है।*

ङिति ह्रस्वापि यू वा-

(४) ङिति ह्रस्वश्च।६।

प०वि०-ङिति ७।१ ह्रस्वः १।१ च अव्ययपदम्।

स०-ङ इत् यस्य सः-ङित्, तस्मिन् ङिति (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'यू स्त्र्याख्यौ नदी, इयङुवङ्स्थानौ वा, अस्त्री' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-ङिति स्त्र्याख्यौ ह्रस्वौ यू इयङुवङ्स्थानौ च यू वा नदी अस्त्री।

अर्थः-ङिति प्रत्यये परतः स्त्री-आख्यौ ह्रस्वौ इकारान्त-उकारान्तौ, इयङ्-उवङ्स्थानौ ईकारान्त-ऊकारान्तौ च शब्दौ विकल्पेन नदी-संज्ञकौ भवतः, स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा।

उदा०-इकारान्तः (कृतिः) कृत्यै। कृतये। उकारान्तः-(धेनुः) धेन्वै। धेनवे। ईकारान्तः-(श्रीः) श्रियै। श्रिये। ऊकारान्तः-(भ्रूः) भ्रुवै। भ्रुवे। अस्त्रीति किमर्थम्? स्त्रियै।

आर्यभाषा-अर्थ-(ङिति) ङित् प्रत्यय परे होने पर (स्त्री-आख्यौ) स्त्रीलिङ्ग (ह्रस्वः) ह्रस्व (यु) इकारान्त और उकारान्त तथा (इयङ्वङ्स्थानौ) इयङ् और उवङ् का स्थान रखनेवाले (यू) ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों की (वा) विकल्प से (नदी) नदी संज्ञा होती है, (अस्त्री) स्त्री शब्द को छोड़कर।

*उदा०-इकारान्त-(कृतिः) कृत्यै। कृतये। उकारान्त-(धेनु) धेन्वै। धेनवे। ईकारान्त-(श्री) श्रियै। श्रिये। ऊकारान्त-((भ्रू) भ्रुवै। भ्रुवे। 'अस्त्री' का ग्रहण इसलिये किया गया है कि यहां विकल्प से नदी संज्ञा न हो-**स्त्रियै।***

सिद्धि-(१) कृत्यै। कृति+ङे। कृति+ए। कृति+आट्+ए। कृति+ऐ। कृत्यै।

यहां नदी संज्ञा होने से 'आण् नद्याः' (७।३।११२) से 'आट्' आगम होता है और 'आटश्च' (६।१।९०) से वृद्धिरूप एकादेश होता है।

(२) कृतये। कृति+ङे। कृति+ए। कृते+ए। कृतये।

यहां नदी संज्ञा होने से 'शेषो घ्यसखि' (१।४।७) से 'घि' संज्ञा होती है। अतः 'घेर्ङिति' (४।३।१११) से अङ्ग को गुण हो जाता है।

इसी प्रकार धेनु, श्री और भ्रू शब्द से उपरिलिखित शब्द रूप सिद्ध करें।

घिसंज्ञाप्रकरणम्

सखिवर्जं शेषो घि–

(१) शेषो घ्यसखि।७।

प०वि०-शेषः १।१ घि १।१ असखि १।१।

स०-न सखि इति असखि (नञ्तत्पुरुषः)।

अर्थः-शेषोऽत्र घि-संज्ञको भवति, सखिशब्दं वर्जयित्वा। कश्च शेषः ? ह्रस्वमिकारान्तमुकारान्तं यन्न स्त्री-आख्यम्, स्त्री-आख्यं च यन्न नदीसंज्ञकं स शेषः।

उदा०-इकारान्तम्-(अग्निः) अग्नये। (कृतिः) कृतये। उकारान्तम्-(वायुः) वायवे। (धेनुः) धेनवे। असखीति किमर्थम् ? सख्ये।

आर्यभाषा-अर्थ-(*शेषः*) *शेष शब्द की यहां* (*घि*) *घि संज्ञा होती है* (*असखि*) *सखि शब्द को छोड़कर। शेष शब्द कौनसा है ? जो शब्द ह्रस्व इकारान्त, उकारान्त और स्त्रीलिङ्ग नहीं है और जो स्त्रीलिङ्ग है किन्तु नदी संज्ञक नहीं है वह शब्द शेष है।*

उदा०-इकारान्त-(अग्नि) अग्नये। (कृति) कृतये। उकारान्त-(वायु) वायवे। (धेनु) धेनवे। 'असखि' शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि यहां घि संज्ञा न हो-सख्ये।

सिद्धि-(१) अग्नये। अग्नि+ङे। अग्नि+ए। अग्ने+ए। अग्नये।

यहां घि-संज्ञक अग्नि शब्द से 'ङे' प्रत्यय करने पर 'घेर्ङिति' (७।३।१११) से अङ्ग को गुण हो जाता है। इसी प्रकार कृति, वायु और धेनु शब्दों से उपरिलिखित शब्दरूप सिद्ध करें।

(२) सखि शब्द की घि-संज्ञा न होने से 'घेर्ङिति' (७।३।१११) से अङ्ग को गुण नहीं होता है।

समासे पति-शब्दः–

(२) पतिः समास एव।८।

प०वि०–पतिः १।१ समासे ७।१ एव अव्ययपदम्।

अनु०–'घि' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–पतिः समासे एव घि।

अर्थः–पति-शब्दः समास एव घि-संज्ञको भवति।

उदा०–प्रजापतिना। प्रजापतये। 'समासे' इति किमर्थम्? पत्या। पत्ये।

आर्यभाषा-अर्थ-(पतिः) पति शब्द की (समासे) समास में (एव) ही (घि) संज्ञा होती है।

*उदा०–प्रजापतिना। प्रजापतये। यहां 'समासे' का कथन इसलिये किया गया है कि यहां 'घि' संज्ञा न हो–**पत्या। पत्ये।***

***सिद्धि-(१) प्रजापतिना।** प्रजापति+टा। प्रजापति+आ। प्रजापति+ना। प्रजापतिना।*

*यहां षष्ठीतत्पुरुष समास में 'पति' शब्द की 'घि' संज्ञा होने से **'आङो नाऽस्त्रियाम्'** (७।३।१२०) से 'टा' को 'ना' आदेश होता है।*

*(२) **प्रजापतये।** प्रजापति+ङे। प्रजापति+ए। प्रजापते+ए। प्रजापतये।*

*यहां षष्ठीतत्पुरुष समास में 'पति' शब्द की 'घि' संज्ञा होने से **'घेर्ङिति'** (७।३।१११) से घि-संज्ञक अङ्ग को गुण होता है।*

*(३) शुद्ध पति शब्द की 'घि' संज्ञा न होने से उपरिलिखित कार्य नहीं होते हैं–**पत्या। पत्ये।***

षष्ठीयुक्तः पतिशब्दः–

(३) षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा।९।

प०वि०–षष्ठी-युक्तः १।१ छन्दसि ७।१ वा अव्ययपदम्।

अनु०–'पतिः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–छन्दसि षष्ठीयुक्तः पतिर्वा घि।

अर्थः–छन्दसि विषये षठ्यन्तेन पदेन युक्तः पतिशब्दो विकल्पेन घि-संज्ञको भवति।

उदा०–कुलुञ्चानां पतये नमः। कुलञ्चानां पत्ये नमः।

आर्यभाषा-अर्थ-(छन्दसि) वैदिक भाषा में (षष्ठीयुक्तः) षष्ठ्यन्त पद से युक्त (पतिः) पति शब्द की (वा) विकल्प से (घि) घि-संज्ञा होती है। कुलुञ्चानां पतये नमः। कुलुञ्चानां पत्ये नमः। कुलुञ्च अर्थात् बुरे स्वभाव के कारण दूसरों के पदार्थों को खसोटनेवाले लोगों के स्वामी को नमस्कार है। यहां नमस्कार शब्द का अर्थ सुधार करना है।

*सिद्धि-(१) **पतये।** पति+ङे। पति+ए। पते+ए। पतये। यहां 'पति' शब्द की 'घि' संज्ञा होने से **'घेर्ङिति'** (७।३।१११) से अङ्ग को गुण हो जाता है।*

*(२) **पत्ये।** पति+ङे। पति+ए। पत् य्+ए। पत्ये। यहां पक्ष में 'पति' शब्द की 'घि' संज्ञा न होने से **'घेर्ङिति'** (७।३।१११) से अङ्ग को गुण नहीं होता, अपितु **'इको यणचि'** (६।१।७७) से यण् आदेश होता है।*

लघु-संज्ञा—

(१) ह्रस्वं लघु।१०।

प०वि०-ह्रस्वम् १।१ लघु १।१।

अर्थः-ह्रस्वमक्षरं लघु-संज्ञकं भवति।

उदा०-भिद्-भेत्ता। छिद्-छेत्ता। अ, इ, उ, ऋ, ऌ इति पञ्च ह्रस्ववर्णा भवन्ति। तेषां लघु-संज्ञा क्रियते।

*सिद्धि-(१) **भेत्ता।** भिद्-तृच्। भिद्+तृ। भेद्+तृ। भेतृ+सु। भेत्ता।*

*यहां **'भिदिर् विदारणे'** (रु०प०) धातु से **'ण्वुल्तृचौ'** (३।१।१३३) से 'तृच्' प्रत्यय करने पर, 'भिद्' के ह्रस्व 'इ' की लघु संज्ञा होने से **'पुगन्तलघूपधस्य च'** (७।३।८६) से अङ्ग को लघूपध गुण हो जाता है।*

*इसी प्रकार **'छिदिर् द्वैधीकरणे'** (रु०प०) धातु से 'छेत्ता' शब्द सिद्ध होता है।*

गुरुसंज्ञाप्रकरणम्

संयोगे गुरु—

(१) संयोगे गुरु।११।

प०वि०-संयोगे ७।१ गुरु १।१।

अनु०-'ह्रस्वम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-संयोगे ह्रस्वं गुरु।

अर्थः-संयोगे परतो ह्रस्वम् अक्षरं गुरुसंज्ञकं भवति।

उदा०-शिक्षा। भिक्षा।

आर्यभाषा-अर्थ- *(संयोगे) संयोग परे होने पर (ह्रस्वम्) ह्रस्व अक्षर की (गुरु) गुरुसंज्ञा होती है।*

उदा०-शिक्षा। भिक्षा।

सिद्धि-शिक्षा। *शिक्ष्+अ। शिक्ष+टाप्। शिक्ष्+आ। शिक्षा+सु। शिक्षा। यहां **'शिक्ष विद्योपादने'** (भ्वा०आ०) धातु में संयोग (क्+ष्) परे होने पर 'इ' की गुरु संज्ञा होने से **'गुरोश्च हल:'** (३।३।१०३) से स्त्रीलिङ्ग में 'अ' प्रत्यय होता है। तत्पश्चात् **'अजाद्यष्टाप्'** (४।१।४) से स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय होता है।*

*इसी प्रकार **'भिक्ष भिक्षायामलाभे लाभे च'** (भ्वा०आ०) धातु से 'भिक्षा' शब्द सिद्ध होता है।*

दीर्घमपि–

(२) दीर्घं च।१२।

प०वि०-दीर्घम् १।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-'गुरु' इत्यनुवर्तते।

अन्वय:-दीर्घं च गुरु।

अर्थ:-दीर्घं चाक्षरं गुरु-संज्ञकं भवति।

उदा०-ईहांचक्रे। ऊहांचक्रे।

आर्यभाषा-अर्थ- *(दीर्घम्) दीर्घ अक्षर की (च) भी (गुरु) गुरु संज्ञा होती है।*

उदा०-ईहांचक्रे। उसने चेष्टा की। ऊहांचक्रे। उसने वितर्क किया।

सिद्धि-(१) ईहांचक्रे। *ईह्+आम्। ईहाम्+लिट्। इहाम्+लि। ईहाम्+कृ+लिट्। ईहाम्+कृ कृ+त। इहाम्+क+कृ+एश्। ईहाम्+च+कृ+ए। ईहांचक्रे।*

*यहां **'ईह चेष्टायाम्'** (भ्वा०आ०) धातु के गुरुमान् होने से प्रथम **'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ:'** (३।१।३६) 'आम्' प्रत्यय होता है। तत्पश्चात् **'आम:'** (२।४।८१) से 'लिट्' प्रत्यय का लुक् होकर **'कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि'** (३।१।४०) से 'कृञ्' का अनुप्रयोग होता है। 'लिट्' प्रत्यय के परे होने पर **'लिटि धातोरनभ्यासस्य'** (६।१।८) से 'कृ' धातु को द्विर्वचन, **'लिटस्तझयोरेशिरेच्'** (३।४।८१) से 'त' के स्थान में 'एश्' आदेश, **'उरत्'** (७।४।६६) से अभ्यास के 'ऋ' को अकार आदेश तथा **'अभ्यासे चर्च'** (८।४।५४) से अभ्यास के 'क्' को चर्-आदेश (च्) होता है।*

*ऐसे ही **'ऊह वितर्के'** (भ्वा०आ०) धातु से **'ऊहांचक्रे'** शब्द सिद्ध होता है।*

अङ्ग-संज्ञा–

(१) यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्।१३।

प०वि०–यस्मात् ५।१ प्रत्ययविधिः १।१ तदादि १।१ प्रत्यये ७।१। अङ्गम् १।१।

स०–प्रत्ययस्य विधिरिति प्रत्ययविधिः (षष्ठीतत्पुरुषः)। स आदिर्यस्य तत् तदादि (बहुव्रीहिः)।

अर्थः–यस्माद् धातोः प्रातिपदिकाद् वा प्रत्ययो विधीयते तदादि शब्दंरूपं प्रत्यये परतोऽङ्गसंज्ञकं भवति।

उदा०–कर्ता। हर्ता। करिष्यति। हरिष्यति। औपगवः। कापटवः।

आर्यभाषा-अर्थ-(यस्मात्) जिस धातु वा प्रातिपदिक से (प्रत्ययविधिः) प्रत्यय का विधान किया जाता है (तदादि) वह जिसके आदि में है उस शब्द की (प्रत्यये) प्रत्यय के परे रहने पर ही (अङ्गम्) अङ्ग संज्ञा होती है।

*उदा०-**कर्ता**। करनेवाला। **हर्ता**। हरण करनेवाला। **करिष्यति**। वह करेगा। **हरिष्यति**। वह हरण करेगा। **औपगवः**। उपगु का पुत्र। **कापटवः**। कपटु का पुत्र।*

*सिद्धि-(१) **कर्ता**। कृ+तृच्। कृ+तृ। कर्+तृ। कर्तृ+सु। कर्ता।*

*यहां '**डुकृञ् करणे**' (त०उ०) धातु से '**ण्वुल्तृचौ**' (३।१।१३३) से 'तृच्' प्रत्यय करने पर 'कृ' धातु की अङ्ग संज्ञा होती है। '**सार्वधातुकार्धधातुकयोः**' (७।३।८४) से इगन्त अङ्ग को गुण हो जाता है। इसी प्रकार '**हृञ् हरणे**' (भ्वा०उ०) धातु से 'हर्ता' शब्द सिद्ध होता है।*

*(२) **करिष्यति**। कृ+लृट्। कृ+स्य+तिप्। कृ+इट्+स्य+ति। कर्+इ+ष्य+ति। करिष्यति।*

*यहां '**डुकृञ् करणे**' (त०उ०) धातु से '**लृट् शेषे च**' (३।३।१३) से 'लृट्' प्रत्यय, उसके स्थान में 'तिप्' आदेश और '**स्यतासी लृलुटोः**' (३।१।३३) से 'स्य' प्रत्यय होता है। 'स्य' प्रत्यय के परे होने पर तदादि 'कृ' धातु की अङ्ग संज्ञा होती है। '**सार्वधातुकार्धधातुकयोः**' (७।३।८४) से इगन्त अङ्ग को गुण होता है। इसी प्रकार '**हृञ् हरणे**' (भ्वा०उ०) धातु से हरिष्यति शब्द सिद्ध होता है।*

*(३) **औपगवः**। उपगु+अण्। उपगु+अ। औपगु+अ। औपगो+अ। औपगव्+अ। औपगव+सु। औपगवः।*

*यहां 'उपगु' प्रातिपदिक से '**तस्यापत्यम्**' (४।१।९२) से 'अण्' प्रत्यय होने पर 'उपगु' प्रादिपदिक की अङ्ग संज्ञा होती है। '**तद्धितेष्वचामादेः**' (७।२।११७) से अङ्ग*

के आदि अच् को वृद्धि तथा ***'ओर्गुणः'*** *(६।४।४६) से अङ्ग के उकार को गुण होता है। इसी प्रकार कपटु शब्द से 'अण्' प्रत्यय करने पर* ***'कापटवः'*** *शब्द सिद्ध होता है।*

विशेष- *अष्टाध्यायी के षष्ठाध्याय के चतुर्थ पाद से लेकर सप्तम अध्याय की समाप्ति तक* ***'अङ्गस्य'*** *(६।४।१) का अधिकार है। वहां अङ्गसम्बन्धी कार्यों का विधान किया गया है।*

पदसंज्ञाप्रकरणम्

सुबन्तं तिङन्तं च-

(१) सुप्तिङन्तं पदम्।१४।

प०वि०- सुप्-तिङन्तम् १।१ पदम् १।१।

स०- सुप् च तिङ् च तौ सुप्तिङौ। सुप्तिङावन्ते यस्य तत् सुप्तिगन्तम् (द्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अर्थः- सुबन्तं तिङन्तं च शब्दरूपं पद-संज्ञकं भवति।

उदा०- ब्राह्मणाः पठन्ति।

आर्यभाषा-अर्थ- *(सुप्तिङन्तम्) सुबन्त और तिङन्त शब्द की (पदम्) पदसंज्ञा होती है।*

उदा०-ब्राह्मणाः पठन्ति। ब्राह्मण पढ़ते हैं।

सिद्धि-(१) ब्राह्मणाः। *ब्राह्मण+जस्। ब्राह्मण+अस्। ब्राह्मणास्। ब्राह्मणारु। ब्राह्मणार्। ब्राह्मणाः।*

यहां पद संज्ञा होने से ***'ससजुषो रुः'*** *(८।२।६६) से 'स्' को 'रुत्व' और* ***'खरवसानयोर्विसर्जनीयः'*** *(८।३।१५) से 'र्' को : विसर्जनीय आदेश होता है।*

(२) पठन्ति। *पठ्+लट्। पठ्+शप्+झि। पठ्+अ+अन्ति। पठन्ति।*

यहां ***'पठ व्यक्तायां वाचि'*** *(भ्वा०प०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में 'झि' आदेश,* ***'झोऽन्तः'*** *(७।१।३) से 'झ' को 'अन्त' आदेश होता है।* ***'कर्तरि शप्'*** *(३।१।६८) से 'शप्' विकरण प्रत्यय है।*

यहां ***'पठन्ति'*** *शब्द की पद संज्ञा होने से* ***'तिङ्ङतिङः'*** *(८।१।२८) से अतिङन्त पद से परे तिङन्तपद सर्वानुदात्त हो जाता है।*

विशेष- *(१) सुप् प्रत्यय ये हैं-सु। औ। जस्। अम्। औट्। शस्। टा। भ्याम्। भिस्। ङे। भ्याम्। भ्यस्। ङसि। भ्याम्। भ्यस्। ङस्। ओस्। आम्। ङि। ओस्। सुप्। यहां प्रथम सु प्रत्यय को लेकर अन्तिम सुप् प्रत्यय के पकार से 'सुप्' प्रत्याहार बनाया गया है।*

(२) तिङ् प्रत्यय ये हैं-तिप्। तस्। झि। सिप्। थस्। थ। मिप्। वस्। मस्। त। आताम्। झ। थास्। आथाम्। ध्वम्। इट्। वहि। महिङ्। यहां प्रथम 'तिप्' प्रत्यय का 'ति' और अन्तिम 'महिङ्' के ङकार से 'तिङ्' प्रत्याहार बनाया गया है।

नकारान्तं क्यजादिषु–

(२) नः क्ये।१५।

प०वि०–नः १।१ क्ये ७।१।

अनु०–'पदम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–नः क्ये पदम्।

अर्थः–नकारान्तं शब्दरूपं क्ये प्रत्यये परतः पद-संज्ञकं भवति। 'क्ये' इति क्यच्-क्यङ्-क्यषां प्रत्ययानां सामान्येन ग्रहणं क्रियते।

उदा०–(क्यच्) राजीयति। (क्यङ्) राजायते। (क्यष्) वर्मायति। वर्मायते।

आर्यभाषा-अर्थ-(नः) नकारान्त शब्द की (क्ये) क्य प्रत्यय परे होने पर (पदम्) पद संज्ञा होती है। 'क्ये' यहां क्यच्, क्यङ् और क्यष् प्रत्यय का समान रूप से ग्रहण किया गया है।

उदा०-(क्यच्) राजीयति। अपने राजा को चाहता है। (क्यङ्) राजायते। राजा के समान आचरण करता है। वर्मायति। वर्मायते। जो वर्म (कवच) नहीं है, वह वर्म बन रहा है।

*सिद्धि-(१) **राजीयति**। राजन्+क्यच्। राजन्+य। राज+य। राजी+य। राजीय+लट्। राजीय+शप्+तिप्। राजीय+अ+ति। राजयति।*

*यहां 'राजन्' शब्द से **'सुप आत्मनः क्यच्'** (३।१।८) से 'क्यच्' प्रत्यय करने पर नकारान्त 'राजन्' शब्द की पद संज्ञा होती है। अतः **'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य'** (८।२।७) से 'न्' का लोप हो जाता है। **'क्यचि च'** (७।४।३३) से ईकार आदेश होता है। तत्पश्चात् **'राजीय'** धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में 'तिप्' आदेश होता है।*

*(२) **राजायते**। राजन्+क्यङ्। राजन्+य। राज+य। राजा+य। राजाय+लट्। राजाय+शप्+त। राजाय+अ+ते। राजायते।*

*यहां राजन् शब्द से **'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च'** (३।१।११) से 'क्यङ्' प्रत्यय करने पर नकारान्त 'राजन्' शब्द की पद संज्ञा होती है। अतः पूर्ववत् 'न्' का लोप हो जाता है। **'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः'** (७।४।२५) से दीर्घ होता है। तत्पश्चात् **'राजाय'** धातु से 'लट्' प्रत्यय और ङित् होने से उसके स्थान में आत्मनेपद 'त' आदेश होता है।*

*(३) **वर्मायति।** वर्मन्+क्यष्। वर्मन्+य। वर्म+य। वर्मा+य। वर्माय+लट्। वर्माय+शप्+तिप्। वर्माय+अ+ति। वर्मायति।*

*यहां 'वर्मन्' शब्द से **'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्'** (३।१।१३) से 'क्यष्' प्रत्यय करने पर नकारान्त 'वर्मन्' शब्द की पदसंज्ञा होती है। अतः पूर्ववत् 'न्' का लोप हो जाता है। यहां पूर्ववत् दीर्घ होकर 'वर्माय' धातु से पूर्ववत् 'लट्' प्रत्यय होता है। यहां **'वा क्यषः'** (१।३।९०) से विकल्प से परस्मैपद होता है। पक्ष में आत्मनेपद-**वर्मायते।***

सिति प्रत्ययेऽपि–

सिति च।१६।

प०वि०–सिति ७।१ च अव्ययपदम्।

स०–स इत् यस्य सः-सित्, तस्मिन्-सिति (बहुव्रीहिः)।

अन्वयः–सिति च पदम्।

अर्थः–सिति च प्रत्यये परतः पूर्वं पदसंज्ञकं भवति। **'यचि भम्'** (१।४।१८) इति भ-संज्ञां वक्ष्यति, तस्यायं पुरस्ताद् अपवादः।

उदा०–भवदीयः। ऊर्णायुः।

*आर्यभाषा-अर्थ-(सिति) सित् प्रत्यय परे होने पर (च) भी पूर्ववर्ती शब्द की (पदम्) पद संज्ञा होती है। **'यचि भम्'** (१।४।१८) से भ-संज्ञा का विधान किया जायेगा। यह उसका पूर्व-अपवाद है।*

उदा०-भवदीयः। आपका। ऊर्णायुः। ऊनवाला (ऊनी)।

***सिद्धि-(१) भवदीयः।** भवत्+छस्। भवत्+ईय। भवद्+ईय। भवदीय+सु। भवदीयः।*

*यहां 'भवत्' शब्द से **'भवतष्ठक्छसौ'** (४।२।११५) से सित् छस् प्रत्यय करने पर 'भवत्' की पद संज्ञा होती है। पद संज्ञा होने से 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) से त् को जश् द् हो जाता है। **'आयनेय०'** (७।१।२) से 'छ्' के स्थान में 'ईय्' आदेश होता है।*

***(२) ऊर्णायुः।** ऊर्णा+युस्। ऊर्णा+यु। ऊर्णायु+सु। ऊर्णायुः।*

*यहां 'ऊर्णा' शब्द से **'ऊर्णाया युस्'** (५।२।१२३) से सित् 'युस्' प्रत्यय करने पर 'ऊर्णा' शब्द की पद संज्ञा होने से **'यचि भम्'** (१।४।१८) से प्राप्त भ-संज्ञा नहीं होती है, अतः **'यस्येति च'** (६।४।१४६) से आकार का लोप भी नहीं होता है।*

असर्वनामस्थानेषु स्वादिषु–

स्वादिष्वसर्वनामस्थाने।१७।

प०वि०–सु–आदिषु ७।३। असर्वनामस्थाने ७।१।

स०–सु आदिर्येषां ते–स्वादयः, तेषु–स्वादिषु (बहुव्रीहिः)। न सर्वनामस्थानमिति, असर्वनामस्थानम्, तस्मिन्–असर्वनामस्थाने (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–'पदम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–असर्वनामस्थाने स्वादिषु पूर्वं पदम्।

अर्थः–सर्वनामस्थानवर्जितेषु स्वादिषु प्रत्ययेषु परतः पूर्वं पद-संज्ञकं भवति।

उदा०–राजभ्याम्। राजभिः। राजत्वम्। राजता। राजतरः। राजतमः।

'स्वादिषु' इत्यत्र **'स्वौजस्०'** (४।१।१) इति सु-शब्दादारभ्य **'उरः प्रभृतिभ्यः कप्'** (५।४।१५१) इति आ कपः प्रत्यया गृह्यन्ते।

__आर्यभाषा–अर्थ__–(असर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्ययों को छोड़कर (स्वादिषु) 'सु' आदि प्रत्ययों के परे होने पर पूर्ववर्ती शब्द की (पदम्) पद संज्ञा होती है।

उदा०–राजभ्याम्। दो राजाओं के द्वारा। राजभिः। सब राजाओं के द्वारा। राजत्वम्। राजपना। राजता। राजभाव। राजतरः। दो राजाओं में प्रशंसनीय राजा। राजतमः। सब राजाओं में प्रशंसनीय राजा।

__सिद्धि__–(१) __राजभ्याम्।__ राजन्+भ्याम्। राज+भ्याम्।

यहां 'राजन्' शब्द से 'भ्याम्' प्रत्यय करने पर 'राजन्' शब्द की पद संज्ञा होती है। अतः 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) से 'न्' का लोप हो जाता है। इसी प्रकार से-राजन्+भिस्=राजभिः।

(२) __राजत्वम्।__ राजन्+त्व। राज+त्व। राजत्व+सु। राजत्वम्।

यहां 'राजन्' शब्द से 'तस्य भावस्त्वतलौ' (५।१।११९) से तद्धित 'त्व' प्रत्यय करने पर पूर्ववत् 'न्' का लोप होता है।

(३) __राजता।__ राजन्+तल। राज+त। राजत+टाप्। राज+त+आ। राजता+सु। राजता। तल् प्रत्ययान्त शब्द 'तलन्तः' (लिंगानुशासन) से स्त्रीलिङ्ग में ही होते हैं। अतः 'अजाद्यतष्टाप्' (४।१।४) से स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

(४) __राजतरः।__ राजन्+तरप्। राज+तर। राजतर+सु। राजतरः।

*यहां 'राजन्' शब्द से '**द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ**' (५।३।५७) से तद्धित 'तरप्' प्रत्यय करने पर 'राजन्' शब्द की पदसंज्ञा होती है। अतः पूर्ववत् 'न्' का लोप हो जाता है।*

*(५) **राजतमः।** राजन्+तमप्। राज+तम। राजतम+सु। राजतमः।*

*यहां 'राजन्' शब्द से '**अतिशायने तमबिष्ठनौ**' (५।३।५५) से 'तमप्' प्रत्यय करने पर 'राजन्' शब्द की पदसंज्ञा होती है। अतः पूर्ववत् 'न्' का लोप होता है।*

भसंज्ञाप्रकरणम्

य-अजादौ–

(१) यचि भम्।१८।

प०वि०–य्-अचि ७।१ भम् १।१।

स०–य् च अच् च एतयोः समाहारः–यच्, तस्मिन् यचि (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०–'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–असर्वनामस्थाने स्वादिषु पूर्वं भम्।

अर्थः–सर्वनामस्थानवर्जितेषु स्वादिषु प्रत्ययेषु यकारादावजादौ च प्रत्यये परतः पूर्वं भ-संज्ञकं भवति।

उदा०–(यकारादौ) गार्ग्यः। वात्स्यः। (अजादौ) दाक्षिः। प्लाक्षिः।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(असर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्ययों को छोड़कर (स्वादिषु) 'सु' आदि प्रत्ययों में विद्यमान (यचि) यकारादि और अजादि प्रत्यय के परे होने पर पूर्ववर्ती शब्द की (भम्) 'भ' संज्ञा होती है।

उदा०–(यकारादि) गार्ग्यः। गर्ग का पोता। वात्स्यः। वत्स का पोता। (अजादि) दाक्षिः। दक्ष का पुत्र। प्लाक्षिः। प्लक्ष का पुत्र।

__सिद्धि-(१) गार्ग्यः।__ गर्ग+यञ्। गर्ग+य। गार्ग्+य। गार्ग्य+सु। गार्ग्यः।

*यहां 'गर्ग' शब्द से '**गर्गादिभ्यो यञ्**' (४।१।१०५) से गोत्रापत्य अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय करने पर 'गर्ग' शब्द की 'भ' संज्ञा होती है। अतः '**यस्येति च**' (६।४।१४८) से 'गर्ग' के 'अ' का लोप हो जाता है। '**अचो ञ्णिति**' (७।२।११५) से आदि वृद्धि होती है। इसी प्रकार 'वत्स' शब्द से '**वात्स्यः**' शब्द सिद्ध होता है।*

*(२) **दाक्षिः।** दक्ष+इञ्। दक्ष्+इ। दाक्ष्+इ। दाक्षि+सु। दाक्षिः।*

*यहां 'दक्ष' शब्द से '**अत इञ्**' (४।१।९५) से अपत्य अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय करने पर 'दक्ष' शब्द की 'भ' संज्ञा होती। अतः पूर्ववत् दक्ष के 'अ' का लोप हो जाता है। यहां भी पूर्ववत् आदिवृद्धि होती है।*

तकारान्तं मकारान्तं च मत्वर्थे-

(२) तसौ मत्वर्थे।१६।

प०वि०-त-सौ १।२ मतु-अर्थे ७।१।

स०-तश्च सश्च तौ-तसौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। मतोरर्थ इति मत्वर्थः, तस्मिन्-मत्वर्थे (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-'भम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-तसौ भम् मत्वर्थे।

अर्थः-तकारान्तं सकारान्तं च शब्दरूपं मत्वर्थे प्रत्यये परतो भ-संज्ञकं भवति।

उदा०-(तकारान्तम्) विद्युत्वान् बलाहकः। उदश्वित्वान् घोषः। (सकारान्तम्) पयस्वी। यशस्वी।

आर्यभाषा-अर्थ-(तसौ) तकारान्त और सकारान्त शब्द की (मत्वर्थे) मतु-अर्थीय प्रत्यय परे होने पर (भम्) भ-संज्ञा होती है।

*उदा०-(तकारान्त) **विद्युत्वान् बलाहकः।** बिजलीवाला बादल। **उदश्वित्वान् घोषः।** लस्सीवाली झोंपड़ी अथवा लस्सीवाले ग्वालों की बस्ती। **'घोष आभीरपल्ली स्या'दित्यमरः।** (सकारान्त) **पयस्वी।** दूधवाला। **यशस्वी।** यशवाला।*

*सिद्धि-(१) **विद्युत्वान्।** विद्युत्+मतुप्। विद्युत्+मत्। विद्युत्+वत्। विद्युत्वत्+सु। विद्युत्वनुम्त्+सु। विद्युत्+वान् त्+स्। विद्युत्वान्।*

*यहां तकारान्त विद्युत् शब्द से **'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'** (५।२।९४) से 'मतुप्' प्रत्यय और **'झयः'** (८।२।१०) से 'मतुप्' के 'म्' को 'व्' आदेश होता है। 'मतुप्' प्रत्यय के परे होने पर तकारान्त 'विद्युत्' शब्द की भ-संज्ञा होने से **'झलां जशोऽन्ते'** (८।२।३९) से 'त' को जश् दकार नहीं होता है।*

*यहां **'उगिदचां सर्वनामस्थाने चाऽधातोः'** (७।१।७०) से 'नुम्' आगम, **'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ'** (६।४।८) से **'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०'** (६।१।६८) दीर्घ से 'सु' का लोप और **'संयोगान्तस्य लोपः'** (८।३।२३) से 'त्' का लोप हो जाता है। इसी प्रकार तकारान्त 'उदश्वित्' शब्द से मतुप् प्रत्यय करने पर 'उदश्वित्वान्' शब्द सिद्ध होता है।*

*(२) **पयस्वी।** पयस्+विनि। पयस्+विन्। पयस्विन्+सु। पयस्वीन्+स्। पयस्वी।*

*यहां सकारान्त 'पयस्' शब्द से **'अस्मायामेधास्रजो विनिः'** (५।२।१२१) से मत्वर्थीय 'विनि' प्रत्यय करने पर सकारान्त 'पयस्' शब्द की भ-संज्ञा होती है। इसलिये यहां **'ससजुषो रुः'** (८।२।६६) से 'पयस्' के 'स्' को 'रु' आदेश नहीं होता है।*

यहां 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।४।८) से दीर्घ, 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६८) से 'सु' का लोप और 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) से 'न्' का लोप हो जाता है।

वेदेऽयस्मयादीनि–

अयस्मयादीनि छन्दसि।२०।

प०वि०–अयस्मय-आदीनि १।३ छन्दसि ७।१।

स०–अयस्मयम् आदिर्येषां तानीमानि–अयस्मयादीनि (बहुव्रीहिः)।

अनु०–भम्, पदम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–छन्दसि अयस्मयादीनि भम् पदं च।

अर्थः–छन्दसि=वैदिकभाषायाम् अयस्मयादीनि शब्दरूपाणि साधूनि भवन्ति।

अत्र भ-पदसंज्ञाधिकारे साधुत्वविधानाद् अस्मयादीनां भ-पदसंख्यामुखेन साधुत्वं विधीयते।

उदा०–अयस्मयं वर्म। अयस्मयानि पात्राणि। क्वचिद् भ-संज्ञा पदसंज्ञा चेत्युभयमपि भवति–स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन। 'ऋक्वता' इत्यत्र पदत्वात् कुत्वं तु भवति, परं भत्वाज् जश्त्वं न भवति।

***आर्यभाषा-अर्थ**–छन्दसि=वैदिकभाषा में (अयस्मयादीनि) 'अयस्मय' आदि शब्द शुद्ध समझे जाते हैं। यहां 'भ' और 'पद' संज्ञा के अधिकार में 'अयस्मय' आदि शब्दों का साधुत्व विधान किया गया है, अतः इन्हें भ और पदसंज्ञा कार्य विषय में साधु समझना चाहिये।*

उदा०–अयस्मयं वर्म। लोह से बना हुआ कवच। अयस्मयानि पात्राणि। लोहे से बने हुये पात्र (स्टील के बर्तन)। स सुष्टुभा ऋक्वता गणेन।

***सिद्धि**–(१) **अयस्मयम्।** अयस्+मयट्। अयस्+मय। अयस्मय+सु। अयस्मयम्। यहां 'अयस्' शब्द से 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (५।४।२१) से 'मयट्' प्रत्यय करने पर 'अयस्' की भ-संज्ञा होती है। भ-संज्ञा होने से 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) से 'स्' को रुत्व नहीं होता है।*

*(२) **ऋक्वता।** ऋच्+मतुप्। ऋच्+वत्। ऋक्+वत्। ऋक्वत्+टा। ऋक्वता। यहां ऋच् शब्द से 'तदस्यास्मिन्नस्तीति मतुप्' (५।२।९४) से 'मतुप्' प्रत्यय और 'मयः' (८।२।१०) से 'मतुप्' के 'म्' को वकारादेश करने पर 'ऋच्' शब्द की पद संज्ञा होने से 'चोः कुः' (८।२।३०) से कुत्व तो हो जाता है, किन्तु भ-संज्ञा होने से 'झलां*

जशोऽन्ते' (८।२।३९) से जश्त्व गकार नहीं होता है। इस प्रकार कहीं-कहीं 'भ' और 'पद' दोनों संज्ञायें भी हो जाती हैं।

विशेष-'अयस्मय' आदि कोई निर्धारित गण नहीं है। इस प्रकार के शब्दों को अयस्मय आदि गण में समझ लेवें।

वचन-विधानम्

बहुवचनम्-

(१) बहुषु बहुवचनम्।२१।

प०वि०-बहुषु १।३ बहुवचनम् १।१।

अर्थः-बहुषु पदार्थेषु उच्यमानेषु बहुवचनं भवति।

उदा०-ब्राह्मणाः पठन्ति।

आर्यभाषा-अर्थ-*(बहुषु) बहुत पदार्थों के कथन करने में (बहुवचनम्) बहुवचन संज्ञक प्रत्यय होते हैं।*

*उदा०-**ब्राह्मणाः पठन्ति।** ब्राह्मण पढ़ते हैं।*

सिद्धि-(१) ब्राह्मणाः। *ब्राह्मण+जस्। ब्राह्मण+अस्। ब्राह्मणाः। यहां बहुत ब्राह्मणों के कथन में बहुवचन संज्ञक 'जस्' प्रत्यय है।*

*(२) **पठन्ति।** पठ्+लट्। पठ्+शप्+झि। पठ्+अ+अन्ति। पठन्ति। यहां पर 'पठ व्यक्तायां वाचि' (भ्वा०प०) धातु से बहुत्व विवक्षा में बहुवचन संज्ञक 'झि' प्रत्यय होता है। 'झोऽन्तः' (७।१।३) से 'झ्' को 'अन्त' आदेश होता है।*

द्विवचनमेकवचनं च-

(२) द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने।२२।

प०वि०-द्वि-एकयोः ७।२ द्विवचन-एकवचने १।२।

स०-द्वौ च एकश्च तौ द्वि-एकौ, तयोः-द्व्येकयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। द्विवचनं च एकवचनं च ते द्विवचनैकवचने (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अर्थः-द्वि-एकयोः पदार्थयोरुच्यमानयोर्यथासंख्यं द्विवचन-एकवचने भवतः।

उदा०-(द्वित्व-विवक्षायाम्) ब्राह्मणौ पठतः। (एकत्व-विवक्षायाम्) ब्राह्मणः पठति।

आर्यभाषा-अर्थ-*(द्व्येकयोः) दो और एक पदार्थ के कहने में यथासंख्य (द्विवचनैकवचने) द्विवचन और एकवचन संज्ञक प्रत्यय होते हैं।*

उदा०-(द्वित्व-विवक्षा में) ब्राह्मणौ पठतः। दो ब्राह्मण पढ़ते हैं। (एकत्व-विवक्षा में) ब्राह्मणः पठति। एक ब्राह्मण पढ़ता है।

*सिद्धि-(१) **ब्राह्मणौ।** ब्राह्मण+औ। ब्राह्मणौ। यहां दो ब्राह्मणों की विवक्षा में ब्राह्मण शब्द से द्विवचन संज्ञक 'औ' प्रत्यय होता है।*

*(२) **पठतः।** पठ्+लट्। पठ्+शप्+तस्। पठ्+अ+तस्। पठतः। यहां '**पठ व्यक्तायां वाचि**' (भ्वा०प०) से द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन संज्ञक 'तस्' प्रत्यय होता है।*

*(३) **ब्राह्मणः।** ब्राह्मण+सु। ब्राह्मण+रु। ब्राह्मण+र्। ब्राह्मणः। यहां एक ब्राह्मण की विवक्षा में ब्राह्मण शब्द से एकवचन संज्ञक 'सु' प्रत्यय होता है।*

*(४) **पठति।** पठ्+लट्। पठ्+शप्+तिप्। पठ्+अ+ति। पठति। यहां '**पठ व्यक्तायां वाचि**' (भ्वा०प०) धातु से एकत्व विवक्षा में एकवचन संज्ञक 'तिप्' प्रत्यय होता है।*

कारकप्रकरणम्

अधिकारः-

कारके।२३।

प०वि०-कारके ७।१।

अर्थः-'**कारके**' इत्यधिकारोऽयम्, '**तत्प्रयोजको हेतुश्च**' (१।४।५५) इति यावत्। कारकशब्दोऽत्र निमित्तपर्यायः। कारकं हेतुरित्यनर्थान्तरम्। कस्य हेतुः ? क्रियायाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(कारके) 'कारके' का 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' (१।४।४५) तक अधिकार है। यहां कारक शब्द निमित्त का पर्यायवाची है। कारक और निमित्त शब्द में कोई अर्थभेद नहीं है। किसका हेतु ? क्रिया का जो हेतु होता है उसे कारक (कारण) कहते हैं।

'कारक' शब्द एक अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है इसका अर्थ 'कारण' है। इस प्रकरण से कारक शब्द से ही व्यवहार किया जाता है।

अपादान-संज्ञा

ध्रुवम्-

(१) ध्रुवमपायेऽपादानम्।२४।

प०वि०-ध्रुवम् १।१ अपाये ७।१ अपादानम् १।१।

अर्थः-अपाये=विभागे सति **यद् ध्रुवम्**=अवधिभूतं **तत् कारकम् अपादान-संज्ञकं भवति।**

उदा०-ग्रामादागच्छति। पर्वतादवरोहति। सार्थाद् हीनः। रथात् पतितः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अपाये) दो पदार्थों के विभाग हो जाने पर (ध्रुवम्) जो पदार्थ अवधिरूप हैं, (कारकम्) उस कारक की (अपादानम्) अपादान संज्ञा होती है।

उदा०-ग्रामादागच्छति। वह ग्राम से आता है। पर्वतादवरोहति। वह पर्वत से उतरता है। सार्थाद् हीनः। वह अपने समुदाय से बिछुड़ गया। रथात् पतितः। वह रथ से गिर गया।

***सिद्धि-ग्रामादागच्छति देवदत्तः।** देवदत्त ग्राम से आता है। यहां देवदत्त और ग्राम दो पदार्थ हैं, जो प्रथम परस्पर संयुक्त हैं। उन दोनों का अपाय=विभाग (पृथग्भाव) हो जाने पर जो पदार्थ ध्रुव अर्थात् अवधिरूप है कि देवदत्त का कहां से विभाग हुआ है? उस अवधिरूप कारक (कारण) की अपादान संज्ञा होती है और उसमें '**अपादाने पञ्चमी**' (२।३।२८) से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार '**पर्वतादवरोहति**' आदि उदाहरणों को समझ लेवें।*

भयहेतुः-

(२) भीत्रार्थानां भयहेतुः।२५।

प०वि०-भी-त्रार्थानाम् ६।३ भय-हेतुः १।१।

स०-भीश्च त्राश्च तौ-भीत्रौ, अर्थश्च अर्थश्च तौ-अर्थौ। भीत्रौ अर्थौ येषां ते भीत्रार्थाः, तेषाम्-भीत्रार्थानाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)। भयस्य हेतुरिति भयहेतुः (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-'अपादानम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-भीत्रार्थानां भयहेतुः कारकमपादानम्।

अर्थः-बिभेत्यर्थानां त्रायत्यर्थानां च धातूनां प्रयोगे योभयस्य हेतुः, तत् कारकम् अपादानसंज्ञकं भवति।

उदा०-(बिभेत्यर्थानाम्) चौरेभ्यो बिभेति। चौरेभ्य उद्विजते। (त्रायत्यर्थानाम्) चौरेभ्यस्त्रायते। चौरेभ्यो रक्षति।

आर्यभाषा-अर्थ-(भी-त्रार्थानाम्) डरना और रक्षा करना अर्थवाली धातुओं के प्रयोग में (भय-हेतुः) जो भयहेतु रूप (कारकम्) कारक है, उसकी अपादान संज्ञा होती है।

उदा०-(बिभेति अर्थक) चौरेभ्यो बिभेति। वह चोरों से डरता है। चौरेभ्य उद्विजते। वह चारों से उद्विग्न (व्याकुल) होता है। (त्रायति-अर्थक) चौरेभ्यस्त्रायते। वह चौरों से पालन करता है (पीछा छुड़वाता है)। चौरेभ्यो रक्षति। वह चौरों से रक्षा करता है।

*सिद्धि-**देवदत्तश्चौरेभ्यो बिभेति।** देवदत्त चोरों से डरता है। यहां 'बिभेति' धातु के प्रयोग में भय का हेतु चोर है, अतः उस 'कारक' की अपादान संज्ञा होती है और उसमें **'अपादाने पञ्चमी'** (२।३।२८) से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार **'चौरेभ्य उद्विजते'** आदि में भी समझें।*

असोढः-

(३) पराजेरसोढः।२६।

प०वि०-परा-जेः ६।१ असोढः १।१।

स०-सोढुं शक्यते इति सोढः। न सोढ इति असोढः (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-'अपादानम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-पराजेरसोढः कारकमपादनम्।

अर्थः-परा पूर्वस्य जि-धातोः प्रयोगे योऽसोढोऽर्थः, तत्कारकम् अपादानसंज्ञकं भवति।

उदा०-अध्ययनात् पराजयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(परा-जेः) परा उपसर्गपूर्वक 'जि' धातु के प्रयोग में (असोढः) जो असह्य पदार्थ है, (कारकम्) उस कारक की (अपादानम्) अपादान संज्ञा होती है।

उदा०-अध्ययनात् पराजयते। वह अध्ययन से पराजित होता है।

*सिद्धि-**देवदत्तोऽध्ययनात् पराजयते।** देवदत्त अध्ययन कार्य से पराजित होता है। यहां **'पराजयते'** के प्रयोग में देवदत्त के लिये असह्य पदार्थ **'अध्ययन'** है। उस 'कारक' की अपादान संज्ञा होती है और उसमें **'अपादाने पञ्चमी'** (२।३।२८) से पञ्चमी विभक्ति होती है।*

ईप्सितः-

(४) वारणार्थानामीप्सितः।२७।

प०वि०-वारण-अर्थानाम् ६।१ ईप्सितः १।१।

स०-वारणम् अर्थो येषां ते वारणार्थाः, तेषाम्-वारणार्थानाम् (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'अपादानम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-वारणार्थानामीप्सितः कारकमपादानम्।

अर्थः-वारणार्थानाम्=निवारणार्थानां धातूनां प्रयोगे य ईप्सितोऽर्थस्तत् कारकमपादानसंज्ञकं भवति।

उदा०-यवेभ्यो गां वारयति। यवेभ्यो गां निवर्तयति।

आर्यभाषा-अर्थ-(वारणार्थानाम्) निवारण अर्थवाली धातुओं के प्रयोग में (ईप्सितः) जो पदार्थ अभीष्ट है, उस कारक की (अपादानम्) अपादान संज्ञा होती है।

*उदा०-**यवेभ्यो गां वारयति।** वह जौ के खेत से गाय को हटाता है। **यवेभ्यो गां निवर्तयति।** वह जौ के खेत से गाय को मोड़ता है।*

*सिद्धि-**देवदत्तो यवेभ्यो गां वारयति।** देवदत्त जौ के खेत से गौ को हटाता है। यहां 'वारयति' के प्रयोग में देवदत्त को 'जौ का खेत' अभीष्ट पदार्थ है, प्रिय है, वह उसमें हानि नहीं चाहता है, अतः उस कारक की अपादान संज्ञा होती है और उसमें **'अपादाने पञ्चमी'** (२।३।२८) से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है।*

येनादर्शनमिच्छति–

(५) अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति।२८।

प०वि०-अन्तर्द्धौ ७।१ निमित्तसप्तमी। येन ३।१ अदर्शनम् १।१ इच्छति 'क्रियापदम्'।

स०-न दर्शनमिति अदर्शनम् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-'अपादानम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति तत् कारकमपादानम्।

अर्थः-अन्तर्द्धौ=अन्तर्धाननिमित्तम्, येनात्मनोऽदर्शनमिच्छति, तत्कारकमपादानसंज्ञकं भवति।

उदा०-उपाध्यायाद् अन्तर्धत्ते। उपाध्यायाद् निलीयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(अन्तर्धौ) अन्तर्धान के निमित्त (येन) जिससे वह (अदर्शनम्) अपना अदर्शन (इच्छति) चाहता है, (कारकम्) उस कारक की (अपादानम्) अपादान संज्ञा होती है।

उदा०-उपाध्यायाद् अन्तर्धत्ते। अपाध्याय से अन्तर्धान होता है। उपाध्यायाद् निलीयते। उपाध्याय से छुपता है।

*सिद्धि-**छात्र उपाध्यायादन्तर्धत्ते।** छात्र उपाध्याय से अन्तर्धान होता है। यहां छात्र अन्तर्धान के कारण उपाध्याय से अपना अदर्शन चाहता है, अतः उसकी अपादान संज्ञा होती है और उसमें **'अपादाने पञ्चमी'** (२।३।२८) से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है।*

आख्याता–

(६) आख्यातोपयोगे।२६।

प०वि०–आख्याता १।१ उपयोगे ७।१।

अनु०–'अपादानम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–उपयोगे आख्याता कारकमपादानम्।

अर्थः–उपयोगे=नियमपूर्वके विद्याग्रहणे साध्ये य आख्याता= प्रतिपादयिता, तत्कारकमपदानसंज्ञकं भवति।

उदा०–उपाध्यायाद् अधीते। उपाध्यायाद् आगमयति।

*आर्यभाषा-अर्थ-(उपयोगे) नियमपूर्वक विद्या ग्रहण करने में (आख्याता) जो उसका प्रतिपादक है, (कारकम्) उस कारक की (अपादानम्) अपादान संज्ञा होती है। **उपाध्यायाद् अधीते।** उपाध्याय से पढ़ता है। **उपाध्यायाद् आगमयति।** उपाध्याय से विद्या प्राप्त करता है।*

***सिद्धि-शिष्य उपाध्यायाद् अधीते।** शिष्य अपने उपाध्याय से नियमपूर्वक विद्या ग्रहण करता है। यहां नियमपूर्वक विद्या के ग्रहण करने में उसका प्रतिपादक उपाध्याय है, अतः उसकी अपादान संज्ञा होती है और उसमें **'अपादाने पञ्चमी'** (२।३।२८) से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है।*

प्रकृतिः–

(७) जनिकर्तुः प्रकृतिः।३०।

प०वि०–जनि-कर्तुः ६।१ प्रकृतिः १।१।

स०–जनेः कर्ता इति जनिकर्ता, तस्य-जनिकर्तुः (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०–'अपादानम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–जनिकर्तुः प्रकृतिः कारकमपादानम्।

अर्थः–जनिधातोर्यः कर्ता, तस्य या प्रकृतिः=कारणम्, तत् कारकम् अपादानसंज्ञकं भवति।

उदा०–शृङ्गाद् शरो जायते। गोमयाद् वृश्चिको जायते।

आर्यभाषा-अर्थ-(जनिकर्तुः) 'जनि' धातु का जो कर्ता है, उसकी (प्रकृतिः) जो प्रकृति अर्थात् कारण है, (कारकम्) उस कारक की (अपादानम्) अपादान संज्ञा होती है।

उदा०-शृङ्गाद् शरो जायते। सींग से बाण पैदा होता है। गोमयाद् वृश्चिको जायते। गोबर से बिच्छू पैदा होता है।

*सिद्धि-**शृङ्गाद् शरो जायते**। यहां 'जायते' पद का कर्ता 'शर' है और उसकी प्रकृति (उपादानकरण) शृङ्ग है, अतः उसकी अपादान संज्ञा होती है और उसमें '**अपादाने पञ्चमी**' (२।३।२८) से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार '**गोमयाद् वृश्चिको जायते**' समझें।*

प्रभवः-

(८) भुवः प्रभवः।३१।

प०वि०-भुवः ६।१ प्रभवः १।१।

अनु०-'कर्तुः, अपादानम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-भुवः कर्तुः प्रभवः कारकमपादानम्।

अर्थः-भुवो धातोर्यः कर्ता, तस्य यः प्रभवोऽर्थस्तत्कारकम् अपादानसंज्ञकं भवति।

उदा०-हिमवतो गङ्गा प्रभवति। काश्मीरेभ्यो वितस्ता प्रभवति। प्रथमत उपलभ्यते इत्यर्थः।

*आर्यभाषा-**अर्थ**-(भुवः) भू धातु का (कर्तुः) जो कर्ता है, उसकी (प्रभवः) जो प्रथम उत्पत्ति स्थान है, (कारकम्) उस कारक की (अपादानम्) अपादान संज्ञा होती है।*

उदा०-हिमवतो गङ्गा प्रभवति। हिमालय से गङ्गा निकलती है। काश्मीरेभ्यो वितस्ता प्रभवति। काश्मीर से वितस्ता नदी निकलती है।

*सिद्धि-**हिमवतो गङ्गा प्रभवति**। हिमालय से गङ्गा नदी निकलती है। यहां 'प्रभवति' का कर्ता 'गङ्गा' है और उसका प्रथम उत्पत्ति स्थान हिमवान् है, अतः उसकी अपादान संज्ञा होती है और उसमें '**अपादाने पञ्चमी**' (२।३।२८) से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार-'**काश्मीरेभ्यो वितस्ता प्रभवति**' समझें।*

सम्प्रदानसंज्ञा

ददाति-कर्मणा यमभिप्रैति-

(१) कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्।३२।

प०वि०-कर्मणा ३।१ यम् २।१ अभिप्रैति क्रियापदम्, सः १।१ सम्प्रदानम् १।१।

अन्वयः-कर्ता कर्मणा यम् अभिप्रैति स कारकं सम्प्रदानम्।

अर्थः-कर्ता ददाति-कर्मणा यम् अभिप्रैति=अभीप्सति स कारकं सम्प्रदानसंज्ञकं भवति। अन्वर्थकसंज्ञाविज्ञानाद् ददाति-कर्मणा इति विज्ञायते।

उदा०-कर्ता (कर्मणा) उपाध्यायाय गां ददाति। माणवकाय भिक्षां ददाति।

आर्यभाषा-अर्थ-*कर्ता (कर्मणा) ददाति-क्रिया के कर्म के द्वारा (यम्) जिसको (अभिप्रैति) प्राप्त करना चाहता है (स:) उस (कारकम्) कारक की (सम्प्रदानम्) सम्प्रदान संज्ञा होती है।*

उदा०-उपाध्यायाय गां ददाति। वह उपाध्याय को गाय देता है। माणवकाय भिक्षां ददाति। वह बालक को भिक्षा देता है।

सिद्धि-देवदत्त उपाध्यायाय गां ददाति। *देवदत्त उपाध्याय को गाय देता है। यहां देवदत्त '**ददाति**' क्रिया के कर्म '**गौ**' के द्वारा उपाध्याय को प्राप्त करना चाहता है, उससे सम्बन्धित होता है, अत: '**उपाध्याय**' की सम्प्रदान संज्ञा है। इसलिये उससे '**चतुर्थी सम्प्रदाने**' (२।३।१३) से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।*

प्रीयमाण:-

(२) रुच्यार्थानां प्रीयमाण:।३३।

प०वि०-रुचि-अर्थानाम् ६।३ प्रीयमाण:। १।१।

स०-रुचिरर्थो येषां ते रुच्यर्था:, तेषाम्-रुच्यर्थानाम् (बहुव्रीहि:)।

अनु०-'सम्प्रदानम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वय:-रुच्यार्थानां प्रीयमाण: कारकं सम्प्रदानम्।

अर्थ:-रुचि=अर्थानां धातूनां प्रयोगे य: प्रीयमाण:=तर्पमाणोऽर्थ:, तत् कारकं सम्प्रदान-संज्ञकं भवति।

उदा०-देवदत्ताय रोचते मोदक:। यज्ञदत्ताय स्वदतेऽपूप:। अन्यकर्तृकोऽभिलाष:=रुचि:। देवदत्तस्थस्याभिलाषस्यात्र मोदक: कर्ता।

आर्यभाषा-अर्थ-*(रुचि-अर्थानाम्) रुचि अर्थवाली धातुओं के प्रयोग में (प्रीयमाण:) जो तृप्त होनेवाला है (कारकम्) उस कारक की (सम्प्रदानम्) सम्प्रदान संज्ञा होती है।*

उदा०-देवदत्ताय रोचते मोदक:। देवदत्त को लड्डू अच्छा लगता है। यज्ञदत्ताय स्वदतेऽपूप:। यज्ञदत्त को पूड़ा स्वाद लगता है।

सिद्धि-(१) देवदत्ताय रोचते मोदक:। *यहां '**रोचते**' धातु के प्रयोग में तृप्त होनेवाला देवदत्त है, अत: उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है। इसलिये उसमें '**चतुर्थी सम्प्रदाने**' (२।३।१३) से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार-**यज्ञदत्ताय स्वदतेऽपूप:।***

विशेष- *धातुपाठ में '**रुच दीप्तौ**' (भ्वा०आ०) रुच धातु दीप्ति अर्थ में पढ़ी गई है। '**अनेकार्था हि धातवो भवन्ति**' धातु अनेकार्थक होती हैं, अत: यहां रुच धातु अभिलाष*

अर्थ में है। अन्य कर्ता में स्थित अभिलाष को रुचि कहते हैं। यहां 'रोचते' का कर्ता मोदक है, अभिलाष उससे भिन्न कर्ता देवदत्त में अवस्थित है।

ज्ञीप्स्यमानः--

(३) श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः।३४।

प०वि०-श्लाघ-ह्नुङ्-स्था-शपाम् ६।३ ज्ञीप्स्यमानः १।३।

स०-श्लाघश्च ह्नुङ् च स्थाश्च शप् च ते-श्लाघह्नुङ्स्थाशपः, तेषाम्-श्लाघह्नुङ्स्थाशपाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। ज्ञपयितुमिष्यामाण इति ज्ञीप्स्यमानः। बोधयितुमभिप्रेत इत्यर्थः।

अनु०-'सम्प्रदानम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः कारकं सम्प्रदानम्।

अर्थः-श्लाघ-ह्नुङ्-स्था-शपां धातूनां प्रयोगे यो ज्ञीप्स्यमानः=बोधयितुमभिप्रेतोऽर्थः, तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञकं भवति।

उदा०-(श्लाघ) स देवदत्ताय श्लाघते। स देवदत्तं श्लाघमानस्तां श्लाघां तमेव ज्ञपयितुमित्यर्थः। (ह्नुङ्) स देवदत्ताय ह्नुते। स देवदत्तम् अपनयमानस्तदपनयनं तमेव ज्ञपयितुमिच्छतीत्यर्थः। (स्था) स देवदत्ताय तिष्ठते। स देवदत्ते तिष्ठमानस्तामास्थां तमेव ज्ञपयितुमिच्छतीत्यर्थः। (शप्) स देवदत्ताय शपते। स देवदत्तं शपमानस्तदुपालम्भनं तमेव ज्ञपयितुमिच्छतीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(श्लाघह्नुङ्स्थाशपाम्) श्लाघ, ह्नुङ्, स्था और शप् धातु के प्रयोग में (ज्ञीप्स्यमानः) जिसे उस श्लाघा आदि को जनाना अभीष्ट है (कारकम्) उस कारक की (सम्प्रदानम्) सम्प्रदान संज्ञा होती है।

उदा०-(श्लाघ) ***स देवदत्ताय श्लाघते।*** *वह देवदत्त की श्लाघा=प्रशंसा करता है और उस श्लाघा को देवदत्त को जनाना चाहता है। (ह्नुङ्)* ***स देवदत्ताय ह्नुते।*** *वह देवदत्त को हटाता है और उस अपनयन को देवदत्त को जनाना चाहता है। (स्था)* ***स देवदत्ताय तिष्ठते।*** *वह देवदत्त में आस्था रखता है और उस आस्था को देवदत्त को जनाना चाहता है। (शप्)* ***स देवदत्ताय शपते।*** *वह देवदत्त को उपालम्भ (उलाहना) देता है और उस उपालम्भ को देवदत्त को जनाना चाहता है।*

सिद्धि-(१) स देवदत्ताय श्लाघते। *वह देवदत्त की श्लाघा करता है और उस श्लाघा को देवदत्त को जनाना चाहता है। यहां* ***'श्लाघ कत्थने'*** *(भ्वा०आ०) धातु के प्रयोग*

में ईप्स्यमान अर्थ देवदत्त है, अत: उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है। इसलिये उसमें *'चतुर्थी सम्प्रदाने' (२।३।१३) से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। ऐसा ही सर्वत्र समझें।*

(२) स देवदत्ताय तिष्ठते। यहां 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' (अ० १।३।२३) से 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' (भ्वा०प०) धातु से आत्मनेपद होता है।

(३) स देवदत्ताय शपते। यहां 'शप आक्रोशे इति वक्तव्यम्' (१।३।२१) इस वार्तिक से शप् धातु से उपालम्भन अर्थ में आत्मनेपद होता है।

उत्तमर्ण:—

(४) धारेरुत्तमर्ण:।३५।

प०वि०-धारे: ६।१ उत्तमर्ण: १।१।

स०-ऋणे उत्तम इति उत्तमर्ण: (बहुव्रीहि:)। **'सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ'** (२।२।३५) इति सप्तम्यन्तस्य ऋणशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते निपातनात् परनिपात:।

अनु०-'सम्प्रदानम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वय:-धारेरुत्तमर्ण: कारकं सम्प्रदानम्।

अर्थ:-धारि-धातो: प्रयोगे य उत्तमर्णोऽर्थ:, तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञकं भवति।

उदा०-स देवदत्ताय शतं धारयति। कस्य चोत्तममृणम्? यदीयं धनम्, यो धनस्वामी स उत्तमर्ण:।

आर्यभाषा-अर्थ-(धारे:) धारयति धातु के प्रयोग में (उत्तमर्ण:) जो ऋण में उत्तम है अर्थात् धन का स्वामी है (कारकम्) उस कारक की (सम्प्रदानम्) सम्प्रदान संज्ञा होती है।

उदा०-स देवदत्ताय शतं धारयति। वह देवदत्त का सौ रुपये का कर्जदार है। 'उत्तमर्ण' किसे कहते हैं? जो धन का स्वामी है, उसे 'उत्तमर्ण' कहते हैं। कर्जा लेनेवाले को 'अधमर्ण' कहा जाता है।

सिद्धि-स देवदत्ताय शतं धारयति। वह देवदत्त का सौ रुपये का कर्जदार है। यहां 'धारयति' धातु के प्रयोग में 'देवदत्त' उत्तमर्ण है, धन का स्वामी है, अत: उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है। इसलिये उसमें 'चतुर्थी सम्प्रदाने' (२।३।१३) से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

ईप्सितः-

(५) स्पृहेरीप्सितः।३६।

प०वि०-स्पृहेः ६।१ ईप्सितः १।१।

अनु०-'सम्प्रदानम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-स्पृहेरीत्सितः कारकं सम्प्रदानम्।

अर्थः-स्पृहि-धातोः प्रयोगे य ईप्सितः=अभिप्रेतोऽर्थः, तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञकं भवति।

उदा०-स पुष्पेभ्यः स्पृहयति। स फलेभ्यः स्पृहयति।

आर्यभाषा-अर्थ-(स्पृहेः) स्पृहयति धातु के प्रयोग में (ईप्सितः) जो अभिप्रेत एवं अभीष्ट अर्थ है (कारकम्) उस कारक की (सम्प्रदानम्) सम्प्रदान संज्ञा होती है।

*उदा०-**स पुष्पेभ्यः स्पृहयति।** वह फूलों को प्राप्त करना चाहता है। **स फलेभ्यः स्पृहयति।** वह फलों को प्राप्त करना चाहता है।*

*सिद्धि-स **पुष्पेभ्यः स्पृहयति।** वह फूलों को प्राप्त करना चाहता है। यहां **'स्पृह ईप्सायाम्'** (चु०उ०) धातु के प्रयोग में अभिप्रेत अर्थ पुष्प है, अतः उस कारक की यहां सम्प्रदान संज्ञा है। इसलिये उसमें **'चतुर्थी सम्प्रदाने'** (२।३।१३) से चतुर्थी विभक्ति होती है।*

यं प्रतिकोपः-

(६) क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः।३६।

प०वि०-क्रुध-द्रुह-ईर्ष्य-असूयार्थानाम् ६।३ यम् २।१ प्रति अव्ययपदम्, कोपः १।१।

स०-क्रुधश्च द्रुहश्च ईर्ष्यश्च असूयश्च ते-क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयाः, अर्थश्च अर्थश्च अर्थश्च अर्थश्च ते अर्थाः। क्रुधद्रुहेर्ष्यासूया अर्था येषां ते-क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थाः, तेषाम्-क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भित-बहुव्रीहिः)।

अन्वयः-क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः कारकं सम्प्रदानम्।

अर्थः-क्रुध-द्रुह-ईर्ष्य-असूयार्थानां धातूनां प्रयोगे यः **'यं प्रति कोपः' अर्थः, तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञकं भवति।**

उदा०–क्रोधः=अमर्षः। द्रोहः=अपकारः। ईर्ष्या=अक्षमा। असूया=गुणेषु दोषारोपणम्। (क्रोधार्थस्य) स देवदत्ताय क्रुध्यति। (द्रोहार्थस्य) स देवदत्ताय द्रुह्यति। (ईर्ष्यार्थस्य) स देवदत्ताय ईर्ष्यति। (असूयार्थस्य) स देवदत्ताय असूयति।

आर्यभाषा–अर्थ–(क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानाम्) क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या और असूया अर्थवाली धातुओं के प्रयोग में (यं प्रति कोपः) 'जिसके प्रति क्रोध करना' जो अर्थ है, (कारकम्) उस कारक की (सम्प्रदानम्) सम्प्रदान संज्ञा होती है।

उदा०–(क्रोधार्थक) स देवदत्ताय क्रुध्यति। वह देवदत्त के प्रति क्रोध करता है। (द्रोहार्थक) स देवदत्ताय द्रुह्यति। वह देवदत्त के प्रति द्रोह करता है। (ईर्ष्यार्थ) स देवदत्ताय ईर्ष्यति। वह देवदत्त के प्रति ईर्ष्या करता है। (असूयार्थक) स देवदत्ताय असूयति। वह देवदत्त की असूया (निन्दा) करता है।

*सिद्धि–(१) **स देवदत्ताय क्रुध्यति।** वह देवदत्त के प्रति क्रोध करता है। यहां **'क्रुध क्रोपे'** (दि०प०) धातु के प्रयोग में 'देवदत्त के प्रति क्रोध' है, अतः उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा है। इसलिये यहां **'चतुर्थी सम्प्रदाने'** (२।३।१३) से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।*

*(२) इसी प्रकार **'द्रुह जिघांसायाम्'** (दि०प०) **'ईर्ष्य इर्ष्यार्थः'** (भ्वा०प०) **'असूय उपतापे'** (कण्ड्वादि) धातुओं के प्रयोगों में भी सम्प्रदान संज्ञा समझ लेवें।*

*विशेष–क्रोध कोप ही है। द्रोह आदि भी कोप से ही उत्पन्न होते हैं। अतः **'यं प्रति कोपः'** यह सामान्यरूप में कहा गया है।*

कर्मसंज्ञा

यं प्रतिकोपः-

(७) क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म।३८।

प०वि०–क्रुध-द्रुहोः ६।२ उपसृष्टयोः ६।२ कर्म १।१।

स०–क्रुधश्च द्रुह् च तौ क्रुधद्रुहौ, तयोः-क्रुधद्रुहोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–'यं प्रति कोपः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–उपसृष्टयोः क्रुधद्रुहोः यं प्रति कोपः कारकं कर्म।

अर्थः–उपसृष्टयोः=उपसर्गयुक्तयोः क्रुधद्रुहोर्धात्वोः प्रयोगे यः **'यं प्रति कोपः'** अर्थः, तत् कारकं कर्मसंज्ञकं भवति।

उदा०–(क्रुधः) स देवदत्तम् अभिक्रुध्यति। (द्रुहः) स देवदत्तम् अभिद्रुह्यति।

आर्यभाषा-अर्थ-(उपसृष्टयोः) उपसर्ग से युक्त (क्रुधद्रुहोः) क्रुध् और द्रुह् धातुओं के प्रयोग में (यं प्रति कोपः) 'जिसके प्रति क्रोध करना' जो अर्थ है, (कारकम्) उस कारक की (कर्म) कर्म संज्ञा होती है।

उदा०-(क्रुध) स देवदत्तम् अभिक्रुध्यति। वह देवदत्त के प्रति क्रोध करता है। (द्रुह) से देवदत्तम् अभिद्रुह्यति। वह देवदत्त के प्रति द्रोह करता है।

सिद्धि-स देवदत्तम् अभिक्रुध्यति। *यहां अभि उपसर्गपूर्वक **'क्रुध कोपे'** (दि०प०) धातु के प्रयोग में देवदत्त के प्रति क्रोध है, अतः उस कारक की कर्म संज्ञा है। इसलिये उसमें **'कर्मणि द्वितीया'** (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति होती है।*

सम्प्रदानसंज्ञा

विप्रश्नः--

(८) राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः।३६।

प०वि०-राधि-ईक्ष्योः ६।२ यस्य ६।१ विप्रश्नः १।१।

राधिश्च ईक्षिश्च तौ-राधीक्षी, तयोः-राधीक्ष्योः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। विविधः प्रश्न इति विप्रश्नः।

अनु०-'सम्प्रदानम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः कारकं सम्प्रदानम्।

अर्थः-राधि-ईक्ष्योर्धात्वोः प्रयोगे, यस्य विषये विविधः प्रश्न क्रियते, तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञकं भवति।

उदा०-(राधि) स देवदत्ताय राध्यति। (ईक्षे) स देवदत्ताय ईक्षते। नैमित्तिकः पृष्टः सन् देवदत्तस्य भाग्यं पर्यालोचयतीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(राधीक्ष्योः) राधि और ईक्षि धातु के प्रयोग में (यस्य विप्रश्नः) जिसके विषय में विविध प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं, (कारकम्) उस कारक की (सम्प्रदानम्) सम्प्रदान संज्ञा होती है।

*उदा०-(राधि) स **देवदत्ताय राध्यति।** वह नैमित्तिक (ज्योतिषी) देवदत्त के विषय में विविध प्रश्न पूछने पर उसके भाग्य को सिद्ध करता है। (ईक्षि) स **देवदत्ताय ईक्षते।** वह नैमित्तिक देवदत्त के विषय में विविध प्रश्न पूछने पर उसके भाग्य का पर्यालोचन करता है।*

सिद्धि-स देवदत्ताय राध्यति। *यहां **'राध्यति'** **'राध संसिद्धौ'** (दि०प०) धातु के प्रयोग में देवदत्त के विषय में विविध प्रश्न पूछे गये हैं अतः उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा*

(१०) अनुप्रतिगृणश्च ।४१।

प०वि०-अनु-प्रतिगृणः ६ ।१ च अव्ययपदम् ।

स०-अनुश्च प्रतिश्च तौ-अनुप्रती, ताभ्याम्-अनुप्रतिभ्याम् । अनुप्रतिभ्यां गृणा, इति अनुप्रतिगृणा, तस्य-अनुप्रतिगृणः (इतरेतरद्वन्द्वगर्भित-पञ्चमीतत्पुरुषः) ।

अनु०-'पूर्वस्य कर्ता, सम्प्रदानम्' इत्यनुवर्तते ।

अन्वयः-अनुप्रतिगृणश्च पूर्वस्य कर्ता सम्प्रदानम् ।

अर्थः-अनुप्रतिभ्यां परस्य गृणातेर्धातोः प्रयोगेऽपि यः पूर्वस्य **कर्ता**, तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञकं भवति ।

उदा०-(अनु) होत्रेऽनुगृणाति । (प्रति) होत्रे प्रतिगृणाति । **होता** प्रथमं शंसति, तमन्यः प्रोत्साहयतीत्यर्थः । अनुपूर्वः प्रतिपूर्वश्च **गृणातिः** शंसितुः प्रोत्साहनेऽर्थे वर्तते ।

*आर्यभाषा-अर्थ-(अनुप्रतिगृणः) अनु और प्रति उपसर्ग से परे 'गृणाति' 'गृ **स्तुतौ**' (क्र्या०प०) धातु के प्रयोग में (च) भी (पूर्वस्य कर्ता) जो पूर्व क्रिया का कर्ता है **(कारकः)** उस कारक की (सम्प्रदानम्) सम्प्रदान संज्ञा होती है।*

*उदा०-(अनु) होत्रेऽनुगृणाति। (प्रति) होत्रे प्रतिगृणाति। प्रथम होता **ऋचा का** उच्चारण करता है, उसे कोई दूसरा प्रोत्साहित करता है।*

*सिद्धि-**होत्रेऽनुगृणाति।** यहां प्रथम वाक्य यह है-**होता शंसति।** इस वा**क्य की** 'शंसति' क्रिया का कर्ता 'होता' है। अतः उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा है। इसलिये **उसमें** **'चतुर्थी सम्प्रदाने'** (२।३।१३) से चतुर्थी विभक्ति होती है।*

विशेष-अनु और प्रति उपसर्गपूर्वक 'गृणाति' धातु शंसिता=ऋचा का उच्चारण करनेवाले को प्रोत्साहित करने अर्थ में प्रयुक्त होती है।

करणसंज्ञा

साधकतमम्-

(१) साधकतमं करणम् ।४२।

प०वि०-साधकतमम् १।१ करणम् १।१ ।

स०-साधकतमं कारकं करणम् ।

अर्थः-क्रियायाः सिद्धौ यत् साधकतमं कारकं तत् करणसंज्ञकं भवति।

उदा०-देवदत्तो दात्रेण लुनाति। यज्ञदत्तो परशुना छिनत्ति।

__आर्यभाषा-अर्थ__-क्रिया की सिद्धि में (साधकतमम्) जो अत्यन्त साधक (कारकम्) कारक है, उसकी (करणम्) करण संज्ञा होती है।

उदा०-__देवदत्तो दात्रेण लुनाति।__ देवदत्त दरांती से लावणी करता है। __यज्ञदत्तो परशुना छिनत्ति।__ यज्ञदत्त कुल्हाड़े से काटता है।

__सिद्धि-देवदत्तो दात्रेण लुनाति।__ यहां __'लुनाति'__ 'लूञ् छेदने' (क्र्या०उ०) क्रिया की सिद्धि में 'दात्रम्' अत्यन्त साधक कारक है, अतः उसकी 'करण' संज्ञा होती है। इसलिये उसमें __'कर्तृकरणयोस्तृतीया'__ (३।२।१८) से तृतीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार-__यज्ञदत्तो परशुना छिनत्ति।__

कर्मसंज्ञा करणसंज्ञा च-

(२) दिवः कर्म च।४३।

प०वि०-दिवः ६।१ कर्म १।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-'साधकतमं करणम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-दिवः साधकतमं कारकं कर्म करणं च।

अर्थः-दिव्-धातोः प्रयोगे यत् साधकतमं कारकं तत् कर्मसंज्ञकं करणसंज्ञकं च भवति।

उदा०-(कर्म) सोऽक्षान् दीव्यति। (करणम्) सोऽक्षैर्दीव्यति।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(दिवः) दिव् धातु के प्रयोग में (साधकतमम्) जो अत्यन्त साधक (कारकम्) कारक है उसकी (कर्म) कर्म संज्ञा (च) और (करणम्) करण संज्ञा होती है।

उदा०-(कर्म) __सोऽक्षान् दीव्यति।__ वह पासों से खेलता है। (करण) __सोऽक्षैर्दीव्यति।__ वह पासों से खेलता है।

__सिद्धि-सोऽक्षान् दीव्यति।__ यहां 'दीव्यति' __'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदस्वप्नकान्तिगतिषु__ (दि०प०) धातु के प्रयोग में अत्यन्त साधक __'अक्षम्'__ है, अतः उस कारक की कर्म संज्ञा होती है। इसलिये उसमें __'कर्मणि द्वितीया'__ (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

(२) __सोऽक्षैर्दीव्यति।__ यहां __'दीव्यति'__ धातु के प्रयोग में अत्यन्त साधक 'अक्षम्' है। अतः उस कारक की 'करण संज्ञा होती है। इसलिये उसमें __'कर्तृकरणयोस्तृतीया'__ (२।२।१८) से तृतीया विभक्ति हो जाती है।

वा संप्रदानसंज्ञा–

(३) परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् ।४४।

प०वि०–परिक्रयणे ७।१ सम्प्रदानम् १।१ अन्यतरस्याम् अव्ययम् ७।१।

अनु०–'साधकतमम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–परिक्रयणे साधकतमं कारकमन्यतरस्यां सम्प्रदानम्।

अर्थः–परिक्रयणेऽर्थे वर्तमानं यत् साधकतमं कारकं तद् विकल्पेन सम्प्रदानसंज्ञकं भवति, पक्षे करणसंज्ञकम्।

उदा०–(सम्प्रदानम्) त्वं शताय परिक्रीतोऽनुब्रूहि। (करणम्) त्वं शतेन परिक्रीतोऽनुब्रूहि। त्वं सहस्रेण परिक्रीतोऽनुब्रूहि।

परिक्रयणम्=नियतकालं वेतनादिना स्वीकरणम्, नाऽत्यन्तिकः क्रय एव।

आर्यभाषा-अर्थ-(परिक्रयणे) किसी व्यक्ति को नियत समय तक वेतन आदि के द्वारा अपनाने अर्थ में वर्तमान (साधकतम्) जो अत्यन्त साधक (कारकम्) कारक है, उसकी (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (सम्प्रदानम्) सम्प्रदान संज्ञा होती है, पक्ष में करण संज्ञा भी होती है।

*उदा०–(सम्प्रदान) **त्वं शताय परिक्रीतोऽनुब्रूहि।** तू सौ रुपये देकर खरीदा हुआ मेरे अनुकूल बोल। **त्वं सहस्राय परिक्रीतोऽनुब्रूहि।** तू हजार रुपये देकर खरीदा हुआ मेरे अनुकूल बोल। (करण) **त्वं शतेन परिक्रीतोऽनुब्रूहि।** तू सौ रुपये से खरीदा हुआ मेरे अनुकूल बोल। **त्वं सहस्रेण परिक्रीतोऽनुब्रूहि।** तू हजार रुपये से खरीदा हुआ मेरे अनुकूल बोल।*

*सिद्धि-(१) **त्वं शताय परिक्रीतोऽनुब्रूहि।** यहां परिक्रयण अर्थ में अत्यन्त साधक 'शतम्' है। अतः उस कारक की 'सम्प्रदान' संज्ञा होती है। इसलिये उसमें '**चतुर्थी सम्प्रदाने**' (२।३।१३) से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार–**त्वं सहस्राय परिक्रीतोऽनुब्रूहि।***

*(२) **त्वं शतेन परिक्रीतोऽनुब्रूहि।** यहां परिक्रयण अर्थ में अत्यन्त साधक '**शतम्**' है। अतः उस कारक की पक्ष में करण संज्ञा होती है। इसलिये उसमें '**कर्तृकरणयोस्तृतीया**' (३।२।१८) से तृतीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार–**सहस्रेण परिक्रीतोऽनुब्रूहि।***

*विशेष–'**परिक्रयणम्**' का अर्थ किसी व्यक्ति को नियत समय तक वेतन आदि देकर अपनाना है, उसे बिलकुल खरीद लेना अर्थ नहीं है।*

अधिकरणसंज्ञा

आधारः–

(१) आधारोऽधिकरणम्।४५।

प०वि०–आधारः १।१ अधिकरणम् १।१।

अन्वयः–आधारः कारकमधिकरणम्।

अर्थः–क्रियायाः सिद्धौ य आधारः, तत् कारकमधिकरणसंज्ञकं भवति।

उदा०–देवदत्तः कटे आस्ते। देवदत्तः कटे शेते। देवदत्तः स्थाल्यां पचति।

आर्यभाषा-अर्थ-(आधारः) क्रिया की सिद्धि में जो उसका आधार है (कारकम्) उस कारक की (अधिकरणम्) अधिकरण संज्ञा होती है।

*उदा०-**देवदत्तः कटे आस्ते।** देवदत्त चटाई पर बैठता है। **देवदत्तः कटे शेते।** देवदत्त चटाई पर सोता है। **देवदत्तः स्थाल्यां पचति।** देवदत्त पतीली में पकाता है।*

*सिद्धि-**देवदत्तः कटे आस्ते।** यहां **'आस्ते'** क्रिया का आधार **'कटम्'** है। अतः उस कारक की अधिकरण संज्ञा होती है। इसलिये उसमें **'सप्तम्यधिकरणे च'** (२।३।३७) से सप्तमी विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार-**देवदत्तः कटे शेते। देवदत्तः स्थाल्यां पचति।***

कर्मसंज्ञा–

(२) अधिशीङ्स्थासां कर्म।४६।

प०वि०–अधि-शीङ्-स्था-आसाम् ६।३ कर्म १।१।

स०–शीङ् च स्थाश्च आस् च ते-शीङ्स्थासः, अधेः शीङ्स्थास इति अधिशीङ्स्थासः, तेषाम्-अधिशीङ्स्थासाम् (द्वन्द्वगर्भितपञ्चमीतत्पुरुषः)।

अनु०–'आधारः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–अधिशीङ्स्थासामाधारः कारकमधिकरणम्।

अर्थः–अधेः परेषां शीङ्-स्था-आसां धातूनां प्रयोगे य आधारः, तत् कारकं कर्मसंज्ञकं भवति।

उदा०–(अधिशीङ्) देवदत्तो ग्राममधिशेते। (अधिस्था) देवदत्तो ग्राममधितिष्ठति। (अध्यास) देवदत्तो पर्वतमध्यास्ते। पूर्वेणाऽधिकरणसंज्ञायां प्राप्तायां कर्मसंज्ञा विधीयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(अधिशीङ्स्थासाम्) अधि उपसर्ग से परे शीङ्, स्था और **आस्** *धातु के प्रयोग में (आधारः) जो आधार (कारकम्) कारक है, (कर्म) उसकी कर्म* **संज्ञा** *होती है।*

उदा०-(अधिशीङ्) **देवदत्तो ग्राममधिशेते।** *देवदत्त ग्राम में अधिकारपूर्वक सोता है। (अधिस्था)* **देवदत्तो ग्राममधितिष्ठति।** *देवदत्त ग्राम में अधिष्ठाता है। (अध्यास्)* **देवदत्ते पर्वतमध्यास्ते।** *देवदत्त पर्वत पर अधिकारपूर्वक बैठता है।*

*सिद्धि-***देवदत्तो ग्रामधिशेते।** *यहां अधि उपसर्गपूर्वक 'शेते' 'शीङ् स्वप्ने' (अ०आ०) धातु के प्रयोग में 'ग्रामः' आधार है, अतः उस कारक की कर्म संज्ञा होती है। इसलिये उसमें 'कर्मणि द्वितीया' (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार-***देवदत्तो ग्राममधितिष्ठति।** *'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' (भ्वा०प०)* **देवदत्तः पर्वतमध्यास्ते। आस् उपवेशने** *(अ०आ०)।*

विशेष-पूर्व सूत्र से अधिकरण संज्ञा प्राप्त थी। इस सूत्र से यहां कर्म संज्ञा का विधान किया गया है।

कर्मसंज्ञा-

(३) अभिनिविशश्च।४७।

प०वि०-अभि-नि-विशः ६।१ च अव्ययपदम्।

स०-अभिश्च निश्च तौ-अभिनी, ताभ्याम्-अभिनिभ्याम्। अभिनिभ्यां विश् इति, अभिनिविश्, तस्मात्-अभिनिविशः (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भित-पञ्चमीतत्पुरुषः)।

अनु०-'आधार, कर्म' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अभिनिविशश्चाधारः कारकं कर्म।

अर्थः-अभिनिभ्यां परस्य विश्-धातोः प्रयोगे य आधारः, तत् कारकं कर्मसंज्ञकं भवति।

उदा०-देवदत्तो ग्राममभिनिविशते। पूर्वेणाधिकरणसंज्ञायां प्राप्तायां कर्मसंज्ञा विधीयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(अभिनिविशः) अभि और नि उपसर्ग से परे 'विश' धातु के प्रयोग में (च) भी (आधारः) जो आधार है (कारकम्) उस कारक की (कर्म) कर्म **संज्ञा** *होती है।*

उदा०-देवदत्तो **ग्राममभिनिविशते।** *देवदत्त ग्राम के सम्मुख प्रवेश करता है।*

सिद्धि-देवदत्तो **ग्राममभिनिविशते।** *यहां अभि और नि उपसर्गपूर्वक 'विश्' धातु*

*के प्रयोग में 'ग्रामः' आधार है, अतः उस कारक की कर्म संज्ञा होती है। इसलिये उसमें **'कर्मणि द्वितीया'** (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति हो जाती है।*

*विशेष-यहां **'आधारोऽधिकरणम्'** (१।४।४५) से अधिकरण संज्ञा प्राप्त थी। इस सूत्र से कर्म संज्ञा का विधान किया गया है।*

कर्मसंज्ञा-

(४) उपान्वध्याङ्वसः।४८।

प०वि०-उप-अनु-अधि-आङ्-वसः ६।१।

स०-उपश्च अनुश्च अधिश्च आङ् च ते-उपान्वध्याङः, तेभ्यः-उपान्वध्याङ्भ्यः। उपान्वध्याङ्भ्यो वस् इति उपान्वध्याङ्वस्। तस्य उपान्वध्याङ्वसः (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितपञ्चमीतत्पुरुषः)।

अनु०-'आधारः, कर्म' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-उपान्वध्याङ्वस आधारः कारकं कर्म।

अर्थः-उप-अनु-अधि-आङ्भ्यः परस्य वस्-धातोः प्रयोगे य आधारः, तत् कारकं कर्मसंज्ञकं भवति।

उदा०-(उपवसः) ग्राममुपवसति सेना। (अनुवसः) ग्राममनुवसति सेना। (अधिवसः) ग्राममधिवसति सेना। (आवसः) ग्राममावसति सेना। पूर्वेणाधिकरणसंज्ञायां प्राप्तायां कर्मसंज्ञा विधीयते।

__आर्यभाषा-अर्थ-__(उपान्वध्याङ्वसः) उप, अनु, अधि और आङ् उपसर्ग से परे __वस्__ धातु के प्रयोग में (आधारः) जो आधार है, (कारकम्) उस कारक की (कर्म) कर्म संज्ञा होती है।

*उदा०-(उपवस्) **ग्राममुपवसति सेना।** सेना ग्राम के पास में रहती है। (अनुवस्) **ग्राममनुवसति सेना।** सेना ग्राम के पिछले भाग में रहती है। (अधिवस्) **ग्राममधिवसति सेना।** सेना ग्राम के ऊपरले भाग पर रहती है। (आवस्) **ग्राममावसति सेना।** सेना ग्राम से इधर रहती है।*

*सिद्धि-(१) **ग्राममुपवसति सेना।** यहां उप उपसर्ग से परे 'वस्' धातु के प्रयोग में 'ग्रामः' आधार है। अतः उस कारक की कर्म संज्ञा होती है। इसलिये उसमें **'कर्मणि द्वितीया'** (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार-**ग्राममनुवसति सेना। ग्राममधिवसति सेना। ग्राममावसति सेना।***

*विशेष-यहां **'आधारोऽधिकरणम्'** (१।४।४५) से अधिकरण संज्ञा प्राप्त थी। इस सूत्र से कर्म संज्ञा का विधान किया गया है।*

कर्मसंज्ञा

ईप्सिततमम्–

(१) कर्तुरीप्सिततमं कर्म।४६।

प०वि०–कर्तुः ६।१ ईप्सिततमम् १।१ कर्म १।१।

स०–कर्तुः क्रियया यदिप्सिततमम्=प्राप्तुमिष्टतमम्, तत्कारकं कर्मसंज्ञकं भवति।

उदा०–देवदत्तः कटं करोति। देवदत्तो ग्रामं गच्छति।

आर्यभाषा-अर्थ-(कर्तुः) कर्ता का क्रिया के द्वारा (ईप्सिततमम्) जो प्राप्त करना अत्यन्त अभीष्ट है (कारकम्) उस कारक की (कर्म) कर्म संज्ञा होती है।

*उदा०-**देवदत्तः कटं करोति।** देवदत्त चटाई बनाता है। **देवदत्तो ग्रामं गच्छति।** देवदत्त गांव जाता है।*

*सिद्धि-**देवदत्तः कटं करोति।** यहां **'करोति'** क्रिया के द्वारा कर्ता देवदत्त को 'कटः' प्राप्त करना अत्यन्त अभीष्ट है, अतः उस कारक की कर्मसंज्ञा है। इसलिये उसमें **'कर्मणि द्वितीया'** (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार-**देवदत्तो ग्रामं गच्छति।***

अनीप्सितम्–

(२) तथायुक्तं चाऽनीप्सितम्।५०।

प०वि०–तथा अव्ययपदम्। युक्तम् १।१ च अव्ययपदम्, अनीप्सितम् १।१।

स०–न ईप्सितम् इति अनीप्सितम् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–यथा कर्तुरीप्सिततमं कारकं कर्म तथा क्रियया युक्तमनीप्सितं च कारकं कर्म।

अर्थः–यथा कर्तुरीप्सिततमं कारकं क्रियया युक्तं कर्मसंज्ञकं भवति तथाऽनीप्सितमपि कारकं क्रियया युक्तं कर्मसंज्ञकं भवति।

उदा०–देवदत्तो विषं भक्षयति। देवदत्तश्चौरान् पश्यति। देवदत्तो ग्रामं गच्छन् तृणानि स्पृशति।

आर्यभाषा-अर्थ-जैसे (कर्तुः) कर्ता को (ईप्सिततमम्) अत्यन्त अभीष्ट (कारकम्) कारक की क्रिया से युक्त होकर (कर्म) कर्म संज्ञा होती है (तथा) वैसे कर्ता के (अनीप्सितम्) अनिष्ट (कारकम्) कारक की (च) भी (युक्तम्) क्रिया से युक्त होकर (कर्म) कर्म संज्ञा होती है।

*उदा०-देवदत्तो **विषं भक्षयति।** देवदत्त जहर खाता है। **देवदत्तश्चौरान् पश्यति।** देवदत्त चोरों को देखता है। **देवदत्तो ग्रामं गच्छन् तृणानि स्पृशति।** देवदत्त गांव जाता हुआ तिनकों को छूता है।*

सिद्धि-देवदत्तो विषं भक्षयति।** यहां देवदत्त कर्ता का अनीप्सित=अनिष्ट 'विषम्' है। उस अनीप्सित कारक की 'भक्षयति' क्रिया के योग में कर्म संज्ञा होती है और इसलिये उसमें **'कर्मणि द्वितीया'** (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार-**देवदत्तश्चौरान् पश्यति। देवदत्तो ग्रामं गच्छन् तृणानि स्पृशति।

अनुक्तम्-

(३) अकथितं च।५१।

प०वि०-अकथितम् १।१ च अव्ययपदम्।

स०-न कथितम् इति अकथितम् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-'कर्म' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अकथितं कारकं कर्म।

अर्थः-अपादानादिभिः कारकैर्यदकथितं कारकं तत् कर्मसंज्ञकं भवति। परिगणनं कर्त्तव्यम्-

दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षचिञाम्,
उपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ।
ब्रुविशासिगुणेन च यत् सचते,
तदकीर्तितमाचरितं कविना।।

उपयुज्यते इत्युपयोगः=पयःप्रभृति, तस्य निमित्तं गवादिकम्, तस्योपयुज्यमानस्य पयःप्रभृतिनिमित्तस्य गवादिकस्य कर्मसंज्ञा विधीयते। ब्रुविशास्योश्च यो गुणः=साधनं प्रधानं कर्म धर्मादिकं, तेन यत् सचते=सम्बध्यते तदकथितमुक्तं सूत्रकारेण।

(१) **दुहि**–गोपालो गां दोग्धि पयः। (२) **याचि**–देवदत्तः पौरवं गां याचते। (३) **रुधि**–गोपालो गामवरुणद्धि व्रजम्। (४) **प्रच्छि**–पथिको माणवकं पन्थानं पृच्छति। (५) **भिक्ष**–यज्ञदत्तः पौरवं गां भिक्षते। (६) **चिञ्**–मालाकारो वृक्षमवचिनोति फलानि। (७) **ब्रुवि**–आचार्यो माणवकं धर्मं ब्रूते। (८) **शासि**–आचार्यो माणवकं धर्ममनुशास्ति।

आर्यभाषा-अर्थ-*अपादान आदि कारकों के द्वारा जो (अकथितम्) न कहा गया कारक है उसकी (कर्म) कर्म संज्ञा होती है। उपरिलिखित कारिका में दुहि आदि आठ धातुओं की गणना की गई है। उसके अनुसार उदाहरण निम्नलिखित है-*

*(१) दुहि-**गोपालो गां दोग्धि पयः।** गवाला गौ से दूध दुहता है। (२) **याचि-देवदत्तः पौरवं गां याचते।** देवदत्त पौरव राजा से एक गौ मांगता है। (३) **रुधि-गोपालो गामवरुणद्धि व्रजम्।** गोपाल गौ को बाड़े में रोकता है। (४) **प्रच्छि-पथिको माणवकं पन्थानं पृच्छति।** पथिक बालक से रास्ता पूछता है। (५) **भिक्ष-यज्ञदत्तो पौरवं गां भिक्षते।** यज्ञदत्त पौरव राजा से एक गौ की भिक्षा मांगता है। (६) **चिञ्-मालाकारो वृक्षमवचिनोति फलानि।** माली वृक्ष से फल चुनता है। (७) **ब्रुवि-आचार्यो माणवकं धर्मं ब्रूते।** आचार्य बालक धर्म बतलाता है। (८) **शासि-आचार्यो माणवकं धर्ममनुशास्ति।** आचार्य बालक को धर्म की शिक्षा देता है।*

सिद्धि-(१) गोपालो गां दोग्धि पयः। *यहां दोग्धि क्रिया, गोपालः कर्ता और पयः कर्म है, किन्तु गौ अकथित कारक है, क्योंकि उसका अपादान आदि कारकों के द्वारा कथन नहीं किया गया। अतः उसकी इस सूत्र से कर्म संज्ञा का विधान किया गया है। इसलिये उसमें **'कर्मणि द्वितीया'** (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझ लेवें।*

*(२) इस विधि से 'दुहि' आदि धातु द्विकर्मक कहलाती हैं। इन कर्मों में एक प्रधान और दूसरा कर्म गौण कहलाता है। **गोपालो गां दोग्धि पयः।** यहां 'पयः' प्रधान कर्म है और 'गाम्' गौण कर्म है। उसे ही अकथित कर्म समझें। उपरिलिखित उदाहरणों में रेखांकित पद अकथित कर्म हैं।*

अणौ कर्ता स णौ कर्म–

(४) गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ।५२।

प०वि०–गति-बुद्धि-प्रत्यवसानार्थ-शब्दकर्म-अकर्मकाणाम् ६।३ अणि लुप्तसप्तमी (७।१) कर्ता १।१ सः १।१ णौ ७।१।

स०-गतिश्च बुद्धिश्च प्रत्यवसानं च तानि-गतिबुद्धिप्रत्यवसानानि। गतिबुद्धिप्रत्यवसानि अर्था येषां ते गतिबुद्धिप्रत्यवसनार्थाः। शब्दः कर्म यस्य स शब्दकर्मा, न विद्यते कर्म यस्य सः-अकर्मकः, गतिबुद्धिप्रत्यवसनार्थाश्च शब्दकर्मा च अकर्मकश्च ते-गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ-शब्दकर्माकर्मकाः, तेषाम्-गतिबुद्धिप्रत्यवसनार्थशब्दकर्माकर्मकाणाम् (बहुव्रीहित्रयगर्भितेतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'कर्म' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-गति०अकर्मकाणामणि=अणौ यः कर्ता स णौ कर्म।

अर्थः-गत्यर्थानां बुद्ध्यर्थानां प्रत्यवसानार्थानां शब्दकर्मकाणाम् अकर्मकाणां च धातूनाम् अण्यन्तास्थायां यः कर्ता स ण्यन्तावस्थायां कर्मसंज्ञको भवति। यथा-

	धातूनाम्	अण्यन्तावस्थायां यः कर्ता सः	ण्यन्तावस्थायां कर्म
(१)	गत्यर्थानाम्	(क) गच्छति **माणवको** ग्रामम्	गमयति **माणवकं** ग्रामम्।
	,, ,,	(ख) याति **माणवको ग्रामम्**	यापयति **माणवकं** ग्रामम्।
(२)	बुद्ध्यर्थानाम्	(क) बुध्यते **माणवको** धर्मम्	बोधयति **माणवकं** धर्मम्।
	,, ,,	(ख) वेत्ति **माणवको** धर्मम्	वेदयति **माणवकं** धर्मम्।
(३)	प्रत्यवसानार्थानाम्	(क) भुङ्क्ते **माणवक** ओदनम्	भोजयति **माणवकं** ओदनम्।
	,, ,,	(ख) अश्नाति **माणवक** ओदनम्	आशयति **माणवकं** ओदनम्।
(४)	शब्दकर्मकाणाम्	(क) अधीते **माणवको** वेदम्	अध्यापयति **माणवकं** वेदम्।
	,, ,,	(ख) पठति **माणवको** वेदम्	पाठयति **माणवकं** वेदम्।
(५)	अकर्मकाणाम्	(क) आस्ते देवदत्तः	आसयति **देवदत्तम्।**
	,, ,,	(ख) शेते देवदत्तः	शाययति **देवदत्तम्।**

आर्यभाषा-अर्थ-(गति०) गति अर्थवाली, बुद्धि अर्थवाली, खाना-पीना अर्थवाली, शब्दकर्मवाली और अकर्मक धातुओं के प्रयोग में (अणि) अणिजन्त अवस्था में जो (कर्ता) कर्ता है (सः) उसकी (णौ) णिजन्त अवस्था में कर्म संज्ञा होती है।

*उदा०-जैसे-**(१) गति अर्थवाली**-गच्छति **माणवको** ग्रामम्। बालक गांव जाता है। स गमयति **माणवकं** ग्रामम्। वह बालक को गांव भेजता है। याति **माणवको** ग्रामम्। बालक गांव जाता है। स यापयति **माणवकं** ग्रामम्। वह बालक को गांव भेजता है।*

***(२) बुद्धि अर्थवाली**-बुध्यते **माणवको** धर्मम्। बालक धर्म को जानता है। स बोधयति **माणवकं** धर्मम्। वह बालक को धर्म जनाता है। वेत्ति **माणवको** धर्मम्। बालक धर्म को जानता है। स वेदयति **माणवकं** धर्मम्। वह बालक को धर्म जनाता है।*

*(३) प्रत्यवसानार्थक (खाना-पीना अर्थवाली)-भुङ्क्ते माणवक ओदनम्। बालक भात खाता है। स भोजयति **माणवकम्** ओदनम्। वह बालक को भात खिलाता है। अश्नाति **माणवक** ओदनम्। बालक भात खाता है। स आशयति **माणवकं** ओदनम्। वह बालक को भात खिलाता है।*

*(४) शब्दकर्मवाली-अधीते **माणवको** वेदम्। बालक वेद पढ़ता है। सोऽध्यापयति **माणवकं** वेदम्। वह बालक को वेद पढ़ाता है। पठति **माणवको** वेदम्। बालक वेद पढ़ता है। स पाठयति **माणवकं** वेदम्। वह बालक को वेद पढ़ाता है।*

*(५) अकर्मक-आस्ते **देवदत्तः**। देवदत्त बैठता है। स आसयति **देवदत्तम्**। वह देवदत्त को बैठाता है। शेते **देवदत्तः**। देवदत्त सोता है। स शाययति **देवदत्तम्**। वह देवदत्त को सुलाता है।*

*सिद्धि-(१) गच्छति **माणवको ग्रामम्**। यहां गति अर्थवाली गम् धातु अणिजन्त अवस्था में है। इसका कर्ता 'माणवकः' है। किन्तु जब यह गति अर्थवाली गम् धातु णिजन्त अवस्था में चली जाती है तब इसका कर्ता, कर्म बन जाता है-स **गमयति माणवकं धर्मम्**। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों को भी समझ लेवें।*

कर्मसंज्ञाविकल्पः--

(५) हृक्रोरन्यतरस्याम्।५३।

प०वि०-हृ-क्रोः ६।२ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

स०-हृश्च कृश्च तौ-हृक्रौ, तयोः-हृक्रोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'अणि कर्ता स णौ, कर्म' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-हृक्रोरणि=अणौ यः कर्ता स णावन्यतरस्यां कर्म।

अर्थः-हृ-क्रोर्धात्वोः प्रयोगेऽण्यन्तावस्थायां यः कर्ता स ण्यन्तावस्थायां विकल्पेन कर्मसंज्ञको भवति, पक्षे कर्तृसंज्ञकश्च। यथा-

	धातोः	अण्यन्तावस्थायां यः कर्ता सः	ण्यन्तावस्थायां विकल्पेन कर्म
(१)	हृञ् हरणे	हरति **माणवको** भारम्	(१) हारयति **माणवकं** भारम्।
	,, ,,	,, ,, ,,	(२) हारयति **माणवकेन** भारम्।
(२)	डुकृञ् करणे	करोति कटं **देवदत्तः**	(१) कारयति कटं **देवदत्तम्**।
	,, ,,	,, ,, ,,	(२) कारयति कटं देवदत्तेन।

आर्यभाषा-अर्थ-*(हृक्रोः) हृ और कृ धातु के प्रयोग में (अणि) अण्यन्त अवस्था में जो (कर्ता) है (सः) उसकी (णौ) ण्यन्त अवस्था में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (कर्म) कर्म संज्ञा होती है। पक्ष में कर्ता संज्ञा होती है। जैसे-*

*(१) हृञ्-हरति भारं माणवक:। बालक भार ढोता है। **स हारयति भारं माणवकम्** अथवा **स हारयति भारं माणवकेन**। वह बालक से भार ढुलाता है।*

*(२) कृञ्-**करोति कटं देवदत्त:**। देवदत्त चटाई बनाता है। **स कारयति कटं देवदत्तम्** अथवा **स कारयति कटं देवदत्तेन**। वह देवदत्त से चटाई बनवाता है।*

*सिद्धि-**हरति भारं माणवक:**। यहां अणिजन्त अवस्था में हृञ् धातु के प्रयोग में इसका कर्ता 'माणवक:' है। जब यह धातु णिजन्त अवस्था में चली जाती है तब यह 'माणवक:' कर्ता विकल्प से कर्म बन जाता है-**स हारयति भारं माणवकम्**। पक्ष में इसकी कर्ता संज्ञा भी होती है-**स हारयति भारं माणवकेन**। यहां **'कर्तृकरणयोस्तृतीया'** (२।३।१८) से अकथित कर्ता में तृतीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार-**करोति कटं देवदत्त:। स कारयति कटं देवदत्तम्, अथवा स कारयति कटं देवदत्तेन।***

कर्तृसंज्ञा-

स्वतन्त्र: कर्ता।५४।

प०वि०-स्वतन्त्र: १।१ कर्ता १।१।

अन्वय:-स्वतन्त्र: कारकं कर्ता।

अर्थ:-क्रियाया: सिद्धौ य: स्वतन्त्र:, तत्कारकं कर्तृसंज्ञकं भवति।

उदा०-देवदत्त: पचति। यज्ञदत्त: पठति।

आर्यभाषा-अर्थ-(स्वतन्त्र:) किसी क्रिया की सिद्धि करने में जो स्वतन्त्र अर्थात् प्रधान है, उस (कारकम्) कारक की कर्ता संज्ञा होती है।

*उदा०-**देवदत्त: पचति**। देवदत्त पकाता है। **यज्ञदत्त: पठति**। यज्ञदत्त पढ़ाता है।*

*सिद्धि-**देवदत्त: पचति**। यहां **'पचति'** क्रिया के सिद्ध करने में देवदत्त स्वतन्त्र अर्थात् प्रधान है अत: उसकी कर्ता संज्ञा होती है। कर्ता संज्ञा होने से **'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग-परिमाणवचनमात्रे प्रथमा'** (२।३।४६) से उसमें प्रथमा विभक्ति हो जाती है।*

हेतु: कर्तृसंज्ञा च-

तत्प्रयोजको हेतुश्च।५५।

प०वि०-तत्प्रयोजक: १।१ हेतु: १।१ च अव्ययपदम्।

स०-तस्य प्रयोजक इति तत्प्रयोजक: (षष्ठीतत्पुरुष:)। अस्मादेव निपातनात् समास:।

अनु०-'कर्ता' इत्यनुवर्तते।

अन्वय:-तत्प्रयोजक: कारकं हेतु: कर्ता च।

अर्थः-तस्य स्वतन्त्रस्य कर्तुर्यः प्रयोजकः, तत् कारकं हेतुसंज्ञकं कर्तृसंज्ञकं च भवति।

उदा०-देवदत्तः कटं करोति। तं यज्ञदत्तः प्रयुङ्क्ते इति यज्ञदत्तो देवदत्तेन कटं कारयति।

आर्यभाषा-अर्थ-(तत्प्रयोजकः) उस स्वतन्त्र कर्ता का जो प्रेरक है, उस (कारकम्) कारक की (हेतुः) हेतु संज्ञा (कर्ता च) और कर्ता संज्ञा होती है।

*उदा०-**देवदत्तः कटं करोति।** देवदत्त चटाई बनाता है। **तं यज्ञदत्तः प्रयुङ्क्ते इति यज्ञदत्तो देवदत्तेन कटं कारयति।** उसे यज्ञदत्त प्रेरित करता है, अतः यज्ञदत्त देवदत्त से चटाई बनवाता है।*

*सिद्धि-**यज्ञदत्तो देवदत्तेन कटं कारयति।** कर्ता देवदत्त को यज्ञदत्त प्रेरणा करता है, अतः उसकी हेतु संज्ञा है। हेतु संज्ञा होने से '**डुकृञ् करणे**' (त०उ०) धातु से '**हेतुमति च**' (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय होता है। प्रेरक यज्ञदत्त की कर्ता संज्ञा भी है अतः उससे '**प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा**' (२।३।४६) से प्रथमा विभक्ति हो जाती है।*

अथ निपातसंज्ञाप्रकरणम्

अधिकारः–

(१) प्राग्रीश्वरान्निपाताः।५६।

प०वि०-प्राक् १।१ रीश्वरात् ५।१ निपाताः १।३।

अन्वयः-रीश्वरात् प्राङ् निपाताः।

अर्थः-'**अधिरीश्वरे**' (१।४।९७) इत्येतस्मात् प्राक् निपातसंज्ञका भवन्ति, इत्यधिकारोऽयम्।

उदा०-च। वा। ह। अह इत्यादिकम्।

*आर्यभाषा-अर्थ-(रीश्वरात्) **अधिरीश्वरे** (१।४।९७) इस सूत्र से पहले-पहले (निपाताः) निपात संज्ञा होती है, यह अधिकार सूत्र है।*

उदा०-च। और। वा। अथवा। ह। निश्चय। अह। आश्चर्य, इत्यादि।

*सिद्धि-(१) **च।** यहां '**चादयोऽसत्त्वे**' (१।४।५७) से निपात संज्ञा होती है। निपात संज्ञा होने से '**स्वरादिनिपातमव्ययम्**' (१।१।२६) से इसकी अव्यय संज्ञा हो जाती है। अव्यय संज्ञा होने से '**अव्ययादाप्सुपः**' (२।४।८२) से सुप् प्रत्यय का लुक् हो जाता है। च+सु+च+०=च। इसी प्रकार-वा। ह। अह, इत्यादि।*

चादयः शब्दाः–

(१) चादयोऽसत्त्वे।५७।

प०वि०–च-आदयः १।३ असत्त्वे ७।१।

स०–च आदिर्येषां ते–चादयः (बहुव्रीहिः)। सत्त्वम्=द्रव्यम्। न सत्त्वमिति–असत्त्वम्, तस्मिन् असत्त्वे (नञ्तत्पुरुषः)।

अन्वयः–असत्त्वे चादयो निपाताः।

अर्थः–असत्त्वेऽर्थे चादयः शब्दा निपातसंज्ञका भवन्ति।

उदा०–च। वा। ह। अह इत्यादिकम्।

चादिगण–च। वा। ह। अह। एव। एवम्। नूनम्। शश्वत्। युगपत्। सूपत्। कूपत्। कुवित्। नेत्। चेत्। चण। कच्चित्। यत्र। नह। हन्त। माकिम्। नकिम्। माङ्। (माङो ङकारो विशेषणार्थः 'माङि लुङ्' इति। इह न भवति–मा भवतु। मा भविष्यति)। नञ्। यावत्। तावत्। त्वा। त्वै। द्वै। रै। श्रौषट्। वौषट्। स्वाहा। वषट्। स्वधा। ओम्। किल। तथा। अथ। सु। स्म। अस्मि। अ। इ। उ। ऋ। लृ। ए। ऐ। ओ। औ। अम्। तक। उञ्। उकञ्। वेलायाम्। मात्रायाम्। यथा। यत्। यम्। तत्। किम्। पुरा। अद्धा। धिक्। हाहा। हे। है। प्याट्। पाट्। थाट्। अहो। उताहो। हो। तुम्। तथाहि। खलु। आम् आहो। अथो। ननु। मन्ये। मिथ्या। असि। ब्रूहि। तु। नु। इति। इव। वत्। चन। बत। इह। आम्। शम्। कम्। अनुकम्। नहिकम्। हिकम्। सुकम्। सत्यम्। ऋतम्। श्रद्धा। इद्धा। मुधा। नोचेत्। नचेत्। नहि। जातु। कथम्। कुतः। कुत्र। अव। अनु। हाहौ। हैहा। ईहा। आहोस्वित्। छम्बद्। खम्। दिष्ट्या। पशु। वद्। सह। आनुषक्। अङ्ग। फट्। ताजक्। अये। अरे। चटु। वाट्। कुम्। खुम्। घुम्। हुम्। आईम्। शीम्। सीम्। वै। इति चादयः।

आर्यभाषा-अर्थ-(असत्त्वे) द्रव्यवाची न होने पर (चादयः) 'च' आदि शब्दों की (निपाताः) निपात संज्ञा होती है।

***उदा०**–च। और। वा। अथवा। ह। निश्चय। अह। आश्चर्य इत्यादि।*

प्रादयः शब्दाः–

(३) प्रादयः।५८।

प०वि०–प्र–आदयः १।३।

स०–प्र आदिर्येषां ते–प्रादयः (बहुव्रीहिः)।

अनु०–'असत्त्वे' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–असत्त्वे प्रादयो निपाताः।

अर्थः–असत्त्वेऽर्थे प्रादयः शब्दा निपात-संज्ञका भवन्ति।

उदा०–प्र। परा। अप। सम्। अनु। अव। निस्। दुस्। वि। आङ्। नि। अधि। अपि। अति। सु। उत्। अभि। प्रति। परि। उप। इति विंशतिः प्रादयः।

__आर्यभाषा–अर्थ–__(असत्त्वे) द्रव्यवाची न होने पर (प्रादयः) प्र आदि शब्दों की (निपाताः) निपात संज्ञा होती है।

उदा०–प्र। परा। आदि बीस निपात उपरिलिखित हैं।

__विशेष–__इनकी निपात संज्ञा का फल उपरिलिखित चादि के समान है।

उपसर्ग-संज्ञा–

(४) उपसर्गाः क्रियायोगे।५६।

प०वि०–उपसर्गाः १।३ क्रियायोगे ७।१।

स०–क्रियाया योग इति क्रियायोगः, तस्मिन्-क्रियायोगे (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०–'असत्त्वे प्रादयः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–असत्त्वे प्रादयः निपाताः क्रियायोगे उपसर्गाः।

अर्थः–असत्त्वेऽर्थे प्रादयो निपाताः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञका भवन्ति।

उदा०–प्रणयति। परिणयति। प्रणायकः। परिणायकः।

__आर्यभाषा–अर्थ–__(असत्त्वे) द्रव्यवाची न होने पर (प्रादयः) प्र आदि निपातों की (क्रियायोगे) क्रिया के योग में (उपसर्गाः) उपसर्ग संज्ञा होती है।

उदा०–__प्रणयति।__ वह बनाता है। __परिणयति।__ वह विवाह करता है। __प्रणायकः।__ बनानेवाला। __परिणायकः।__ विवाह करनेवाला।

सिद्धि-प्रणयति। प्र+नयति=प्रणयति। यहां 'प्र' की उपसर्ग संज्ञा होने से 'उपसर्गाद् समासेऽपि णोपदेशस्य' (८।४।१४) से उपसर्ग से परे 'न्' को णत्व हो जाता है। इसी प्रकार-परि+नयति=परिणयति। प्र+नायकः=प्रणायकः। परि+नायकः=परिणायकः।

गतिसंज्ञाप्रकरणम्

(१) गतिश्च।६०।

प०वि०-गतिः १।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-'प्रादयः, क्रियायोगे' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-क्रियायोगे प्रादयो निपाता गतिश्च।

अर्थः-क्रियायोगे सति प्रादयो निपाता गतिसंज्ञका अपि भवन्ति।

उदा०-प्रकृत्य। प्रकृतम्। प्रकरोति।

आर्यभाषा-अर्थ-(क्रियायोगे) क्रिया का योग होने पर (प्रादयः) 'प्र' आदि निपातों की (गतिः) गति संज्ञा (च) भी होती है।

उदा०-प्रकृत्य। बनाकर। प्रकृतम्। बनाया। प्रकरोति। वह बनाता है।

सिद्धि-(१) प्रकृत्य। प्र+कृ+क्त्वा। प्र+कृ+ल्यप्। प्र+कृ+तुक्+य। प्र+कृ+त्+य्। प्रकृत्य+सु। प्रकृत्य।

यहां 'प्र' पूर्वक 'डुकृञ् करणे' (त०उ०) धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) से क्त्वा प्रत्यय, 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादिसमास, 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७।१।३७) से समास में 'क्त्वा' के स्थान में 'ल्यप्' आदेश और 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६।१।७१) से 'तुक्' आगम होता है।

(२) प्रकृतम्। प्र+कृतम्=प्रकृतम्। यहां 'गतिरनन्तरः' (६।२।४९) से गति संज्ञक पूर्व पद 'प्र' प्रकृति स्वर से रहता है। 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फिट्० ८१) से 'प्र' का आद्युदात्त स्वर है।

(३) प्रकरोति। प्र+करोति=प्रकरोति। यहां 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से प्रादि समास होता है।

ऊर्यादयः (दिवः डाच्)-

(२) ऊर्यादिच्विडाचश्च।६१।

प०वि०-ऊरी-अदि-च्वि-डाचः १।३ च अव्ययपदम्।

स०-ऊरी आदिर्येषां ते ऊर्यादयः, ऊर्यादयश्च च्विश्च डाच् च ते-ऊर्यादिच्विडाचः (बहुव्रीहिगर्भितेतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'क्रियायोगे गतिः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-ऊर्यादिच्विडाचश्च निपाताः क्रियायोगे गतिः।

अर्थः-ऊरी-आदयः, च्विप्रत्ययान्ता डाच्प्रत्ययान्ताश्च निपाताः क्रियायोगे गतिसंज्ञका भवन्ति।

उदा०-(ऊरी-आदयः) ऊरीकृत्य। ऊरीकृतम्। यद् ऊरीकरोति। उररीकृत्य उररीकृतम्। यद् उररीकरोति। (च्विप्रत्ययान्तः) शुक्लीकृत्य। शुक्लीकृतम्। यत् शुक्लीकरोति। (डाच्प्रत्ययान्तः) पटपटाकृत्य। पटपटाकृतम्। यत् पटपटा करोति।

च्वि-डाचोः कृभ्वस्तियोगे विधानं कृतम्। तयोः साहचर्याद् ऊरी-आदीनामपि कृभ्वस्तियोगे गतिसंज्ञा विधीयते।

उर्यादिगणः-ऊरी। उररी। अङ्गीकरणे विस्तारे च। पापी। ताली। आताली। वेताली धूसी शकला। संशकला। ध्वंसकला। एते शकलादयो हिंसायाम्। गुलुगुधा पीडार्थे। सजूः सहार्थे। फलू। फली। विक्ली। आक्ली, इति विकारे। आलोष्टी। कराली। केवाली। शेवाली। वर्षाली। मस्मसा। मसमसा। एते हिंसायाम्। वषट्। वौषट्। श्रौषट्। स्वाहा। स्वधा। बन्धा। प्रादुस्। श्रुत्। आविस्। इति ऊर्यादयः।

आर्यभाषा-अर्थ-(ऊर्यादिच्विडाचः) ऊरी आदि शब्दों की च्वि-प्रत्ययान्त और डाच्-प्रत्ययान्त निपातों की (च) भी (क्रियायोगे) क्रिया के योग में (गतिः) गति संज्ञा होती है।

उदा०-(ऊरी-आदि) ऊरीकृत्य। स्वीकार करके। ऊरीकृतम्। स्वीकार किया। यद् ऊरीकरोति। वह जो स्वीकार करता है। उररीकृत्य। स्वीकार करके। उररीकृतम्। स्वीकार किया। यद् उररीकरोति। कि वह स्वीकार करता है। (च्वि-प्रत्ययान्त) शुक्लीकृत्य। सफेद करके। शुक्लीकृतम्। सफेद किया। यत् शुक्लीकरोति। कि वह सफेद करता है। (डाच्-प्रत्ययान्त) पटपटाकृत्य। पटपट शब्द करके। पटपटाकृतम्। पटपट शब्द किया। यत्पटपटाकरोति। कि वह पटपट शब्द करता है।

***सिद्धि-(१) ऊरीकृतम्।** ऊरी+कृ+क्त्वा। ऊरी+कृ+ल्यप्। ऊरी+कृ+तुक्+य। ऊरीकृत्य।*

*यहां 'ऊरी' शब्द की 'कृ' धातु के योग में गति संज्ञा होने से **'कुगतिप्रादयः'** (२।२।१८) से गति समास और **'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्'** (७।१।३७) 'क्त्वा' के स्थान में 'ल्यप्' आदेश होता है।*

*(२) **ऊरीकृतम्।** ऊरी+कृतम्। ऊरीकृतम्। यहां ऊरी शब्द की गतिसंज्ञा होने से **'कुगतिप्रादयः'** (२।२।१८) से गति-समास तथा **'गतिरनन्तरः'** (६।२।४९) से गतिसंज्ञक पूर्वपद उरी शब्द प्रकृति स्वर से रहता है। उरी शब्द का **'निपाता आद्युदात्ताः'** (फिट्० ४।१२) से आद्युदात्त स्वर है।*

*(३) **यद् उरीकरोति।** उरी+करोति=ऊरीकरोति।*

*यहां उरी शब्द की गति संज्ञा होने से **'कुगतिप्रादयः'** (२।२।१८) से गति-समास होता है। 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) से 'करोति' तिङन्त पद को अनुदात्त स्वर मिलता है, किन्तु **'निपातैर्यद्यदि०'** (८।१।३०) से उसका निषेध होने पर, तिप् के पित् होने से **'अनुदात्तौ सुप्पितौ'** (३।१।४) से अनुदात्त स्वर होता है। यहां विकरण प्रत्यय 'उ' का **'आद्युदात्तश्च'** (३।१।३) आद्युदात्त प्रत्यय स्वर और **'धातोः'** (६।१।१६२) से कृ धातु का शेष अनुदात्त स्वर होता है। **'तिङि चोदात्तवति'** (८।१।७१) से 'उरी' शब्द का अनुदात्त स्वर हो जाता है। **उरीकरोति।** इस गति संज्ञा प्रकरण में यह प्रयोजन सर्वत्र समझें। इसी प्रकार-उररीकृत्य। उररीकृतम्। यद् उररीकरोति। ऊरी और उररी दोनों शब्द स्वीकार करने अर्थ में हैं।*

*(४) **शुक्लीकृत्य।** शुक्ल+च्वि। शुक्ली+वि। शुक्ली।*

*यहां 'शुक्ल' शब्द से **'अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः'** (५।४।५०) से 'च्वि' प्रत्यय करने पर **'अस्य च्वौ'** (७।४।३२) से शुक्ल के 'अ' को ईकारादेश होता है। **'वेरपृक्तस्य'** (६।१।६७) से 'वि' का लोप हो जाता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*(५) **पटपटाकृत्य।** पटत्+डाच्। पटत्+पटत्+आ। पट+पट्+आ। पटपटा।*

*यहां 'पटत्' शब्द से **'अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्'** (५।४।५७) से 'डाच्' प्रत्यय **'डाचि द्वे भवतः'** (वा० ८।१।१२) से **'पटत्'** शब्द को द्वित्व, **'तस्य परमाम्रेडितम्'** (८।१।२) से द्वितीया **'पटत्'** शब्द की आम्रेडित संज्ञा **'नित्यमाम्रेडिते डाचि'** (महा० ६।१।९९) से प्रथम 'पटत्' शब्द के 'त्' का पररूप आदेश होता है। **'टेः'** (६।४।१४३) से डाच् प्रत्यय के परे 'पटत्' शब्द के टि-भाग 'अत्' का लोप हो जाता है। पटपटा। शेषकार्य पूर्ववत् है।*

अनुकरणम् (खाट्)–

(३) अनुकरणं चानितिपरम्।६२।

प०वि०–अनुकरणम् १।१ च अव्ययपदम्। अनिति-परम् १।१।

स०–इतिः परो यस्मात् तत्–इतिपरम्, न इति परम् इति अनितिपरम्। (बहुव्रीहिगर्भिततेतरेतरद्वन्द्वः)।

अनु०–'क्रियायोगे गतिः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–अनितिपरमनुकरणं निपातः क्रियायोगे गतिः।

अर्थः-अनितिपरम् अनुकरणवाचकं शब्दरूपं क्रियायोगे गतिसंज्ञकं भवति।

उदा०-खाट्कृत्य। खाट्कृतम्। यत् खाट्करोति।

आर्यभाषा-अर्थ-*(अनितिपरम्) जिससे इति शब्द परे नहीं है (अनुकरणम्) उस अनुकरणवाची निपात की (गतिः) गति संज्ञा होती है।*

*उदा०-**खाट्कृत्य।** खाट् आत्मक अनुकरण करके। **खाट्कृतम्।** खाट् आत्मक अनुकरण किया। **यद् खाट्करोति।** कि वह खाट् आत्मक अनुकरण करता है।*

*पहले किसी ने 'खाट्' ऐसा कहा था। दूसरे ने उसका अनुकरण करके **'खाट्'** ऐसा कहा। उस अनुकरणवाची शब्द की इस सूत्र से गति संज्ञा की गई है। गति संज्ञा के सब कार्य पूर्ववत् हैं।*

*'**अनितिपरम्**' का कथन इसलिये किया है कि यहां गति संज्ञा न हो-**खाडिति कृत्वा निरष्ठीवत्।** उसने खाट् ऐसा शब्द करके थूक दिया।*

सत्-असत्-

(४) आदरानादरयोः सदसती।६३।

प०वि०-आदर-अनादरयोः ७।२ सत्-असती १।२।

स०-आदरश्च अनादरश्च तौ-आदरानादरौ, तयोः-आदरानादरयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। सत् च असत् च ते सदसती (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'क्रियायोगे गतिः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-आदरानादरयोः सदसती निपातौ क्रियायोगे गतिः।

अर्थः-आदरेऽनादरे चार्थे यथासंख्यं सत्-असत् निपातौ क्रियायोगे गतिसंज्ञकौ भवतः।

उदा०-(सत्) सत्कृत्य। सत्कृतम्। यत् सत्करोति। (असत्) असत्कृत्य। असत्कृतम्। यद् असत् करोति।

आर्यभाषा-अर्थ-*(आदरानादरयोः) आदर और अनादर अर्थ में (सदसती) सत् और असत् निपात की (क्रियायोगे) क्रिया के योग में (गतिः) गति संज्ञा होती है।*

*उदा०-(सत्) **सत्कृत्य।** आदर करके। **सत्कृतम्।** आदर किया। **यत् सत्करोति।** कि वह आदर करता है। (असत्) **असत्कृत्य।** अनादर करके। **यद् असत्करोति।** कि वह अनादर करता है।*

अलम्–

(५) भूषणेऽलम्।६४।

प०वि०–भूषणे ७।१ अलम् १।१।

अनु०–'क्रियायोगे गतिः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–भूषणेऽलम् निपातः क्रियायोगे गतिः।

अर्थः–भूषणेऽर्थेऽलं निपातः क्रियायोगे गतिसंज्ञको भवति।

उदा०–अलंकृत्य। अलंकृतम्। यद् अलंकरोति।

आर्यभाषा-अर्थ-(भूषणे) भूषित करने अर्थ में (अलम्) 'अलम्' निपात की (क्रियायोगे) क्रिया के योग में (गतिः) गति संज्ञा होती है।

*उदा०–**अलंकृत्य**। भूषित करके। **अलंकृतम्**। भूषित किया। **यद् अलंकरोति**। कि वह भूषित करता है।*

*विशेष-'अलम्' शब्द के निषेध, सामर्थ्य, पर्याप्त और भूषण ये चार अर्थ हैं। केवल भूषण अर्थ में ही 'अलम्' शब्द की गति संज्ञा होती है, अन्यत्र नहीं। जैसे–**अलं भुक्त्वा ओदनं गतः**। पर्याप्त भात खाकर गया।*

अन्तः–

(६) अन्तरपरिग्रहे।६५।

प०वि०–अन्तः १।१ अपरिग्रहे ७।१।

स०–न परिग्रह इति अपरिग्रहः, तस्मिन्–अपरिग्रहे (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–'क्रियायोगे गतिः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–अपरिग्रहेऽन्तर् निपातः क्रियायोगे गतिः।

अर्थः–अपरिग्रहेऽर्थेऽन्तर् निपातः क्रियायोगे गतिसंज्ञको भवति।

उदा०–अन्तर्हत्य। अन्तर्हतम्। यदन्तर्हन्ति।

आर्यभाषा-अर्थ-(अपरिग्रहे) स्वीकार करने अर्थ को छोड़कर (अन्तः) 'अन्तर्' निपात की (क्रियायोगे) क्रिया के योग में (गतिः) गति संज्ञा होती है।

*उदा०–**अन्तर्हत्य**। मध्य में मारकर। **अन्तर्हतम्**। मध्य में मारा। **यद् अन्तर्हन्ति**। कि वह मध्य में मारता है।*

*'**अपरिग्रहे**' का कथन इसलिये किया गया है कि यहां गति **संज्ञा न हो–'अन्तर्हत्वा मूषिकां श्येनो गतः'**। बाज चूहिया को पकड़कर उड़ गया।*

कणे-मनसी–

(७) कणे-मनसी श्रद्धाप्रतीघाते।६६।

प०वि०–कणे-मनसी १।२ श्रद्धाप्रतीघाते ७।१।

स०–कणे च मनश्च ते–कणेमनसी (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। श्रद्धायाः प्रतीघात इति श्रद्धाप्रतीघातः, तस्मिन्–श्रद्धाप्रतीघाते (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०–'क्रियायोगे गतिः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–श्रद्धाप्रतीघाते कणेमनसी निपातौ क्रियायोगे गतिः।

अर्थः–श्रद्धाप्रतीघातेऽर्थे कणे-मनसी निपातौ क्रियायोगे गतिसंज्ञकौ भवतः।

उदा०–(कणे) कणेहत्य पयः पिबति। (मनः) मनोहत्य पयः पिबति। तावत् पिबति यावदस्याऽभिलाषो निवृत्तो भवति, श्रद्धा प्रतिहता भवतीत्यर्थः।

आर्यभाषा–अर्थ–(श्रद्धाप्रतिघाते) इच्छा के समाप्त होने अर्थ में (कणेमनसी) कणे और मनस् निपात की (क्रियायोगे) क्रिया के योग में (गतिः) गति संज्ञा होती है।

*उदा०–(कणे) देवदत्तः **कणेहत्य पयः पिबति।** देवदत्त तीव्र अभिलाषा की निवृत्ति तक दूध पीता है। (मनः) देवदत्तो **मनोहत्य पयः पिबति।** देवदत्त मन की अभिलाषा-निवृत्ति तक दूध पीता है। खूब छककर दूध पीता है।*

*'श्रद्धाप्रतिघाते' का कथन इसलिये किया गया है कि यहां गति संज्ञा न हो–**कणे हत्वा गतः।** वह अपनी तीव्र अभिलाषा को मारकर चला गया। **मनो हत्वा गतः।** वह मन को मरकर चला गया।*

पुरः–

(८) पुरोऽव्ययम्।६७।

प०वि०–पुरः अव्ययपदम्। अव्ययपदम् १।१।

अनु०–'क्रियायोगे गतिः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–अव्ययं पुरो निपातः क्रियायोगे गतिः।

अर्थः–अव्ययं पुरो निपातः क्रियायोगे गति-संज्ञको भवति।

उदा०–पुरस्कृत्य। पुरस्कृतम्। यत् पुरस्करोति।

आर्यभाषा-अर्थ-(अव्ययम्) अव्यय (पुरः) 'पुरस्' निपात की (क्रियायोगे) क्रिया के योग में (गतिः) गति संज्ञा होती है।

उदा०-पुरस्कृत्य। सम्मान करके। पुरस्कृतम्। सम्मान किया। यत् पुरस्करोति। कि वह सम्मान करता है।

सिद्धि-पुरस्कृत्य। पुरः+कृ+क्त्वा। पुरः+कृ+ल्यप्। पुरः+कृ+तुक्+य। पुरस्+कृ+त्+य। पुरस्कृत्य।

यहां 'पुरस्' शब्द की गति संज्ञा होने से 'नमस्पुरसोर्गत्योः' (८।३।४०) से 'पुरः' के विसर्जनीय को सकार आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् हैं।

अस्तम्-

अस्तं च।६८।

प०वि०-अस्तम् अव्ययपदम्। च अव्ययपदम्।

अनु०-'क्रियायोगे, गतिः, अव्ययम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अव्ययमस्तं च निपातः क्रियायोगे गतिः।

अर्थः-अव्ययम् अस्तं निपातोऽपि क्रियायोगे गति-संज्ञको भवति।

उदा०-अस्तंगत्य सविता पुनरुदेति। अस्तंगतानि धनानि। यदस्तं-गच्छति।

आर्यभाषा-अर्थ-(अव्ययम्) अव्यय (अस्तम्) 'अस्तम्' निपात की (च) भी (क्रियायोगे) क्रिया के योग में (गतिः) गति संज्ञा होती है।

उदा०-अस्तंगत्य सविता पुनरुदेति। अस्त होकर सूर्य फिर उदय होता है। अस्तंगतानि धनानि। धन अस्त=समाप्त होगये। यदस्तंगच्छति। कि वह अस्त होता है।

अच्छ-

(१०) अच्छ गत्यर्थवदेषु।६९।

प०वि०-अच्छ अव्ययपदम्। गति-अर्थ-वदेषु ७।३।

स०-गतिरर्थो येषां ते गत्यर्थाः। गत्यर्थाश्च वदश्च ते-गत्यर्थवदाः, तेषु गत्यर्थवदेषु। (बहुव्रीहिगर्भितेतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'क्रियायोगे गतिः, अव्ययम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-गत्यर्थवदेषु अव्ययम् अच्छ निपातः क्रियायोगे गतिः।

अर्थः-गत्यर्थेषु धातुषु वद-धातौ च परतोऽव्ययम् अच्छ-निपातः क्रियायोगे गतिसंज्ञको भवति।

उदा०-(गत्यर्थेषु) अच्छगत्य। अच्छगतम्। यदच्छगच्छति। (वदतौ) अच्छोद्य। अच्छोदितम्। यदच्छवदति। 'अच्छ' इत्याभिमुख्येऽर्थे वर्तते। 'अच्छगत्य' अभिमुखं गत्वेत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(गत्यर्थवदेषु) गति अर्थवाली और वद-धातु के परे होने पर (अव्ययम्) अव्यय (अच्छ) अच्छ निपात की (क्रियायोगे) क्रिया के योग में (गतिः) गति संज्ञा होती है।

*उदा०-(गत्यर्थक) **अच्छगत्य।** अभिमुख जाकर। **अच्छगतम्।** अभिमुख गया। **यदच्छगच्छति।** कि वह अभिमुख जाता है। (वद) **अच्छोद्य।** सामने कहकर। **अच्छोदितम्।** सामने कहा। **यदच्छवदति।** कि वह सामने कहता है।*

अच्छ अव्यय का अभिमुख=सामने अर्थ है।

अदः-

(११) अदोऽनुपदेशे।७०।

प०वि०-अदः १।१ अनुपदेशे ७।१।

स०-उपदेशः=परार्थः प्रयोगः। न उपदेश इति अनुपदेशः। तस्मिन् अनुपदेशे (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-'क्रियायोगे गतिः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अनुपदेशेऽदो निपातः क्रियायोगे गतिः।

अर्थः-अनुपदेशे=स्वयं बुद्ध्या परामर्शेऽर्थेऽदो निपातः क्रियायोगे गतिसंज्ञको भवति।

उदा०-अदःकृत्य। अदःकृतम्। यददःकरोति।

उपदेशः=परार्थः प्रयोगः। स्वयमेव तु यदा कश्चित् बुद्ध्या परामृशति तदा नास्त्युपदेशः, सोऽस्य विषयः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनुपदेशे) स्वयं बुद्धि से परामर्श करने अर्थ में (अदः) 'अदस्' निपात की (क्रियायोगे) क्रिया के योग में (गतिः) गति संज्ञा होती है।

*उदा०-**अदःकृत्य।** यह कार्य करके। **अदःकृतम्।** यह कार्य किया। **यददःकरोति।** कि वह यह कार्य करता है।*

विशेष-दूसरे के लिये किसी शब्द का प्रयोग करना उपदेश कहाता है। जब कोई स्वयं ही अपनी बुद्धि से विचार करता है, तब वह उपदेश नहीं अपितु अनुपदेश है। यही इस सूत्र का विषय है।

तिर:--

(१२) तिरोऽन्तर्द्धौ।७१।

प०वि०-तिर: अव्ययपदम्। अन्तर्द्धौ ७।१।

अनु०-'क्रियायोगे गति:' इत्यनुवर्तते।

अन्वय:-अन्तर्द्धौ तिरो निपात: क्रियायोगे गति:।

अर्थ:-अन्तर्द्धौ=व्यवधानेऽर्थे तिरो निपात: क्रियायोगे गतिसंज्ञको भवति।

उदा०-तिरोभूय। तिरोभूतम्। यत् तिरोभवति।

आर्यभाषा-अर्थ-(अन्तर्द्धौ) छुपने अर्थ में (तिर:) 'तिरस्' निपात की (क्रियायोगे) क्रिया के योग में (गति:) गति संज्ञा होती है।

*उदा०-**तिरोभूय**। छुपकर। **तिरोभूतम्**। छुपा हुआ। यत् **तिरोभवति**। कि वह छुपता है।*

गतिसंज्ञाविकल्प:--

(१३) विभाषा कृञि।७२।

प०वि०-विभाषा १।१ कृञि ७।१।

अनु०-'तिरोऽन्तर्द्धौ, गति:' इत्यनुवर्तते।

अन्वय:-अन्तर्द्धौ तिरो निपात: कृञि विभाषा गति:।

अर्थ:-अन्तर्द्धौ=व्यवधानेऽर्थे तिरो निपात: कृञ्-योगे विकल्पेन गतिसंज्ञको भवति।

उदा०-तिरस्कृत्य। तिर:कृत्य। तिरस्कृतम्। तिर:कृतम्। यत् तिरस्करोति। यत् तिर: करोति। पक्षे-तिर:कृत्वा। तिरस्कृत्वा।

आर्यभाषा-अर्थ-(अन्तर्द्धौ) छुपने अर्थ में (तिर:) तिरस् निपात की (कृञि) कृञ्-धातु के योग में (विभाषा) विकल्प से (गति:) गति संज्ञा होती है।

*उदा०-**तिरस्कृत्य**। **तिर:कृत्य**। छुपकर। **तिरस्कृतम्**। **तिर:कृतम्**। छुपा गया। यत् **तिरस्करोति**। यत् **तिर:करोति**। कि वह छुपता है। विकल्प पक्ष में-**तिर:कृत्वा**। **तिरस्कृत्वा**। छुपकर।*

सिद्धि-(१) तिरस्कृत्य। यहां 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' (८।३।४२) से 'तिरः' शब्द के विसर्जनीय को विकल्प से सकार आदेश होता है। जहां सकार आदेश नहीं होता वहां-तिरःकृत्य।

(२) तिरस्कृत्वा। जहां 'तिरः' शब्द की गतिसंज्ञा नहीं होती वहां 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से गति समास भी नहीं होता। समास के न होने से 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७।१।३७) से क्त्वा प्रत्यय को ल्यप् आदेश भी नहीं होता है। यहां भी 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' (८।३।४२) से तिरः शब्द के विसर्जनीय को विकल्प से सकार आदेश होता है। जहां सकार आदेश नहीं होता वहां-तिरःकृत्वा रूप बनता है।

उपाजे-अन्वाजे–

(१४) उपाजेऽन्वाजे।७३।

प०वि०–उपाजे अव्ययपदम्। अन्वाजे अव्ययपदम्।

अनु०–'विभाषा कृञि गतिः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–उपाजेऽन्वाजे निपातौ कृञि विभाषा गतिः।

अर्थः–उपाजेऽन्वाजे निपातौ कृञ्योगे विकल्पेन गतिसंज्ञकौ भवतः।

उदा०–(उपाजे) उपाजेकृत्य। उपाजे कृत्वा। (अन्वाजे) अन्वाजे कृत्य। अन्वाजे कृत्वा।

उपाजेऽन्वाजे शब्दौ विभक्तिप्रतिरूपकौ निपातौ दुर्बलस्य सामर्थ्याऽऽधाने वर्तेते।

आर्यभाषा-अर्थ-(उपाजेऽन्वाजे) उपाजे और अन्वाजे निपात की (कृञि) कृञ् धातु के योग में (विभाषा) विकल्प से (गतिः) गति संज्ञा होती है।

उदा०-(उपाजे) उपाजेकृत्य। उपाजे कृत्वा। दुर्बल की सहायता करके। (अन्वाजे) अन्वाजेकृत्य। अन्वाजे कृत्वा। दुर्बल की सहायता करके।

सिद्धि-(१) उपाजेकृत्य। यहां 'उपाजे' शब्द की गति संज्ञा होने से 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) से गति समास होता है। समास होने से 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७।१।३७) से 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान में 'ल्यप्' आदेश हो जाता है। पक्ष में जहां 'उपाजे' शब्द की गति संज्ञा नहीं होता वहां समास नहीं होता है। समास न होने से पूर्ववत् 'क्त्वा' प्रत्यय को 'ल्यप्' आदेश भी नहीं होता है-उपाजे कृत्वा। इसी प्रकार-अन्वाजे कृत्य। आगामी उदाहरणों में भी ऐसा ही समझें।

विशेष-उपाजे और अन्वाजे ये दोनों निपात विभक्ति प्रतिरूपक हैं। ये दोनों दुर्बल की सहायता करने अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

साक्षादादयः—

(१५) साक्षात्प्रभृतीनि च।७४।

प०वि०-साक्षात्-प्रभृतीनि १।३ च अव्ययपदम्।

स०-साक्षात् प्रभृति येषां तानीमानि-साक्षात्प्रभृतीनि (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'विभाषा कृञि, गतिः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-साक्षात्प्रभृतीनि च निपाताः कृञि विभाषा गतिः।

अर्थः-साक्षात्-प्रभृतीनि निपातरूपाणि च कृञ्योगे विकल्पेन गतिसंज्ञकानि भवन्ति।

उदा०-साक्षात्कृत्य। साक्षात् कृत्वा। मिथ्याकृत्य। मिथ्याकृत्वा, इत्यादिकम्।

साक्षादादिगणः-साक्षात्। मिथ्या। चिन्ता। भद्रा। लोचना। विभाषा। सम्पत्का। आस्था। अमा। श्रद्धा। प्राजर्या। प्राजरुहा। वीजर्या। वीजरुहा। संसर्या। अर्थे। लवणम्। उष्णम्। शीतम्। उदकम्। आर्द्रम्। गतिसंज्ञासंयोगेन लवणादीनां मकारान्तत्वं निपात्यते। अग्नौ। वशे। विकम्पने। विहसने। प्रहसने। प्रतपने। प्रादुस्। नमस्। आविस्। इति साक्षात्प्रभृतीनि।

आर्यभाषा-अर्थ-(साक्षात्प्रभृतीनि) साक्षात् आदि निपातों की (च) भी (कृञि) कृञ् धातु के योग में (विभाषा) विकल्प से (गतिः) गति संज्ञा होती है।

*उदा०-**साक्षात्कृत्य। साक्षात् कृत्वा।** अप्रत्यक्ष को साक्षात् करके। **मिथ्याकृत्य। मिथ्याकृत्वा।** सत्य को मिथ्या बनाकर।*

उरसि-मनसी—

(१६) अनत्याधान उरसिमनसी।७५।

प०वि०-अनत्याधाने ७।१ उरसि-मनसी १।२।

स०-अत्याधानम्=उपश्लेषणम्। न अत्याधानम् इति अनत्याधानम्, तस्मिन्-अनत्याधाने (नञ्तत्पुरुषः)। उरसिश्च मनसिश्च तौ-उरसिमनसी (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'विभाषा कृञि, गतिः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अनत्याधाने उरसिमनसी निपातौ कृञि विभाषा गतिः ।

अर्थः-अनत्याध्याने=अनुपश्लेषणेऽर्थे उरसि-मनसी निपातौ कृञ्योगे विकल्पेन गतिसंज्ञकौ भवतः ।

उदा०-(अरसि) उरसिकृत्य। उरसि कृत्वा। (मनसि) मनसिकृत्य। मनसि कृत्वा।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनत्याधाने) ऊपर न रखने अर्थ में (उरसि-मनसी) उरसि और मनसि निपातों की (कृञि) कृञ् धातु के योग में (विभाषा) विकल्प से (गतिः) गति संज्ञा होती है।

उदा०-(उरसि) उरसिकृत्य। उरसि कृत्वा। स्वीकार करके। (मनसि) मनसिकृत्य। मनसि कृत्वा। निश्चय करके।

अनत्याधाने' का कथन इसलिये किया है कि यहां गति संज्ञा न हो- 'उरसि कृत्वा पाणिं शेते' वह हाथ को छाती पर रखकर सोता है।

विशेष-उरसि और मनसि शब्द विभक्ति-प्रतिरूपक निपात हैं।

मध्ये-पदे-निवचने-

(१७) मध्ये पदे निवचने च।७६।

प०वि०-मध्ये अव्ययपदम्। पदे अव्ययपदम्। निवचने अव्ययपदम्। च अव्ययपदम्।

अनु०-'अनत्याधाने विभाषा कृञि गतिः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अनत्याधाने मध्ये पदे निवचने च निपाताः कृञि विभाषा गतिः ।

अर्थः-अनत्याधानेऽर्थे मध्ये पदे निवचने इत्येते निपाता अपि कृञ्योगे विकल्पेन गतिसंज्ञका भवन्ति।

उदा०-(मध्ये) मध्येकृत्य। मध्ये कृत्वा। (पदे) पदेकृत्य। पदे कृत्वा। (निवचने) निवचनेकृत्य। निवचने कृत्वा।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनत्याधाने) ऊपर न रखने अर्थ में (मध्ये पदे निवचने) मध्ये, पदे और निवचने निपातों की (कृञि) कृञ् धातु के योग में (विभाषा) विकल्प से (गतिः) गति संज्ञा होती है।

*उदा०-(मध्ये) मध्येकृत्य। मध्ये कृत्वा। बीच में रखकर। (पदे) **पदेकृत्य। पदे कृत्वा।** पद पर रखकर। (निवचने) निवचनेकृत्य। निवचने कृत्वा। चुप करके, वाणी को संयम में रखकर।*

*सिद्धि-'**अनत्याधाने**' का कथन इसलिये किया है कि यहां गति संज्ञा न हो-**हस्तिनः पदे कृत्वा शिरः शेते।** सिर को हाथी के पांव पर रखकर सोता है।*

विशेष-मध्ये, पदे और निवचने ये शब्द विभक्ति प्रतिरूपक निपात हैं।

हस्ते, पाणौ-

(१८) नित्यं हस्ते पाणावुपयमने।७७।

प०वि०-नित्यम १।१ हस्ते अव्ययपदम्। पाणौ अव्ययपदम्। उपयमने ७।१।

अनु०-'कृञि गतिः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-उपयमने हस्ते-पाणौ निपातौ नित्यं गतिः।

अर्थः-उपयमने (दारकर्मणि) अर्थे हस्ते-पाणौ निपातौ कृञ्योगे नित्यं गतिसंज्ञकौ भवतः।

उदा०-(हस्ते) हस्तेकृत्य। (पाणौ) पाणौकृत्य।

आर्यभाषा-अर्थ-(उपयमने) विवाह करने अर्थ में (हस्ते-पाणौ) हस्ते और पाणौ निपातों की (नित्यम्) सदा (गतिः) गति संज्ञा होती है।

*उदा०-(हस्ते) **हस्तेकृत्य। हस्ते कृत्वा।** विवाह करके। **(पाणौ) पाणौकृत्य। पाणौ कृत्वा।** विवाह करके।*

*'**उपयमने**' का कथन इसलिये किया है कि यहां गति संज्ञा न हो-**हस्ते कृत्वा कार्षापणं गतः।** कार्षापण को हाथ पर रखकर चला गया। कार्षापण=सिक्का।*

विशेष-हस्ते और पाणौ शब्द विभक्ति प्रतिरूपक निपात हैं।

प्राध्वम्-

(१९) प्राध्वं बन्धने।७८।

प०वि०-प्राध्वम्, अव्ययपदम्। बन्धने ७।१।

अनु०-'नित्यं कृञि गतिः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-बन्धने प्राध्वं निपातः कृञि नित्यं गतिः।

अर्थः-बन्धनेऽर्थे प्राध्वं निपातः कृञ्योगे नित्यं गतिसंज्ञको भवति।

उदा०-प्राध्वंकृत्य।

आर्यभाषा-अर्थ-(बन्धने) बन्धन अर्थ में (प्राध्वम्) प्राध्वम् निपात की (कृञि) कृञ् धातु के योग में (नित्यम्) सदा (गतिः) गति संज्ञा होती है।

*उदा०-**प्राध्वंकृत्य।** बन्धन से अनुकूल बनाकर।*

*'**बन्धने**' का कथन इसलिये किया है कि यहां गति संज्ञा न हो-**प्राध्वं कृत्वा शकटं गतः।** गाड़ी को मार्ग अभिमुख करके चला गया।*

विशेष-'प्राध्वम्' शब्द मकारान्त निपात है। यह अनुकूलता अर्थ में प्रयुक्त होता है।

जीविका-उपनिषदौ-

(२०) जीविकोपनिषदावौपम्ये।७६।

प०वि०-जीविका-उपनिषदौ १।२ औपम्ये ७।१।

स०-जीविका च उपनिषत् च तौ-जीविकोपनिषदौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। उपमाया भाव औपम्यम्, तस्मिन् औपम्ये (तद्धितवृत्तिः)।

अनु०-'नित्यं कृञि गतिः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-औपम्ये जीविकोपनिषदौ निपातौ कृञि नित्यं गतिः।

अर्थः-औपम्ये=उपमा-विषये जीविका-उपनिषदौ निपातौ कृञ्योगे नित्यं गतिसंज्ञकौ भवतः।

उदा०-(जीविका) जीविकाकृत्य। (उपनिषत्) उपनिषत्कृत्य।

आर्यभाषा-अर्थ-(औपम्ये) उपमा विषय में (जीविका-उपनिषदौ) जीविका और उपनिषद् निपातों की (कृञि) कृञ् धातु के योग में (नित्यम्) सदा (गतिः) गति संज्ञा होती है।

उदा०-(जीविका) जीविकाकृत्य। जीविकासी बनाकर। (उपनिषद्) उपनिषत्कृत्य। रहस्य-सा बनाकर।

*'**औपम्ये**' का कथन इसलिये किया गया है कि यहां गति संज्ञा न हो-**जीविकां कृत्वा गतः।** जीविका बनाकर चला गया। **उपनिषत् कृत्वा गतः। रहस्य बनाकर चला गया।***

गतीनां प्राक् प्रयोगः–

(२१) ते प्राग् धातोः।८०।

प०वि०–ते १।३ प्राक् १।१ धातोः ५।१।

अन्वयः–ते गति-उपसर्गनिपाताः धातोः प्राक्।

अर्थः–ते गतिसंज्ञका उपसर्गसंज्ञकाश्च निपाता धातोः प्राक् प्रयोक्तव्याः।

उदा०–प्रणयति। परिणयति। प्रणायकः। परिणायकः, इत्यादि।

आर्यभाषा-अर्थ-(ते) उन गति संज्ञावाले और उपसर्ग संज्ञावाले निपातों का (धातोः) धातु से (प्राक्) पहले प्रयोग करना चाहिये।

उदा०-प्रणयति। परिणयति। प्रणायकः। परिणायकः। इत्यादि उदाहरणों में प्र आदि उपसर्ग तथा गतिसंज्ञक शब्दों का धातु से पहले प्रयोग किया गया है। अर्थ पूर्ववत् है।

गतीनां परप्रयोगः–

(२२) छन्दसि परेऽपि।८१।

प०वि०–छन्दसि ७।१ परे १।३ अपि अव्ययपदम्।

अनु०–'ते, धातोः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–ते गति-उपसर्गा निपाताश्छन्दसि परेऽपि।

अर्थः–ते गतिसंज्ञका उपसर्गसंज्ञकाश्च निपाताश्छन्दसि=वैदिकभाषायां धातोः परेऽपि प्रागपि च प्रयोक्तव्याः।

उदा०–याति नि हस्तिना। नियाति हस्तिना। हन्ति नि मुष्टिना। निहन्ति मुष्टिना।

एषां गतिसंज्ञकानां शब्दानां परेषां प्रयुज्यमानानां न गतिसंज्ञकार्यं किञ्चिदस्ति। केवलं परप्रयोगेऽपि क्रियायोग एषामस्तीति विज्ञाप्यते।

आर्यभाषा-अर्थ-(ते) उन गति संज्ञावाले तथा उपसर्ग संज्ञावाले निपातों का (छन्दसि) वैदिक भाषा में (धातोः) धातु से (परेऽपि) पर भी और पूर्व भी प्रयोग होता है।

*उदा०-**याति नि हस्तिना। नियाति हस्तिना।** वह हाथी से नित्य जाता है। **हन्ति नि मुष्टिना। निहन्ति मुष्टिना।** वह मुक्के से नित्य मारता है।*

विशेष-इन गति संज्ञावाले और उपसर्ग संज्ञावाले निपातों का धातु से परे प्रयोग होने पर कोई गति संज्ञा सम्बन्धी कार्य नहीं होता है। परप्रयोग होने पर भी इनका केवल क्रिया के साथ योग होता है, यह बतलाया गया है।

गतीनां व्यवहितप्रयोगः–

(२३) व्यवहिताश्च।८२।

प०वि०–व्यवहिताः १।३ च अव्ययपदम्।

अनु०– ते, छन्दसि धातोः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–ते गति उपसर्गा निपाताश्छन्दसि व्यवहिताश्च।

अर्थः–ते गतिसंज्ञका उपसर्गसंज्ञकाश्च निपाताश्छन्दसि=वैदिकभाषायां धातोर्व्यवहिता अपि भवन्ति।

उदा०–**आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः** (ऋ० ३।४५।१)। **आयाहि** (ऋ० ३।४३।२)।

*आर्यभाषा-अर्थ-(ते) उन गति संज्ञावाले और उपसर्ग संज्ञावाले निपातों का (छन्दसि) वैदिकभाषा में (धातोः) धातु से (व्यवहिताः) अन्य शब्दों के व्यवधान में **भी** प्रयोग होता है।*

*उदा०–**आ** मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः (ऋ० ३।४५।१)। **आयाहि** (ऋ० ३।४३।२)। हे इन्द्र! तुम स्तुति के योग्य, मयूर के समान कोमल रोमवाले घोड़ों से यहां आओ।*

यहां 'आ' उपसर्ग और 'याहि' धातु का 'मन्द्रैः' आदि शब्दों के व्यवधान में भी प्रयोग किया गया है। यहां संज्ञा-सम्बन्धी कोई प्रयोजन नहीं है, केवल क्रिया के साथ योग करना ही प्रयोजन है।

कर्मप्रवचनीयसंज्ञाप्रकरणम्

अधिकारः–

(१) कर्मवचनीयाः।८३।

प०वि०–कर्मवचनीयाः १।३।

अर्थः–'कर्मवचनीयाः' इत्यधिकारोऽयम् **'विभाषा कृञि'** (१।४।९७) इति यावत्।

*आर्यभाषा-अर्थ-(कर्मप्रवचनीयाः) इससे आगे **'कर्मप्रवचनीयाः'** का **'विभाषा कृञि'** (१।४।९०) तक अधिकार है। अब **'कर्मप्रवचनीय'** संज्ञा का विधान किया जायेगा।*

अनुः–

(२) अनुर्लक्षणे ।८४।

प०वि०–अनुः १।१ लक्षणे ७।१।

अन्वयः–लक्षणेऽनुर्निपातः कर्मप्रवचनीयः।

अर्थः–लक्षणे (हेतौ) अर्थेऽनुर्निपाता कर्मप्रवचनीयसंज्ञको भवति।

उदा०–शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत्। अगस्त्यमन्वसिञ्चन् प्रजाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(लक्षणे) हेतु अर्थ में (अनुः) अनु निपात की (कर्मप्रवचनीयः) कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

*उदा०–**शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत्।** शाकल्य की संहिता के पाठ के कारण वर्षा हुई। **अगस्त्यमनुन्वसिञ्चन् प्रजाः।** अगस्त्य नक्षत्र को देखने के कारण प्रजा ने सिंचाई आरम्भ की कि अब वर्षा नहीं होगी।*

*सिद्धि–**शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत्।** यहां अनु निपात लक्षण=हेतु अर्थ में है, अतः 'हेतौ' (२।३।२३) से तृतीया विभक्ति प्राप्त थी, किन्तु अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से उसके योग में संहिता शब्द में '**कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया**' (२।३।८) से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार-**अगस्त्यमन्वसिञ्चन् प्रजाः।***

(३) तृतीयार्थे ।८५।

प०वि०–तृतीया-अर्थे ७।१।

स०–तृतीयाया अर्थ इति तृतीयार्थः, तस्मिन्-तृतीयार्थे (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०–'अनुः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–तृतीयार्थेऽनुर्निपातः कर्मप्रवचनीयः।

अर्थः–तृतीयार्थेऽनुर्निपातः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको भवति।

उदा०–नदीमन्ववसिता सेना। पर्वतमन्ववसिता सेना, नद्या पर्वतेन वा सम्बद्धा इत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(तृतीयार्थे) तृतीया विभक्ति के अर्थ में (अनुः) अनु निपात की (कर्मवचनीयः) कर्मवचनीय संज्ञा होती है।

*उदा०–**नदीमन्ववसिता सेना।** सेना नदी के साथ सम्बद्ध है। **पर्वतमन्ववसिता सेना।** सेना पर्वत के साथ सम्बद्ध है।*

सिद्धि-नदीमन्ववसिता सेना। यहां 'अनु' निपात का अर्थ 'सह' (साथ) है। इसलिये *'सहयुक्तेऽप्रधाने'* (२।३।१९) से तृतीया विभक्ति प्राप्त थी किन्तु अनु निपात की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से 'नदी' शब्द में *'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया'* (२।३।८) से द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

(४) हीने।८६।

प०वि०-हीने ७।१।

अनु०-'अनुः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-हीनेऽनुर्निपातः कर्मवचनीयः।

अर्थः-हीने (न्यूने) अर्थेऽनुर्निपातः कर्मवचनीयसंज्ञको भवति।

उदा०-अनु शाकटायनं वैयाकरणाः। अन्वर्जुनं योद्धारः।

आर्यभाषा-अर्थ-(हीने) कर्म अर्थ में (अनुः) अनु निपात की (कर्मप्रवचनीयः) कर्मवचनीय संज्ञा होती है।

उदा०-अनु शाकटायनं वैयाकरणाः। सब वैयाकरण लोग शाकटायन से कम हैं। *अनु अर्जुनं योद्धारः।* सब योद्धा लोग अर्जुन से कम हैं।

सिद्धि-अनु शाकटायनं वैयाकरणाः। शाकटायन की अपेक्षा अन्य वैयाकरण हीन हैं। यह अपेक्षाजनित सम्बन्ध में *'षष्ठी शेषे'* (२।३।५०) से षष्ठी विभक्ति प्राप्त होती है, किन्तु अनु निपात की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से पूर्ववत् द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार-*अनु अर्जुनं योद्धारः।*

उपः-

(५) उपोऽधिके च।८७।

प०वि०-उपः १।१ अधिके ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-'हीने' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अधिके हीने च उपो निपातः कर्मवचनीयः।

अर्थः-अधिके हीने चार्थे उपो निपातः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको भवति।

उदा०-(अधिके) उप खार्यां द्रोणः। उप निष्के कार्षापणम्। (हीने) उप शाकटायनं वैयाकरणाः। उप दयानन्दं वेदभाष्यकाराः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अधिके) अधिक अर्थ में (हीने च) और हीन अर्थ में (अनुः) अनु निपात की (कर्मवचनीयः) कर्मवचनीय संज्ञा होती है।

*उदा०-(अधिक) **उप खार्यां द्रोणः।** द्रोण से खारी अधिक है। **उप निष्के कार्षापणम्।** कार्षापण से निष्क अधिक है। (हीन) **उप शाकटायनं वैयाकरणाः।** सब वैयाकरण लोग शाकटायन से कम हैं। **उप दयानन्दं वेदभाष्यकाराः।** सब वेदभाष्यकार दयानन्द से हीन हैं।*

*सिद्धि-(१) **उप खार्यां द्रोणः।** द्रोण से खारी परिमाण अधिक है। यहां 'उप' निपात की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से पूर्ववत् द्वितीया विभक्ति प्राप्त होती है, किन्तु **'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी'** (२।३।९) से कर्मवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति हो जाती है।*

आठ मुट्ठी अनाज=१ कुंचि। ८ कुंचि=१ पुष्कल। ४ पुष्कल=१ आढक। ४ आढक=१ द्रोण। १६ द्रोण=१ खारी।

*(२) **उप निष्के कार्षापणम्।** कार्षापण से निष्क अधिक है। यहां भी पूर्ववत् सब कार्य होता है। कार्षापण=ताम्बे का १६ माशे का सिक्का। निष्क=सोने का १६ माशे का सिक्का।*

*यहां अपेक्षा सम्बन्ध में **'षष्ठी शेषे'** (२।४।५०) षष्ठी विभक्ति प्राप्त थी, कर्मवचनीय संज्ञा होने से सप्तमी विभक्ति होती है।*

अप-परी–

(६) अपपरी वर्जने।८८।

प०वि०-अप-परी १।२ वर्जने ७।१।

स०-अपश्च परिश्च तौ-अपपरी (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-वर्जनेऽपपरी निपातौ कर्मवचनीयौ।

अर्थः-वर्जनेऽर्थे अप-परी निपातौ कर्मप्रवचनीयसंज्ञकौ भवतः।

उदा०-(अप) अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः। (परि) परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः।

प्रकृतेन सम्बन्धिना, कस्यचिदनभिसम्बन्धे वर्जनमुच्यते।

***आर्यभाषा-अर्थ-**(वर्जने) निषेध अर्थ में (अप-परी) अप और परि निपातों की (कर्मप्रवचनीयः) कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।*

*उदा०-(अप) **अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः।** त्रिगर्त को छोड़कर इन्द्रदेव ने वर्षा की। (परि) **परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः।** त्रिगर्त को छोडकर इन्द्रदेव ने वर्षा की।*

त्रिगर्त-भारत के उत्तर-पश्चिम का एक देश जालन्धर "वर्तमान पंजाब का उत्तर-पूर्वी भाग जो चम्बा से कांगड़ा तक फैला हुआ है, प्राचीन त्रिगर्त देश था। सतलुज,

व्यास और रावी इन तीन नदियों की घाटियों के कारण इसका नाम त्रिगर्त पड़ा।" (पा० का० भारतवर्ष पृ० ४१)।

सिद्धि-(१) अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः। *यहां 'अप' निपात शब्द की कर्मवचनीय संज्ञा होने से* ***'पञ्चम्यपाङ्परिभिः'*** *(२।३।१०) से इसके योग में पञ्चमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार-* ***परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः।***

आङ्-

(७) आङ् मर्यादावचने।८६।

प०वि०-आङ् १।१ मर्यादा-वचने ७।१।

स०-मर्यादाया वचनमिति मर्यादावचनम्, तस्मिन्-मर्यादावचने (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अन्वयः-मर्यादावचने आङ् निपातः कर्मप्रवचनीयः।

अर्थः-मर्यादावचनेऽर्थे आङ् निपातः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको भवति।

उदा०-आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः। आ कुमारं यशः पाणिनेः। आ सांकाश्यात् वृष्टो देवः। आ मथुराया वृष्टो देवः।

आर्यभाषा-अर्थ- *(मर्यादावचने) अवधि के कथन में (आङ्) आङ् निपात की (कर्मप्रवचनीयः) कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।*

उदा०- ***आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः।*** *पाटलिपुत्र तक इन्द्रदेव ने वर्षा की।* ***आ कुमारं यशः पाणिनेः।*** *पाणिनिमुनि का यश बालकों तक फैला हुआ है।* ***आ सांकाश्यात् वृष्टो देवः।*** *सांकाश्य तक इन्द्रदेव ने वर्षा की।* ***आ मथुराया वृष्टो देवः।*** *मथुरा तक इन्द्रदेव ने वर्षा की।*

सिद्धि-(१) आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः। *यहां आङ् निपात की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उसके योग में* ***'पञ्चम्यपाङ्परिभिः'*** *(२।३।१०) से पञ्चमी विभक्ति होती है।*

(२) ***आ कुमारं यशः पाणिनेः।*** *यहां 'आङ्' निपात का* ***'आङ् मर्यादाभिविध्योः'*** *(२।१।१३) से अव्ययीभाव समास भी होता है। आ+कुमार=आ कुमारम्।*

विशेष-(१) पाटलिपुत्र। *यह एक प्राचीन नगर है। यह मगध देश की राजधानी है। यह शोण और गंगा के संगम पर स्थित है। वर्तमान में इसे पटना कहते हैं। इसे पुष्पपुर और कुसुमनगर भी कहते हैं।*

(२) ***सांकाश्य।*** *यह जनक के भ्राता कुशध्वज की राजधानी का नाम है।*

प्रति-परि-अनवः–

(७) लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः।६०।

प०वि०-लक्षण-इत्थंभूताख्यान-भाग-वीप्सासु ७।३ प्रति-परि-अनवः १।३।

स०-लक्षणं च इत्थंभूताख्यानं च भागश्च वीप्सा च ताः-लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्साः, तासु-लक्षणेत्थं भूताख्यानभागवीप्सासु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। प्रतिश्च परिश्च अनुश्च ते-प्रतिपर्यनवः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवो निपाताः कर्मप्रवचनीयाः।

अर्थः-लक्षण-इत्थंभूताख्यान-भाग-वीप्सासु विषयभूतासु प्रति-परि-अनवो निपाताः कर्मप्रवचनीयसंज्ञका भवन्ति।

लक्षणम्=चिह्नम्। कञ्चित्प्रकारमापन्नम् इत्थंभूतम्, इत्थंभूतस्याख्यानम्=इत्थंभूताख्यानम्। भागः=स्वीक्रियमाणोंऽशो भागः। वीप्सा=पदार्थान् व्याप्तुमिच्छा-वीप्सा।

उदा०-

विषयः	प्रतिः	परिः	अनुः
(१) लक्षणे	वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्	वृक्षं परि विद्योतते विद्युत्	वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्।
(२) इत्थंभूताख्याने	साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति	साधुर्देवदत्तो मातरं परि	साधुर्देवदत्तो मातरमनु।
(३) भागे	यदत्र मां प्रति स्यात्	यदत्र मां परि स्यात्	यदत्र मामनु स्यात्।
(४) वीप्सायाम्	वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति	वृक्षं वृक्षं परि सिञ्चति	वृक्षं वृक्षम् अनु सिञ्चति।

आर्यभाषा-अर्थ-(लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु) लक्षण, इत्थंभूताख्यान, भाग और वीप्सा विषय में (प्रति-परि-अनवः) प्रति, परि और अनु निपातों की (कर्मप्रवचनीयाः) कर्मवचनीय संज्ञा होती है।

उदा०-(१) लक्षण। (प्रति) वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्। (परि) वृक्षं परि विद्योतते विद्युत् (अनु) वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्। वृक्ष को प्राप्त होकर बिजली चमकती है।

(२) इत्थंभूताख्यान। (प्रति) साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति। (परि) साधुर्देवदत्तो मातरं परि। (अनु) साधुर्देवदत्तो मातरमनु। माता को प्राप्त होकर देवदत्त साधुभाववाला है।

(३) भाग। (प्रति) यदत्र मां प्रति स्यात्। (परि) यदत्र मां परि स्यात्। (अनु) यदत्रमामनु स्यात्। जो यहां मेरा भाग है, वह मुझे दीजिये।

(४) वीप्सा। (प्रति) वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति। (परि) वृक्षं वृक्षं परि सिञ्चति। (अनु) वृक्षं वृक्षमनु सिञ्चति। वृक्ष वृक्ष को प्राप्त करके सींचता है।

लक्षण=चिह्न। इत्थभूताख्यान=किसी प्रकार विशेष को प्राप्त हुआ इत्थंभूत कहलाता है। इत्थंभूताख्यान=इत्थंभूत का कथन करना अर्थात् वह उस विषय में कैसा है? भाग=स्वीकार किया जानेवाला अंश। वीप्सा=पदार्थों को व्याप्त करने की इच्छा।

अभिः—

(९) अभिरभागे।९१।

प०वि०-अभिः १।१ अभागे ७।१।

स०-न भाग इति अभागः, तस्मिन्-अभागे (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-'लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अभागे लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु अभिर्निपातः कर्मप्रवचनीयः।

अर्थः-भागवर्जितासु लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु विषयभूतासु अभिर्निपातः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको भवति। यथा—

(१)	लक्षणे	वृक्षमभि विद्योतते विद्युत्।
(२)	इत्थंभूताख्याने	साधुर्देवदत्तो मातरमभि।
(३)	वीप्सायाम्	वृक्षं वृक्षमभि सिञ्चति।

आर्यभाषा-अर्थ-(अभागे) भाग विषय को छोड़कर (लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु) लक्षण, इत्थंभूताख्यान और वीप्सा विषय में (अभिः) अभि निपात की (कर्मप्रवचनीयः) कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

*उदा०-(१) **लक्षण। वृक्षमभि विद्योतते विद्युत्।** वृक्ष को प्राप्त होकर बिजली चमकती है।*

*(२) **इत्थभूताख्यान। साधुर्देवदत्तो मातरमभि।** देवदत्त माता को प्राप्त होकर साधु भाववाला है।*

*(३) **वीप्सा। वृक्षं वृक्षमभि सिञ्चति।** वृक्ष-वृक्ष को प्राप्त होकर सींचता है।*

प्रतिः—

(१०) प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः।९२।

प०वि०-प्रतिः १।१ प्रतिनिधि-प्रतिदानयोः ७।२।

स०-प्रतिनिधिश्च प्रतिदानं च ते-प्रतिनिधि-प्रतिदाने, तयो:-प्रतिनिधिप्रतिदानयो: (इतरेतरयोगद्वन्द्व:)।

अन्वय:-प्रतिनिधिप्रतिदानयो: प्रतिर्निपात: कर्मप्रवचनीय:।

अर्थ:-प्रतिनिधौ प्रतिदाने चार्थे प्रति: शब्द: कर्मप्रवचनीयसंज्ञको भवति।

उदा०-(प्रतिनिधौ) अभिमन्युरर्जुनत: प्रति:। (प्रतिदाने) माषानस्मै तिलेभ्य: प्रति यच्छति।

आर्यभाषा-अर्थ-(प्रतिनिधिप्रतिदानयो:) प्रतिनिधि और प्रतिदान अर्थ में (प्रति:) प्रति निपात की (कर्मप्रवचनीय:) कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

*उदा०-**(प्रतिनिधि) अभिमन्युरर्जुनत: प्रति।** अभिमन्यु अर्जुन का प्रतिनिधि है। **(प्रतिदान) माषान् अस्मै तिलेभ्य: प्रतियच्छति।** वह इसे तिलों के बदले में उड़द देता है। **प्रतिनिधि**=मुख्यसदृश। **प्रतिदान**=बदले में देना।*

सिद्धि-अभिमन्युरर्जुनत: प्रति।** यहां 'प्रति' शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उसके योग में **'प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्** (२।३।११) से पञ्चमी विभक्ति होती है। अर्जुन+तसि=अर्जुनत:। यहां **'अपादाने चाहीयरुहो:'** (५।४।४५) से अपादान में तसि प्रत्यय है। इसी प्रकार-**माषानस्मै तिलेभ्य: प्रतियच्छति।

अधि-परी-

(११) अधिपरी अनर्थकौ।६३।

प०वि०-अधि-परी १।२ अनर्थकौ १।२।

स०-अधिश्च परिश्च तौ-अधिपरी (इतरेतरयोगद्वन्द्व:)। न विद्यतेऽर्थान्तरं ययोस्तौ-अनर्थकौ (बहुव्रीहि:)।

अन्वय:-अनर्थकावधिपरी निपातौ कर्मप्रवचनीयौ।

अर्थ:-अनर्थकौ=अनर्थान्तरौ अधि-परी निपातौ कर्मप्रवचनीयसंज्ञकौ भवत:।

उदा०-(अधि) कुतोऽध्यागच्छति ? (परि) कुत: पर्यागच्छति ?

आर्यभाषा-अर्थ-(अनर्थकौ) अर्थान्तर से रहित (अधिपरी) 'अधि' और 'परि' निपात की (कर्मप्रवचनीय:) कर्मप्रवचनीय संज्ञा होता है।

*उदा०-(अधि) **कुतोऽध्यागच्छति।** वह कहां से आता है? (परि) **कुत: पर्यागच्छति** ? वह कहां से आता है ?*

सिद्धि-कुतोऽध्यागच्छति। अधि+आगच्छति=अध्यागच्छति। यहां 'अधि' उपपद होने पर 'आगच्छति' के अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता है। अतः 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती। कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से गति संज्ञा नहीं रहती। इसलिये 'गतिरन्तरः' (६।२।४९) से अनुदात्त स्वर नहीं होता है। इसी प्रकार-पर्यागच्छति।

विशेष-जैसे 'गजः' और 'मतङ्गज' तथा 'वृषः' और 'वृषभः' शब्द अनर्थान्तर (समानार्थक) हैं, वैसे आगच्छति और अध्यागच्छति तथा आगच्छति और पर्यागच्छति शब्द भी अनर्थान्तर हैं।

सुः-

(१२) सुः पूजायाम्।६४।

प०वि०-सुः १।१ पूजायाम् ७।१।

अन्वयः-पूजायां सुर्निपातः कर्मप्रवचनीयः।

अर्थः-पूजायामर्थे सुर्निपातः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको भवति।

उदा०-सु सिक्तं भवता। सु स्तुतं भवता।

आर्यभाषा-अर्थ-(पूजायाम्) स्तुति करने अर्थ में (सुः) सु निपात की (कर्मप्रवचनीयः) कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

*उदा०-**सु सिक्तं भवता।** आपने अच्छी सिंचाई की। **सु स्तुतं भवता।** आपने अच्छी स्तुति की।*

*सिद्धि-(१) **सु सिक्तं भवता।** यहां 'सु' निपात की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से 'उपसर्ग' संज्ञा नहीं रहती। अतः 'उपसर्गात्सुनोति०' (८।२।६५) से उपसर्ग-आश्रित सकार को षत्व नहीं होता है।*

अतिः-

(१३) अतिरतिक्रमणे च।६५।

प०वि०-अतिः १।१ अतिक्रमणे ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-'पूजायाम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अतिक्रमणे पूजायां चातिर्निपातः कर्मप्रवचनीयः।

अर्थः-अतिक्रमणे पूजायां चार्थेऽतिर्निपातः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको भवति।

उदा०-निष्पन्नेऽपि वस्तूनि क्रियाप्रवृत्तिः=अतिक्रमणमुच्यते। (अतिक्रमणे) अति सिक्तमेव भवता। अति स्तुतमेव भवता। (पूजायाम्) अति सिक्तं भवता। अति स्तुतं भवता।

आर्यभाषा-अर्थ-(अतिक्रमणे) अतिक्रमण अर्थ में (पूजायाम्) और स्तुति करने अर्थ में (च) भी (अतिः) अति निपात की (कर्मप्रवचनीयः) कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। कार्य के सिद्ध होने पर भी क्रिया को चालू रखना अतिक्रमण कहाता है।

*उदा०-**(अतिक्रमण) अति सिक्तमेव भवता।** आपने बहुत ही अधिक सिंचाई की। **अति स्तुतिमेव भवता।** आपने बहुत ही अधिक स्तुति की। **(पूजा) अति सिक्तं भवता।** आपने अच्छी सिंचाई की। **अति स्तुतं भवता।** आपने अच्छी स्तुति की।*

*सिद्धि-**(१) अति सिक्तमेव भवता।** यहां 'अति' शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती। अतः 'उपसर्गात् सुनोति०' (८।३।६५) से उपसर्ग आश्रित सकार को षत्व नहीं होता है।*

अपिः–

(१४) अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु।९६।

प०वि०-अपिः १।१ पदार्थ-सम्भावन-अन्ववसर्ग-गर्हा-समुच्चयेषु ७।३।

स०-पदार्थश्च सम्भावनं च अन्ववसर्गश्च गर्हा च समुच्चयश्च ते-पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयाः, तेषु पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हा-समुच्चयेषु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-पदार्थ०समुच्चयेषु अपिर्निपातः कर्मप्रवचनीयः।

अर्थः-पदार्थ-सम्भावन-अन्ववसर्ग-गर्हा-समुच्चयेष्वर्थेषु अपिर्निपातः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको भवति।

उदा०-(पदार्थे) मधुनोऽपि स्यात्। सर्पिषोऽपि स्यात्। (सम्भावने) अपि सिञ्चेत् मूलक-सहस्रम्। अपि स्तुयाद् राजानम्। (अन्ववसर्गे) अपि सिञ्च। अपि स्तुहि। (गर्हायाम्) धिग् जाल्मं देवदत्तम् अपि सिञ्चेत् पलाण्डुम्, अपि स्तुयाद् वृषलम्। (समुच्चये) अपि सिञ्च, अपि स्तुहि। सिञ्च च, स्तुहि चेत्यर्थः।

(१) पदान्तरस्याऽप्रयुज्यमानस्यार्थः पदार्थः। मधुनोऽपि=मधुनो मात्रा, बिन्दुः स्तोकमित्यर्थः। (२) सम्भावनम्=अधिकार्थवचनेन शक्तेरप्रतिघाताविष्करणम् (३) अन्ववसर्गः=कामचाराभ्यनुज्ञानम्। (४) गर्हा=निन्दा। (५) समुच्चयः=संग्रहः।

आर्यभाषा-अर्थ-(पदार्थ०) पदार्थ, सम्भावन, अन्ववसर्ग, गर्हा और समुच्चय अर्थ में (अपिः) अपि निपात की (कर्मप्रवचनीयः) कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

*उदा०-(पदार्थ) **मधुनोऽपि स्यात्।** घी की भी मात्रा होनी चाहिये। (सम्भावन) **अपि सिञ्चेन्मूलकसहस्रम्।** वह हजार मूलियों को सींच सकता है। **अपि स्तुयाद् राजानम्।** वह राजा की स्तुति कर सकता है। (अन्ववसर्ग) **अपि सिञ्च।** तू चाहे सींच। **अपि स्तुहि।** तू चाहे स्तुति कर। तेरी इच्छा है। (गर्हा) **धिग् जाल्मं देवदत्तम् अपि सिञ्चेत् पलाण्डुम्, अपि स्तुयाद् वृषलम्।** उस नीच देवदत्त को धिक्कार है जो पलाण्डु (प्याज) को सींचता है, नीच पुरुष की स्तुति करता है। (समुच्चय) **अपि सिञ्च।** तू सींच भी। **अपि स्तुहि।** तू स्तुति भी कर।*

***पदार्थ**-(१) अप्रयुक्त पद के अर्थ को ग्रहण कर लेना 'पदार्थ' कहाता है। जैसे '**मधुनोऽपि**' का अर्थ मधु की मात्रा है। यहां अप्रयुक्त 'मात्रा' पद का अर्थ ग्रहण किया जाता है।*

*(२) **सम्भावन**-अधिक अर्थ के कहने से किसी व्यक्तिविशेष को प्रकट करना सम्भावन कहाता है। **अन्ववसर्ग**=कामचार की अनुज्ञा अर्थात् मन-मर्जी करने की आज्ञा देना। **गर्हा**=निन्दा। **समुच्चय**=संग्रह।*

***सिद्धि**-(१) **मधुनोऽपि स्यात्।** यहां '**अपि**' निपात की की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती है। अतः यहां '**उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः**' (८।३।८७) से उपसर्ग-आश्रित सकार को षत्व नहीं होता है।*

*(२) **अपि सिञ्चेन्मूलकसहस्रम्।** यहां '**अपि**' निपात की कर्मवचनीय संज्ञा होने सेउपसर्ग संज्ञा नहीं रहती। अतः यहां '**उपसर्गात् सुनोति०**' (८।३।६५) से उपसर्ग-आश्रित सकार को षत्व नहीं होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझें।*

*(३) **अपि सिञ्च, अपि स्तुहि।** यहां सेचन और स्तुति क्रिया का एक ही कर्ता में समुच्चय किया गया है कि तू सींच भी और स्तुति भी कर।*

(१५) अधिरीश्वरे।६७।

प०वि०-अधिः १।१ ईश्वरे ७।१।

अन्वयः-ईश्वरेऽधिर्निपातः कर्मप्रवचनीयः।

अर्थः-ईश्वरे=स्व-स्वामिसम्बन्धेऽर्थेऽधिर्निपातः कर्मवचनीयसंज्ञको भवति ।

उदा०-(स्वामिनि) अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः। (स्वे) अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः।

ईश्वर: स्वामी, स च स्वमपेक्षते। इयं स्व-स्वामिसम्बन्धे कर्मप्रवंचनीयसंज्ञा विधीयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(ईश्वरे) स्व-स्वामी सम्बन्ध अर्थ में (अधि:) अधि निपात की (कर्मवचनीय:) कर्मवचनीय संज्ञा होती है।

*उदा०-(स्वामी) **अधि ब्रह्मदत्ते पाञ्चाला:।** ब्रह्मदत्त पाञ्चालों का स्वामी है। (स्व) **अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्त:।** पञ्चाल ब्रह्मदत्त के अधीन हैं।*

*सिद्धि-(१) **अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चाला:।** यहां 'अधि' निपात की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से **'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी'** (२।३।९) से अधि के योग में सप्तमी विभक्ति होती है। स्व-स्वामी सम्बन्ध में **'षष्ठी शेषे'** (२।३।५०) से षष्ठी विभक्ति प्राप्त थी। कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उसका प्रतिशेष हो जाता है।*

विशेष-स्व-स्वामी सम्बन्ध में कभी 'स्वामी' का और कभी 'स्व' का प्रधानता से कथन किया जाता है। जब स्वामी का प्रधानता से कथन किया जाता है तब स्वामी (ब्रह्मदत्त) की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जब स्व का प्रधानता से कथन किया जाता है तब स्व (पंचाल) की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जिसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो उसी में 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी' (२।३।९) से सप्तमी विभक्ति हो जाती है।

कृञि विकल्प:-

(१६) विभाषा कृञि।६८।

प०वि०-विभाषा १।१ कृञि ७।१।

अनु०-'अधिरीश्वरे' इत्यनुवर्तते।

अन्वय:-ईश्वरेऽधिर्निपात: कृञि विभाषा कर्मप्रवचनीय:।

अर्थ:-ईश्वरेऽर्थेऽधिर्निपात: कृञि परतो विकल्पेन कर्मप्रवचनीयसंज्ञको भवति।

उदा०-यदत्र माम् अधि करिष्यति। यदत्र माम् अधिकरिष्यति। ईश्वरो भवति, एवमत्र मां विनियोक्ष्यते, इत्यर्थ:।

आर्यभाषा-अर्थ-(ईश्वरे) स्वामी अर्थ में (अधि:) अधि निपात की (कृञि) 'कृञ्' धातु से परे होने पर (विभाषा) विकल्प से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

*उदा०-**यदत्र माम् अधि करिष्यति। यदत्र माम् अधिकरिष्यति।** वह स्वामी है, इसलिये वह मुझे इस पद पर नियुक्त करेगा।*

*सिद्धि-(१) **यदत्र मामधिकरिष्यति।** यहां 'अधि' निपात की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से गति संज्ञा नहीं रहती है। अत: यहां **'तिङि चोदात्तवति'** (८।१।७१) से 'अधि'*

*को अनुदात्त स्वर नहीं होता है-**अधि करिष्यति।** अपितु **'निपाता अनुदात्ताः'** (फिट्० ४।१२) से आद्युदात्त प्रकृति स्वर होता है। जहां पक्ष में कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती है वहां भी **'निपातैर्यद्यदि०'** (८।१।३०) से अनुदात्त स्वर का निषेध होकर पूर्वपद प्रकृति स्वर ही होता है। **अधिकरिष्यति।***

इति निपातसंज्ञाप्रकरणम्।

परस्मैपद-संज्ञा–

लः परस्मैपदम्।६६।

प०वि०–लः ६।१ परस्मैपदम् १।१।

अर्थः–लकारादेशाः परस्मैपदसंज्ञका भवन्ति।

उदा०–तिप्। तस्। झि। सिप्। थस्। थ। मिप्। वस्। मस्। शतृ। क्वसुः।

आर्यभाषा-अर्थ- *(लः) लकार के स्थान में होनेवाले आदेशों की (परस्मैपदम्) परस्मैपद संज्ञा होती है।*

उदा०–तिप्। तस्। झि। सिप्। थस्। थ। मिप्। वस्। मस्। शतृ। क्वसु।

सिद्धि-(१) तिप्। 'तिप्तस्झि०' *(३।४।७८) से लकार के स्थान में 'तिप्' आदि आदेशों का विधान किया गया है। इस सूत्र से उनकी परस्मैपद संज्ञा की गई है।*

*(२) **शतृ। 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे'** (३।२।१२४) से लट् के स्थान में शतृ-आदेश का विधान किया गया है। इस सूत्र से उसकी परस्मैपद संज्ञा की गई है।*

*(३) **क्वसु। 'क्वसुश्च'** (३।२।१०७) से लिट्' के स्थान में 'क्वसु'-आदेश का विधान किया है। इस सू.' से उसकी परस्मैपद संज्ञा की गई है।*

आत्मनेपद-संज्ञा–

तङानावात्मनेपदम्।१००।

प०वि०–तङ्-आनौ १।२ आत्मनेपदम् १।१।

स०–तङ् च आनश्च तौ-तङानौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–'लः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–लस्तङानावात्मनेपदम्।

अर्थः–लादेशौ तङानौ प्रत्ययावत्मनेपदसंज्ञकौ भवतः। 'तङ्' इति

त-प्रभृति महिङः ङकार पर्यन्तं प्रत्याहारग्रहणम्। 'आन' इति शानच्कानचोर्ग्रहणम्।

उदा०-(तङ्) त। आताम्। झ। थास्। आथाम्। ध्वम्। इट्। वहि। महिङ्। (आन) शानच्। कानच्।

आर्यभाषा-अर्थ-(लः) लकार के स्थान में होनेवाले (तङानौ) तङ् और आन प्रत्यय की (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद संज्ञा होती है।

उदा०-(तङ्) त। आताम्। झ। थास्। आथाम्। ध्वम्। इट्। वहि। महिङ्। (आन) शानच्। कानच्।

'तङ्' यह 'त' प्रत्यय से लेकर 'महिङ्' के ङकार तक प्रत्याहार ग्रहण किया गया है। 'आन' यह 'शानच्' और 'कानच्' प्रत्यय के सामान्य रूप का ग्रहण है।

***सिद्धि-(१) त।** **'तिप्तस्झि०'** (३।४।७८) से लकार के स्थान में 'त' आदि ९ नौ प्रत्ययों का विधान किया गया है। इस सूत्र से उनकी आत्मनेपद संज्ञा की गई है।*

*(२) **आन। 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे'** (३।२।१२४) से 'लट्' के स्थान में 'शानच्' आदेश का विधान किया गया है। इस सूत्र से उसकी आत्मनेपद संज्ञा की गई है।*

*(३) **आन। 'लिटः कानज्वा'** (३।२।१०६) से लिट् के स्थान में 'कानच्' आदेश का विधान किया गया है। इस सूत्र से उसकी आत्मनेपद संज्ञा की गई है।*

प्रथम-मध्यम-उत्तम-संज्ञा—

तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः।१०१।

प०वि०-तिङः ६।१ त्रीणि १।३ त्रीणि १।३ प्रथम-मध्यम-उत्तमाः १।३।

अर्थः-प्रथमश्च मध्यमश्च उत्तमश्च ते-प्रथममध्यमोत्तमाः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

उदा०-तिङ्सम्बन्धीनि-त्रीणि-त्रीणि शब्दरूपाणि यथाक्रमं प्रथम-मध्यम-उत्तमसंज्ञकानि भवन्ति। यथा—

	पुरुषः	*परस्मैपदम्*			*आत्मनेपदम्*		
(१)	*प्रथमः*	*तिप्*	*तस्*	*झि*	*त*	*आताम्*	*झ*
(२)	*मध्यमः*	*सिप्*	*थस्*	*थ*	*थास्*	*आथाम्*	*ध्वम्*
(३)	*उत्तमः*	*मिप्*	*वस्*	*मस्*	*इट्*	*वहि*	*महिङ्*
					९ तङ्		*१८ तिङ्*

आर्यभाषा-अर्थ-(तिङः) तिङ्सम्बन्धी (त्रीणि त्रीणि) तीन-तीन प्रत्ययों की क्रमशः (प्रथममध्यमोत्तमाः) प्रथम, मध्यम और उत्तम संज्ञा होती है।

*उदा०-**परस्मैपद**-(प्रथम) तिप्। तस्। झि। (मध्यम) सिप्। थस्। थ। (उत्तम) मिप्। वस्। मस्। **आत्मनेपद**-(प्रथम) त। आताम्। झ। (मध्यम) थास्। आथाम्। ध्वम्। (उत्तम) इट्। वहि। महिङ्।*

सिद्धि-तिङ्। 'तिप्' प्रत्यय के 'ति' से लेकर 'महिङ्' प्रत्यय के ङकार से 'तिङ्' प्रत्याहार बनाया गया है। लकार के स्थान में होनेवाले 'तिप्' आदि १८ प्रत्ययों को तिङ् कहते हैं। उनमें प्रथम ९ नौ प्रत्ययों की परस्मैपद संज्ञा है। शेष ९ नौ प्रत्ययों की आत्मनेपद संज्ञा है। उनके क्रमशः तीन-तीन प्रत्ययों की इस सूत्र से प्रथम, मध्यम और उत्तम संज्ञा की गई है।

एकवचन-द्विवचन-बहुवचन-संज्ञा—

(१) तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः।१०२।

प०वि०-तानि १।३ एकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि १।३ एकशः अव्ययपदम्।

स०-एकवचनं च द्विवचनं च बहुवचनं च तानि-एकवचनद्विवचन-बहुवचनानि (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'तिङस्त्रीणि त्रीणि' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-तानि तिङस्त्रीणि त्रीणि एकश एकवचनद्विवचनबहुवचनानि।

अर्थः-तानि तिङ्सम्बन्धीनि त्रीणि त्रीणि शब्दरूपाणि, एकैकं कृत्वा क्रमशः एकवचन-द्विवचन-बहुवचनसंज्ञकानि भवन्ति। यथा—

वचनम्	*परस्मैपदम्*			*आत्मनेपदम्*		
एकवचनम्	*तिप्*	*सिप्*	*मिप्*	*त*	*थास्*	*इट्*
द्विवचनम्	*तस्*	*थस्*	*वस्*	*आताम्*	*आथाम्*	*वहि*
बहुवचनम्	*झि*	*थ*	*मस्*	*झ*	*ध्वम्*	*महिङ् (तिङ्)*

आर्यभाषा-अर्थ-(तानि) वे (तिङः) तिङ्सम्बन्धी (त्रीणि त्रीणि) तीन-तीन शब्द क्रमशः (एकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि) एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञावाले होते हैं।

उदा०-तिप् एकवचन, तस् द्विवचन और झि बहुवचन है। जैसा कि ऊपर तालिका में दर्शाया गया है।

(२) सुपः।१०३।

प०वि०-सुपः ६।१।

अनु०-त्रीणि त्रीणि एकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-सुपस्त्रीणि त्रीणि एकश एकवचनद्विवचनबहुवचनानि।

अर्थः-सुप्-सम्बन्धीनि त्रीणि त्रीणि शब्दरूपाणि एकैकं कृत्वा एकवचनद्विवचनबहुवचनसंज्ञकानि भवति। 'सुप्' इति सुप्रत्ययप्रभृति सुपः पकारात् प्रत्याहारग्रहणम्। यथा-

	एकवचनम्	द्विवचनम्	बहुवचनम्
(१)	सु	औ	जस्
(२)	अम्	औट्	शस्
(३)	टा	भ्याम्	भिस्
(४)	ङे	भ्याम्	भ्यस्
(५)	ङसि	भ्याम्	भ्यस्
(६)	ङस्	ओस्	आम्
(७)	ङि	ओस्	सुप् (सुप्)

आर्यभाषा-अर्थ-(सुपः) सुप्सम्बन्धी (त्रीणि त्रीणि) तीन-तीन शब्दों की (एकशः) एक-एक करके (एकवचनद्विवचनबहुवचनानि) एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञा होती है। 'सु' एकवचन, औ द्विवचन और जस् बहुवचन है। 'सुप्' यहां 'सु' प्रत्यय के पकार तक 'सुप्' प्रत्याहार का ग्रहण किया जाता है। शेष संस्कृत-भाग में दी गई तालिका से समझ लेवें।

विभक्ति-संज्ञा-

(१) विभक्तिश्च।१०४।

प०वि०-विभक्तिः १।१।

अनु०-'सुपः, तिङः, त्रीणि, त्रीणि' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-सुपस्तिङश्च त्रीणि त्रीणि विभक्तिश्च।

अर्थः-सुपस्तिङश्च त्रीणि त्रीणि शब्दरूपाणि विभक्तिसंज्ञकान्यपि भवन्ति। यथा-

	विभक्ति	सुपः			तिङः		
(१)	प्रथमा	सु	औ	जस्	तिप्	तस्	झि
(२)	द्वितीया	अम्	औट्	शस्	सिप्	थस्	थ
(३)	तृतीया	टा	भ्याम्	भिस्	मिप्	वस्	मस्
(४)	चतुर्थी	ङे	भ्याम्	भिस्	त	आताम्	झ
(५)	पञ्चमी	ङसि	भ्याम्	भ्यस्	थास्	आथाम्	ध्वम्
(६)	षष्ठी	ङस्	ओस्	आम्	इट्	वहि	महिङ्
(७)	सप्तमी	ङि	ओस्	सुप्	×	×	×

आर्यभाषा-अर्थ-(सुपः) सुप् सम्बन्धी (तिङः) और तिङ् सम्बन्धी (त्रीणि त्रीणि) तीन-तीन प्रत्ययों की (विभक्तिः) विभक्ति संज्ञा (च) भी होती है। सु, औ, जस् प्रथमा विभक्ति हैं। जैसा कि ऊपर तालिका में दर्शाया गया है।

सिद्धि-सुप् और तिङ् सम्बन्धी तीन-तीन प्रत्ययों की विभक्ति संज्ञा की गई है। सुप् सम्बन्धी सु, औ, जस् आदि तीन-तीन प्रत्ययों की प्रथमा विभक्ति आदि संज्ञायें हैं और तिङ् सम्बन्धी 'तिप् तस् झि०' आदि तीन प्रत्ययों की विभक्ति संज्ञा की गई है। विभक्ति संज्ञा का फल यह है कि जस् (सुप्) और तस् (तिङ्) प्रत्यय की 'हलन्त्यम्' (१।३।३) से इत् संज्ञा प्राप्त होती है किन्तु इनकी विभक्ति संज्ञा होने से 'न विभक्तौ तुस्माः' (१।३।४) से जस् और तस् के सकार की इत् संज्ञा नहीं होती है। इत् संज्ञा न होने 'तस्य लोपः' (१।३।९) से 'स्' का लोप नहीं होता है।

पुरुषविधानम्

मध्यमपुरुषः--

युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः।१०४।

प०वि०-युष्मदि ७।१ उपपदे ७।१ समानाधिकरणे ७।१ स्थानिनि ७।१ अपि अव्ययपदम् मध्यमः १।१।

अर्थः-युष्मत्-शब्दे उपपदे, समानाधिकरणे=समानाभिधेये सति, स्थानिनि प्रयुज्यमानेऽपि धातो मध्यमपुरुषो भवति।

उदा०-(स्थानिनिप्रयुज्यमाने) त्वं पचसि। युवां पचथः। यूयं पचथः। (स्थानिनि अप्रयुज्यमाने) पचसि। पचथः। पचथ।

आर्यभाषा-अर्थ-(युष्मदि) युष्मद् शब्द (उपपदे) उपपद होने पर तथा (समानाधिकरणे) एक अभिधेय होने पर (स्थानिनि) युष्मद् शब्द का (प्रयुज्यमानेऽपि)

प्रयोग होने पर तथा प्रयोग न होने पर भी धातु से (मध्यमः) मध्यम पुरुष संज्ञक प्रत्यय होता है।

उदा०-(स्थानी का प्रयोग होने पर) **त्वं पचसि।** *तू पकाता है।* **युवां पचथः।** *तुम दोनों पकाते हो।* **यूयं पचथ।** *तुम सब पकाते हो। (स्थानी का प्रयोग न होने पर) पचसि। तू पकाता है।* **पचथः।** *तुम दोनों पकाते हो।* **पचथ।** *तुम सब पकाते हो।*

सिद्धि-(१) त्वं पचसि। *पच्+लट्। पच्+शप्+सिप्। पच्+अ+सि। पचसि। यहां स्थानी युष्मद् शब्द के उपपद होने पर 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में मध्यम पुरुष संज्ञक 'सिप्' आदेश होता है।*

(२) **'समानाधिकरण'** *का कथन इसलिये है कि 'त्वम्' युष्मद् का एकवचन है इसलिये उसके साथ 'सिप्' एकवचन का प्रत्यय ही रखा जाये। ऐसा न हो कि एकवचन युष्मद् के साथ द्विवचन अथवा बहुवचन का प्रत्यय रख दिया जाये। यह समानाधिकरण नहीं, अपितु व्यधिकरण हो जायेगा।*

(३) **स्थानी युष्मद्** *शब्द का प्रयोग न होने पर भी उसकी विवक्षा में धातु से मध्यम पुरुष संज्ञक प्रत्यय होता है। उसका अर्थ भी वही समझा जाता है,* **पचसि**-*तू पकाता है।*

प्रहासे मध्यपुरुषः-

प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च।१०६।

प०वि०-प्रहासे ७।१ च अव्ययपदम्, मन्य-उपपदे ७।१ मन्यतेः ५।१ उत्तमः १।१। एकवत् अव्ययपदम्, च अव्ययपदम्।

स०-मन्य उपपदे यस्य स मन्योपपदः, तस्मिन्-मन्योपपदे। (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-प्रहासे च युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मन्योपपदे धातोर्मध्यमः, मन्यतेरुत्तम एकवच्च।

अर्थः-प्रहासे च गम्यमाने युष्मत्-शब्दे उपपदे समानाभिधेये सति स्थानिनि प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमानेऽपि मन्य-उपपदाद् धातोर्मध्यमः पुरुषो भवति, मन्यतेश्च धातोरुत्तमः पुरुषो भवति, स च एकवद् भवति।

उदा०-कश्चित् कञ्चित् प्रहसन् प्राह-अयि मित्र ! एहि त्वं मन्ये-'अहम् ओदनं भोक्ष्यसे' इति, नहि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः। स्थानिनि

अप्रयुज्यमाने-अयि मित्र ! एहि, मन्ये-'ओदनं भोक्ष्यसे' इति, नहि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः ।

आर्यभाषा-अर्थ-(च) और (प्रहासे) हंसी करने में (युष्मदि) युष्मद् शब्द के (उपपदे) उपपद होने पर तथा (समानाधिकरणे) समान अभिधेय होने पर (स्थानिनि, अपि) स्थानी युष्मद् शब्द का प्रयोग होने पर तथा प्रयोग न होने पर भी (मन्योपपदे) 'मन्ये' उपपदवाली धातु से (मध्यमः) मध्यमपुरुष होता है (मन्यतेश्च) और स्वयं मन्यति धातु से (उत्तमः) उत्तम पुरुष होता है (एकवच्च) और उससे एक वचन ही होता है।

*उदा०-जैसे कोई किसी से हंसी में कहता है कि-**अयि सखे ! एहि, त्वं मन्ये-'अहम् ओदनं भोक्ष्यसे' इति, न हि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः ।** हे मित्र ! आ, तू समझता है कि मैं चावल खाऊंगा, तू चावल नहीं खायेगा, उसे तो अतिथि लोग खा गये। स्थानी युष्मद् शब्द का प्रयोग न होने पर-**अयि सखे ! एहि, मन्ये, 'ओदनं भोक्ष्यसे' इति, नहि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः'।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*सिद्धि-(१) **अयि सखे ! एहि, त्वं मन्ये-'अहम् ओदनं भोक्ष्यसे' इति, न हि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः ।** यह किसी व्यक्ति का किसी मित्र के प्रति उपहास-वचन है। यह युष्मद् (त्वम्) शब्द के उपपद होने पर मन्य उपपदवाली 'भुज्' धातु से लृट्लकार मध्यम पुरुष है और उसमें एक वचन ही रहता है। यदि युवाम् और यूयम्, द्विवचन और बहुवचन का प्रयोग हो तब भी 'मन्ये' पद में उत्तम पुरुष एकवचन ही रहता है। जैसे-**अयि सखायौ ! एतम्, युवां मन्ये-'आवाम् ओदनं भोक्ष्येथे' इति, न हि भोक्ष्येथे, भुक्तः सोऽतिथिभिः । अयि सखायः ! एत, यूयं मन्ये-'वयम् ओदनं भोक्ष्यध्वे' इति, न हि भोक्ष्यध्वे, भुक्तः सोऽतिथिभिः ।***

उत्तम-पुरुषः-

अस्मद्युत्तमः ।१०७।

प०वि०-अस्मदि ७।१ उत्तमः १।१।

अनु०-'उपपदे समानाधिकरणे स्थानिनि अपि' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अस्मदि उपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि धातोर्मध्यमः।

अर्थः-अस्मत्-शब्दे उपपदे समानाभिधेये सति स्थानिनि प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमानेऽपि धातोरुत्तमः पुरुषो भवति।

उदा०-(स्थानिनि प्रयुज्यमाने) अहं पचामि। आवां पचावः। वयं पचामः। (स्थानिनि अप्रयुज्यमानेऽपि) पचामि। पचावः। पचामः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अस्मदि) अस्मद् शब्द के (उपपदे) उपपद होने पर तथा (समानाधिकरणे) समान अभिधेये होने पर (स्थानिनि अपि) स्थानी अस्मद् शब्द का प्रयोग होने पर तथा प्रयोग न होने पर भी धातु से (उत्तमः) उत्तम पुरुष होता है।

*उदा०-(स्थानी का प्रयोग होने पर) **अहं पचामि।** मैं पकाता हूं। **आवां पचावः।** हम दोनों पकाते हैं। **वयं पचामः।** हम सब पकाते हैं। (स्थानी का प्रयोग न होने पर) **पचामि।** मैं पकाता हूं। **पचावः।** हम दोनों पकाते हैं। **पचामः।** हम सब पकाते हैं।*

सिद्धि-(१) अहं पचामि। *पच्+लट्। पच्+शप्+मिप्। पच्+अ+मि। पचामि। यहां 'अस्मद्' शब्द के उपपद होने पर **'डुपचष् पाके'** (भ्वा०उ०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में उत्तम पुरुष एकवचन 'मिप्' आदेश है। इसी प्रकार-**आवां पचावः। वयं पचामः।***

*(२) स्थानी 'अस्मद्' शब्द का प्रयोग न होने पर भी अस्मद् शब्द की विवक्षा में धातु से उत्तम पुरुष होता है-**पचामि। पचावः। पचामः।***

प्रथम-पुरुषः-

शेषे प्रथमः।१०८।

प०वि०-शेषे ७।१ प्रथम १।१।

अनु०-'उपपदे समानाधिकरणे स्थानिनि अपि' इत्यनुवर्तते। उक्तादन्यः शेषः।

अन्वयः-शेषे उपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि धातोः प्रथमः।

अर्थः-शेषे=युष्मद्-अस्मद्भिन्ने उपपदे समानाभिधेये सति स्थानिनि प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमानेऽपि धातोः प्रथमः पुरुषो भवति।

उदा०-(स्थानिनि प्रयुज्यमाने) स पचति। तौ पचतः। ते पचन्ति। रामः पचति। रामौ पचतः। रामाः पचन्ति। (स्थानिनि अप्रयुज्यमानेऽपि) पचति। पचतः। पचन्ति।

आर्यभाषा-अर्थ-(शेषे) युष्मद् और अस्मद् शब्द से भिन्न शब्द के (उपपदे) उपपद होने पर तथा (समानाधिकरणे) समान अभिधेय होने पर (स्थानिनि अपि) स्थानी का प्रयोग न होने पर भी धातु से (प्रथमः) प्रथम पुरुष होता है।

*उदा०-(स्थानी का प्रयोग होने पर) **स पचति।** वह पकाता है। **तौ पचतः।** वे दोनों पकाते हैं। **ते पचन्ति।** वे सब पकाते हैं। **रामः पचति।** राम पकाता है। **रामौ***

पचतः । दो राम पकाते हैं। रामाः पचन्ति। सब राम पकाते हैं। (स्थानी का प्रयोग न होने पर) पचति। वह पकाता है। पचतः। वे दोनों पकाते हैं। पचन्ति। वे सब पकाते हैं।

सिद्धि-(१) स पचति। पच्+लट्। पच्+शप्+तिप्। पच्+अ+ति। पचति। यहां युष्मद् और अस्मद् शब्द से भिन्न 'तद्' शब्द के उपपद होने पर 'डुपचष् पाके' (भ्वा०उ०) धातु से 'लट्' प्रत्यय और उसके स्थान में प्रथम पुरुष एकवचन 'तिप्' आदेश है। इसी प्रकार-तौ पचतः। ते पचन्ति। रामः पचति। रामौ पचतः। रामाः पचन्ति।

(२) स्थानी 'तद्' शब्द का प्रयोग न होने पर भी 'तद्' शब्द आदि की विवक्षा में धातु से प्रथम पुरुष होता है-पचति। पचतः। पचन्ति।

संहिता-संज्ञा—

परः सन्निकर्षः संहिता।१०६।

प०वि०-परः १।१ सन्निकर्षः १।१ संहिता १।१। परः=अत्यन्तः। सन्निकर्षः=समीपता।

अर्थः-वर्णानां यः परः सन्निकर्षः स संहितासंज्ञको भवति।

उदा०-दध्यत्र। मध्वत्र।

आर्यभाषा-अर्थ-(परः) वर्णों की जो अत्यन्त (सन्निकर्षः) समीपता है, उसकी (संहिता) संहिता संज्ञा होती है।

उदा०-दध्यत्र। दही यहां पर है। मध्वत्र। मधु यहां पर है।

सिद्धि-(१) दध्यत्र। दधि+अत्र। दध्य्+अत्र। दध्यत्र। यहां 'इको यणचि' (६।१।७७) से इ के स्थान में य् आदेश होकर वर्णों की अत्यन्त समीपता हो जाती है। इसलिये इसे 'संहिता' कहते हैं। इसी प्रकार-मधु+अत्र। मध्व्+अत्र=मध्वत्र।

(२) जहां वर्णों की अत्यन्त समीपता नहीं होती उसे पदपाठ कहते हैं-दधि अत्र। मधु अत्र।

अवसान-संज्ञा—

विरामोऽवसानम्।११०।

प०वि०-विरामः १।१ अवसानम् १।१।

स०-विरम्यतेऽनेनेति विरामः=वर्णानामुच्चारणाभावः।

अर्थः-विरामः=वर्णानामुच्चारणाभावोऽवसान-संज्ञको भवति।

उदा०-दधिँ। मधुँ। वृक्षः। प्लक्षः।

आर्यभाषा-अर्थ-(विरामः) वर्णों के उच्चारण के भाव की (अवसानम्) अवसान ***संज्ञा*** *होती है।*

उदा०-दधिँ। मधुँ। वृक्षः। प्लक्षः।

*सिद्धि-**(१) दधिँ।** यहां आगे वर्णों के उच्चारणाभाव में अवसान संज्ञा होने से* ***'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः'*** *(८।४।५७) से अवसान में विद्यमान 'दधि' शब्द में अनुनासिक गुण का आधान हो जाता है। इसी प्रकार-**मधुँ।***

(२) वृक्षः। *वृक्ष+सु। वृक्ष+स्। वृक्ष+रु। वृक्ष+र्। वृक्ष+ः। वृक्षः। यहां आगे* ***वर्णों के*** *उच्चारणाभाव में अवसान संज्ञा होने से* ***'खरवासनायोर्विसर्जनीयः'*** *(८।३।१५) से 'रु' के रेफ को ':' विसर्जनीय' आदेश हो जाता है। इसी प्रकार-**प्लक्षः।***

इति पण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचने प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः। समाप्तश्चायं प्रथमोऽध्यायः।

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः

पदविधिः–

(१) समर्थः पदविधिः ।१।

प०वि०–समर्थः १।१ पदविधिः १।१।

स०–समर्थः=शक्तः। संगतः सम्बद्धो वाऽर्थो यस्य स **समर्थः** (उत्तरपदलोपी–बहुव्रीहिः)। पदस्य विधिरिति पदविधिः। **पदयोर्विधिरिति** पदविधिः। पदानां विधिरिति पदविधिः। पदाद् विधिरिति पदविधिः। **पदे** विधिरिति पदविधिः (सर्वविभक्त्यन्तस्तत्पुरुषः)।

अन्वयः–पदविधिः समर्थः।

अर्थः–अस्मिन् व्याकरणशास्त्रे यः कश्चित् पदविधिः श्रूयते स समर्थो वेदितव्यः। स पुनः समासादिः। वक्ष्यति–**द्वितीया श्रितातीतपतित-गतात्यस्तप्राप्तापन्नैः** (२।१।२४) इति। कष्टं श्रित इति कष्टश्रितः। समर्थग्रहणं किम्? पश्य देवदत्त! कष्टम्, श्रितो विष्णुमित्रो गुरुकुलम्, इत्यादि।

*आर्यभाषा–अर्थ–इस व्याकरणशास्त्र में जो कोई (पदविधिः) पद-विषयक विधि सुनाई देती है, वह (समर्थः) समर्थ विधि ही जाननी चाहिये। वह विधि समास आदि है। जैसे कि आगे 'द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' (२।१।२४) आदि सूत्रों से समास का विधान किया जायेगा। जहां दो पदों का एकार्थीभावरूप सामर्थ्य होता है, वहां समास हो जाता है, जैसे– **'कष्टं श्रित इति कष्टश्रितः'** और जहां इन दो पदों का परस्पर एकार्थीभाव सम्भव नहीं है, वहां समास विधि नहीं होती है, जैसे कि **'पश्य देवदत्त! कष्टम्, श्रितो विष्णुमित्रो गुरुकुलम्'** हे देवदत्त! तू कष्ट को देख कि यह कितना बड़ा कष्ट है और विष्णुमित्र गुरुकुल में पहुंच गया। यहां **'कष्टम्'** और **'श्रितः'** पद का कोई एकार्थीभाव नहीं है, अतः ये पद **'असमर्थ'** हैं, इसलिये इनका समास नहीं होता है।*

विशेष–(१) *सामर्थ्य एकार्थीभाव और व्यपेक्षा के भेद से दो प्रकार का होता है। जहां अनेक पदों का एक पद, अनेक स्वरों का एक स्वर और अनेक विभक्तियों की*

एकविभक्ति हो जाती है, उसे एकार्थीभाव सामर्थ्य कहते हैं और जहां अनेक पद, अनेक स्वर और अनेक विभक्तियां वर्तमान रहती हैं, उसे व्यपेक्षा सामर्थ्य कहते हैं। 'राज्ञः पुरुषः' यहां दो पदों में व्यपेक्षा सामर्थ्य है। 'राजपुरुषः' यहां एकार्थीभाव सामर्थ्य है।

(२) यह महापरिभाषा है। इसकी समस्त व्याकरणशास्त्र में प्रवृत्ति होती है।

पराङ्गवद्भावः–

(१) सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे।२।

प०वि०–सुप् १।१ आमन्त्रिते ७।१ पराङ्गवत् अव्ययपदम्, स्वरे ७।१।

स०–अङ्गेन तुल्यमितिं अङ्गवत् (तद्धितवृत्तिः)। परस्य अङ्गवदिति पराङ्गवत् (षष्ठीतत्पुरुषः)

अन्वयः–आमन्त्रिते सुप् पराङ्वत् स्वरे।

अर्थः–आमन्त्रिते=सम्बोधने परतः सुबन्तं पदं पराङ्गवद् भवति, स्वरे कर्त्तव्ये। सुबन्तमाऽऽमन्त्रितमनुप्रविशति इत्यर्थः।

उदा०–कुण्डे॑नाटन्। पर॑शुना वृश्चन्। मद्रा॑णां राजन्। कश्मी॑राणां राजन्। **'आमन्त्रितस्य च'** (६।१।१९८) इत्यामन्त्रितस्यादिरुदात्तो भवति। स ससुप्कस्यापि विधीयते।

आर्यभाषा–अर्थ–(आमन्त्रिते) सम्बोधन पद के परे होने पर (सुप्) पूर्ववर्ती सुबन्त पद का (पराङ्गवत्) पराङ्गवद्भाव होता है (स्वरे) स्वरविषयक कार्य के करने में। जो उदात्त आदि स्वर परवर्ती आमन्त्रित पद का है, वही स्वर पूर्ववर्ती सुबन्त पद का भी हो जाता है।

*उदा०–**कुण्डेनाटन्।** हे कुण्ड के सहित घूमनेवाले। **परशुना वृश्चन्।** हे कुल्हाड़े से काटनेवाले। **मद्राणां राजन्।** हे मद्रदेश के राजा। **कश्मीराणां राजन्।** हे कश्मीर देश के राजा।*

*सिद्धि–**कुण्डेनाटन्।** यहां 'आमन्त्रितस्य च' (६।१।१९८) से आमन्त्रित 'अटन्' पद आद्युदात्त है। उसके परे रहने पर पूर्ववर्ती 'कुण्डेन' सुबन्त पद भी इस सूत्र से पराङ्गवत् होकर आद्युदात्त हो जाता है।*

समाससंज्ञाधिकारः

अधिकारः–

(१) प्राक् कडारात् समासः ।३।

प०वि०–प्राक् अव्ययपदम्, कडारात् ५ ।१ समासः १ ।१।

अन्वयः–कडारात् प्राक् समासः ।

अर्थः–कडारशब्दात् प्राक् समाससंज्ञा भवतीत्यधिकारोऽयम् ।

उदा०–वक्ष्यति–'**यथाऽसादृश्ये**' (२ ।१ ।७) इति, यथावृद्धं ब्राह्मणानाऽऽमन्त्रयस्व ।

__आर्यभाषा–अर्थ__–(कडारात्) 'कडार' शब्द से (प्राक्) पहले-पहले (समासः) समास संज्ञा होती है, यह अधिकार सूत्र है। '__कडाराः कर्मधारये__' (२ ।२ ।३८) यहां जो 'कडार' शब्द का उच्चारण किया गया है, इससे पहले-पहले 'समास' का अधिकार समझना चाहिये। जैसे कि आगे कहा जायेगा कि '__यथाऽसादृश्ये__' (२ ।१ ।७) असादृश्य अर्थ में 'यथा' शब्द का सुबन्त के साथ समास होता है। '__यथावृद्धं ब्राह्मणानाऽऽमन्त्रयस्व__' जो-जो वृद्ध ब्राह्मण हैं उन्हें भोजन के लिये आमन्त्रित करो। '__यथावृद्धम्__' यहां पूर्वोक्त सूत्र (२ ।१ ।७) से अव्ययीभाव समास है।

अधिकारः–

सह सुपा ।४।

प०वि०–सह अव्ययपदम्, सुपा ३ ।१।

अनु०–द्वितीयसूत्रात् 'सुप्' इति पदमनुवर्तते ।

अन्वयः–सुप् सुपा सह समासः ।

अर्थः–सुबन्तं सुबन्तेन सह समस्यते, इत्यधिकारोऽयम् ।

उदा०–वक्ष्यति–'**द्वितीया श्रितातीतगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः**' (२ ।१ ।२४) इति । द्वितीयान्तं सुबन्तं श्रितादिभिः सुबन्तैः सह समस्यते । कष्टं श्रित इति कष्टश्रितः, इत्यादि ।

__आर्यभाषा–अर्थ__–(सुप्) सुबन्त पद का (सुपा) सुबन्त पद के (सह) साथ (समासः) समास होता है, यह अधिकार सूत्र है। जैसे कि आगे कहा जायेगा कि '__द्वितीया__

*श्रितातीतगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' (२।१।२४) अर्थात् द्वितीयान्त सुबन्त का श्रित आदि सुबन्तों के साथ समास होता है। **कष्टं श्रित इति कष्टश्रितः।** कष्ट को प्राप्त हुआ। यहां 'कष्टम्' सुबन्त का 'श्रितः' सुबन्त के साथ समास होगया।*

अव्ययीभावप्रकरणम्

अधिकारः–

(१) अव्ययीभावः।५।

प०वि०–अव्ययीभावः १।१।

अर्थः–इत ऊर्ध्वम् अव्ययीभावसंज्ञा भवतीत्यधिकारोऽयम्।

उदा०–वक्ष्यति–**'यथाऽसादृश्ये'** इति। यथावृद्धं ब्राह्मणानाऽऽमन्त्रयस्व।

*आर्यभाषा-अर्थ-(अव्ययीभावः) इससे आगे अव्ययीभाव संज्ञा का अधिकार है। आगे कहा जायेगा **'यथाऽसादृश्ये'** (२।१।७) अर्थात् असादृश्य अर्थ में जो **'यथा'** शब्द है उसका जो सुबन्त के साथ समास होता है, उसकी अव्ययीभाव संज्ञा होती है। **'यथावृद्धं ब्राह्मणानामन्त्रयस्व'** जो-जो वृद्ध ब्राह्मण हैं, उन्हें भोजन के लिये आमन्त्रित करो। **'यथावृद्धम्'** यहां अव्ययीभाव समास है।*

अव्ययम्–

(२) अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्यया-सम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्ययौगपद्य-सादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु।६।

प०वि०–अव्ययम् १।१ विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धि-अर्थाभाव-अत्यय-असम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चात्-यथा-आनुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य-सम्पत्ति-साकल्य-अन्तवचनेषु ७।३।

स०–विभक्तिश्च समीपं च समृद्धिश्च व्यृद्धिश्च अर्थाभावश्च अत्ययश्च असम्प्रतिश्च शब्दप्रादुर्भावश्च पश्चाच्च यथा च आनुपूर्व्यं च यौगपद्यं च सादृश्यं च सम्पत्तिश्च साकल्यं च अन्तश्च ते–विभक्तिसमीप-समृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावत्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्ययौग-पद्यसादृश्यसम्पत्तिसकल्यान्ताः, विभक्ति०साकल्यान्ता वचनानि येषां ते

विभक्ति०साकल्यान्तवचनाः, तेषु-विभक्ति०साकल्यान्तवचनेषु (इतरेतरयोग-द्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-'सुप् सुपा सह, अव्ययीभावः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-विभक्ति०अन्तवचनेषु अव्ययं सुप् सुपा सह समासोऽव्ययीभावः।

अर्थः-विभक्ति-आदिष्वर्थेषु यदव्ययं सुबन्तं वर्तते तत् समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवन्ति। अत्र वचनशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते।

उदा०-(१) **विभक्तिवचने।** स्त्रीष्वधिकृत्येति अधिस्त्रि। कुमारीष्वधिकृत्येति अधिकुमारि। सप्तम्यर्थे यद् अव्ययं तद् विभक्तिवचनम्।

(२) **समीपवचने।** गुरुकुलस्य समीपमिति उपगुरुकुलम्।

(३) **समृद्धिवचने।** मद्राणां समृद्धिरिति सुमद्रम्। मगधानां समृद्धिरिति सुमगधम्। समृद्धिः=ऋद्धेराधिक्यम्।

(४) **व्यृद्धिवचने।** यवनानां व्यृद्धिरिति दुर्यवनम्। व्यृद्धिः=ऋद्धेरभावः।

(५) **अर्थाभाववचने।** मक्षिकाणाभाव इति निर्मक्षिकम्। अर्थाभावः=वस्तुनोऽभावः।

(६) **अत्ययवचने।** अतीतानि हिमानीति निर्हिमम्। अत्ययः=भूतत्वम्, अतिक्रमः।

(७) **असम्प्रतिवचने।** तैसृकं सम्प्रति न युज्यते इति अतितैसृकम्। तैसृकं नाम आच्छादनं, तस्यायमुपभोगकालो नास्तीत्यर्थः।

(८) **शब्दप्रादुर्भाववचने।** पाणिनिशब्दस्य प्रकाश इति इतिपाणिनि। शब्दप्रादुर्भावः=शब्दस्य प्रकाशता। पाणिनिशब्दो लोके प्रकाशत इत्यर्थः।

(९) **पश्चाद्वचने।** रथानां पश्चादिति अनुरथं पादातम्।

(१०) **यथावचने।** यथा शब्दस्य योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्तिः सादृश्यं चेति चत्वारोऽर्थाः। तत्र **योग्यतायाम्**-रूपस्य योग्यमिति अनुरूपम्।

वीप्सायाम्-दिनं दिनं प्रति इति प्रतिदिनम्। **पदार्थानतिवृत्तौ**-शक्तिमनतिक्रम्येति यथाशक्ति। सादृश्ये-**'यथाऽसादृश्ये'** (२।१।७) इति प्रतिषेधं वक्ष्यति।

(११) **आनुपूर्व्यवचने।** ज्येष्ठस्यानुपूर्व्यमिति अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः।

(१२) **यौगपद्यवचने।** युगपच्चक्रमिति सचक्रं धेहि। युगपच्चक्रं धेहीत्यर्थः।

(१३) **सादृश्यवचने।** सदृशः सख्या इति ससखि।

(१४) **सम्पत्तिवचने।** ब्रह्मणः सम्पत्तिरिति सब्रह्म बाभ्रवाणाम्। क्षत्रस्य सम्पत्तिरिति सक्षत्रं शालङ्कायनानाम्। सम्पत्तिः=अनुरूप आत्मभावः, समृद्धेर्भिन्नः।

(१५) **शाकल्यवचने।** तृणानां साकल्यमिति सतृणमभ्यवहरति। साकल्यम्=अशेषता।

(१६) **अन्तवचने।** अग्नेरन्त इति साग्नि अधीते। महाभाष्यस्यान्त इति समहाभाष्यं व्याकरणमधीते।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(विभक्ति०) विभक्ति आदि के अर्थों में जो (अव्ययम्) अव्यय सुबन्त है, उसका (सुपा) समर्थ सुबन्त के (सह) साथ समास होता है, उस समास की अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

*उदा०-(१) **विभक्ति।** स्त्रीष्वधिकृत्य इति **अधिस्त्रि।** स्त्री-विषयक कथा। कुमारीष्वधिकृत्य इति **अधिकुमारि।** कुमारीविषयक कथा। यहां विभक्ति शब्द से सप्तमी विभक्ति का ही ग्रहण किया जाता है, सब विभक्तियों का नहीं।*

*(२) **समीप।** गुरुकुलस्य समीपमिति **उपगुरुकुलम्।** गुरुकुल के पास।*

*(३) **समृद्धिः।** मद्राणां समृद्धिरिति **सुमद्रम्।** मद्रों की सम्पन्नता। मगधानां समृद्धिरिति **सुमगधम्।** मगधों की सम्पन्नता।*

*(४) **व्यृद्धि।** यवनानां व्यृद्धिरिति **दुर्यवनम्।** यवनों की असम्पन्नता।*

*(५) **अर्थाभाव।** मक्षिकाणामभाव इति **निर्मक्षिकम्।** मक्खियों का अभाव।*

*(६) **अत्यय।** अतीतानि हिमानीति **निर्हिमम्।** हिम का अतिक्रमण।*

*(७) **असम्प्रति।** तैसृकं सम्प्रति न युज्यत इति **अतितैसृकम्।** तैसृक नामक वस्त्र का सेवन करना अब उचित नहीं है। तैसृक=आच्छादन विशेष।*

(८) शब्दप्रादुर्भाव। पाणिनिशब्दस्य प्रकाश इति इतिपाणिनि। पाणिनि शब्द को प्रकाशित करना।

(९) पश्चात्। रथानां पश्चाद् इति अनुरथं पादातम्। रथों के पीछे पैदल।

(१०) यथा। इस शब्द के योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्ति और सादृश्य ये चार अर्थ हैं। योग्यता-रूपस्य योग्यमिति अनुरूपम्। रूप के अनुसार। वीप्सा-दिनं दिनं प्रति इति प्रतिदिनम्। वीप्सा=व्यापकता। पदार्थानतिवृत्ति-शक्तिमनक्रम्येति यथाशक्ति। शक्ति को न लांघकर। सादृश्य- 'यथाऽसादृश्ये' (२।१।७) से सादृश्य अर्थ में समास का प्रतिषेध किया गया है।

(११) आनुपूर्व्य। ज्येष्ठस्यानुपूर्व्यमिति अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः। ज्येष्ठ की अनुपूर्वता से आप यहां प्रवेश करें।

(१२) यौगपद्य। युगपच्चक्रमिति सचक्रं धेहि। तू एक साथ चक्र को धारण कर।

(१३) सादृश्य। सदृशः सख्या इति ससखि। सखा के सदृश।

(१४) सम्पत्ति। ब्रह्मणः सम्पत्तिरिति सब्रह्म बाभ्रवाणाम्। बाभ्रवजनों का ब्राह्मणों के साथ आत्मभाव है। क्षत्रस्य सम्पत्तिरिति सक्षत्रं शालङ्कायनानाम्। शालङ्कायनजनों का क्षत्रियों के साथ आत्मभाव है। यहां सम्पत्ति शब्द का समृद्धि अर्थ नहीं है, अपितु आत्मभाव अर्थ है।

(१५) साकल्य। तृणानां साकल्यमिति सतृणमभ्यवहरति। तृणों सहित खाता-पीता है।

(१६) अन्त। अग्नेरन्त इति साग्नि अधीते। अग्नि शब्द के अन्त तक पढ़ता है। महाभाष्यस्यान्त इति समहाभाष्यं व्याकरणमधीते। महाभाष्य के अन्त तक व्याकरणशास्त्र का अध्ययन करता है।

सिद्धि-(१) अधिस्त्रि। अधि+सु+स्त्री+सुप्। अधि+स्त्री। अधिस्त्री+सु। अधिस्त्रि+सु। अधिस्त्रि।

यहां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (२।४।७१) से सु और सुप् प्रत्यय का लुक् होता है। इस सूत्र से अधि अव्यय का स्त्री सुबन्त के साथ अव्ययीभाव समास, उसकी 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (२।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा, 'स्वौजस०' (४।१।२) से सुप्-उत्पत्ति, 'अव्ययीभावश्च' (२।२।१८) से नपुंसकभाव, 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (१।२।४७) से 'स्त्री' शब्द को ह्रस्वत्व, 'अव्ययीभावश्च' (२।२।४२) से अव्ययीभाव समासवाले प्रातिपदिक का अव्ययत्व और 'अव्ययादाप्सुपः' (२।४।८२) से 'सुप्' का 'लुक्' होता है।

(२) उपगुरुकुलम्। उप+सु+गुरुकुल+ङस्। उप+गुरुकुल। उपगुरुकुल+सु। उपगुरुकुल+अम्। उपगुरुकुलम्।

यहां 'नाव्ययीभावदतोऽम्त्वपञ्चम्याः' (२।४।८३) से 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् हैं।

(३) सचक्रम्। सह+सु+चक्र+टा। सह+चक्र। सचक्र+सु। सचक्र+अम्। सचक्रम्।

यहां 'अव्ययीभावे चाकाले' (६।३।८१) से 'सह' के स्थान में 'स' आदेश होता है। इसी प्रकार से ससखि, सब्रह्म, सतृणम्, साग्नि आदि शब्दों की सिद्धि करें।

यथाऽव्ययम्–

(३) यथाऽसादृश्ये।७।

प०वि०-यथा अव्ययपदम्, असादृश्ये। ७।१।

स०-सदृशस्य भावः सादृश्यम् (तद्धितवृत्तिः)। न सादृश्यमिति असादृश्यम्, तस्मिन्-असादृश्ये (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-'अव्ययं सह सुपा अव्ययीभावः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-असादृश्ये यथाऽव्ययं सुप् सुपा सह समासोऽव्ययीभावः।

अर्थः-असादृश्येऽर्थे 'यथा' इत्यव्ययं सुबन्तं समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति।

उदा०-ये ये वृद्धा इति यथावृद्धम्। यथावृद्धं ब्राह्मणानामन्त्रयस्व।

असादृश्य इति किम् ? यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्तः। अत्र सादृश्येऽर्थे समासो न भवति।

***आर्यभाषा-अर्थ**-(असादृश्ये) सादृश्य अर्थ को छोड़कर (यथा) 'यथा' इस (अव्ययम्) अव्यय का (सुपा) समर्थ सुबन्त के (सह) साथ (समासः) समास होता है और उसकी (अव्ययीभावः) अव्ययीभाव संज्ञा होती है।*

*उदा०-**ये ये वृद्धा इति यथावृद्धम्। यथावृद्धं ब्राह्मणानामन्त्रयस्व।** जो जो वृद्ध ब्राह्मण हैं उन्हें भोजन के लिये निमन्त्रित करो।*

***सिद्धि-यथावृद्धम्।** यथा+सु+वृद्ध+शस्। यथा+वृद्ध। यथावृद्ध+सु। यथावृद्ध+अम्। यथावृद्धम्।*

यहां 'नाव्ययीभावाद०' (२।४।२३) से 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश है, शेष कार्य पूर्ववत् हैं।

***विशेष**- 'अव्ययं विभक्ति०' (२।१।६) में 'यथा' अव्यय सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास विधान किया गया है। 'यथा' शब्द के योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्ति और*

सादृश्य ये चार अर्थ हैं। यहां यह बतलाया गया है कि 'यथा' अव्यय का सादृश्य अर्थ में अव्ययीभाव समास नहीं होता है, शेष तीन अर्थों में ही होता है। उनके उदाहरण 'अव्ययं विभक्ति०' (२।१।६) की व्याख्या में दिये गये हैं।

यावद् अव्ययम्–

(४) यावदवधारणे।८।

प०वि०–यावद् अव्ययपदम्, अवधारणे ७।१।

अनु०–'अव्ययम् सह सुपा अव्ययीभावः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–अवधारणे यावद् अव्ययं सुप् सुपा सह समासोऽव्ययीभावः।

अर्थः–अवधारणेऽर्थे वर्तमानं यावद् इत्यव्ययं सुबन्तं समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। अवधारणम्=इयत्तापरिच्छेदः।

उदा०–यावदमत्रं ब्राह्मणानामन्त्रयस्व। अमत्रम्=पात्रम्। यावन्ति पात्राणि सम्भवन्ति पञ्च षड् वा तावतो ब्राह्मणान् आमन्त्रयस्वेत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अवधारणे) अवधारण अर्थ में वर्तमान (यावद्) यावद् इस (अव्ययम्) अव्यय (सुप्) सुबन्त का (सुपा) समर्थ सुबन्त के साथ (समासः) समास होता है और उसकी (अव्ययीभावः) अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

*उदा०-**यावदमत्रं ब्राह्मणानामन्त्रयस्व।** जितने पात्र सम्भव हैं, पांच वा छः, उतने ब्राह्मणों को भोजन के लिये आमन्त्रित करो।*

__सिद्धि-यावदमत्रम्।__ यावद्+सु+अमत्र+शस्। यावद्+अमन्त्र। यावदमत्र+सु। यावदमत्र+अम्। यावदमत्रम्।

*यहां **'नाव्ययीभावाद०'** (२।४।२३) से 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश है। शेष कार्य पूर्ववत् हैं।*

सुबन्तम्–

(५) सुप् प्रतिना मात्रार्थे।९।

प०वि०–सुप् १।१ प्रतिना ३।१ मात्रार्थे ७।१।

अनु०–'सुपा सह, अव्ययीभावः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–सुप् मात्रार्थे प्रतिना सुपा सह समासोऽव्ययीभावः।

अर्थः–सुबन्तं मात्रार्थे वर्तमानेन प्रतिना समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। मात्रा, बिन्दुः, स्तोकम्, अल्पमिति पर्यायाः। **अस्त्यत्र किञ्चित्** सूपमिति **सूपप्रति** देहि।

आर्यभाषा-अर्थ-(सुप्) समर्थ सुबन्त का (मात्रार्थे) मात्रा=अल्प अर्थ में वर्तमान (प्रतिना) प्रति (सुपा) समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है और उसकी (अव्ययीभावः) अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

*उदा०-**अस्त्यत्र किञ्चित् शाकमिति शाकप्रति देहि।** यहां कुछ शाक है, थोड़ा-सा शाक दो। **अस्त्यत्र किञ्चित् सूपमिति सूपप्रति देहि।** यहां कुछ दाल है, थोड़ी-सी दाल दो।*

*सिद्धि-**शाकमिति।** शाक+सु+प्रति+सु। शाकप्रति+सु। शाकप्रति। पूर्ववत्।*

विशेष-यहां 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे' (२।१।२) से 'सुप्' की अनुवृत्ति सम्भव है, पुनः यहां 'सुप्' का ग्रहण 'अव्ययम्' पद की अनुवृत्ति की निवृत्ति के लिये किया गया है।

अक्षादयः-

(६) अक्षशलाकासंख्याः परिणा।१०।

प०वि०-अक्ष-शलाका-संख्याः १।३ परिणा ३।१।

स०-अक्षश्च शलाका च संख्या च ताः-अक्षशलाकासंख्याः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'सुप् सह सुपा अव्ययीभावः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अक्षशलाकासंख्याः सुपः परिणा सुपा सह समासोऽव्ययीभावः।

अर्थः-अक्षशलाकासंख्याः सुबन्ताः परिणा समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यन्ते, अव्ययीभावश्च समासो भवति।

उदा०-(अक्षः) अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथापूर्वं जय इति अक्षपरि। (शलाका) शलाकाभिर्न तथा वृत्तं यथापूर्वं जय इति शलाकापरि। (संख्या) एकपरि। द्विपरि। त्रिपरि। चतुष्परि।

कितवव्यवहारे समासोऽयमभीष्टः। पञ्चिका नाम द्यूतम्, पञ्चभिरक्षैः शलाकाभिर्वा खेल्यते। तत्र यदा सर्वेऽक्षा उत्ताना अवाञ्चो वा पतन्ति तदा पातयिताऽऽक्षिको जयति। तस्यान्यथा पाते सति विघातो जायते-अक्षपरि।

आर्यभाषा-अर्थ-(अक्षशलाकासंख्याः) अक्ष, शलाका और संख्यावाची सुबन्तों का (परिणा) परि समर्थ सुबन्त के साथ (समासः) समास होता है और उसकी (अव्ययीभावः) अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

*उदा०-**(अक्ष) अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथापूर्वं जये इति अक्षपरि।** अक्ष (पासा) ने वैसा वर्ताव नहीं किया जैसा कि पहले जीत में किया था अतः यह '**अक्षपरि**' है।*

*(शलाका) शलाकाभिर्न तथा वृत्तं यथापूर्वं जय इति **शलाकापरि**। ये शलाकायें वैसे नहीं पड़ी जैसे कि पहले जीत में पड़ी थी, अत: यह 'शलाकापरि' है। **(संख्या) एकपरि।** एक अक्ष/शलाका ठीक नहीं पड़ी। द्विपरि। दो अक्ष/शलाका ठीक नहीं पड़ी। त्रिपरि। तीन अक्ष/शलाका ठीक नहीं पड़ी। चतुष्परि। चार अक्ष/शलाका ठीक नहीं पड़ी।*

__सिद्धि-अक्षपरि।__ अक्ष+सु+परि+टा। अक्षपरि+सु। अक्षपरि। पूर्ववत्।

__विशेष-__ यह समास जूआ खेलने के व्यवहार में अभीष्ट है। एक पञ्चिका नामक द्यूत है। जो पांच पासों अथवा पांच शलाकाओं से खेला जाता है। उसमें पांच पासे सीधे अथवा मूधे पड़ते हैं तब डालनेवाला जुआरी जीतता है। उनके अन्यथा पड़ने पर जुआरी को चोट लगती है, तब 'अक्षपरि' आदि कहा जाता है।

अधिकारः—

(७) विभाषा।११।

प०वि०-विभाषा १।१।

अर्थः-'विभाषा' इत्यधिकारोऽयम्, **'चार्थे द्वन्द्वः'** (२।२।२९) इति यावत्। महाविभाषेयम्। अनेन समासप्रकरणे पक्षे वाक्यमपि भवति।

__आर्यभाषा-अर्थ-__(विभाषा) 'विभाषा' यह अधिकार सूत्र है। इसका अधिकार 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) तक है। यह महाविभाषा है। इससे समास प्रकरण में पक्ष में विग्रहवाक्य भी बना रहता है।

अपादयः—

(८) अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या।१२।

प०वि०-अप-परि-बहिर्-अञ्चवः १।३ पञ्चम्या ३।१।

स०-अपश्च परिश्च बहिश्च अञ्चुश्च ते-अपपरिबहिरञ्चवः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'सुप्, सह सुपा अव्ययीभावः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अपपरिबहिरञ्चवः सुपः पञ्चम्या सह विभाषा समासोऽव्ययीभावः।

अर्थः-अपपरिबहिरञ्चवः सुबन्ताः पञ्चम्यन्तेन समर्थेन सुबन्तेन विकल्पेन समस्यन्ते, अव्ययीभावश्च समासो भवति।

उदा०-(अप:) अपत्रिगर्तं वृष्टो देव:। अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देव:। (परि) परित्रिगर्तं वृष्टो देव:। (बहि:) बहिर्ग्रामम्। बहिर्ग्रामात्। (अञ्चु) प्राग्ग्रामम्। प्राग् ग्रामात्।

__आर्यभाषा-अर्थ-__(अपपरिबहिरञ्चव:) अप, परि, बहिर् और अञ्चु इन (सुप्) सुबन्तों का (पञ्चम्या) पञ्चम्यन्त (सुप्) सुबन्त के (सह) साथ (समास:) समास होता है और उसकी (अव्ययीभाव:) अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

उदा०-__(अप) अपत्रिगर्तं वृष्टो देव:।__ त्रिगर्त (जालन्धर) को छोड़कर बादल बरसा। यहां अव्ययीभाव समास होगया। __अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देव:।__ अर्थ पूर्ववत् है। यहां अव्ययीभाव समास नहीं हुआ। अत: __'पञ्चम्यपाङ्परिभि:'__ (२।३।१०) से 'अप' शब्द के योग में पञ्चमी विभक्ति होगई। __(परि) परित्रिगर्तं वृष्टो देव:।__ त्रिगर्त को छोड़कर बादल बरसा। __परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देव:।__ अर्थ पूर्ववत् है। __(बहि:) बहिर्ग्रामम्।__ ग्राम से बाहर। यहां अव्ययीभाव समास होगया। __बहिर्ग्रामात्।__ अर्थ पूर्ववत् है। इसी ज्ञापक के बहिर् शब्द के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है। __(अञ्चु) प्राग्ग्रामम्।__ ग्राम से पूर्व में। यहां अव्ययीभाव समास होगया। __प्राग् ग्रामात्।__ अर्थ पूर्ववत् है। यहां अव्ययीभाव समास नहीं हुआ। यहां __'अन्यारादितर०'__ (२।३।२९) से 'अञ्चु' के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है।

__सिद्धि-(१) अपत्रिगर्तम्।__ अप+सु+त्रिगर्त+भ्यस्। अपत्रिगर्त+सु। अपत्रिगर्त+अम्। अपत्रिगर्तम्।

यहां __'सुपो धातुप्रातिपदिकयो:'__ से सुप् विभक्ति का लुक् और __'नाव्ययीभावाद०'__ (२।४।८३) से 'सु' को अम्' आदेश होता है।

__(२) प्राग्ग्रामम्।__ प्र+अञ्चु+क्विन्। प्र+अञ्च्+वि। प्र+अच्+०। प्राच्+सु। प्राक्+०। प्राक्+सु+ग्राम+ङसि। प्राग्ग्राम+सु। प्राग्गाम+अम्। प्राग्ग्रामम्।

यहां प्र उपसर्गपूर्वक __'अञ्चु गतौ'__ धातु से __'ऋत्विग्दधृक्०'__ (३।२।५९) से क्विन् प्रत्यय, __अनिदितां हल उपधाया: क्ङिति'__ (६।४।२४) से अनुनासिक का लोप और __'क्विन् प्रत्ययस्य कु:'__ (८।२।६२) से कुत्व होता है। इस प्रकार यहां 'अञ्चु' कहने से 'प्राक्' शब्द का ग्रहण किया गया है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

आङ्-

(६) आङ् मर्यादाभिविध्यो: ।१३।

प०वि०-आङ् १।१ मर्यादा-अभिविध्यो: ७।१।

स०-मर्यादा च अभिविधिश्च तौ-मर्यादाभिविधी, तयो:-मर्यादाभिविध्यो: (इतरेतरयोगद्वन्द्व:)।

अनु०–'सुप् सुपा सह, पञ्चम्या अव्ययीभावः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–मर्यादाभिविध्योराङ् सुप् पञ्चम्या सुपा सह विभाषा समासोऽव्ययीभावः।

अर्थः–मर्यादायामभिविधौ चार्थे वर्तमानं आङ् इति सुबन्तं पञ्चम्यन्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, समासश्चाव्ययीभावो भवति।

उदा०–(मर्यादायाम्) आपाटलिपुत्रं वृष्टो देवः। आ पाटलिपुत्रात् वृष्टो देवः। (अभिविधौ) आकुमारं यशः पाणिनेः। आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः। मर्यादा विना तेन भवति, अभिविधिश्च सह तेन भवति।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(मर्यादाभिविध्योः) मर्यादा और अभिविधि अर्थ में वर्तमान (आङ्) आङ् इस (सुप्) सुबन्त का (पञ्चम्या) पञ्चम्यन्त (सुपा) समर्थ सुबन्त के (सह) साथ (समासः) समास होता है और उसकी (अव्ययीभावः) अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

उदा०-__(मर्यादा) आपाटलिपुत्रं वृष्टो देवः।__ पाटलिपुत्र (पटना) तक बादल बरसा। यहां अव्ययीभाव समास होगया। __आ पाटलिपुत्रात् वृष्टो देवः।__ अर्थ पूर्ववत् है। यहां अव्ययीभाव समास नहीं हुआ। यहां आङ् शब्द के योग में __'पञ्चम्यपाङ्परिभिः'__ (२।३।१०) से पञ्चमी विभक्ति होती है। __(अभिविधि) आकुमारं यशः पाणिनेः।__ मुनिवर पाणिनि का यश कुमारों तक फैला हुआ है। यहां अव्ययीभाव समास होगया। __आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः।__ अर्थ पूर्ववत् है। यहां आङ् शब्द के योग में पूर्ववत् पञ्चमी विभक्ति होती है।

__विशेष__-मर्यादा और अभिविधि में अन्तर यह है कि मर्यादा जिस नगर आदि से बतलाई जाती है उसे छोड़कर होती है और अभिविधि उस नगर आदि को साथ लेकर कही जाती है।

अभिप्रती–

(१०) लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये।१४।

प०वि०–लक्षणेन ३।१ अभि-प्रती १।२ आभिमुख्ये ७।१।

स०–अभिश्च प्रतिश्च तौ-अभिप्रती (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। अभिमुखस्य भाव आभिमुख्यम्, तस्मिन्-आभिमुख्ये (तद्धितवृत्तिः)।

अनु०–'सुप् सह सुपा अव्ययीभावः' इत्यनुवर्तते।

अन्वय:-आभिमुख्येऽभिप्रती सुपौ लक्षणेन सुपा सह विभाषा समासोऽव्ययीभावः।

अर्थ:-आभिमुख्येऽर्थे वर्तमानौ, अभिप्रती सुबन्तौ लक्षणभूतेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्येते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। लक्षणम्=चिह्नम्।

उदा०-(अभिः) अग्निम् अभीति-अभ्यग्नि। अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति। अग्निम् अभि शलभाः पतन्ति। (प्रतिः) अग्निं प्रतीति-प्रत्यग्नि। प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति। अग्निं प्रति शलभाः पतन्ति। अग्निं लक्ष्यीकृत्य शलभाः पतन्तीत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(आभिमुख्ये) सामने अर्थ में वर्तमान (अभिप्रती) अभि और प्रति (सुप्) सुबन्तों का (लक्षणेन) चिह्न बने हुये (सुपा) समर्थ सुबन्त के (सह) साथ (समासः) समास होता है और उसकी (अव्ययीभावः) अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

*उदा०-**(अभि) अग्निम् अभीति-अभ्यग्नि। अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति।** अग्नि को अभिमुख करके पतङ्ग गिरते हैं। यहां अव्ययीभाव समास होगया। **अग्निम् अभि शलभाः पतन्ति।** अर्थ पूर्ववत् है। यहां अव्ययीभाव समास नहीं हुआ। **(प्रति) अग्निं प्रतीति-प्रत्यग्नि। प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति।** अग्नि को अभिमुख करके पतङ्ग गिरते हैं। यहां अव्ययीभाव समास होगया। **अग्निं प्रति शलभाः पतन्ति।** अर्थ पूर्ववत् है। यहां अव्ययीभाव समास नहीं हुआ।*

अनुः-

(११) अनुर्यत्समया।१५।

प०वि०-अनुः १।१ यत्समया अव्ययपदम्।

स०-यस्य समया इति सत्समया (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-'लक्षणेन सुप् सुपा सह अव्ययीभावः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अनुः सुप् यत्समया लक्षणेन सुपा सह विभाषा समासोऽव्ययीभावः।

अर्थ:-अनुः सुबन्तो यस्य समीपवाची तेन लक्षणभूतेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। समया=समीपम्।

उदा०-(अनुः) वनस्य अनु इति अनुवनम्। अनुवनमशनिर्गतः। वनस्यानु अशनिर्गतः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनुः) अनु सुन्बन्त (यत्समया) जिसकी समीपता बतलाता है उस (लक्षणेन) चिह्नभूत (सुपा) समर्थ सुबन्त के (सह) साथ उसका (समासः) समास होता है और उसकी (अव्ययीभावः) अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

*उदा०-(अनु) **वनस्य अनु इति अनुवनम्। अनुवनमशनिर्गतः।** विद्युत् वन के समीप चली गई। यहां अव्ययीभाव समास होगया। **वनस्यानु अशनिर्गतः।** अर्थ पूर्ववत् है। यहां अव्ययीभाव समास नहीं हुआ।*

अनुः—

(१२) यस्य चायामः।१६।

प०वि०-यस्य ६।१ च अव्ययपदम् आयामः १।१।

अनु०-'अनुः, लक्षणेन, सुप्, सुपा सह, अव्ययीभावः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अनुः सुप् यस्य चायामस्तेन लक्षणेन सुपा सह विभाषा समासोऽव्ययीभावः।

अर्थः-अनुः सुबन्तश्च यस्यायामवाची च तेन लक्षणभूतेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति। आयामः=विस्तारः।

उदा०-(अनुः) गङ्गाया अनु इति अनुगङ्गम्। अनुगङ्गं वाराणसी। गङ्गाया अनु वाराणसी। यमुनाया अनु इति अनुयमुनम्। अनुयमुनं मथुरा। यमुनाया अनु मथुरा।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनुः) अनु सुबन्त, (च) और (यस्य) जिसके (आयामः) विस्तार का वाचक है उस (लक्षणेन) चिह्नभूत (सुपा) समर्थ सुबन्त के साथ उसका (समासः) समास होता है और उसकी (अव्ययीभावः) अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

*उदा०-(अनु) **गङ्गाया अनु इति अनुगङ्गम्। अनुगङ्गं वाराणसी।** बनारस नगरी गङ्गा के तट पर फैली हुई है। यहां अव्ययीभाव समास होगया। **गङ्गाया अनु वाराणसी।** अर्थ पूर्ववत् है। यहां अव्ययीभाव समास नहीं हुआ। **यमुनाया अनु इति अनुयमुनम्। अनुयमुनं मथुरा।** मथुरा नगरी यमुना के तट पर फैली हुई है। यहां अव्ययीभाव समास होगया। **यमुनाया अनु मथुरा।** अर्थ पूर्ववत् है। यहां अव्ययीभाव समास नहीं हुआ।*

तिष्ठदगु-आदयः—

(१३) तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च।१७।

प०वि०-तिष्ठद्गु-प्रभृतीनि १।३ च अव्ययपदम्।

स०-तिष्ठद्गुप्रभृति येषां तानि तिष्ठद्गुप्रभृतीनि (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'अव्ययीभावः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-तिष्ठद्गुप्रभृतीनि चाव्ययीभावः।

अर्थः-तिष्ठद्गुप्रभृतीनि शब्दरूपाणि अव्ययीभावसंज्ञकानि भवन्ति। प्रभृतिः=आदिः।

उदा०-तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले दोहनाय स तिष्ठद्गु कालविशेषः।

गणः-तिष्ठद्गु। वहद्गु। आयतीगवम्। खलेबुसम्। खलेयवम्। लूनयवम्। लूयमानयवम्। पूतयवम्। पूयमानयवम्। संहृतयवम्। संह्रियमाणयवम्। संहृतबुसम्। संह्रियमाणबुसम्। एते कालशब्दाः। समभूमि। समपदाति। सुषमम्। विषमम्। निष्षमम्। दुष्षमम्। अपरसमम्। आयतीसमम्। प्राह्णम्। प्ररथम्। प्रमृगम्। प्रदक्षिणम्। अपरदक्षिणम्। संप्रति। असंप्रति। पापसमम्। पुण्यसमम्। इच् कर्मव्यतिहारे। दण्डादण्डि। मुसलामुसलि। इति तिष्ठगुप्रभृतीनि।

आर्यभाषा-अर्थ-(तिष्ठद्गुप्रभृतीनि) तिष्ठद्गु आदि शब्दों की (च) ही (अव्ययीभावः) अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

*उदा०-**तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले दोहनाय स तिष्ठद्गु कालविशेषः।** जिस समय गौवें दोहन के लिये खड़ी हो जाती हैं, उस काल को 'तिष्ठद्गु' कहते हैं।*

*विशेष-यहां 'चकार' निश्चयार्थक है, इससे गण में गठित 'तिष्ठद्गु' आदि शब्दों की ही अव्ययीभाव संज्ञा होती है। इससे **परमं तिष्ठद्गु** यहां परम शब्द का समास नहीं होता है।*

पारे मध्ये—

(१४) पारे मध्ये षष्ठ्या वा।१८।

प०वि०-पारे अव्ययपदम्, मध्ये अव्ययपदम्, षष्ठ्या ३।१ वा अव्ययपदम्।

अनु०-'सुप् सुपा सह अव्ययीभावः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-पारे मध्ये सुपौ षष्ठ्या सुपा सह विभाषा समासोऽव्ययीभावो वा।

अर्थः-पारे-मध्ये-सुबन्तौ षष्ठ्यन्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्येते अव्ययीभावश्च विकल्पेन समासो भवन्ति। अव्ययीभावसमासे च तयोरेकारान्तत्वं निपात्यते। वा वचनात् पक्षे षष्ठीसमासोऽपि भवन्ति।

उदा०-(पारम्) पारं गङ्गाया इति पारेगङ्गम्। (मध्यम्) मध्यं गङ्गाया इति मध्येगङ्गम्। अत्राव्ययीभावः। षष्ठीसमासपक्षे-गङ्गायाः पारमिति गङ्गापारम्। गङ्गाया मध्यमिति गङ्गामध्यम्।

*आर्यभाषा-**अर्थ**-(पारे मध्ये) पार और मध्य सुबन्त का (षष्ठ्या) षष्ठ्यन्त (सुपा) समर्थ सुबन्त के (सह) साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (अव्ययीभावः) अव्ययीभाव संज्ञा होती है। अव्ययीभाव समास में पार और मध्य निपातन से एकारान्त होते हैं। (वा) वा वचन से पक्ष में षष्ठी समास भी होता है।*

*उदा०-(पार) **पारं गङ्गाया इति पारेगङ्गम्।** गङ्गा के पार यहां अव्ययीभाव समास और निपातन से एकार होगया। (मध्य) **मध्यं गङ्गाया इति मध्येगङ्गम्।** गङ्गा के बीच में। यहां अव्ययीभाव समास और निपातन से एकार होगया। षष्ठीसमास के पक्ष में-गङ्गायाः **पारमिति** गङ्गापारम्। गङ्गा के पार। यहां षष्ठीसमास होगया। गङ्गाया **मध्यमिति गङ्गामध्यम्।** गङ्गा का बीच। यहां षष्ठी समास होगया।*

*सिद्धि-(१) **पारेगङ्गम्।** पार+सु+गङ्गा+ङस्। पारे+गङ्गा। पारेगङ्ग+सु। पारेगङ्गम्।*

*यहां इस सूत्र से अव्ययीभाव समास होने पर '**अव्ययीभावश्च**' (२।४।१८) से नपुंसकलिङ्ग और '**ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य**' (१।२।४७) से ह्रस्व होता है। '**अतोऽम्**' (७।१।२४) से अम् आदेश होता है। ऐसे ही मध्येगङ्गम् अव्ययीभाव पक्ष में इस सूत्र से पारे मध्ये शब्द एकारान्त निपातित हैं।*

*(२) **गङ्गापारम्।** गङ्गा+ङस्+पार+सु। गङ्गापार+सु। गङ्गापारम्।*
*यहां विकल्प पक्ष में '**षष्ठी**' (२।२।८) से षष्ठीतत्पुरुष समास होता है।*

संख्या–

(१५) संख्या वंश्येन।१६।

प०वि०-संख्या १।१ वंश्येन ३।१। वंशे भवो वंश्यः, तेन-वंश्येन (तद्धितवृत्तिः)। दिगादिभ्यो यत् (४।३।५४) इति यत् प्रत्ययः।

अनु०-'सुप् सुपा सह अव्ययीभावः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-संख्या सुप् वंश्येन सुपा सह विभाषा समासोऽव्ययीभावः।

अर्थः-संख्यावाचि सुबन्तं वंश्यवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति।

उदा०-द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्याविति-द्विमुनि व्याकरणस्य। पाणिनिः पतञ्जलिश्च। त्रयो मुनयो व्याकरणस्य वंश्या इति त्रिमुनि व्याकरणस्य। पाणिनिः, पतञ्जलिः कात्यायनश्च।

आर्यभाषा-अर्थ-(संख्या) संख्यावाची सुबन्त का (वंश्येन) वंश्यवाची समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और उसी की (अव्ययीभावः) अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

*उदा०-**द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्याविति-द्विमुनि व्याकरणस्य।** पाणिनि और पतञ्जलि दो मुनि व्याकरणशास्त्र के एक वंश के हैं। **त्रयो मुनयो व्याकरणस्य वंश्या इति त्रिमुनि व्याकरणस्य।** पाणिनि, पतञ्जलि और कात्यायन ये तीन मुनि व्याकरणशास्त्र के एक वंश के हैं।*

विशेष-विद्या और जन्म दो प्रकार से वंश बनता है। यहां विद्या-वंश से अभिप्राय जानना चाहिये।

*सिद्धि-**द्विमुनि।** द्वि+औ+मुनि+औ। द्विमुनि+सु। द्विमुनि। पूर्ववत्। ऐसे ही त्रिमुनि।*

संख्या-

(१६) नदीभिश्च।२०।

प०वि०-नदीभिः ३।३ च अव्ययपदम्।

अनु०-'संख्या सुप् सह अव्ययीभावः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-संख्या सुप् नदीभिः सुब्भिः सह विभाषा समासोऽव्ययीभावः।

अर्थः-संख्यावाचि सुबन्तं नदीवाचिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवन्ति।

उदा०-सप्तानां गङ्गानां समाहार इति सप्तगङ्गम्। द्वयोर्यमुनयोः समाहार इति द्वियमुनम् पञ्चानां नदीनां समाहार इति पञ्चनदम्। सप्तानां गोदावरीणां समाहार इति सप्तगोदावरम्। **'नदीभिः संख्यायाः समाहारेऽव्ययीभावो वक्तव्यः'** इति वार्तिकेन समाहारेऽयं समासो विधीयते।

आर्यभाषा-अर्थ-(संख्या) संख्यावाची सुबन्त का (नदीभिः) नदीवाची समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और उसकी (अव्ययीभावः) अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

*उदा०-**सप्तानां गङ्गानां समाहार इति सप्तगङ्गम्।** सात गङ्गाओं का समूह। अर्थात् गङ्गा की सात धारायें। **द्वयोर्यमुनयोः समाहार इति द्वियमुनम्।** दो यमुनाओं का समूह। अर्थात् यमुना की दो शाखायें। **पञ्चानां नदीनां समाहार इति पञ्चनदम्।** पांच नदियों का समूह-पंजाब। **सप्तानां गोदावरीणां समाहार इति सप्तगोदावरम्।** सात गोदावरी नदियों का समूह। **नदीभिः संख्यया समाहारेऽव्ययीभावो वक्तव्यः।** इस वार्तिक से समाहार अर्थ में ही यह अव्ययभाव समास किया जाता है।*

*सिद्धि-**सप्तगङ्गम्।** सप्त+आम्+गङ्गा+आम्। सप्तगङ्ग+सु। सप्तगङ्गम्। पूर्ववत् (१।२।१७) 'अतोऽम्' (७।१।२४) से 'सु' को 'अम्' आदेश होता है। ऐसे ही-पञ्चनदम् आदि।*

अन्यपदार्थे सुप्–

अन्यपदार्थे च संज्ञायाम्।२१।

प०वि०-अन्यपदार्थे ७।१ च अव्ययपदम्, संज्ञायाम् ७।१।

अनु०-'संख्या' इति निवृत्तम्, 'नदीभिः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अन्यपदार्थे च सुप् नदीभिः सुब्भिः सह विभाषा समासः संज्ञायामव्ययीभावः।

अर्थः-अन्यपदार्थे च वर्तमानं सुबन्तं नदीवाचिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह समस्यते संज्ञायां विषयेऽव्ययीभावश्च समासो भवति। विभाषाऽधिकारेऽयं नित्यसमास एव, यतो हि विग्रहवाक्येन न संज्ञाऽवगम्यते।

उदा०-उन्मत्तगङ्गं नाम देशः। लोहितगङ्गं नाम देशः। कृष्णगङ्गं नाम देशः। शनैर्गङ्गं नाम देशः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अन्यपदार्थे) अन्यपदार्थ में (च) भी वर्तमान सुबन्त का (नदीभिः) नदीवाची समर्थ सुबन्तों के साथ (संज्ञायाम्) संज्ञा विषय में समास होता है (अव्ययीभावः) और उसकी अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

*उदा०-**उन्मत्तगङ्गं नाम देशः।** यह उन्मत्तगङ्ग नामक देश है। **लोहितगङ्गं नाम देशः।** यह लोहितगङ्ग नामक देश है। **कृष्णगङ्गं नाम देशः।** यह कृष्णगङ्ग नामक देश है। **शनैर्गङ्गं नाम देशः।** यह शनैर्गङ्ग नामक देश है।*

*सिद्धि-**उन्मत्तगङ्गम्।** उन्मत्ता+सु+गङ्गा+सु। उन्मत्तगङ्ग+सु। उन्मत्तगङ्गम्।*

*यहां 'स्त्रियाः पुंवद्०' (६।३।३४) से 'उन्मत्ता' शब्द को पुंवद्भाव होता है। शेष कार्य पूर्ववत् (२।१।१७) है। ऐसे ही-**लोहितगङ्गम्, उन्मत्तगङ्गम्।***

***विशेष**-यह विभाषा के अधिकार में भी नित्य समास है क्योंकि विग्रह वाक्य से संज्ञा का ज्ञान नहीं हो सकता।*

इति अव्ययीभावप्रकरणम्।

तत्पुरुषप्रकरणम्

अधिकारः-

(१) तत्पुरुषः।२२।

प०वि०-तत्पुरुषः १।१

अर्थः-'तत्पुरुषः' इत्यधिकारोऽयम्, 'शेषो बहुव्रीहिः' (२।२।२३) इति यावत्।

***आर्यभाषा-अर्थ**-(तत्पुरुषः) यहां से लेकर **'शेषो बहुव्रीहिः'** (२।२।२३) तक तत्पुरुष संज्ञा का अधिकार है।*

द्विगुः-

(२) द्विगुश्च।२३।

प०वि०-द्विगुः १।१ च अव्ययपदम्।

अन्वयः-द्विगुश्च समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-द्विगुश्च समासस्तत्पुरुषसंज्ञको भवति।

उदा०-पञ्चराजी। दशराजी। पञ्चराजम्। दशराजम्। द्विगोस्तत्पुरुषे समासान्ताः प्रयोजनम्।

***आर्यभाषा-अर्थ**-(द्विगुः) द्विगु समास की (च) भी तत्पुरुष संज्ञा होती है।*

*उदा०-**पञ्चराजी। दशराजी। पञ्चराजम्। दशराजम्।** पांच राजाओं का समूह। दश राजाओं का समूह।*

द्विगु समास की तत्पुरुष संज्ञा का यह प्रयोजन है कि उससे समासान्त प्रत्यय हो जाये।

***सिद्धि-पञ्चराजी।** पञ्च+राजन्+टच्। पञ्च+राजन्+अ। पञ्चराज+ङीप्। पञ्च+राज+ई। पञ्चराजी+सु। पञ्चराजी।*

*यहां **'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च'** (२।१।५०) से समाहार अर्थ में द्विगु समास है। इस सूत्र से द्विगु समास की तत्पुरुष संज्ञा की गई है। द्विगुसमास की तत्पुरुष संज्ञा होने*

से 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' (५।४।९१) से समासान्त टच् प्रत्यय होता है। स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में 'टिड्ढाणञ्' (४।१।१५) से ङीप् प्रत्यय होता है। ऐसे ही दशराजी।

द्वितीयातत्पुरुषः--

(१) द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः।२४।

प०वि०-द्वितीया १।१ श्रित-अतीत-पतित-गत-अत्यस्त-प्राप्त-आपन्नैः ३।३।

स०-श्रितश्च अतीतश्च प्राप्तश्च आपन्नश्च ते-श्रित०आपन्नाः, तैः-श्रित०आपन्नैः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-द्वितीया सुप् श्रित०आपन्नैः सुब्भिः सह विभाषा समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-द्वितीयान्तं सुबन्तं श्रितादिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-(श्रितः) कष्टं श्रित इति कष्टश्रितः। (अतीतः) कान्तारम् अतीत इति कान्तारातीतः। (पतितः) नरकं पतित इति नरकपतितः। (गतः) ग्रामं गत इति ग्रामगतः। (अत्यस्तः) तरङ्गान् अत्यस्त इति तरङ्गात्यस्तः। (प्राप्तः) सुखं प्राप्त इति सुखप्राप्तः। (आपन्नः) सुखम् आपन्न इति सुखापन्नः।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(द्वितीया) द्वितीयान्त सुबन्त का (श्रितातीतपतितगतात्यस्त-प्राप्तापन्नैः) श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त और आपन्न इन समर्थ सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**(श्रित) कष्टं श्रित इति कष्टश्रितः।** कष्ट को प्राप्त हुआ। **(अतीत) कान्तारम् अतीत इति कान्तारातीतः।** जङ्गल को लांघा हुआ। **(पतित) नरकं पतित इति नरकपतितः।** नरक में गिरा हुआ। **(गत) ग्रामं गत इति ग्रामगतः।** गांव को गया हुआ। **(अत्यस्त) तरङ्गान् अत्यस्त इति तरङ्गात्यस्तः।** तरङ्गों में फंसा हुआ। **(प्राप्त) सुखं प्राप्त इति सुखप्राप्तः।** सुख को प्राप्त हुआ। **(आपन्न) सुखम् आपन्न इति सुखापन्नः।** सुख को पाया हुआ।*

__सिद्धि-कष्टश्रितः।__ कष्ट+अम्+श्रित+सु। कष्टश्रित+सु। कष्टश्रितः। ऐसे ही-'__कान्तारातीतः__' आदि।

स्वयं शब्दः-

(२) स्वयं क्तेन।२५।

प०वि०-स्वयम् अव्ययपदम्, क्तेन ३।१।

अन्वयः-स्वयं सुप् क्तेन सुपा सह विभाषा समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-स्वयमित्यव्ययं सुबन्तं क्तप्रत्ययान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-स्वयम्-स्वयंधौतौ पादौ। स्वयंविलीनमाज्यम्।

'स्वयम्' इत्यव्ययम् 'आत्मना' इत्यस्यार्थे वर्तते, तस्य द्वितीयया सह सम्बन्धो नोपपद्यतेऽतोऽत्र 'द्वितीया' इति नानुवर्तते।

आर्यभाषा-अर्थ-(स्वयम्) स्वयम् इस अव्यय सुबन्त का (क्तेन) क्त-प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**स्वयम्। स्वयं धौतौ पादौ। स्वयंधौतौ पादौ।** खुद धोये हुये पांव। **स्वयं विलीनमाज्यम्। स्वयंविलीनमाज्यम्।** खुद पिघला हुआ घी।*

*'**स्वयम्**' यह अव्यय 'अपने-आप' अर्थ में है, इसका द्वितीया के साथ सम्बन्ध नहीं बनता है, अतः यहां 'द्वितीया' पद की अनुवृत्ति नहीं है।*

जहां समास होता है वहां दोनों पद एक हो जाते हैं और उनका एक ही स्वर होता है और जहां समास नहीं होता है वहां स्वयं और धौत पद पृथक्-पृथक् रहते हैं तथा उनका प्राप्त स्वर भी पृथक्-पृथक् रहते हैं तथा उनका प्राप्त स्वर भी पृथक्-पृथक् ही होता है।

*सिद्धि-स्वयम्+सु+धौत+सु। स्वयंधौत+सु। स्वयंधौत+अम्। स्वयंधौतम्। ऐसे ही-**स्वयंविलीनम्।***

खट्वाशब्दाः-

(३) खट्वा क्षेपे।२६।

प०वि०-खट्वा १।१ क्षेपे ७।१।

अनु०-द्वितीया, क्तेन इति चानुवर्तते।

अन्वयः-खट्वा द्वितीया सुप् क्तेन सुपा सह नित्यं समासः क्षेपे तत्पुरुषः।

अर्थः-खट्वा इति द्वितीयान्तं सुबन्तं क्त-प्रत्ययान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह नित्यं समस्यते, क्षेपे गम्यमाने, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०–खट्वारूढो जाल्मः। खट्वाप्लुतो जाल्मः। खट्वारोहणं विमार्गप्रस्थानस्योपलक्षणम्। सर्व एवाविनीतः खट्वारूढ इत्युच्यते।

विभाषाऽधिकारेऽयं नित्यसमास एव। यतो हि विग्रहवाक्येन क्षेपो न गम्यते। क्षेपः=निन्दा।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(द्वितीया, खट्वा) द्वितीयान्त खट्वा सुबन्त का (क्तेन) क्त-प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास होता है (क्षेपे) निन्दा विषय में और उस समास की (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

__उदा०__-__खट्वारूढो जाल्मः। खट्वाप्लुतो जाल्मः।__ खाट पर आरोहण किया हुआ दुष्ट। जो ब्रह्मचर्य आश्रम को पूरा न करके पहले ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर जाता है, वह निन्दनीय है, अतः उसे 'खट्वारूढ' कहते हैं।

__सिद्धि__-__खट्वारूढः।__ खट्वा+अम्+आरूढ+सु। खट्वारूढ+सु। खट्वारूढः। पूर्ववत्। ऐसे ही-__खट्वाप्लुतः।__

__विशेष__-यह विभाषा के अधिकार में भी नित्य समास है क्योंकि विग्रह-वाक्य से क्षेप (निन्दा) की प्रतीति नहीं होती है।

सामिशब्दः–

(४) सामि।२७।

प०वि०–सामि अव्ययपदम्।

अनु०:–'द्वितीया' इति नानुवर्ततेऽव्ययेन सामिशब्देन सह सम्बन्धाभावात्। 'क्तेन' इत्यनुवर्तते। सामिशब्दोऽर्धवाची।

अन्वयः–सामि सुप् क्तेन सुपा सह विभाषा समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः–'सामि' इत्यत्ययं क्त-प्रत्ययान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०–सामि भुक्तमिति सामिभुक्तम्। सामि पीतमिति सामिपीतम्। सामि कृतमिति सामिकृतम्। यत्र समासस्तत्रैकपद्यमेकस्वर्यं च भवति।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(सामि) अर्धवाची अव्यय सामि सुबन्त का (क्तेन) क्त-प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

__उदा०__-__सामि भुक्तमिति सामिभुक्तम्।__ आधा खाया। __सामि पीतमिति सामिपीतम्।__ आधा पीया। __सामि कृतमिति सामिकृतम्।__ आधा किया। जहां समास है वहां एक पद और एक स्वर होता है।

*सिद्धि-**सामिभुक्तम्।** सामि+सु+भुक्त+सु। सामिभुक्त+सु। सामिभुक्तम्। ऐसे ही-**सामिपीतम्, सामिकृतम्।***

कालवाचिनः-

कालाः।२८।

प०वि०-कालाः १।३।

अनु०-द्वितीया, क्तेन इति चानुवर्तते।

अन्वयः-काला द्वितीयाः सुपः क्तेन सुपा सह विभाषा समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-कालवाचिनो द्वितीयान्ताः सुबन्ताः क्त-प्रत्ययान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-अहः अति सृता इति अहरतिसृता मुहूर्ताः। मासं प्रमित इति मासप्रमितश्चन्द्रमाः। मासं प्रमातुमारब्धः प्रतिपदाचन्द्र इत्यर्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(कालाः) कालवाची सुबन्तों का (क्तेन) क्त-प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उस समास की (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**अहः अतिसृता इति अहरतिसृता मुहूर्ताः।** दिन में गति करनेवाले मुहूर्त। **रात्रिम् अतिसृता इति रात्र्यतिसृता मुहूर्ताः।** रात्रि में गति करनेवाले मुहूर्त। **मासं प्रमित इति मासप्रमितश्चन्द्रमाः।** मास को मापने का आरम्भ करनेवाला प्रतिपदा का चन्द्रमा।*

विशेष-ज्योतिषशास्त्र के अनुसार छः मुहूर्त ऐसे हैं जब सूर्य उत्तरायण में होता है तब वे आते हैं और जब सूर्य दक्षिणायन में होता है तब वे रात्रि में आते हैं। इन छः मुहूर्तों का रात्रि और दिन का अत्यन्त संयोग नहीं होता है। अत्यन्तसंयोग अर्थ में आगामी सूत्र में समास विधान किया गया है।

*सिद्धि-**अहरतिसृताः।** अहर्+अम्+अतिसृत+जस्। अहरतिसृत+जस्। अहरतिसृताः। ऐसे ही-**रात्र्यतिसृताः।***

कालवाचिनः-

अत्यन्तसंयोगे च।२९।

प०वि०-अत्यन्तसंयोगे ७।१ च अव्ययपदम्।

स०-अत्यन्तश्चासौ संयोग इति अत्यन्तसंयोगः तस्मिन्-अत्यन्तसंयोगे (कर्मधारयः)।

अनु०-काला इत्यनुवर्तते, क्तेन इति निवृत्तम्।

अन्वयः-काला द्वितीयाः सुपः क्तेन सुपा सह विभाषा समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-कालवाचिनो द्वितीयान्ताः सुबन्ताः समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते, अत्यन्तसंयोगे गम्यमाने, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-मुहूर्तं सुखमिति मुहूर्तसुखम्। सर्वरात्रं कल्याणी इति सर्वरात्रकल्याणी। सर्वरात्रं शोभना इति सर्वरात्रशोभना।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(कालाः) कालवाची सुबन्तों का किसी समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है (अत्यन्तसंयोगे) अत्यन्तसंयोग अर्थ में और उस समास की (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

उदा०-__मुहूर्तं सुखमिति मुहूर्तसुखम्।__ एक मुहूर्तभर सुख। __सर्वरात्रं कल्याणी इति सर्वरात्रकल्याणी।__ सारी रात कल्याणवाली रही। __सर्वरात्रं शोभना इति सर्वरात्रशोभना।__ सारी रात सोहणी रही।

__विशेष__-बीस कला का एक मुहूर्त होता है। पन्द्रह मुहूर्त का एक दिन और पन्द्रह मुहूर्त की रात्रि अर्थात् तीस मुहूर्त के दिन और रात होते हैं।

__सिद्धि-मुहूर्तसुखम्।__ मुहूर्त+अम्+सुख+सु। मुहूर्तसुख+सु। मुहूर्तसुख+अम्। मुहूर्तसुखम्। ऐसे ही-__सर्वरात्रम्__ आदि।

तृतीयातत्पुरुषः—

तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन।३०।

प०वि०-तृतीया १।१ तत्कृतार्थेन ३।१ गुणवचनेन ३।१।

स०-तेन कृतमिति तत्कृतम्। तत्कृतं च अर्थश्च एतयोः समाहारः-तत्कृतार्थम्, तेन-तत्कृतार्थेन (तृतीयातत्पुरुषगर्भितसमाहारद्वन्द्वः)। गुणं वक्तीति गुणवचनः, तेन-गुणवचनेन (उपपदसमासः) अत्र गुणवचनं तत्कृतार्थेन सह सम्बध्यते।

अन्वयः-तृतीया सुप् तत्कृतार्थेन गुणवचनार्थेन सुपा सह विभाषा समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-तृतीयान्तं सुबन्तं तत्कृतेन गुणवचनेन समर्थेन सुबन्तेन, अर्थशब्देन च सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। तत्कृतेन तृतीयान्तार्थकृतेनेत्यभिप्रायः।

उदा०-(तत्कृतेन) शङ्कुलया खण्ड इति शङ्कुलाखण्डः। किरिणा काण इति किरिकाणः। (अर्थेन) धान्येन अर्थ इति धान्यार्थः।

आर्यभाषा-अर्थ-(तृतीया) तृतीयान्त सुबन्त का (गुणवचनेन) गुणवाची (तत्कृत-अर्थेन) तत्कृत समर्थ सुबन्त तथा अर्थ शब्द के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उस समास की (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है। यहां तत्कृत का अर्थ तृतीयान्त पद के अर्थ से किया हुआ खण्ड आदि है।

*उदा०-(तत्कृत) **शङ्कुलया खण्ड इति शङ्कुलाखण्डः।** सरोता से किया हुआ सुपारी आदि का टुकड़ा। **किरिणा काण इति किरिकाणः।** बाण से किया गया काणा। (अर्थ) **धान्येन अर्थ इति धान्यार्थः।** धान्य=अन्न से प्रयोजन।*

*सिद्धि-शङ्कुलाखण्डः। शङ्कुला+टा+खण्ड+सु। खङ्कुलाखण्ड+सु। शङ्कुलाखण्डः। ऐसे ही-**किरिकाणः, धान्यार्थः।***

तृतीया-

(१) पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्षणैः।३१।

प०वि०-पूर्व-सदृश-सम-ऊनार्थ-कलह-निपुण-मिश्र-श्लक्षणैः ३।३।

स०-पूर्वश्च सदृशश्च समश्च ऊनार्थश्च कलहश्च निपुणश्च मिश्रश्च श्लक्षणश्च ते-पूर्व०श्लक्षणाः, तैः-पूर्व०श्लक्षणैः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'तृतीया' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-तृतीया सुप् पूर्व०श्लक्षणैः सुब्भिः सह विभाषा समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-तृतीयान्तं सुबन्तं पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्षणैः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-(पूर्वः) मासेन पूर्व इति मासपूर्वः। (सदृशः) पित्रा सदृश इति पितृसदृशः। (समः) पित्रा सम इति पितृसमः। (ऊनार्थः) माषेण ऊनमिति माषोणम्। माषेण विकलम् इति माषविकलम्। (कलहः) असिना कलह इति असिकलहः। (निपुणः) वाचा निपुण इति वाङ् निपुणः। (मिश्रः) गुडेन मिश्र इति गुडमिश्रः। (श्लक्षणः) आचारेण श्लक्षण इति आचारश्लक्षणः।

आर्यभाषा-अर्थ-(तृतीया) तृतीयान्त सुबन्त का (पूर्व०श्लक्ष्णैः) पूर्व, सदृश, सम, ऊनार्थ, कलह, निपुण, मिश्र और श्लक्षण समर्थ सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-(पूर्व) **मासेन पूर्व इति मासपूर्वः।** एक मास से पहले। (सदृश) **पित्रा सदृश इति पितृसदृशः।** पिता के समान। (सम) **पित्रा सम इति पितृसमः।** पिता के तुल्य। (ऊनार्थ) **माषेण ऊनमिति माषोणम्।** एक माशा कम। **माषेण विकलमिति माषविकलम्।** एक मासा कम। (कलह) **असिना कलहः।** तलवार से झगड़ा। (निपुण) **वाचा निपुण इति वाङ् निपुणः।** बोलने में चतुर। (मिश्र) **गुडेन मिश्र इति गुडमिश्रः।** गुड़ मिला हुआ। (श्लक्षण) **आचारेण श्लक्षणः इति आचारश्लक्षणः।** व्यवहार में चिकणा।*

कर्तरि करणे च तृतीया-

(२) कर्तृकरणे कृता बहुलम्।३२।

प०वि०-कर्तृ-करणे ७।१ कृता ३।१ बहुलम् १।१।

स०-कर्ता च करणं च एतयोः समाहारः कर्तृकरणम्, तस्मिन्-कर्तृकरणे (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-तृतीया इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-कर्तृकरणे तृतीया सुप् कृता सुपा सह विभाषा बहुलं समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-कर्तरि करणे च वर्तमानं तृतीयान्तं सुबन्तं कृत्-प्रत्ययान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन बहुलं (क्वचित्) समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-(कर्तरि) अहिना हत इति अहिहतः। (करणे) नखैर्निर्भिन्न इति नखनिर्भिन्नः। परशुना छिन्न इति परशुच्छिन्नः।

बहुलवचनाद् दात्रेण लूनवान्, परशुना छिन्नवान् अत्र समासो न भवति। पादहारकः, गलेचोपकः, अत्र समासो भवति।

आर्यभाषा-अर्थ-(कर्तृ-करणे) कर्ता और करण कारक में विद्यमान (तृतीया) तृतीयान्त सुबन्त का (कृता) कृत् प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से (बहुलम्) कहीं-कहीं समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

उदा०-(कर्ता में) अहिना हत इति अहिहत:। सांप के काटने से मरा हुआ। (करण में) नखैर्निर्भिन्न इति नखनिर्भिन्न:। नाखूनों से नोचा हुआ। परशुना छिन्न इति परशुच्छिन्न:। फरसे से काटा हुआ।

यहां बहुल के कथन से सूत्रोक्त विधि से कहीं समास नहीं होता है। जैसे-दात्रेण लूनवान्। परशुना छिन्नवान् और कहीं समास हो भी जाता है। जैसे-पादहारक:, गलेचोपक इत्यादि।

सिद्धि-अहिहत:। अहि+टा+हत+सु। अहिहत+सु। अहिहत:। ऐसे ही-नखनिर्भिन्न:, परशुच्छिन्न:।

कर्तरि करणे च तृतीया-

(३) कृत्यैरधिकार्थवचने।३३।

प०वि०-कृत्यै: ३।३ अधिकार्थवचने ७।१।

स०-अधिकश्च असावर्थ: इति अधिकार्थ:, अधिकार्थस्य वचनमिति अधिकार्थवचनम्, तस्मिन्-अधिकार्थवचने (कर्मधारयगर्भितषष्ठीतत्पुरुष:)। स्तुतिनिन्दाप्रयुक्तम् अध्यारोपितार्थवचनम् अधिकार्थवचनम्।

अनु०-तृतीया कर्तृकरणे इति चानुवर्तते।

अन्वय:-कर्तृकरणे तृतीया सुप् कृत्यै: सुब्भि: सह विभाषा समासोऽधिकार्थवचने तत्पुरुष:।

अर्थ:-कर्तरि करणे च वर्तमानं तृतीयान्तं सुबन्तं कृत्य-प्रत्ययान्तै: समर्थै: सुबन्तै: सह विकल्पेन समस्यतेऽधिकार्थवचने गम्यमाने तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-(कर्तरि) श्वभिर्लेह्य इति श्वलेह्य: कूप:। काकै: पेया इति काकपेया नदी। (करणे) वाष्पेण छेद्यानीति वाष्पच्छेद्यानि तृणानि। पूर्वसूत्रस्यैवायं विस्तर:।

आर्यभाषा-अर्थ:-(कर्तृ-करणे) कर्ता और करण कारक में विद्यमान (तृतीया) तृतीयान्त सुबन्त का (कृत्यै:) कृत्य-प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है। (अधिकार्थवचने) किसी की स्तुति या निन्दा को बढ़ाचढ़ाकर कहने अर्थ में और उसकी (तत्पुरुष:) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-(कर्ता) **श्वभिर्लेह्य इति श्वलेह्यः कूपः।** इस कुएं को कुत्ते चाटते हैं। यहां कुएं की बढ़ाचढ़ाकर निन्दा की गई है। **काकैः पेया इति काकपेया नदी।** इस नदी में कौवे पानी पीते हैं। यहां नदी की बढ़ाचढ़ाकर निन्दा की गई है। (करण) **वाष्पेण छेद्यानि इति वाष्पछेद्यानि तृणानि।** ये तिनके इतने कोमल हैं कि भाप से कट सकते हैं। यहां तिनकों की कोमलता की बढ़ाचढ़ाकर स्तुति की गई है।*

*सिद्धि-(१) **श्वलेह्यः।** श्वन्+भिस्+लेह्य+सु। श्वलेह्य+सु। श्वलेह्यः। यहां 'लेह्यः' पद में 'लिह् आस्वादने' (अ०उ०) धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' (३।१।१२४) से कृत्य संज्ञक ण्यत् प्रत्यय है।*

*(२) **काकपेया।** काक+भिस्+पेया+सु। काकपेया+सु। काकपेया। यहां 'पा पाने' (भ्वा०प०) धातु से 'अचो यत्' (३।१।९७) से कृत्य संज्ञक यत् प्रत्यय है। स्त्रीत्व विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' (४।१।३) से टाप् प्रत्यय होता है। पेय+टाप्=पेया।*

विशेष-'कृत्याः' (३।२।९५) से लेकर 'ऋहलोर्ण्यत्' (३।२।१२४) तक कृत्य-प्रत्ययों का अधिकार है। यहां उनमें से केवल यत् और ण्यत् प्रत्यय का ग्रहण करना अभीष्ट है, शेष तव्यत् आदि प्रत्ययों का नहीं।

व्यञ्जनवाचि–

(४) अन्नेन व्यञ्जनम्।३४।

प०वि०-अन्नेन ३।१ व्यञ्जनम् १।१।

अनु०-'तृतीया' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-व्यञ्जनं सुप् अन्नेन सुपा सह विभाषा समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-व्यञ्जनवाचि तृतीयान्तं सुबन्तम् अन्नवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते तत्पुरुषश्च समासो भवति। संस्कार्यमोदनादिकमन्नं भवति, संस्कारकं दध्यादिकं च व्यञ्जनमुच्यते।

उदा०-दध्ना उपसिक्त ओदन इति दध्योदनः। क्षीरेण उपसिक्त ओदन इति क्षीरौदनः।

आर्यभाषा-अर्थ-(व्यञ्जनम्) व्यञ्जनवाची (तृतीया) तृतीयान्त सुबन्त का (अन्नेन) अन्नवाची समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है। संस्कार करने योग्य ओदन आदि को अन्न कहते हैं और संस्कार के हेतु दही आदि को व्यञ्जन कहते हैं।

*उदा०-**दध्ना उपसिक्त ओदन इति दध्योदनः।** दही से सींचा हुआ भात। **क्षीरेण उपसिक्त ओदन इति क्षीरौदनः।** दूध से सींचा हुआ भात।*

सिद्धि-दध्योदनः। दधि+टा+ओदन+सु। दधि+ओदन। दध्योदन+सु। दध्योदनः। ऐसे ही-क्षीरौदनः।

मिश्रीकरणवाचि-

(५) भक्ष्येण मिश्रीकरणम्।३५।

प०वि०-भक्ष्येण ३।१ मिश्रीकरणम् १।१।

अनु०-'तृतीया' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-मिश्रीकरणं सुप् भक्ष्येण सुपा सह विभाषा समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-मिश्रीकरणवाचि तृतीयान्तं सुबन्तं भक्ष्यवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते तत्पुरुषश्च समासो भवति। खर-विशदमभ्यवहार्यं भक्ष्यं भवति तस्य संस्कारकं च मिश्रीकरणमुच्यते।

उदा०-गुडेन मिश्रा धाना इति गुडधानाः। गुडेन मिश्राः पृथुका इति गुडपृथुकाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(मिश्रीकरणम्) मिश्रीकरणवाची (तृतीया) तृतीयान्त सुबन्त का (भक्ष्येण) भक्ष्यवाची समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है। कठोर एवं कोमल खाने योग्य धान आदि पदार्थ को भक्ष्य कहते हैं और उसके संस्कार के हेतु गुड़ आदि पदार्थ को मिश्रीकरण कहते हैं।

*उदा०-**गुडेन मिश्रा धाना इति गुडधानाः।** गुड़ से मिश्रित धान। **गुडेन मिश्राः पृथुका इति गुडपृथुकाः।** गुड़ से मिश्रित पृथुक (चिउड़ा) 'पृथुकः स्याच्चिपिटकः' इत्यमरः।*

सिद्धि-गुडधानाः। गुड+टा+धान+जस्। गुडधान+जस्। गुडधानाः। ऐसे ही-गुडपृथुकाः।

चतुर्थीतत्पुरुषः

चतुर्थी-

(१) चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः।३६।

प०वि०-चतुर्थी १।१ तदर्थ-अर्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः ३।३।

स०-तस्मै इदं तदर्थम्। तदर्थं च, अर्थं च बलिश्च हितं च सुखं च रक्षितं च तानि-तदर्थ०रक्षितानि, तेषु-तदर्थ०रक्षितेषु (इतरेतरद्वन्द्वः)।

अन्वयः-चतुर्थी सुप् तदर्थ०रक्षितैः सुब्भिः सह विभाषा समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-चतुर्थ्यन्तं सुबन्तं तदर्थादिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-(तदर्थम्) तदर्थेन प्रकृतिविकारभावेऽयं समास इष्यते। यूपाय दारु इति युपदारु। कुण्डलाय हिरण्यमिति कुण्डलहिरण्यम्। (अर्थम्) अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च भवति। ब्राह्मणायायं ब्रह्मणार्थः कम्बलः। ब्राह्मणायेयं ब्राह्मणार्था। ब्राह्मणायेदं ब्राह्मणार्थं पयः। (बलिः) कुबेराय बलिरिति कुबेरबलिः। (हितम्) गवे हितमिति गोहितम्। (सुखम्) गवे सुखमिति गोसुखम्। (रक्षितम्) गवे रक्षितमिति गोरक्षितम्।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(चतुर्थी) चतुर्थी-अन्त सुबन्त का (तदर्थ०रक्षितैः) तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख और रक्षित समर्थ सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

उदा०-__(तदर्थ)__ यहां तदर्थ का अभिप्राय प्रकृति-विकृतिभाव है। विकृतिवाची चतुर्थ्यन्त सुबन्त का प्रकृतिवाची सुबन्त के साथ समास अभीष्ट है। __यूपाय दारु इति यूपदारु।__ यज्ञीय स्तम्भ के लिये लकड़ी। __कुण्डलाय हिरण्यमिति कुण्डलहिरण्यम्।__ कान के कुण्डल के लिये सोना। __(अर्थ)__ चतुर्थ्यन्त सुबन्त का अर्थ शब्द के साथ नित्य समास होता है और वह सर्वलिङ्गी होता है। __ब्राह्मणायायं ब्राह्मणार्थः कम्बलः।__ ब्राह्मण के लिये कम्बल। __ब्राह्मणायेयं ब्राह्मणार्था यवागूः।__ ब्राह्मण के लिये लापसी। __ब्राह्मणायेदं ब्राह्मणार्थं पयः।__ ब्राह्मण के लिये दूध या जल। __(बलि) कुबेराय बलिरिति कुबेरबलिः।__ राजा कुबेर के लिये कर। __(हित) गवे हितमिति गोहितम्।__ गौ के लिये हितकारी। __(सुख) गवे सुखमिति गोसुखम्।__ गौ के लिये सुखकारी। __(रक्षित) गवे रक्षितमिति गोरक्षितम्।__ गौ के लिये रखी हुई रोटी आदि।

__सिद्धि-यूपदारु।__ यूप+ङे+दारु+सु। यूपदारु+सु। यूपदारु। ऐसे ही-__ब्राह्मणार्था, कुबेरबलिः, गोहितम्, गोसुखम्, गोरक्षितम्।__

पञ्चमीतत्पुरुषः

पञ्चमी-

(१) पञ्चमी भयेन।३७।

प०वि०-पञ्चमी १।१ भयेन ३।१।

अन्वयः-पञ्चमी सुप् भयेन सुपा सह विभाषा समासस्तत्पुषः।

अर्थः-पञ्चम्यन्तं सुबन्तं भयशब्देन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-(भयम्) चौराद् भयमिति चौरभयम्। वृकेभ्यो भयमिति वृकभयम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(पञ्चमी) पञ्चमी-अन्त सुबन्त का (भयेन) भय शब्द समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**(भय) चौराद् भयमिति चौरभयम्।** चोर से डर। **वृकेभ्यो भयमिति वृकभयम्।** भेड़ियों से डर।*

सिद्धि-चौरभयम्।** चौर+भ्यस्+भय+सु। चौरभय+सु। चौरभयम्। ऐसे ही-**वृकभयम्।

पञ्चमी—

(२) अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः।३८।

प०वि०-अपेत-अपोढ-मुक्त-पतित-अपत्रस्तैः ३।३ अल्पशः अव्ययपदम्।

स०-अपेतश्च अपोढश्च मुक्तश्च पतितश्च अपत्रस्तश्च ते-अपेत०अपत्रस्ताः, तैः-अपेत०अपत्रस्तैः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'पञ्चमी' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-पञ्चम्यन्तं सुबन्तम् अपेतादिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेनाल्पशः समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-(अपेतः) सुखादपेत इति सुखापेतः। (अपोढः) कल्पनाया अपोढ इति कल्पनापोढः। (मुक्तः) चक्रात् मुक्त इति चक्रमुक्तः। (पतितः) पर्वतात् पतित इति पर्वतपतितः। (अपत्रस्तः) तरङ्गेभ्योऽपत्रस्त इति तरङ्गापत्रस्तः।

अत्र 'अल्पशः' इति समासस्याल्पविषयतां कथयति। अल्पा पञ्चमी समस्यते, न सर्वा। यथा-प्रासादात् पतितः। भोजनादपत्रस्त इति अत्र समासो न भवति।

आर्यभाषा-अर्थ-(पञ्चमी) पञ्चम्यन्त सुबन्त का (अपेत०अपत्रस्तैः) अपेत आदि समर्थ सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से (अल्पशः) थोड़ा समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-(अपेत) **सुखादपेत इति सुखापेतः।** सुख से वियुक्त हुआ। **(अपोढ) कल्पनाया अपोढ इति कल्पनापोढः।** कल्पना से अतीत। **(मुक्त) चक्रात् मुक्त इति चक्रमुतः।** संसार चक्र से मुक्त हुआ। **(पतित) पर्वतात् पतित इति पर्वतपतितः।** पहाड़ से गिरा हुआ। **(अपत्रस्त) तरङ्गेभ्योऽपत्रस्त इति तरङ्गापत्रस्तः।** जल-तरंगों से व्याकुल हुआ।*

***विशेष**-यहां 'अल्पशः' पद समास की अल्पविषयता का कथन करता है। थोड़ी पञ्चमी का समास होता है, सारी का नहीं। जैसे-**प्रासादात् पतितः।** महल से गिरा हुआ। **भोजनादपत्रस्तः।** भोजन से व्याकुल हुआ। यहां समास नहीं होता है।*

सिद्धि-सुखापेतः।** सुख+ङसि+अपेत+सु। सुखापेत+सु। सुखापेतः। ऐसे ही-**कल्पनापोढः, चक्रमुक्तः, पर्वतपतितः, तरङ्गापत्रस्तः।

स्तोकादयः-

(३) स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन।३६।

प०वि०-स्तोक-अन्तिक-दूरार्थ-कृच्छ्राणि १।३ क्तेन ३।१।

स०-स्तोकं च अन्तिकं च दूरं च तानि स्तोकान्तिकदूराणि। स्तोकान्तिकदूराणि अर्था येषां ते स्तोकान्तिकदूरार्थाः। स्तोकान्तिकदूरार्थाश्च कृच्छ्रं च तानि-स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि (बहुव्रीहिगर्भितेतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०-'पञ्चमी' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि पञ्चम्यः सुपः क्तेन सुपा सह विभाषा समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-स्तोकान्तिकदूरार्थकानि कृच्छ्रशब्दश्च इति पञ्चम्यन्तानि सुबन्तानि क्त-प्रत्ययान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-(स्तोकम्) स्तोकात् मुक्त इति स्तोकान्मुक्तः। स्वल्पात् मुक्त इति स्वल्पान्मुक्तः। (अन्तिकम्) अन्तिकात् आगत इति

अन्तिकादागतः । अभ्याशात् आगत इति अभ्याशादागतः । (दूरम्) दूरात् आगत इति दूरादागतः । विप्रकृष्टात् आगत इति विप्रकृष्टादागतः । (कृच्छ्रम्) कृच्छ्रात् मुक्त इति कृच्छ्रान्मुक्तः ।

आर्यभाषा-अर्थ-(पञ्चमी) पञ्चमी-अन्त सुबन्त का (स्तोक०कृच्छ्राणि) स्तोक, अन्तिक और दूर तथा इनके अर्थवाले सुबन्तों और कृच्छ्र सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-(स्तोक) **स्तोकाद् मुक्त इति स्तोकान्मुक्तः।** थोड़े से मुक्त हुआ। **स्वल्पाद् मुक्त इति स्वल्पान्मुक्तः।** बहुत थोड़े से मुक्त हुआ। (अन्तिक) **अन्तिकाद् आगत इति अन्तिकादागतः।** निकट से आया हुआ। **अभ्याशाद् आगत इति अभ्याशादागतः।** पास से आया हुआ। (दूर) **दूरात् आगत इति दूरादागतः।** दूर से आया हुआ। **विप्रकृष्टाद् आगत इति विप्रकृष्टादागतः।** दूर से आया हुआ। (कृच्छ्र) **कृच्छ्राद् मुक्त इति कृच्छ्रान्मुक्तः।** कष्ट से छूटा हुआ।*

*यहां समास पक्ष में **'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः'** (अष्टा० ६।३।२) से पञ्चमी विभक्ति का अलुक् होता है अर्थात् लोप नहीं होता है।*

*सिद्धि-**स्तोकान्मुक्तः।** स्तोक+ङसि+मुक्त+सु। स्तोकान्मुक्त+सु। स्तोकान्मुक्तः। ऐसे ही-**स्वल्पान्मुक्तः** आदि।*

सप्तमीतत्पुरुषः

सप्तमी-

(१) सप्तमी शौण्डैः।४०।

प०वि०-सप्तमी १।१ शौण्डैः ३।३।

अन्वयः-सप्तमी सुप् शौण्डैः सुब्भिः सह विभाषा समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-सप्तम्यन्तं सुबन्तं शौण्डादिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-(शौण्डः) अक्षेषु शौण्ड इति अक्षशौण्डः। (धूर्तः) अक्षेषु धूर्त इति अक्षधूर्तः, इत्यादि।

शौण्ड। धूर्त। कितव। व्याड। प्रवीण। संवीत। अन्तर। अन्तर् शब्दस्त्वधिकरणप्रधान एव पठ्यते। अधिपटु। पण्डित। कुशल। चपल। निपुण। इति शौण्डादिः।

आर्यभाषा-अर्थ-(सप्तमी) सप्तमी-अन्त सुबन्त का (शौण्डैः) शौण्ड आदि समर्थ सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

उदा०-(शौण्डः) अक्षेषु शौण्ड इति अक्षशौण्डः। जूआ खेलने में चतुर। (धूर्तः) अक्षेषु धूर्त इति अक्षधूर्तः। जूआ खेलने में धूर्त।

सिद्धि-अक्षशौण्डः। अक्ष+सुप+शौण्ड+सु। अक्षशौण्ड+सु। अक्षशौण्डः। ऐसे ही-अक्षधूर्तः।

विशेष-यहां 'शौण्डैः' इस बहुवचन निर्देश से शौण्डादि-अर्थ का ग्रहण किया जाता है।

सप्तमी–

(२) सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च।४१।

प०वि०-सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्धैः ३।३ च अव्ययपदम्।

स०-सिद्धश्च शुष्कश्च पक्वश्च बन्धश्च ते-सिद्ध०बन्धाः, तैः-सिद्ध०बन्धैः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'सप्तमी' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-सप्तमी सुप् सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च सुब्भिः सह विभाषा समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-सप्तम्यन्तं सुबन्तं सिद्धादिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-(सिद्धः) सांकाश्ये सिद्ध इति सांकाश्यसिद्धः। (शुष्कः) छायायां शुष्क इति छायाशुष्कः। (पक्वः) स्थाल्यां पक्व इति स्थालीपक्वः। (बन्धः) चक्रे बन्ध इति चक्रबन्धः।

आर्यभाषा-अर्थ-(सप्तमी) सप्तमी-अन्त सुबन्त का (सिद्ध०बन्धैः) सिद्ध, शुष्क, पक्व और बन्ध समर्थ सुबन्तों के साथ (च) भी (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

उदा०-(सिद्ध) सांकाश्ये सिद्ध इति सांकाश्यसिद्धः। सांकाश्य नगर में बना हुआ। (शुष्क) छायायां शुष्क इति छायाशुष्कः। छाया में सूखा हुआ। (पक्व) स्थाल्यां पक्व इति स्थालीपक्वः। डेगची में पका हुआ। (बन्ध) चक्रे बन्ध इति चक्रबन्धः। संसार चक्र में बंधा हुआ।

सिद्धि-सांकाश्यसिद्धः । सांकाश्य+ङि+सिद्ध+सु । सांकाश्यसिद्ध+सु । सांकाश्यसिद्धः । ऐसे ही-छायाशुष्कः, स्थालीपक्वः, चक्रबन्धः । सांकाश्य=जनक के भ्राता कुशध्वज की राजधानी ।

सप्तमी-

(३) ध्वाङ्क्षेण क्षेपे ।४२।

प०वि०-ध्वाङ्क्षेण ३ ।१ क्षेपे ७ ।१ ।

अनु०-'सप्तमी' इत्यनुवर्तते ।

अन्वयः-सप्तमी सुप् ध्वाङ्क्षेण सुपा सह विभाषा समासः क्षेपे तत्पुरुषः ।

अर्थः-सप्तम्यन्तं सुबन्तं ध्वाङ्क्षवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, क्षेपे गम्यमाने, तत्पुरुषश्च समासो भवति ।

उदा०-तीर्थे ध्वाङ्क्ष इति तीर्थध्वाङ्क्षः । तीर्थे काक इति तीर्थकाकः ।

आर्यभाषा-अर्थ-(सप्तमी) सप्तमी-अन्त सुबन्त का (ध्वाङ्क्षेण) कौवावाची समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है (क्षेपे) निन्दा अर्थ में और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है । तीर्थे ध्वाङ्क्ष इति तीर्थध्वाङ्क्षः । तीर्थे काक इति तीर्थकाकः ।

यहां निन्दा यह है कि जैसे कौवे तीर्थ पर चिरकाल तक अवस्थित नहीं रहते, उड़ते रहते हैं, वैसे जो ब्रह्मचारी गुरुकुल में जाकर चिरकाल तक नहीं ठहरता है उसे 'तीर्थकाक' कहते हैं ।

सिद्धि-तीर्थध्वाङ्क्षः । तीर्थ+ङि+ध्वाङ्क्ष+सु । तीर्थध्वाङ्क्ष+सु । तीर्थध्वाङ्क्षः । ऐसे ही-तीर्थकाकः ।

सप्तमी सुप्-

(३) कृत्यैर्ऋणे ।४३।

प०वि०-कृत्यैः ३ ।३ ऋणे ७ ।१ ।

अनु०-'सप्तमी' इत्यनुवर्तते ।

अन्वयः-सप्तमी सुप् कृत्यैः सुब्भिः सह विभाषा समास ऋणे तत्पुरुषः ।

अर्थः-सप्तम्यन्तं सुबन्तं कृत्य-प्रत्ययान्तैः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, ऋणे गम्यमाने, तत्पुरुषश्च समासो भवति ।

उदा०-मासे देयम् ऋणमिति मासदेयम्। संवत्सरे देयम् ऋणमिति संवत्सरदेयम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(सप्तमी) सप्तमी-अन्त सुबन्त का (कृत्यैः) कृत्य-प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है। (ऋणे) ऋण अर्थ में और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**मासे देयम् ऋणमिति मासदेयम्।** एक मास में चुकाने योग्य ऋण। **संवत्सरे देयमृणमिति संवत्सरदेयम्।** एक साल में चुकाने योग्य ऋण।*

सिद्धि-मासदेयम्। *दा+यत्। देय+सु। देयम्। मास्+ङि+देय+सु। मासदेय+सु। मासदेयम्।*

*यहां 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) धातु से **'अचो यत्'** (३।१।९७) से कृत्यसंज्ञक यत् प्रत्यय है। 'ईद्यति' (६।४।६५) से ईकार आदेश और **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (७।३।८४) से गुण होता है। ऐसे ही-**संवत्सरदेयम्।***

विशेष-कृत्याः *(३।१।९५) इस सूत्र से लेकर **'ऋहलोर्ण्यत्'** (३।१।१२४) तक तव्यत् आदि कृत्य प्रत्ययों का विधान किया गया है, किन्तु यहां केवल उनमें से 'यत्' प्रत्यय का ग्रहण करना ही अभीष्ट है।*

सप्तमी-

(४) संज्ञायाम्।४४।

प०वि०-संज्ञायाम् ७।१।

अनु०-'सप्तमी' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-सप्तम्यन्तं सुबन्तं समर्थेन सुबन्तेन सह नित्यं समस्यते, संज्ञायां गम्यमानायाम्, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-अरण्येतिलकाः। अरण्येमाषाः। वनेकिंशुकाः। वनेबिल्वकाः। कूपेपिशाचकाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(सप्तमी) सप्तमी-अन्त सुबन्त का (सुपा) समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास होता है (संज्ञायाम्) संज्ञा अर्थ में और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**अरण्येतिलकाः।** जंगली तिल। **अरण्येमाषाः।** जंगली उड़द। **वनेकिंशुकाः।** जंगली टेसू। **वनेबिल्वकाः।** जंगली बेलगिरी। **कूपेपिशाचकाः।** कुएं में रहनेवाले राक्षस।*

सिद्धि-अरण्येतिलकाः । अरण्य+ङि+तिलक+जस् । अरण्येतिक+जस् । अरण्येतिलकाः । यहां 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' (६ ।३ ।७) से सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है।

विशेष-यह विभाषा के अधिकार में नित्य समास है, क्योंकि विग्रहवाक्य से संज्ञा की प्रतीति नहीं हो सकती।

अहोरात्रावयवाः–

(५) क्तेनाहोरात्रावयवाः ।४५ ।

प०वि०–क्तेन ३ ।१ अहोरात्र-अवयवाः १ ।३ ।

स०–अहश्च रात्रिश्च तौ–अहोरात्रौ, तयोः–अहोरात्रयोः, अहोरात्रयोरवयवा इति अहोरात्रावयवाः (द्वन्द्वगर्भितषष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०–'सप्तमी' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–सप्तम्योऽहोरात्रावयवाः सुपः क्तेन सुपा सह विभाषा समासस्तत्पुरुषः ।

अर्थः–सप्तम्यन्ता अहरवयवा रात्र्यवयवाश्च सुबन्ताः क्त-प्रत्ययान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०–(अहरवयवाः) पूर्वाह्णे कृतमिति पूर्वाह्णकृतम्। अपराह्णे कृतमिति अपराह्णकृतम्। (रात्र्यवयवाः) पूर्वरात्रे कृतमिति पूर्वरात्रकृतम्। अपररात्रे कृतमिति अपररात्रकृतम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(सप्तमी) सप्तमी-अन्त (अहोरात्रावयवाः) दिन के अवयववाची तथा रात्रि के अवयववाची सुबन्तों का (क्तेन) क्त-प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-(दिन के अवयव) **पूर्वाह्णे कृतमिति पूर्वाह्णकृतम्।** दिन के पहले भाग में किया हुआ। **अपराह्णे कृतमिति अपराह्णकृतम्।** दिन के दूसरे भाग में किया हुआ। (रात्रि के अवयव) **पूर्वरात्रे कृतमिति पूर्वरात्रकृतम्।** रात्रि के पहले भाग में किया हुआ। **अपररात्रे कृतमिति अपररात्रकृतम्।** रात्रि के दूसरे भाग में किया हुआ।*

*सिद्धि-**पूर्वाह्णकृतम्।** कृ+क्त। कृत। पूर्वाह्ण+ङि+कृत+सु। पूर्वाह्णकाल+सु। पूर्वाह्णकृतम्। यहां प्रथम 'डुकृञ् करणे' (त०उ०) से क्त प्रत्यय, तत्पश्चात् सप्तम्यन्त दिन अवयववाची पूर्वाह्ण शब्द का क्त-प्रत्ययान्त कृत शब्द के साथ समास होता है। ऐसे ही-**अपराह्णकृतम्, पूर्वरात्रकृतम्, अपररात्रकृतम्।***

तत्र-शब्दः—

(६) तत्र।४६।

प०वि०-तत्र अव्ययम्।

अनु०-'सप्तमी, क्तेन इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तत्र सप्तमी सुप् क्तेन सुपा सह विभाषा समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-'तत्र' इति सप्तम्यन्तं सुबन्तं क्त-प्रत्ययान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-(तत्र) तत्र भुक्तमिति तत्रभुक्तम्। तत्र कृतमिति तत्रकृतम्। समासपक्षे ऐकपद्यमैकस्वर्यं च भवति।

आर्यभाषा-अर्थ-(तत्र) 'तत्र' इस (सप्तमी) सप्तमी-अन्त सुबन्त का (क्तेन) क्त-प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-तत्र **भुक्तमिति तत्रभुक्तम्।** वहां खाया हुआ। तत्र **कृतमिति तत्रकृतम्।** वहां किया हुआ। समास पक्ष में दोनों पदों का एक पद और एक स्वर हो जाता है।*

*सिद्धि-**तत्रभुक्तम्।** भुज्+क्त। भुक्त। तत्र+ङि+भुक्त+सु। तत्र+भुक्त+सु। तत्रभुक्त। यहां प्रथम **'भुज् पालनाभ्यवहारयोः'** (रु०आ०) धातु से क्त-प्रत्यय, तत्पश्चात् 'तत्र' शब्द का क्त-प्रत्ययान्त भुक्त शब्द के साथ समास होता है। ऐसे ही-**तत्रकृतम्।***

सप्तमी—

(७) क्षेपे।४७।

प०वि०-क्षेपे ७।१।

अनु०-'सप्तमी, क्तेन इति चानुवर्तते।

अन्वयः-सप्तमी सुप् क्तेन सुपा सह विभाषा समासः क्षेपे तत्पुरुषः।

अर्थः-सप्तम्यन्तं सुबन्तं क्त-प्रत्ययान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, क्षेपे गम्यमाने तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-अवतप्ते नकुलस्थितमिति अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत्। अत्र क्षेपोऽयम्-यथाऽवतप्ते नकुला न चिरं स्थातारो भवन्त्येवं कार्याण्यारभ्य यो न चिरं तिष्ठति स उच्यते-अवतप्तेनकुलस्थितं त एतदिति। उदके

विशीर्णमिति उदकेविशीर्णम्। प्रवाहे मूत्रितमिति प्रवाहेमूत्रितम्। भस्मनि हुतमिति भस्मनिहुतम्। निष्फलं यत् क्रियते तदेवमुच्यते।

आर्यभाषा-अर्थ-(सप्तमी) सप्तमी-अन्त सुबन्त का (क्तेन) क्त-प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है (क्षेपे) निन्दा अर्थ में और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**अवतप्ते नकुलस्थिमिति अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत्।** यहां निन्दा अर्थ यह है कि जैसे तपे हुये स्थान पर नेवले चिरकाल तक अवस्थित नहीं रहते वैसे जो व्यक्ति कार्यों को आरम्भ करके वहां चिरकाल तक अवस्थित नहीं रहता है उसे '**अवतप्तेनकुलस्थितं त एतत्**' ऐसा कहा जाता है। **उदके विशीर्णमिति उदकेविशीर्णम्।** पानी में डाला हुआ। **प्रवाहे मूत्रितमिति प्रवाहेमूत्रितम्।** जलप्रवाह में मूता हुआ। **भस्मनि हुतमिति भस्मनिहुतम्।** राख में आहुत किया हुआ। जो कार्य निष्फल किया जाता है वह ऐसे कहा जाता है।*

*सिद्धि-**अवतप्तेनकुलस्थितम्।** अवतप्त+ङि+नकुलस्थित+सु। अवतप्ते-नकुलस्थित+सु। अवतप्तेनकुलस्थितम्। यहां '**तत्पुरुषे कृति बहुलम्**' (६।३।१२) से सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है।*

पात्रेसम्मिताः-

(८) पात्रेसम्मितादयश्च।४८।

प०वि०-पात्रेसम्मितादयः १।३ च अव्ययम्।

स०-पात्रेसम्मित आदिर्येषां ते-पात्रेसम्मितादयः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-सप्तमी, क्षेपे इति चानुवर्तते।

अर्थः-पात्रेसम्मितादयः सप्तम्यन्ताः समुदाया एव निपात्यन्ते क्षेपे गम्यमाने तत्पुरुषश्च समासो भवति। पात्रेसम्मिताः। पात्रेबहुलाः।

पात्रेसम्मिताः। पात्रेबहुलाः। उदरक्रिमिः। कूपकच्छपः। कूपचूर्णकः। अवटकच्छपः। कूपमण्डूकः। कुम्भमण्डूकः। उदपानमण्डूकः। नगरकाकः। नगरवायसः। मातरिपुरुषः। पिण्डीशूरः। गेहेशूरः। गेहेनर्दी। गेहेक्ष्वेडी। गेहेविजिती। गेहेव्याडः। गेहेतृप्तः। गेहेधृष्टः। गर्भेतृप्तः। आखनिकवकः। गोष्ठेशूरः। गोष्ठेविजिती। गोक्ष्वेडी। गेहेमेही। गोष्ठेपटुः। गोष्ठेपण्डितः। गोष्ठेप्रगल्भः। कर्णेटिट्टिभः। कर्णेचुरचुरा। इति पात्रेसम्मितादयः।

आर्यभाषा-अर्थ-(पात्रेसम्मितादयः) 'पात्रेसम्मिताः' इत्यादि समुदाय (च) ही (सप्तमी) सप्तम्यन्त निपातित किये जाते हैं (क्षेपे) निन्दा अर्थ में और वह (तत्पुरुषः) तत्पुरुष समास होता है।

*उदा०-**पात्रेसम्मिताः**। यहां पात्र का अभिप्राय भोजन-पात्र है। जो भोजनकाल में ही सम्मिलित होते हैं, अन्य किसी कार्य में नहीं। **पात्रेबहुलाः**। जो भोजनकाल में ही अधिकतर उपस्थित रहते हैं।*

*सिद्धि-**पात्रेसम्मिताः**। पात्र+ङि+सम्मित+जस्। पात्रेसम्मिताः। यहां निपातन से सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है। ऐसे ही-'**पात्रेबहुलाः**' आदि।*

समानाधिकरणतत्पुरुषः (कर्मधारयः)

पूर्वादयः-

(१) पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन।४६।

प०वि०-पूर्वकाल-एक-सर्व-जरत्-पुराण-नव-केवलाः १।३ समानाधिकरणेन ३।१।

स०-पूर्वकालश्च एकश्च सर्वश्च जरत् च पुराणश्च नवश्च केवलश्च ते-पूर्वकाल०केवलाः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। समानम् अधिकरणं यस्य सः-समानाधिकरणः, तस्मिन्-समानाधिकरणे (बहुव्रीहिः)।

अनु०-सुप्, सह सुपा इति च पूर्ववदनुवर्तते।

अन्वयः-पूर्व०केवलाः सुपः समानाधिकरणेन सुपा सह विभाषा समासः कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः-पूर्वकालवाचिन एकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः सुबन्ताः समानाधिकरणेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते समासश्च कर्मधारयतत्पुरुषो भवति।

उदा०-(पूर्वकालवाचिनः) स्नातश्चासौ अनुलिप्तश्चेति स्नातानुलिप्तो ब्राह्मणः। कृष्टं च तत् समीकृतं चेति कृष्टसमीकृतं क्षेत्रम्। (एकः) एका चेयं शाटी इति एकशाटी। (सर्वः) सर्वे च ते देवा इति सर्वदेवाः। (जरत्) जरत् चासौ हस्तीति जरद्हस्ती। (पुराणः) पुराणं च तदन्नमिति

पुराणान्नम्। (नवः) नवं च तदन्नमिति नवान्नम्। (केवलः) केवलं च तदन्नमिति केवलान्नम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(पूर्वकाल०केवलाः) पूर्वकालवाची तथा एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव और केवल सुबन्तों का (समानाधिकरणेन) समान द्रव्यवाची समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-(पूर्वकाल) **स्नातश्चासौ अनुलिप्त इति स्नातानुलिप्तो ब्राह्मणः।** पहले स्नान किया पश्चात् चन्दन लेप किया हुआ ब्राह्मण। **कृष्टं च तत् समीकृतमिति कृष्टसमीकृतं क्षेत्रम्।** पहले हल चलाया पश्चात् मैज से एक समान किया हुआ खेत। (एक) **एका चेयं शाटीति एकशाटी।** एक साड़ी। (सर्व) **सर्वे च ते देवा इति सर्वदेवाः।** सब विद्वान्। (जरत्) **जरत् चासौ हस्तीति जरद्हस्ती।** बूढ़ा हाथी। (पुराण) **पुराणं च तद् अन्नमिति पुराणान्नम्।** पुराना अनाज। (नव) **नवं च तद् अन्नमिति नवान्नम्।** नया अनाज। (केवल) **केवलं च तद् अन्नमिति केवलान्नम्।** केवल अनाज।*

*सिद्धि-**स्नातानुलिप्तः।** स्नात+सु+अनुलिप्त+सु। स्नातानुलिप्त+सु। स्नातानुलिप्तः। ऐसे ही '**कृष्टसमीकृतम्**' आदि।*

*विशेष-जहां दो पद एक अधिकरण=द्रव्य के वाची होते हैं और उनमें समान विभक्ति समान वचन और समान लिङ्ग होता है उसे समानाधिकरण कहते हैं। '**तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः**' (१।२।४२) से समानाधिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय संज्ञा होती है।*

दिक् संख्या च-

(२) दिक्संख्ये संज्ञायाम्।५०।

प०वि०-दिक्-संख्ये १।२ संज्ञायाम् ७।१।

स०-दिक् च संख्या च ते दिक्संख्ये (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-दिक्संख्ये सुपौ समानाधिकरणेन सुपा सह विभाषा समासः संज्ञायां कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः-दिग्वाचि संख्यावाचि च सुबन्तं समानाधिकरणेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते संज्ञायां विषये समासश्च कर्मधारयतत्पुरुषो भवति।

उदा०-(दिक्) पूर्वा चेयम् इषुकामशमी इति पूर्वेषुकामशमी। अपरा चेयम् इषुकामशमी इति अपरेषुकामशमी। (संख्या) पञ्च च ते जना इति पञ्चजनाः। सप्त च ते ऋषय इति सप्तर्षयः।

आर्यभाषा-अर्थ-(दिक्संख्ये) दिशावाची और संख्यावाची सुबन्त का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाची समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है (संज्ञायाम्) संज्ञा विषय में और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-(दिक्) **पूर्वा चेयम् इषुकामशमी इति पूर्वेषुकामशमी।** इषुकामशमी नगरी की पूर्व दिशा। **अपरा चेयम् इषुकामशमी इति अपरेषुकामशमी।** इषुकामशमी नगरी की पश्चिम दिशा। (संख्या) **पञ्च च ते जना इति पञ्चजनाः।** पांच जन (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद)। **सप्त च ते ऋषय इति सप्तर्षयः।** सात गोत्रकर्त्ता ऋषि (जमदग्नि, गोतम, भरद्वाज, कश्यप, वसिष्ठ, अगस्त्य, विश्वामित्र)।*

*सिद्धि-**पूर्वेषुकाशमी।** पूर्वा+सु। इषुकामशमी+सु। पूर्वेषुकामशमी। ऐसे ही-'**पञ्चजनाः**' आदि।*

दिक् संख्या च-

(३) तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च।५१।

प०वि०-तद्धितार्थ-उत्तरपद-समाहारे ७।१ च अव्ययपदम्।

स०-तद्धितस्यार्थ इति तद्धितार्थः। तद्धितार्थश्च उत्तरपदं च समाहारश्च एतेषां समाहारः, तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारम्, तस्मिन्-तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे (षष्ठीतत्पुरुषगर्भितसमाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-दिक्संख्ये, समानाधिकरणेन इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च दिक्संख्ये सुपौ समानाधिकरणेन सुपा सह विभाषा समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-तद्धितार्थे विषये, उत्तरपदे परतः, समाहारे चाभिधेये दिग्वाचि संख्यावाचि च सुबन्तं समानाधिकरणवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, समासश्च तत्पुरुषो भवति।

उदा०-तद्धितार्थे (दिक्) पूर्वस्यां शालायां भवः-पौर्वशालः। अपरस्यां शालायां भवः-आपरशालः। **(संख्या)** पञ्चानां नापितानामपत्यम्-

पाञ्चनापितिः। पञ्चसु कपालेषु संस्कृत इति पाञ्चकपालः पुरोडाशः। **उत्तरपदे (दिक्)** पूर्वा चेयं शालेति पूर्वशाला, पूर्वशाला प्रिया यस्य सः-पूर्वशालप्रियः। अपरा चेयं शालेति अपरशाला, अपरशाला प्रिया यस्य सः-अपरशालप्रियः। **(संख्या)** पञ्च गावो धनं यस्य सः-पञ्चगवधनः। पञ्च नावो धनं यस्य सः-पञ्चनावधनः। **समाहारे (दिक्)** समाहारे दिङ् न सम्भवति, ततो नास्त्युदाहरणम् **(संख्या)** पञ्चानां पूलानां समाहार इति पञ्चपूली। अष्टानामध्यायानां समाहार इति अष्टाध्यायी।

आर्यभाषा-अर्थ-(तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे) तद्धितार्थ के विषय में, उत्तरपद परे होने पर और समाहार वाच्य होने पर (च) भी (दिक्संख्ये) दिशावाची और संख्यावाची सुबन्त का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाची समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**तद्धितार्थ (दिशा)-पूर्वस्यां शालायां भवः पौर्वशालः।** पूर्व दिशा की शाला में रहनेवाला। **अपरस्यां शालायां भवः आपरशालः।** पश्चिम दिशा की शाला में रहनेवाला। **(संख्या) पञ्चानां नापितानामपत्यमिति पाचनापितिः।** पांच नाइयों का पुत्र। यह तब सम्भव है जब एक पत्नी के पांच पति हों। **पञ्चसु कपालेषु संस्कृत इति पञ्चकपालः।** पांच शरावों में पकाया हुआ पुरोडाश (यज्ञशेष)। **उत्तरपद (दिशा)-पूर्वा चेयं शाला इति पूर्वशाला। पूर्वशाला प्रिया यस्य सः-पूर्वशालप्रियः।** वह जिसे पूर्व दिशा की शाला प्रिय है। **अपरा चेयं शाला इति अपरशाला। अपरशाला प्रिया यस्य सः-अपरशालप्रियः।** वह जिसे पश्चिम दिशा की शाला प्रिय है। **(संख्या) पञ्च गावो धनं यस्य सः-पञ्चगवधनः।** वह जिसके पास पांच गौ धन है। **पञ्च नावो धनं यस्य सः-पञ्चनावधनः।** वह जिसके पास पांच नौका धन है। **समाहार (दिशा)**-समाहार अर्थ में दिशा सम्भव नहीं, अतः कोई उदाहरण नहीं। **(संख्या) पञ्चानां पूलानां समाहार इति पञ्चपूली।** पांच पूलों का समूह। **अष्टानामध्यायानां समाहार इति अष्टाध्यायी।** आठ अध्यायों का समूह।*

*सिद्धि-(१) **पौर्वशालः।** पूर्वा+ङि+शाला+ङि+ञ। पूर्व+शाला+अ। पौर्वशाल्+अ। पौर्वशाल+सु। पौर्वशालः।*

*यहां **'दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः'** (४।२।१०७) से 'भव' अर्थ में 'ञ' प्रत्यय है। **'यस्येति च'** (६।४।१४८) से आकार लोप और **'तद्धितेष्वचामादेः'** (७।२।११७) से आदिवृद्धि होती है।*

*(२) **पाञ्चनापितिः।** पञ्च+आम्+नापित+आम्+इञ्। पञ्च+नापित+इ। पाञ्चनापिति+सु। पाञ्चनापितिः।*

यहां 'अत इञ्' (४।२।९५) से 'अपत्य' अर्थ में तद्धित इञ् प्रत्यय है। यहां पूर्ववत् अकार लोप और आदिवृद्धि होती है।

*(३) **पञ्चकपालः।** पञ्च+सुप्+कपाल+सुप्+अण्। पञ्चकपाल+०। पञ्चकपाल+सु। पञ्चकपालः।*

*यहां 'संस्कृतं भक्षाः' (४।२।१६) से संस्कृत अर्थ में तद्धित अण् प्रत्यय है और उसका '**द्विगोर्लुगनपत्ये**' (४।२।८९) से लुक् हो जाता है।*

*(४) **पूर्वशालप्रियः।** पूर्वा+सु+शाला+सु+प्रिया+सु। पूर्वशालप्रिय+सु। पूर्वशालप्रियः।*

*(५) **पञ्चगवधनः।** पञ्च+जस्+गो+जस्+धन+सु। पञ्चगोधन+ पञ्चगो+टच्+धन। पञ्चगव+अ+धन। पञ्चगवधन+सु। पञ्चगवधनः।*

*यहां पञ्च, गौ, धन शब्दों की त्रिपद बहुव्रीहि समास में धन शब्द उत्तरपद में होने पर 'पञ्चगो' की इस सूत्र से तत्पुरुष संज्ञा होती है। अतः यहां '**गोरतद्धितलुकि**' (५।४।९२) से समासान्त टच् प्रत्यय होता है। टच् प्रत्यय के परे होने पर '**एचोऽयवायावः**' (६।१।७५) से गोशब्द के ओकार को अव्-आदेश होता है।*

*(६) **पञ्चनावधनः।** पञ्च+जस्+नौ+जस्+धन+सु। पञ्चनौधन। पञ्च+नौ+टच्+धन। पञ्चनाव्+अ+धन। पञ्चनावधन+सु। पञ्चनावधनः।*

यहां 'नावो द्विगोः' (५।४।९९) से समासान्त टच् प्रत्यय होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

*(७) **पञ्चपूली।** पञ्च+आम्+पूल+आम्। पञ्च+पूल। पञ्चपूल+ङीप्। पञ्चपूल+ई। पञ्चपूली+सु। पञ्चपूली।*

*यहां समाहार अर्थ में संख्यावाची पञ्च शब्द का पूल शब्द के साथ समास है। '**संख्यापूर्वो द्विगुः**' (२।१।५१) से इसकी द्विगु संज्ञा है। स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में '**द्विगोः**' (४।१।२१) से ङीप् प्रत्यय होता है। ऐसे ही-**अष्टाध्यायी।***

द्विगुसंज्ञा—

(४) संख्यापूर्वो द्विगुः।५२।

प०वि०-संख्यापूर्वः १।१ द्विगुः १।१।

स०-संख्या पूर्वा यस्मिन् स संख्यापूर्वः (बहुव्रीहिः)।

अर्थः- '**तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च**' इत्यत्र संख्यापूर्वो यः समासः स द्विगुसंज्ञको भवति।

उदा०-तद्धितार्थे (संख्या)–पञ्चानां नापितामपत्यमिति पांचनापितिः। पञ्चसु कपालेषु संस्कृत इति पञ्चकपाल ओदनः। **उत्तरपदे (संख्या)**–पञ्च

गावः समाहृता इति पञ्चगवम्। पञ्चगवं धनं यस्य स पञ्चगवधनः। पञ्च नावः समाहृता इति पञ्चनावम्। पञ्चनावं प्रियं यस्य स पञ्चनावप्रियः। **समाहारे (संख्या)**-पञ्चानां पूलानां समाहार इति पञ्चपूली। अष्टानाम् अध्यायानां समाहार इति अष्टाध्यायी।

आर्यभाषा-अर्थ- 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (२।१।५०) इस सूत्र से (संख्यापूर्वः) जो संख्यापूर्ववाला समास है उसकी (द्विगुः) द्विगु संज्ञा होती है और जो दिशापूर्ववाला समास है उसकी कर्मधारय संज्ञा है।

*उदा०-**तद्धितार्थ (संख्या)-पञ्चानां नापितानामपत्यमिति पाञ्चनापितिः।** इत्यादि सब उदाहरण संस्कृत भाग में देख लेवें। अर्थ पूर्व सूत्र के भाषार्थ में लिख दिया है।*

कर्मधारयतत्पुरुषः

कुत्सितानि—

(५) कुत्सितानि कुत्सनैः।५३।

प०वि०-कुत्सितानि १।३ कुत्सनैः ३।३।

अनु०-'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-कुत्सितानि सुपः कुत्सनैः सुब्भिः सह विभाषा समासः कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः-कुत्सित-वाचीनि सुबन्तानि समानाधिकरणैः कुत्सनवाचिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यन्ते कर्मधारयतत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-वैयाकरणश्चासौ खसूचिरिति वैयाकरणखसूचिः। याज्ञिकश्चासौ कितव इति याज्ञिककितवः। मीमांसकश्चासौ दुर्दुरूढ इति मीमांसकदुर्दुरूढः।

आर्यभाषा-अर्थ-(कुत्सितानि) निन्दितवाची सुबन्तों का (समाधिकरणेन) समान अधिकरणवाले (कुत्सनैः) निन्दावाची समर्थ सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**वैयाकरणश्चासौ खसूचिरिति वैयाकरणखसूचिः।** कोई प्रश्न पूछने पर जो वैयाकरण आकाश की ओर देखता है और उसे कोई उत्तर नहीं सूझता वह 'वैयाकरणखसूचि' कहाता है। **याज्ञिकश्चासौ कितव इति याज्ञिककितवः।** जो याज्ञिक यज्ञ न कराने योग्य यजमान का भी दक्षिणा आदि के लोभ से यज्ञ कराता है वह*

*'याज्ञिककितव' कहाता है। **मीमांसकश्चासौ दुर्दुरूढ इति मीमांसक दुर्दुरूढः।** नास्तिक मीमांसक।*

*सिद्धि-**वैयाकरणखसूचिः।** वैयाकरण+सु+खसूचि+सु। वैयाकरणखसूचि+सु। वैयाकरणखसूचिः। ऐसे ही-**याज्ञिककितवः, मीमांसकदुर्दुरूढः।***

पापमणकं च–

(६) पापाणके कुत्सितैः।५४।

प०वि०-पाप-अणके १।२ कुत्सितैः ३।३।

स०-पापं च अणकं च ते-पापाणके (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-पापाणके सुपौ समानाधिकरणैः कुत्सितैः सुब्भिः सह विभाषा समासः कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः-पाप-अणके सुबन्ते समानाधिकरणैः कुत्सितवाचिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्येते, कर्मधारयतत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-(पापम्) पापश्चासौ नापित इति पापनापितः। पापश्चासौ कुलाल इति पापकुलालः। (अणकम्) अणकश्चासौ नापित इति अणकनापितः। अणकश्चासौ कुलाल इति अणककुलालः।

***आर्यभाषा-अर्थ**-(पापाणके) पाप और अणक सुबन्त का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाले (कुत्सितैः) निन्दितवाची समर्थ सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।*

*उदा०-(पाप) **पापश्चासौ नापित इति पापनापितः।** सुन्दर बाल न संवारनेवाला निन्दित नाई। **पापश्चासौ कुलाल इति पापकुलालः।** सुन्दर घड़े न बनानेवाला निन्दित कुम्हार। (अणक) **अणकश्चासौ नापित इति अणकनापितः।** निन्दित नाई। **अणकश्चासौ कुलाल इति अणककुलालः।** निन्दित कुम्हार।*

*सिद्धि-**पापनापितः।** पाप+सु+नापित+सु। पापनापित+सु। पापनापितः। ऐसे ही-**अणकनापितः, पापकुलालः, अणककुलालः।***

उपमानानि–

(७) उपमानानि सामान्यवचनैः।५५।

प०वि०-उपमानानि १।३ सामान्यवचनैः ३।३।

स०-उपमीयतेऽनेनेति उपमानम्, तानि-उपमानानि। सामान्य-

मुक्तवन्त इति सामान्यवचनाः, तैः-सामान्यवचनैः(कृद्वृत्तिः)।

अनु०-'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-उपमानानि सुपः समानाधिकरणैः सामान्यवचनैः सुब्भिः सह विभाषाः समासः कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः-उपमानवाचीनि सुबन्तानि समानाधिकरणैः सामान्यवाचिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, कर्मधारयतत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-घन इव श्याम इति घनश्यामो देवदत्तः। शस्त्री इव श्यामा इति शस्त्रीश्यामा देवदत्ता।

आर्यभाषा-अर्थ-(उपमानानि) उपमानवाची सुबन्तों का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाले (सामान्यवचनैः) समानतावाची समर्थ सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**घन इव श्याम इति घनश्यामो देवदत्तः।** बादल के समान सांवला देवदत्त। **शस्त्री इव श्यामा शस्त्रीश्यामा देवदत्ता।** देवदत्ता नामक कन्या आरी के समान सांवले रंग की है।*

*सिद्धि-**घनश्यामः।** घन+सु+श्याम+सु। घनश्याम+सु। घनश्यामः।*

*यहां घन शब्द उपमानवाची तथा श्याम शब्द सामान्यवाची है। इन दोनों का कर्मधारयतत्पुरुष समास है। ऐसे ही-**शस्त्रीश्यामा।***

उपमेयम्-

(८) उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे।५६।

प०वि०-उपमितम् १।१ व्याघ्रादिभिः ३।३ सामान्याप्रयोगे ७।१।

स०-व्याघ्र आदिर्येषां ते व्याघ्रादयः, तैः-व्याघ्रादिभिः (बहुव्रीहिः)। न प्रयोग इति अप्रयोगः, सामान्यस्य अप्रयोग इति सामान्याप्रयोगः, तस्मिन्-सामान्यप्रयोगे (नञ्गर्भितषष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-उपमितं सुप् समानाधिकरणैर्व्याघ्रादिभिः सुब्भिः सह विभाषा समासः सामान्याप्रयोगे कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः-उपमितवाचि सुबन्तं समानाधिकरणैर्व्याघ्रादिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, यदि तत्र सामान्यवाचिशब्दस्य प्रयोगो न भवति, कर्मधारयतत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-पुरुषोऽयं व्याघ्र इव इति पुरुषव्याघ्रः। पुरुषोऽयं सिंह इव इति पुरुषसिंहः। सामान्यवाचिशब्दप्रयोगे समासो न भवति-पुरुषोऽयं व्याघ्र इव शूरः।

आर्यभाषा-अर्थ-(उपमितम्) उपमेयवाची सुबन्त का (समानाधिकरणेन) समान-अधिकरणवाले (व्याघ्रादिभिः) व्याघ्र आदि समर्थ सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है, यदि वहां सामान्यवाची शब्द का प्रयोग न हो और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**पुरुषोऽयं व्याघ्र इव इति पुरुषव्याघ्रः।** बाघ (चीता) के समान शूर पुरुष। '**शार्दूलद्वीपिनौ व्याघ्रे**'इत्यमरः। पुरुषोऽयं सिंह इव इति **पुरुषसिंहः।** शेर के समान वीर पुरुष।*

*सिद्धि-**पुरुषव्याघ्रः।** पुरुष+सु+व्याघ्र+सु। पुरुषव्याघ्र+सु। पुरुषव्याघ्रः।*

*यहां पुरुष शब्द उपमेयवाची है उसके व्याघ्र शब्द के साथ कर्मधारयतत्पुरुष समास किया गया है। ऐसे ही-**पुरुषसिंहः।***

विशेषणम्-

(६) विशेषणं विशेष्येण बहुलम्।५७।

प०वि०-विशेषणम् १।१ विशेष्येण ३।१ बहुलम् १।१।

अनु०-'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अर्थः-विशेषणवाचि सुबन्तं समानाधिकरणेन विशेष्यवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह बहुलं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-नीलं च तद् उत्पलमिति नीलोत्पलम्। रक्तं च तद् उत्पलमिति रक्तोत्पलम्।

अत्र बहुलवचनात् क्वचिन्नित्यसमासो भवति-कृष्णसर्पः। लोहितशालिः। क्वचित् समासो न भवति-रामो जामदग्न्यः। अर्जुनः कार्तवीर्यः। क्वचित् समासविकल्पो भवति-नीलमुत्पलमिति नीलोत्पलम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(विशेषणम्) विशेषणवाची सुबन्त का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाले (विशेष्येण) विशेष्यवाची समर्थ सुबन्त के साथ (बहुलम्) व्यवस्थापूर्वक समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**नीलं च तदुत्पलमिति नीलोत्पलम्।** नीला कमल। **रक्तं च तदुत्पलमिति रक्तोत्पलम्।** लाल कमल।*

*यहां बहुल-वचन से कहीं नित्य समास होता है-**कृष्णसर्पः।** काला सांप। **लोहितशालिः।** लाल चावल। कहीं समास नहीं होता है-**रामो जामदग्न्यः।** जगदग्नि का पुत्र राम। **अर्जुनः कार्तवीर्यः।** कृतवीर्य का पुत्र अर्जुन। कहीं समास का विकल्प होता है जैसा कि उदाहरण में दर्शाया है। यहां बहुल वचन समास-व्यवस्था के लिये है।*

*सिद्धि-**नीलोत्पलम्।** नील+सु+उत्पल+सु। नीलोत्पल+सु। नीलोत्पलम्।*

यहां विशेषणवाची नील शब्द का विशेष्यवाची उत्पल शब्द के साथ कर्मधारयतत्पुरुष समास किया गया है। ऐसे ही-'रक्तोत्पलम्' आदि।

पूर्वादयः-

(१०) पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च।५८।

प०वि०-पूर्व-अपर-प्रथम-चरम-जघन्य-समान-मध्य-मध्यम-वीराः १।३ च अव्ययपदम्।

स०-पूर्वश्च अपरश्च प्रथमश्च चरमश्च जघन्यश्च समानश्च मध्यश्च मध्यमश्च वीरश्च ते-पूर्व०वीराः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-पूर्व०वीराश्च सुपः समानाधिकरणेन सुपा सह विभाषा समासः कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः-पूर्वादयः सुबन्ताः समानाधिकरणवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते, समासश्च कर्मधारयतत्पुरुषो भवति।

उदा०-(पूर्वः) पूर्वश्चासौ पुरुष इति पूर्वपुरुषः। (अपरः) अपरश्चासौ पुरुष इति अपरपुरुषः। (प्रथमः) प्रथमश्चासौ पुरुष इति प्रथमपुरुषः। (चरमः) चरमश्चासौ पुरुष इति चरमपुरुषः। (जघन्यः) जघन्यश्चासौ पुरुष इति जघन्यपुरुषः। (समानः) समानश्चासौ पुरुष इति समानपुरुषः।

(मध्यः) मध्यश्चासौ पुरुष इति मध्यपुरुषः। (मध्यमः) मध्यमश्चासौ पुरुष इति मध्यमपुरुषः। (वीरः) वीरश्चासौ पुरुष इति वीरपुरुषः।

आर्यभाषा-अर्थ-(पूर्व०वीराः) पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम तथा वीर सुबन्तों का (च) भी (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाची समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-(पूर्व) **पूर्वश्चासौ पुरुष इति पूर्वपुरुषः।** पहला पुरुष। (अपर) **अपरश्चासौ पुरुष इति अपरपुरुषः।** दूसरा पुरुष। (प्रथम) **प्रथमश्चासौ पुरुष इति प्रथमपुरुषः।** प्रथम पुरुष। (चरम) **चरमश्चासौ पुरुष इति चरमपुरुषः।** अन्तिम पुरुष। (जघन्य) **जघन्यश्चासौ पुरुष इति जघन्यपुरुषः।** क्रूर पुरुष। (समान) **समानश्चासौ पुरुष इति समानपुरुषः।** सदृश पुरुष। (मध्य) **मध्यश्चासौ पुरुष इति मध्यपुरुषः।** मध्यकोटि का पुरुष। (मध्यम) **मध्यमश्चासौ पुरुष इति मध्यमपुरुषः।** मध्यस्थ पुरुष। (वीर) **वीरश्चासौ पुरुष इति वीरपुरुषः।** वीरपुरुष।*

*सिद्धि-**प्रथमपुरुषः।** प्रथम+सु+पुरुष+सु। प्रथमपुरुष+सु। प्रथमपुरुषः। ऐसे ही-'अपरपुरुषः' आदि।*

श्रेणि-आदयः—

(११) श्रेण्यादयः कृतादिभिः।५६।

प०वि०-श्रेणि-आदयः १।३ कृत-आदिभिः ३।३।

स०-श्रेणिरादिर्येषां ते-श्रेण्यादयः (बहुव्रीहिः)। कृत आदिर्येषां ते-कृतादयः, तैः-कृतादिभिः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-श्रेण्यादयः सुपः कृतादिभिः सुब्भिः सह विभाषा समासः कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः-श्रेण्यादयः सुबन्ताः समानाधिकरणैः कृतादिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यन्ते कर्मधारयतत्पुरुषश्च समासो भवति। **श्रेण्यादिषु च्व्यर्थवचनं कर्त्तव्यम्।**

उदा०-अश्रेणयः श्रेणयः कृता इति श्रेणिकृताः। अनेके एके कृता इति एककृताः।

श्रेणि। एक। पूग। कुण्ड। राशि। विशिख। निचय। निधान। इन्द्र। देव। मुण्ड। भूत। श्रवण। वदान्य। अध्यापक। ब्राह्मण। क्षत्रिय। पटु। पण्डित। कुशल। चपल। निपुण। कृपण। इति श्रेण्यादयः।

कृत। मित। मत। भूत। उक्त। समाज्ञात। समाम्नात। समाख्यात। सम्भावित। अवधारित। निराकृत। अवकल्पित। उपकृत। उपाकृत। इति कृतादयः।

आर्यभाषा-अर्थ-(श्रेण्यादयः) श्रेणि आदि सुबन्तों का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाले (कृतादिभिः) कृत आदि समर्थ सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है। श्रेणि आदि में च्वि-प्रत्यय के अर्थ (अभूततद्भाव) का कथन करना चाहिये।

उदा०-अश्रेणयः श्रेणयः कृता इति श्रेणिकृताः। जो पंक्तिबद्ध नहीं थे उन्हें पंक्तिबद्ध किया गया। अनेके एके कृता इति एककृताः। जो एक नहीं थे उन्हें एक किया गया।

सिद्धि-श्रेणिकृता। श्रेणि+जस्+कृत+जस्। श्रेणिकृत+जस्। श्रेणिकृताः। ऐसे ही- 'एककृताः' आदि।

अनञ्-

(१२) क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ्।६०।

प०वि०-क्तेन ३।१ नञ्-विशिष्टेन ३।१ अनञ् १।१।

स०-नञा एव विशिष्ट इति नञ्विशिष्टः, तेन-नञ्विशिष्टेन (तृतीयातत्पुरुषः)। न विद्यते नञ् यस्मिन् सः-अनञ् (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अनञ् क्तः सुप् नञ्विशिष्टेन क्तेन सुपा सह विभाषा समासः कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः-अनञ्=नञ्रहितं क्तान्तं सुबन्तं समानाधिकरणेन नञ्विशिष्टेन क्त-प्रत्ययान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते समासश्च कर्मधारयतत्पुरुषो भवति।

उदा०-कृतं च तद् अकृतमिति कृताकृतम्। भुक्तं च तद् अभुक्तमिति भुक्ताभुक्तम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनञ्) नञ्रहित क्त-प्रत्ययान्त सुबन्त का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाले (नञ्विशिष्टेन) केवल नञ् की विशेषतावाले (क्तेन) क्त-प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**कृतं च तद् अकृतमिति कृताकृतम्।** जो किया वह न किया हुआ-सा। **भुक्तं च तद् अभुक्तमिति भुक्ताभुक्तम्।** जो खाया वह न खाया हुआ-सा।*

*सिद्धि-कृताकृतम्। कृत+सु+अकृत+सु। कृताकृत+सु। कृताकृतम्। कृ+क्त। कृत+सु+कृतग्। ऐसे ही-**भुक्ताभुक्तम्।***

सहादयः-

(१३) सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः।६१।

प०वि०-सत्-महत्-परम-उत्तम-उत्कृष्टाः १।३ पूज्यमानैः ३।३।

स०-सत् च महत् च परमश्च उत्तमश्च उत्कृष्टश्च ते-सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-सन्०उत्कृष्टा सुपः समानाधिकरणैः पूज्यमानैः सुब्भिः सह विभाषा समासः कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः-सन्महत्परमोत्तमोत्तमत्कृष्टाः सुबन्ताः समानाधिकरणैः पूज्यमानवाचिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यन्ते समासश्च कर्मधारयतत्पुरुषो भवति।

उदा०-(सत्) सच्चासौ पुरुष इति सत्पुरुषः। (महत्) महाँश्चासौ पुरुष इति महापुरुषः। (परमः) परमश्चासौ पुरुष इति परमपुरुषः। (उत्तमः) उत्तमश्चासौ पुरुष इति उत्तमपुरुषः। (उत्कृष्टः) उत्कृष्टश्चासौ पुरुष इति उत्कृष्टपुरुषः।

आर्यभाषा-अर्थ-(सन्०उत्कृष्टाः) सत्, महत्, परम, उत्तम और उत्कृष्ट सुबन्तों का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाले (पूज्यमानैः) पूज्यमानवाची समर्थ सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

उदा०-(सत्) सच्चासौ पुरुष इति सत्पुरुषः। सज्जन। (महत्) महाँश्चासौ पुरुष इति महापुरुषः। महान् पुरुष। (परम) परमश्चासौ पुरुष इति परमपुरुषः। परमपुरुष=परमात्मा। (उत्तम) उत्तमश्चासौ पुरुष इति उत्तमपुरुषः। श्रेष्ठ पुरुष। (उत्कृष्ट) उत्कृष्टश्चासौ पुरुष इति उत्कृष्टपुरुषः। बढ़िया पुरुष।

सिद्धि-सत्पुरुषः। सत्+सु+पुरुष+सु। सत्पुरुष+सु। सत्पुरुषः। ऐसे ही-'महापुरुषः' आदि।

पूज्यमानम्-

(१४) वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम्।६२।

प०वि०-वृन्दारक-नाग-कुञ्जरैः ३।३ पूज्यमानम् १।१।

स०-वृन्दारकश्च नागश्च कुञ्जरश्च ते-वृन्दारकनागकुञ्जराः, तैः-वृन्दारकनागकुञ्जरैः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-पूज्यमानं सुप् समानाधिकरणैर्वृन्दारकनागकुञ्जरैः सुब्भिः सह विभाषा समासः कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः-पूज्यमानवाचि सुबन्तं समानाधिकरणैर्वृन्दारकनागकुञ्जरैः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, कर्मधारयतत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-(वृन्दारकः) गौश्चासौ वृन्दारक इति गोवृन्दारकः। अश्वश्चासौ वृन्दारक इति अश्ववृन्दारकः। (नागः) गौश्चासौ नाग इति गोनागः। अश्वश्चासौ नाग इति अश्वनागः। (कुञ्जरः) गौश्चासौ कुञ्जर इति गोकुञ्जरः। अश्वश्चासौ कुञ्जर इति अश्वकुञ्जरः।

आर्यभाषा-अर्थ-(पूज्यमानम्) पूज्यमानवाची सुबन्त का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाले (वृन्दारकनागकुञ्जरैः) वृन्दारक, नाग और कुञ्जर समर्थ सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

उदा०-(वृन्दारक) गौश्चासौ वृन्दारक इति गोवृन्दारकः। श्रेष्ठ बैल। अश्वश्चासौ वृन्दारक इति अश्ववृन्दारकः। श्रेष्ठ घोड़ा। (नाग) गौश्चासौ नाग इति गोनागः। श्रेष्ठ बैल। अश्वश्चासौ नाग इति अश्वनागः। श्रेष्ठ घोड़ा। (कुञ्जर) गौश्चासौ कुञ्जर इति गोकुञ्जरः। श्रेष्ठ बैल। अश्वश्चासौ कुञ्जर इति अश्वकुञ्जरः। श्रेष्ठ घोड़ा।

सिद्धि-गोवृन्दारकः । गो+सु+वृन्दारक+सु । गोवृन्दारक+सु । गोवृन्दारकः । ऐसे ही-अश्ववृन्दारकः' आदि ।

*विशेष-गौ शब्द जब पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होता है तब उसका अर्थ बैल और जब स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है तब उसका अर्थ गाय होता है। **अयं गौः ।** यह बैल। **इयं गौः ।** यह गाय।*

कतरकतमौ–

(१५) कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने ।६३।

प०वि०–कतर-कतमौ १।२ जातिपरिप्रश्ने ७।१।

स०–कतरश्च कतमश्च तौ–कतरकतमौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। जातेः परिप्रश्न इति जातिपरिप्रश्नः, तस्मिन्–जातिपरिप्रश्ने (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०–'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–जातिपरिप्रश्ने कतरकतमौ सुपौ समानाधिकरणेन सुपा सह विभाषा समासः कर्मधारयतत्पुरुषः ।

अर्थः–जातिपरिप्रश्नेऽर्थे वर्तमानौ कतरकतमौ सुबन्तौ समानाधि-करणवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्येते, समासश्च कर्मधारयतत्पुरुषो भवति ।

उदा०–(कतरः) कतरश्चासौ कठ इति कतरकठः । कतरश्चासौ कलाप इति कतरकलापः । (कतमः) कतमश्चासौ कठ इति कतमकठः । कतमश्चासौ कलाप इति कतमकलापः ।

आर्यभाषा-अर्थ-(जातिपरिप्रश्ने) जाति के पूछने अर्थ में (कतरकतमौ) कतर और कतम सुबन्त का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाची समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-(कतर) **कतरश्चासौ कठ इति कतरकठः ।** इन दोनों में कठ कौन-सा है। **कतरश्चासौ कलाप इति कतरकलापः ।** इन दोनों में कलाप कौन-सा है। **(कतम) कतमश्चासौ कठ इति कतमकठः ।** इन सब में कठ कौन-सा है। **कतमश्चासौ कलाप इति कतमकलापः ।** इन सब में कलाप कौन-सा है।*

*सिद्धि-**कतरकठः ।** कतर+सु+कठ+सु । कतरकठ+सु । कतरकठः । ऐसे ही 'कतमकठः' आदि ।*

किं शब्दः–

(१६) किं क्षेपे।६४।

प०वि०–किम् १।१ क्षेपे ७।१।

अनु०–'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–क्षेपे किं सुप् समानाधिकरणेन सुपा सह विभाषा समासः कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः–क्षेपेऽर्थे वर्तमानं किम् इति सुबन्तं समानाधिकरणवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते समासश्च कर्मधारयतत्पुरुषो भवति।

उदा०–कथंभूतः सखा इति किंसखा। किंसखा योऽभिद्रुह्यति। कथंभूतो राजा इति किंराजा। किं राजा यो न रक्षति प्रजाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(क्षेपे) निन्दा अर्थ में विद्यमान (किम्) किम् सुबन्त का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाची समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०–**कथंभूतः सखा इति किंसखा। किं सखा योऽभिद्रुह्यति।** वह क्या मित्र है जो विश्वासघात करता है। **कथंभूतो राजा इति किंराजा। किं राजा यो न रक्षति प्रजाः।** वह क्या राजा है जो प्रजा की रक्षा नहीं करता है।*

*सिद्धि-**किंसखा।** किम्+सखि+सु। किंसखि+सु। किंसखा।*

*यहां 'किमः क्षेपे' (५।४।७०) से निन्दा अर्थ में समासान्त टच् प्रत्यय का प्रतिषेध होता है। ऐसे ही–**किंराजा।***

जातिशब्दः–

(१७) पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्-वष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्तैर्जातिः।६५।

प०वि०–पोटा-युवति-स्तोक-कतिपय-गृष्टि-धेनु-वशा-वेहद्-वष्कयणी- प्रवक्तृ-श्रोत्रिय-अध्यापक-धूर्तैः ३।३ जातिः१।१।

स०–पोटा च युवतिश्च स्तोकश्च कतिपयं च गृष्टिश्च धेनुश्च वशा च वेहच्च वष्कयणी च प्रवक्ता च श्रोत्रियश्च अध्यापकश्च धूर्तश्च ते-पोटा०धूर्ताः, तैः-पोटा०धूर्तैः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-जातिः सुप् समानाधिकरणैः पोटा०धूर्तैः सुब्भिः सह विभाषा समासः कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः-जातिवाचि सुबन्तं समानाधिकरणैः पोटादिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, समासश्च कर्मधारयतत्पुरुषो भवति।

उदा०-(पोटा) इभा चेयं पोटा इति इभपोटा। (युवतिः) इभा चेयं युवतिरिति इभयुवतिः। (स्तोकः) अग्निश्चायं स्तोक इति अग्निस्तोकः। (कतिपयम्) उदश्विच्च तत् कतिपयमिति उदश्वित्कतिपयम्। (गृष्टिः) गौश्चेयं गृष्टिरिति गोगृष्टिः। (धेनुः) गौश्चेयं धेनुरिति गोधेनुः। (वशा) गौश्चेयं वशा इति गोवशा। (वेहत्) गौश्चेयं वेहद् इति गोवेहत्। (वष्कयणी) गौश्चेयं वष्कयणी इति गोवष्कयणी। (प्रवक्ता) कठश्चासौ प्रवक्ता इति कठप्रवक्ता। (श्रोत्रियः) कठश्चासौ श्रोत्रिय इति कठश्रोत्रियः। (अध्यापकः) कठश्चासावध्यापक इति कठाध्यापकः। (धूर्तः) कठश्चासौ धूर्त इति कठधूर्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(जातिः) जातिवाची सुबन्त का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाले (पोटा०धूर्तैः) पोटा, युवति, स्तोक, कतिपय, गृष्टि, धेनु, वशा, वेहत्, वष्कयणी, प्रवक्ता, श्रोत्रिय, अध्यापक और धूर्त समर्थ सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**(पोटा) इभा चेयं पोटा इति इभपोटा।** नपुंसक हथिनी। **(युवति) इभा चेयं युवतिरिति इभयुवतिः।** नौजवान हथिनी। **(स्तोक) अग्निश्चायं स्तोक इति अग्निस्तोकः।** थोड़ी-सी अग्नि। **(कतिपय) उदश्विच्च तत् कतिपयमिति उदश्वित् कतिपयम्।** कुछ लस्सी। **(गृष्टि) गौश्चेयं गृष्टिरिति गोगृष्टिः।** एक बार ब्याई गौ। **(धेनु) गौश्चेयं धेनुरिति गोधेनुः।** ताजा ब्याई गौ। **(वशा) गौश्चेयं वशा इति गोवशा।** वन्ध्या गौ। **(वेहत्) गौश्चेयं वेहद् इति गोवेहत्।** गर्भघातिनी गौ। **(वष्कयणी) गौश्चेयं वष्कयणी इति गोवष्कयणी।** बड़े बछड़ेवाली (बाखड़ी) गौ। **(प्रवक्ता) कठश्चासौ प्रवक्ता इति कठप्रवक्ता।** व्याख्याता कठ। **(श्रोत्रिय) कठश्चासौ श्रोत्रिय इति कठश्रोत्रियः।** वेदपाठी कठ। **(अध्यापक) कठश्चासावध्यापक इति कठाध्यापकः।** अध्यापक कठ। **(धूर्त) कठश्चासौ धूर्त इति कठधूर्तः।** धूर्त कठ। कठ एक मनुष्य जाति का नाम है।*

सिद्धि-इभपोटा। इभा+सु+पोटा+सु। इभपोटा+सु। इभपोटा।

यहां 'पुंवत् कर्मधारये' ६।३।४२) से इभा को पुंवद्भाव होता है। ऐसे ही 'इभयुवति' आदि।

जातिशब्दः-

(१८) प्रशंसावचनैश्च।६६।

प०वि०-प्रशंसावचनैः ३।३ च अव्ययम्।

अनु०-समानाधिकरणेन, जातिरिति चानुवर्तते।

अन्वयः-जाति सुप् समानाधिकरणैः प्रशंसावचनैः सुब्भिः सह विभाषा समासः कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः-जातिवाचि सुबन्तं समानाधिकरणैः प्रशंसावचनैः समर्थैः सह विकल्पेन समस्यते, समासश्च कर्मधारयतत्पुरुषो भवति।

उदा०-गौश्च तत् प्रकाण्डमिति गोप्रकाण्डम्। अश्वश्च तत् प्रकाण्डमिति अश्वप्रकाण्डम्। गौश्चेयं मतल्लिका इति गोमतल्लिका। अश्वश्चेयं मतल्लिका इति अश्वमतल्लिका। एवम् गोमचर्चिका। अश्वमचर्चिका।

अत्र रूढिशब्दाः प्रशंसावचना मतल्लिकादयो गृह्यन्ते। ते च विशिष्टलिङ्गत्वाद् अन्यलिङ्गेऽपि जातिशब्दे स्वलिङ्गोपादाना एव समानाधिकरणा भवन्ति।

आर्यभाषा-अर्थ-(जातिः) जातिवाची सुबन्त का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाले (प्रशंसावचनैः) प्रशंसावाची समर्थ सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**गौश्च तत् प्रकाण्डमिति गोप्रकाण्डम्।** प्रशंसनीय गाय। **अश्वश्च तत् प्रकाण्डमिति अश्वप्रकाण्डम्।** प्रशंसनीय घोडा। **गौश्चेयं मतल्लिका इति गोमतल्लिका।** प्रशंसनीय गाय। **अश्वश्चेयं मतल्लिका इति अश्वमतल्लिका।** प्रशंसनीय घोड़ा। इसी प्रकार-**गोमचर्चिका।** प्रशंसनीय गाय। **अश्वमचर्चिका।** प्रशंसनीय घोड़ा।*

यहां प्रशंसावाची मतल्लिका आदि रूढि शब्दों का ग्रहण किया जाता है। वे शब्द विशिष्ट लिङ्गवाले होने से, जातिवाची शब्द से भिन्न लिङ्गवाले होने पर भी अपने-अपने लिङ्गवाले रहकर भी समानाधिकरणवाची ही रहते हैं।

सिद्धि-गोप्रकाण्डम्। गो+सु+प्रकाण्ड+सु। गोप्रकाण्ड+सु। गोप्रकाण्डम्। ऐसे ही-'अश्वप्रकाण्डम्' आदि।

युवशब्दः-

(१६) युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः।६७।

प०वि०-युवा १।१ खलति-पलित-वलिन-जरतीभिः ३।३।

स०-खलतिश्च पलितश्च वलिनश्च जरती च ताः-खलति०जरत्यः, ताभिः-खलति०जरतीभिः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-युवा सुप् समानाधिकरणैः खलति०जरतीभिः सुब्भिः सह विभाषा समासः कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः-'युवा' इति सुबन्तं समानाधिकरणैः खलति-आदिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते समासश्च कर्मधारयतत्पुरुषो भवति।

उदा०-(खलतिः) युवा चासौ खलतिरिति युवखलतिः। (पलितः) युवा चासौ पलित इति युवपलितः। (वलिनः) युवा चासौ वलिन इति युववलिनः। (जरती) युवतिश्चासौ जरती इति युवजरती।

आर्यभाषा-अर्थ-(युवा) 'युवा' इस सुबन्त का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाले (खलति०जरतीभिः) खलति, पलित, वलिन और जरती सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उस समास की (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**(खलति) युवा चासौ खलतिरिति युवखलतिः।** गंजा युवक। **(पलित) युवा चासौ पलित इति युवपलितः।** सफेद बालोंवाला युवक। **(वलिन) युवा चासौ वलिन इति युववलिनः।** झुरियोंवाला युवक। **(जरती) युवतिश्चासौ जरती इति युवजरती।** बूढ़ी युवति।*

*सिद्धि-(१) **युवखलतिः।** युवन्+सु+खलति+सु। युवखलति+सु। युवखलतिः। यहां 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) से न का लोप हो जाता है।*

*(२) **युवजरती।** युवति+सु+जरती+सु। युवन्+जरती+सु। युवजरती+सु। युवजरती। यहां **'पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु'** (६।३।४२) से **'युवति'** को पुंवद्भाव होता है। ऐसे ही-**'युवपलितः'** आदि।*

कृत्यास्तुल्यवाचिनश्च–

(२०) कृत्यतुल्याख्या अजात्या।६८।

प०वि०–कृत्य-तुल्याख्याः १।३ अजात्या ३।१

स०–तुल्यमाचक्षत इति तुल्याख्याः। कृत्याश्च तुल्याख्याश्च ते कृत्यतुल्याख्याः (उपपदगर्भितेतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–कृत्यतुल्याख्याः सुपः समानाधिकरणेनाऽजात्या सुपा सह विभाषा समासः कर्मधारयः।

अर्थः–कृत्यप्रत्ययान्ताः, तुल्यवाचिनश्च सुबन्ताः समानाधिकरणेनाऽ-जातिवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते समासश्च कर्मधारयतत्पुरुषो भवति।

उदा०–(कृत्याः) भोज्यं च तदुष्णमिति भोज्योष्णम्। पानीयं च तच्छीतमिति पानीयशीतम्। तुल्याख्याः–तुल्यश्चासौ श्वेत इति तुल्यश्वेतः। तुल्यश्चासौ महानिति तुल्यमहान्। सदृशश्चासौ श्वेत इति सदृशश्वेतः। सदृशश्चासौ महानिति सदृशमहान्।

आर्यभाषा-अर्थ–(कृत्यतुल्याख्याः) कृत्य-प्रत्ययान्त और तुल्यवाची सुबन्तों का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाले (अजात्या) अजातिवाची समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०–(कृत्य) **भोज्यं च तदुष्णमिति भोज्योष्णम्।** गर्म खाना। **पानीयं च तच्छीतमिति पानीयशीतम्।** ठण्डा पानी। तुल्याख्या–**तुल्यश्चासौ श्वेत इति तुल्यश्वेतः।** समान सफेद। **तुल्यश्चासौ महानिति तुल्यमहान्।** समान महान्। **सदृशश्चासौ श्वेत इति सदृशश्वेतः।** समान सफेद। **सदृशश्चासौ महानिति सदृशमहान्।** समान महान्।*

*सिद्धि–(१) **भोज्योष्णम्।** भुज्+ण्यत्। भोज्+य। भोज्य+सु। भोज्यम्। भोज्य+सु+उष्ण+सु। भोज्योष्ण+सु। भोज्योष्णम्।*

*यहां प्रथम **'भुज पालनाभ्यवहारयोः'** (रुधा०आ०) भुज धातु से **'ऋहलोर्ण्यत्'** (३।१।१२४) से ण्यत् कृत्य-प्रत्यय है, तत्पश्चात् कृत्य-प्रत्ययान्त भुज्य शब्द का अजातिवाची (गुणवाची) उष्ण शब्द के साथ कर्मधारय समास है।*

*(२) **पानीयशीतम्।** पा+अनीयर्। पा+अनीय। पानीय+सु। पानीयम्। पानीय+सु+शीत+सु। पानीयशीत+सु। पानीयशीतम्।*

*यहां **'पा पाने'** (भ्वा०प०) धातु से **'तव्यत्तव्यानीयरः'** (३।२।९६) से अनीयर् कृत्य-प्रत्यय है। तत्पश्चात् कृत्य-प्रत्ययान्त पानीय शब्द का अजातिवाची शीत शब्द के साथ कर्मधारय समास है।*

वर्णवाची–

(२१) वर्णो वर्णेन।६६।

प०वि-वर्णः १।१ वर्णेन ३।१।

अनु०-'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-वर्णः सुप् समानाधिकरणेन वर्णेन सुपा सह विभाषा समासः कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः-वर्णविशेषवाचि सुबन्तं समानाधिकरणेन वर्णविशेषवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते समासश्च कर्मधारयतत्पुरुषो भवति।

उदा०-कृष्णश्चासौ सारङ्ग इति कृष्णसारङ्गः। लोहितश्चासौ सारङ्ग इति लोहितसारङ्गः। एवम्-कृष्णशबलः। लोहितशबलः।

आर्यभाषा-अर्थ-(वर्णः) रंगविशेषवाची सुबन्त का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाले (वर्णेन) रंग विशेषवाची समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**कृष्णश्चासौ सारङ्ग इति कृष्णसारङ्गः।** काला और चितकबरा। **लोहितश्चासौ सारङ्ग इति लोहितसारङ्गः।** लाल और चितकबरा। इसी प्रकार-**कृष्णशबलः।** काला और रंग-बिरंगा। **लोहितशबलः।** लाल और रंगबिरंगा।*

कुमारशब्दः–

(२२) कुमारः श्रमणादिभिः।७०।

प०वि०-कुमारः १।१ श्रमणा-आदिभिः ३।३।

स०-श्रमणा आदिर्येषां ते श्रमणादयः, तैः-श्रमणादिभिः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'समानाधिकरणेन' **इत्यनुवर्तते।**

अन्वयः-कुमारः सुप् समानाधिकरणैः श्रमणादिभिः सुब्भिः सह विभाषा समासः कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः-'कुमार' इति सुबन्तं समानाधिकरणैः श्रमणादिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते समासश्च कर्मधारयतत्पुरुषो भवति।

उदा०-कुमारी चासौ श्रमणा इति कुमारश्रमणा। कुमारी चासौ प्रव्रजिता इति कुमारप्रव्रजिता।

येऽत्र श्रमणाऽऽदिषु स्त्रीलिङ्गाः शब्दाः पठ्यन्ते तैः सह कुमारशब्दः स्त्रीलिङ्ग एव समस्यते, ये चाध्यापकादयः पुंलिङ्गशब्दाः पठ्यन्ते तैः सह कुमारशब्दः पुंलिङ्ग एव समस्यते।

श्रमणा। प्रव्रजिता। कुलटा। गर्भिणी। तापसी। दासी। बन्धकी। अध्यापक। अभिरूप। पण्डित। पटु। मृदु। कुशल। चपल। निपुण। इति श्रमणादयः।

आर्यभाषा-अर्थ-(कुमारः) कुमार सुबन्त का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाले (श्रमणाऽऽदिभिः) श्रमणा आदि समर्थ सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**कुमारी चासौ श्रमणा इति कुमारश्रमणा।** तपस्विनी कुमारी। **कुमारी चासौ प्रव्रजिता इति कुमारप्रव्रजिता।** संन्यासिनी कुमारी।*

जो यहां श्रमणा आदि गण में स्त्रीलिङ्ग शब्द पढ़े हैं उनके साथ कुमार शब्द का स्त्रीलिङ्ग (कुमारी) में समास होता है और जो अध्यापक आदि पुंलिङ्ग शब्द पढ़े हैं उनके साथ पुंलिङ्ग कुमार शब्द का समास होता है।

*सिद्धि-**कुमारश्रमणा।** कुमारी+सु+श्रमणा+सु। कुमारश्रमणा+सु। कुमारश्रमणा।*

*यहां '**पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु**' (६।३।४२) से कुमारी शब्द का पुंवद्भाव होता है। ऐसे ही-'**कुमारप्रव्रजिता**' आदि।*

चतुष्पाद्वाचिनः-

(२३) चतुष्पादो गर्भिण्या।७१।

प०वि०-चतुष्पादः १।३ गर्भिण्या ३।१।

स०-चत्वारः पादा यासां ताः-चतुष्पादः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-'समानाधिकरणेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-चतुष्पादः सुपः समानाधिकरणेन गर्भिण्या सुपा सह विभाषा समासः कर्मधारयतत्पुरुषः।

अर्थः-चतुष्पाद्वाचिनः सुबन्ताः समानाधिकरणेन गर्भिणीशब्देन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते, समासश्च कर्मधारयतत्पुरुषो भवति।

उदा०-गौश्चासौ गर्भिणी इति गोगर्भिणी। अजा चासौ गर्भिणी इति अजगर्भिणी।

*आर्यभाषा-अर्थ-(चतुष्पादः) चतुष्पाद्वाची सुबन्तों का (समानाधिकरणेन) समान अधिकरणवाले (गर्भिणी) समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है **और** उसकी (तत्पुरुषः) कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।*

*उदा०-**गौश्चासौ गर्भिणी इति गोगर्भिणी।** गर्भिणी गाय। **अजा चासौ गर्भिणी इति अजगर्भिणी।** गर्भिणी बकरी।*

*सिद्धि-**गोगर्भिणी।** गो+सु+गर्भिणी+सु। गोगर्भिणी+सु। गोगर्भिणी। ऐसे ही-**अजगर्भिणी।** यहां पूर्ववत् (६।३।४२) से पुंवद्भाव होता है।*

मयुरव्यंसकाः-

मयूरव्यंसकादयश्च।७२।

प०वि०-मयूरव्यंसकादयः १।३ च अव्ययम्।

स०-मयूरव्यंसक आदिर्येषां ते मयूरव्यंसकादयः (बहुव्रीहिः)।

अर्थः-मयूरव्यंसकादयः समुदाया एव निपात्यन्ते, कर्मधारयतत्पुरुष-संज्ञकाश्च ते भवन्ति।

उदा०-मयूरव्यंसकः। छात्रव्यंसकः, इत्यादिकम्।

मयूरव्यंसकः। छात्रव्यंसकः। काम्बोजमुण्डः। यवनमुण्डः। छन्दसि-हस्तेगृह्य। पादेगृह्य। लाङ्गूलेगृह्य। पुनर्दाय। एहीडादयोऽन्यपदार्थे-एहीडम्। एहियवं वर्तते। एहिवाणिजा क्रिया। अपेहिवाणिजा। प्रेहिवाणिजा। एहिस्वागता। अपेहिस्वागता। प्रेहिस्वागता। एहिद्वितीया। अपेहिद्वितीया। प्रोहकटा। अपोहकटा। प्रोहकर्दमा। अपोहकर्दमा। उद्धरचूडा। आहरचेला।

आहरवसना। आहरवनिता। कृन्ततिचक्षणा। उद्धरोत्सृजा। उद्धमविधमा। उत्पचविपचा। उत्पतनिपता। उच्चावचम्। उच्चनीचम्। अपचितोपचितम्। अवचितपराचितम्। निश्चप्रचम्। अकिंचनम्। स्नात्वाकालक:। पीत्वास्थिरक:। भुक्त्वासुहित:। प्रोष्यपापीयान्। उत्पत्यव्याकुला। विपत्यरोहिणी। निषण्णश्यामा। अपेहिप्रधस:। इहपञ्चमी। इहद्वितीया। जहि कर्मणा बहुलमभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति-जहिजोड:। उज्जहिजोड:। जहीस्तम्ब:। उज्जहिस्तम्ब। आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये-अश्नीतपिबता। पचतभृज्जता। खादतमोदता। खादताचमता। आहरनिवपा। आवपनिष्किरा। उत्पचविपचा। भिन्द्धिलवणा। छिन्द्धिविचक्षणा। पचलवणा। पचप्रकूटा। इति मयूरव्यंसकादय:। अविहितलक्षणस्तत्पुरुषो मयूरव्यंसकादिषु द्रष्टव्य:।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(मयूरव्यंसकादय:) मयूरव्यंसक आदि समुदाय (च) ही निपातित किये जाते हैं और उनकी कर्मधारयतत्पुरुष संज्ञा होती है।

उदा०-__मयूरव्यंसक:__। मोर के समान चतुर। __छात्रव्यंसक:__। विद्यार्थी के समान चतुर।

__सिद्धि-मयूरव्यंसक:__। मयूर+सु+व्यंसक+सु। मयूरव्यंसक+सु। मयूरव्यंसक:। ऐसे ही- 'छात्रव्यंसक:' आदि।

इति पण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचने द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः।

द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः

तत्पुरुषः

पूर्वादयः–

(१) पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे।१।

प०वि०–पूर्व-अपर-अधर-उत्तरम् १।१। एकदेशिना ३।१ एकाधिकरणे ७।१।

स०–पूर्वं च अपरं च अधरं च उत्तरं च एतेषां समाहारः–पूर्वापराधरोत्तरम् (समाहारद्वन्द्वः)। एकदेशोऽस्यास्तीति एकदेशी, तेन-एकदेशिना (तद्धितवृत्तिः)। एकं च तदधिकरणमिति एकाधिकरणम्, तस्मिन्-एकाधिकरणे (कर्मधारयतत्पुरुषः)।

अन्वयः–पूर्वापराधरोत्तरं सुब् एकदेशिना सुपा सह विभाषा समास एकाधिकरणे तत्पुरुषः।

अर्थः–अवयववाचि पूर्वापराधरोत्तरं सुबन्तम् एकदेशिना=अवयविवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, एकाधिकरणे=एकद्रव्येऽभिधेये, तत्पुरुषश्च समासो भवति। षष्ठीतत्पुरुषापवादः।

उदा०–(पूर्वम्) पूर्वं कायस्येति पूर्वकायः। (अपरम्) अपरं कायस्येति अपरकायः। (अधरम्) अधरं कायस्येति अधरकायः। (उत्तरम्) उत्तरं कायस्येति उत्तरकायः।

__आर्यभाषा–अर्थ__–(पूर्वापराधरोत्तरम्) अवयववाची पूर्व, अपर, अधर और उत्तर सुबन्त का (एकदेशिना) अवयववाची समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है (एकाधिकरणे) यदि एकद्रव्य का कथन करना हो और उस समास की (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है। यह षष्ठीतत्पुरुष समास का अपवाद है।

उदा०–__(पूर्व) पूर्वं कायस्येति पूर्वकायः।__ शरीर का पूर्व भाग। __(अपर) अपरं कायस्येति अपरकायः।__ शरीर का पश्चिम भाग। __(अधर) अधरं कायस्येति अधरकायः।__

*शरीर का नीचे का भाग। (उत्तर) **उत्तरं कायस्येति उत्तरकायः।** शरीर का ऊपर का भाग।*

*सिद्धि-**पूर्वकायः।** पूर्व+सु+काय+ङस्। पूर्व+काय+सु। पूर्वकायः। ऐसे ही-**'अपरकायः'** आदि।*

विशेषः-यहां पूर्व आदि शब्द अवयववाची हैं और काय=शरीर अवयववाची है, उन दोनों का समास किया गया है। दोनों का एक अधिकरण=द्रव्यवाच्य काय= शरीर है।

अर्ध शब्दः-

(२) अर्धं नपुंसकम्।२।

प०वि०-अर्धम् १।१ नपुंसकम् १।१।

अनु०-एकदेशिना, एकाधिकरणे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-नपुंसकम् अर्धं सुब् एकदेशिना सुपा सह विभाषा समास एकाधिकरणे तत्पुरुषः।

अर्थः-नपुंसकलिङ्गे वर्तमानमवयववाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, एकाधिकरणे=एकद्रव्येऽभिधेये, तत्पुरुषश्च समासो भवति। षष्ठीतत्पुरुषापवादः।

उदा०-अर्धम्-अर्धं पिप्पल्या इति अर्धपिप्पली। अर्धं कोशातक्या इति अर्धकाशातकी।

आर्यभाषा-अर्थ-(नपुंसकम्) नपुंसकलिङ्ग में विद्यमान अवयववाची (अर्धम्) अर्ध सुबन्त का (एकदेशिना) अवयववाची समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है (एकाधिकरणे) यदि एक अधिकरण=द्रव्य का कथन करना हो और उस समास की (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है। यह षष्ठीतत्पुरुष समास का अपवाद है।

*उदा०-अर्ध-**अर्धं पिप्पल्या इति अर्धपिप्पली।** छोटी पीपल का आधा भाग। **अर्धं कोशातक्या इति अर्धकोशातकी।** तोरी का आधा भाग।*

*सिद्धि-**अर्धपिप्पली।** अर्ध+सु+पिप्पली+ङस्। अर्धपिप्पली+सु। अर्धपिप्पली।*

यहां नपुंसक अर्ध शब्द का एकदेशवाची पिप्पली शब्द के साथ तत्पुरुष समास है।

द्वितीयादीनां विकल्पः–

(३) द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम्।३।

प०वि०–द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-तुर्याणि १।३ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

स०:–द्वितीयं च तृतीयं च चतुर्थं च तुर्यं च तानि द्वितीयतृतीय-चतुर्थतुर्याणि (इतरेतरद्वन्द्वः)।

अनु०–एकदेशिना, एकाधिकरणे इति चानुवर्तते।

अन्वयः–द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याणि सुपोऽन्यतरस्याम् एकदेशिना सुपा सह विभाषा समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः–अवयववाचीनि द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याणि सुबन्तानि अन्यतरस्याम् एकदेशिना=अवयविना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते, समासश्च तत्पुरुषो भवति। षष्ठीतत्पुरुषापवादः। अन्यतरस्यां ग्रहणात् पक्षे सोऽपि भवति। विभाषाधिकाराच्च पक्षे विग्रहोऽपि भवति।

उदा०–**द्वितीयम्**–द्वितीयं भिक्षाया इति द्वितीयभिक्षा, भिक्षाद्वितीयं वा। तृतीयम्–तृतीयं भिक्षाया इति तृतीयभिक्षा, भिक्षातृतीयं वा। चतुर्थम्–चतुर्थं भिक्षाया इति चतुर्थभिक्षा, भिक्षाचतुर्थं वा। तुर्यम्–तुर्यं भिक्षाया इति तुर्यभिक्षा, भिक्षातुर्यं वा।

__आर्यभाषा-अर्थ__–(द्वितीय०तुर्याणि) अवयववाची द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और तुर्य सुबन्तों का (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (एकदेशिना) अवयवी समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है। यह षष्ठीतत्पुरुष समास का अपवाद है। (अन्यतरस्याम्) के ग्रहण से पक्ष में षष्ठी समास भी होता है। विभाषा का अधिकार होने से पक्ष में विग्रह वाक्य भी होता है।

*उदा०–**(द्वितीय) द्वितीयं भिक्षाया इति द्वितीयभिक्षा, भिक्षाद्वितीयं वा।** भिक्षा का दूसरा भाग। **(तृतीय) तृतीयं भिक्षाया इति तृतीयभिक्षा, भिक्षातृतीयं वा।** भिक्षा का तीसरा भाग। **(चतुर्थ) चतुर्थं भिक्षाया इति चतुर्थभिक्षा, भिक्षाचतुर्थं वा।** भिक्षा का चौथा भाग। **(तुर्य) तुर्यं भिक्षाया इति तुर्यभिक्षा, भिक्षातुर्यं वा।** भिक्षा का चौथा भाग।*

__सिद्धि-द्वितीयभिक्षा।__ द्वितीय+सु+भिक्षा+ङस्। द्वितीयभिक्षा+सु। __द्वितीयभिक्षा।__ भिक्षाद्वितीयम्। भिक्षा+ङस्+द्वितीय+सु। भिक्षाद्वितीय+सु। भिक्षाद्वितीयम्। __ऐसे ही-भिक्षातृतीयम्__ आदि।

विशेष-प्राचीनकाल में ब्रह्मचारी भिक्षावृत्ति करते थे और उस भिक्षा को लाकर अपने आचार्य को सौंप देते थे। आचार्य उस भिक्षा में से अपने लिये रखकर शेष भिक्षा उन ब्रह्मचारियों में बांट देता था। उस अवस्था में 'द्वितीयभिक्षा' आदि पदों का व्यवहार किया जाता था।

प्राप्तापन्नयोर्विकल्पः-

प्राप्तापन्ने च द्वितीयया।४।

प०वि०-प्राप्ता-आपन्ने १।२ अ १।१, च अव्ययपदम्, द्वितीयया ३।१।

स०-प्राप्ता च आपन्ना च ते प्राप्तापन्ने (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'अन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्तते।

अर्थः-प्राप्तापन्ने सुबन्ते अन्यतरस्यां द्वितीयान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्येते, प्राप्तापन्नयोश्चाऽकारादेशो भवति। समासश्च तत्पुरुषो भवति। द्वितीयातत्पुरुषापवादः। अन्यतरस्यां ग्रहणात् सोऽपि भवति।

उदा०-प्राप्ता-प्राप्ता जीविकामिति प्राप्तजीविका, जीविकाप्राप्ता वा। आपन्ना-आपन्ना जीविकामिति आपन्नजीविका, जीविकापन्ना वा।

***आर्यभाषा-अर्थ**-(प्राप्तापन्ने) प्राप्ता और आपन्ना सुबन्त का (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (द्वितीयया) द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है (अ च) और प्राप्ता तथा आपन्ना के आ को अकारादेश होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है। यह द्वितीया तत्पुरुष समास का अपवाद है। **'अन्यतरस्याम्'** वचन से द्वितीया तत्पुरुष समास भी होता है। विभाषा का अधिकार होने से पक्ष में विग्रह वाक्य भी होता है।*

*उदा०-**प्राप्ता जीविकामिति प्राप्तजीविका, जीविकाप्राप्ता वा।** जीविका को प्राप्त हुई नारी। **आपन्ना-आपन्ना जीविकामिति आपन्नजीविका, जीविकापन्ना वा।** जीविका को प्राप्त हुई नारी।*

सिद्धि-प्राप्तजीविका।** प्राप्ता+सु+जीविका+अम्। प्राप्त+जीविका+सु। **प्राप्तजीविका।** जीविकाप्राप्ता। जीविका+अम्+प्राप्ता+सु। जीविकाप्राप्त+सु। **जीविकाप्राप्ता।

कालवाचिनः–

(४) कालाः परिमाणिना ।५।

प०वि०–कालाः १ ।३ परिमाणिना ३ ।१ ।

परिमाणमस्यास्तीति परिमाणी, तेन-परिमाणिना (तद्धितवृत्तिः) ।

अर्थः–परिमाणवचनाः कालवाचिनः सुबन्ताः परिमाणिवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । षष्ठीतत्पुरुषापवादः ।

उदा०–मासो जातस्येति मासजातः । संवत्सरो जातस्येति संवत्सरजातः । एवम्-द्व्यहजातः । त्र्यहजातः ।

आर्यभाषा-अर्थ-(कालाः) परिमाण के वाचक कालवाची सुबन्तों का (परिमाणिना) परिमाणवालें समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है। यह षष्ठीतत्पुरुष समास का अपवाद है।

*उदा०-**मासो जातस्येति मासजातः ।** जिसे पैदा हुये एक मास हुआ है। **संवत्सरो जातस्येति संवत्सरजातः ।** जिसे पैदा हुये एक वर्ष हुआ है। इसी प्रकार-**द्व्यहजातः ।** दो दिन का पैदा हुआ। **त्र्यहजातः ।** तीन दिन का पैदा हुआ।*

*सिद्धि-**मासजातः ।** मास+सु+जात+ङस् । मासजात+सु । मासजातः ।*

नञ् शब्दः–

(५) नञ् ।६।

वि०–नञ् अव्ययपदम् ।

अर्थः–नञ् इत्यव्ययं सुबन्तं समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ।

उदा०–न ब्राह्मण इति अब्राह्मणः । न वृषल इति अवृषलः ।

आर्यभाषा-अर्थ-(नञ्) नञ् इस अव्यय सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**न ब्राह्मण इति अब्राह्मणः ।** जो ब्राह्मण नहीं है। **न वृषल इति अवृषलः ।** जो वृषल=नीच नहीं है।*

*सिद्धि-**अब्राह्मणः ।** नञ्+सु+ब्राह्मण+सु । न+ब्राह्मण । अ+ब्राह्मण । अब्राह्मण+सु । अब्राह्मणः ।*

*यहां **'नलोपो नञः'** (६ ।३ ।७३) से नञ् के न् का लोप हो जाता है और उसका 'अ' शेष रहता है।*

ईषत्-शब्दः–

(६) ईषदकृता।७।

प०वि०–ईषत् अव्ययपदम्। अकृता ३।१।

स०–न कृत् इति अकृत्, तेन–अकृता (नञ्तत्पुरुषः)।

अर्थः–ईषद् इत्यव्ययं सुबन्तं अकृत्प्रत्ययान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। गुणवचनेन सहायं समास इष्यते।

उदा०–ईषच्चासौ कडार इति ईषत्कडारः। ईषच्चासौ पिङ्गल इति ईषत्पिङ्गलः।

आर्यभाषा–अर्थ–(ईषत्) ईषत् इस अव्यय सुबन्त का (अकृता) कृत्-प्रत्ययान्त से भिन्न समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है। यह समास गुणवाची सुबन्त के साथ इष्ट है।

*उदा०–**ईषच्चासौ कडार इति ईषत्कडारः।** थोड़ा भूरा। **ईषच्चासौ पिङ्गल इति ईषत्पिङ्गलः।** थोड़ा भूरा।*

*सिद्धि–**ईषत्कडारः।** ईषत्+सु+कडार+सु। ईषत्कडार+सु। ईषत्कडारः।*

षष्ठी-तत्पुरुषः–

(१) षष्ठी।८।

वि०–षष्ठी १।१।

अर्थः–षष्ठ्यन्तं सुबन्तं समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०–राज्ञः पुरुष इति राजपुरुषः। ब्राह्मणस्य कम्बल इति ब्राह्मणकम्बलः।

आर्यभाषा–अर्थ–(षष्ठी) षष्ठी-अन्त सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०–**राज्ञः पुरुष इति राजपुरुषः।** राजा का पुरुष, सिपाही आदि। **ब्राह्मणस्य कम्बल इति ब्राह्मणकम्बलः।** ब्राह्मण का कम्बल, जो दक्षिणा में देना है।*

सिद्धि-राजपुरुषः। राजन्+ङस्+पुरुष+सु। राजन्+पुरुष। राजपुरुष+सु। राजपुरुषः।

यहां 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) से राजन् पद के न का लोप होता है।

षष्ठीतत्पुरुषः—

(२) याजकादिभिश्च।६।

प०वि०–याजक-आदिभिः ३।३ च अव्ययम्।

स०–याजक आदिर्येषां ते याजकादयः, तैः-याजकादिभिः (बहुव्रीहिः)।

अनु०–'षष्ठी' इत्यनुवर्तते।

अर्थः–षष्ठ्यन्तं सुबन्तं याजकादिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०–ब्राह्मणस्य याजक इति ब्राह्मणयाजकः। कृष्णस्य पूजक इति कृष्णपूजकः।

याजक। पूजक। परिचायक। परिषेचक। परिवेषक। स्नातक। अध्यापक। उत्सादक। उद्वर्तक। हर्तृ। वर्तक। होतृ। पोतृ। भर्तृ। रथगणक। पत्तिगणक। इति याजकादयः।

आर्यभाषा-अर्थः-(षष्ठी) षष्ठी-अन्त सुबन्त का (याजकादिभिः) याजक आदि समर्थ सुबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**ब्राह्मणस्य याजक इति ब्राह्मणयाजकः।** ब्राह्मण का यज्ञ करानेवाला ऋत्विक्। **कृष्णस्य पूजक इति कृष्णपूजकः।** कृष्ण की पूजा करनेवाला अर्जुन।*

षष्ठीतत्पुरुषप्रतिषेधः

षष्ठी (निर्धारणे)—

(३) न निर्धारणे।१०।

प०वि०–न अव्ययपदम्, निर्धारणे ७।१।

अनु०–'षष्ठी' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–निर्धारणे षष्ठी सुप् सुपा सह न समासः।

अर्थः-निधारणेऽर्थे वर्तमानं षष्ठ्यन्तं सुबन्तं समर्थेन सुबन्तेन सह न समस्यते। जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम्।

उदा०-(जातिः) क्षत्रियो मनुष्याणां शूरतमः। (गुणः) कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा। (क्रिया) धावन्नध्वगानां शीघ्रतमः।

आर्यभाषा-अर्थ-(निधारणे) निर्धारण अर्थ में वर्तमान (षष्ठी) षष्ठी-अन्त सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास (न) नहीं होता है। जाति गुण और क्रिया के कारण समूह से एक भाग को पृथक् करना निर्धारण कहाता है।

*उदा०-**(जाति) क्षत्रियो मनुष्याणां शूरतमः।** मनुष्यों में क्षत्रिय अधिक शूर होता है। **(गुण) कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा।** गौओं में काली गाय अधिक दूध देनेवाली होती है। **(क्रिया) धावन्नध्वगानां शीघ्रतमः।** मार्ग चलनेवालों में दौड़नेवाला शीघ्रगामी होता है।*

***सिद्धि-मनुष्याणां शूरतमः।** यहां निर्धारण अर्थ में षष्ठ्यन्त सुबन्त का समास नहीं हुआ। यहां **'यतश्च निर्धारणम्'** (२।२।४१) से निर्धारण में षष्ठी विभक्ति होती है।*

षष्ठी (पूरणादिभिः)-

(४) पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन।११।

प०वि०- पूरण-गुण-सुहितार्थ-सत्-अव्यय-तव्य-समानाधि-करणेन ३।१।

स०-पूरणं च गुणश्च सुहितार्थश्च सत् च अव्ययं च तव्यश्च समानाधिकरणं च एतेषां समाहारः पूरण०समानाधिकरणम्, तेन-पूरण०समानाधिकरणेन (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-षष्ठी न इति चानुवर्तते।

अन्वयः-षष्ठी सुप् पूरण०समानाधिकरणेन सुपा सह न समासः।

अर्थः-षष्ठ्यन्तं सुबन्तं पूरण०समानाधिकरणेन समर्थेन सुबन्तेन सह न समस्यते।

उदा०-(पूरणम्) छात्राणां पञ्चमः। छात्राणां दशमः। (गुणः) बलाकायाः शौक्ल्यम्। काकस्य कार्ष्ण्यम्। (सुहितार्थः=तृप्तार्थः) फलानां

सुहितः। फलानां तृप्तः। (सत्=शतृ-शानचौ) शतृ-ब्राह्मणस्य कुर्वन्। शानच्-ब्राह्मणस्य कुर्वाणः। (अव्ययम्) ब्राह्मणस्य कृत्वा। ब्राह्मणस्य हृत्वा। (तव्यः) ब्राह्मणस्य कर्त्तव्यम्। (समानाधिकरणम्) शुकस्य माराविदस्य। राज्ञः पाटलिपुत्रस्य। पाणिनेः सूत्रकारस्य।

आर्यभाषा-अर्थ-(षष्ठी) षष्ठी-अन्त सुबन्त का (पूरण०समानाधिकरणेन) पूरण-प्रत्ययान्त, गुणवाची, सुहित=तृप्तार्थक, सत्=शतृ और शानच् प्रत्ययान्त, अव्यय और समानाधिकरणवाची समर्थ सुबन्त के साथ समास (न) नहीं होता है।

उदा०-(पूरण-प्रत्ययान्त) ***छात्राणां पञ्चमः।*** *छात्रों में पांचवां।* ***छात्राणां दशमः।*** *छात्रों में दशवां। गुणवाची-* ***बलाकायाः शौक्ल्यम्।*** *बगुली का सफेदपन।* ***काकस्य कार्ष्ण्यम्।*** *कौवे का कालापन। (सुहितार्थ-तृप्तार्थ)* ***फलानां सुहितः।*** *फलों से तृप्त है।* ***फलानां तृप्तः।*** *फलों से तृप्त है। (सत्=शतृ-शानच्) शतृ-* ***ब्राह्मणस्य कुर्वन्।*** *ब्राह्मण का कार्य करता हुआ। शानच्-* ***ब्राह्मणस्य कुर्वाणः।*** *ब्राह्मण का कार्य करता हुआ। (अव्यय)* ***ब्राह्मणस्य कृत्वा।*** *ब्राह्मण का कार्य करके।* ***ब्राह्मणस्य हृत्वा।*** *ब्राह्मण का धन हरण करके। तव्य-* ***ब्राह्मणस्य कर्त्तव्यम्।*** *ब्राह्मण का कर्त्तव्य। (समानाधिकरण)* ***शुकस्य माराविदस्य।*** *माराविद नामक तोते का।* ***राज्ञः पाटलिपुत्रस्य।*** *पाटलिपुत्र (पटना) के राजा का।* ***पाणिनेः सूत्रकारस्य।*** *सूत्रकार पाणिनि का।*

विशेष-(१) 'तस्य पूरणे डट्' (५।२।४८) यहां पूरण अर्थ में डट् आदि प्रत्ययों का विधान किया गया है।

(२) सत्- 'तौ सत्' (३।२।१२७) से शतृ और शानच् प्रत्यय की सत् संज्ञा की गई है।

षष्ठी (क्तेन)-

(५) क्तेन च पूजायाम्।१२।

प०वि०-क्तेन ३।१ च अव्ययपदम्, पूजायाम् ७।१।

अनु०-षष्ठी, न इति चानुवर्तते।

अन्वयः-षष्ठी सुप् पूजायां क्तेन सुपा सह च न समासः।

अर्थः-षष्ठ्यन्तं सुबन्तं पूजायामर्थे वर्तमानेन क्त-प्रत्ययान्तेन समर्थेन सुबन्तेन च सह न समस्यते।

उदा०-राज्ञां मतो देवदत्तः। राज्ञां बुद्धो यज्ञदत्तः। राज्ञां पूजितो ब्रह्मदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(षष्ठी) षष्ठी-अन्त सुबन्त का (पूजायाम्) पूजा अर्थ में वर्तमान (क्तेन) क्त-प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ (च) भी समास नहीं होता है।

*उदा०-**राज्ञां मतो देवदत्तः।** देवदत्त राजाओं के द्वारा सम्मानित है। **राज्ञां बुद्धो यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त राजाओं के द्वारा संज्ञात है। **राज्ञां पूजितो ब्रह्मदत्तः।** ब्रह्मदत्त राजाओं के द्वारा पूजित है।*

*सिद्धि-**राज्ञां मतो देवदत्तः।** यहां **'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च'** (३।२।१८८) से वर्तमानकाल में पूजा अर्थ में क्त प्रत्यय है। **'क्तस्य च वर्तमाने'** (२।३।६७) से वर्तमानकाल में विहित क्त-प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति होती है। प्रकृत सूत्र से उक्त षष्ठीविभक्ति के समास का प्रतिषेध किया गया है। ऐसे ही-**राज्ञां बुद्धः, राज्ञां पूजितः।***

षष्ठी (अधिकरणवाचिना)-

(६) अधिकरणवाचिना च।१३।

प०वि०-अधिकरणवाचिना ३।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-षष्ठी, न, क्तेन इति चानुवर्तते।

अन्वयः-षष्ठी सुप् अधिकरणवाचिना क्तेन सुपा सह न समासः।

अर्थः-षष्ठ्यन्तं सुबन्तं अधिकरणवाचिना क्त-प्रत्ययान्तेन समर्थेन सुबन्तेन च सह न समस्यते।

उदा०-इदमेषां यातम्। इदमेषां भुक्तम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(षष्ठी) षष्ठी-अन्त सुबन्त का (अधिकरणवाचिना) अधिकरणवाची (क्तेन) क्त-प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ (च) भी समास (न) नहीं होता है।

*उदा०-**इदमेषां यातम्।** यह इनके जाने का मार्ग है। **इदमेषां भुक्तम्।** यह इनके भोजन का स्थान है।*

*सिद्धि-**इदमेषां यातम्।** यहां **'या गतौ'** (अदा०प०) धातु से **'क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः'** (३।४।७६) से अधिकरण कारक में क्त-प्रत्यय है। प्रकृत सूत्र से उसके साथ षष्ठी समास का प्रतिषेध किया गया है। ऐसे ही-**इदमेषां भुक्तम्।***

कर्मणि षष्ठी-

(७) कर्मणि च।१४।

प०वि०-कर्मणि ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-षष्ठी, न इति चानुवर्तते।

अन्वयः-कर्मणि च षष्ठी सुप् सुपा सह न समासः।

अर्थः-'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इत्येवं या षष्ठी विहिता तदन्तं च समर्थेन सुबन्तेन सह न समस्यते।

उदा०-आश्चर्यो **गवां** दोहोऽगोपालकेन। रोचते मे **ओदनस्य** भोजनं देवदत्तेन। साधु खलु **पयसः** पानं यज्ञदत्तेन। विचित्रा **सूत्रस्य** कृतिः पाणिनिना।

आर्यभाषा-अर्थ-(कर्मणि) 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (२।३।६६) इस सूत्र से जो षष्ठी विभक्ति विधान की गई है, उस सुबन्त का (च) भी समर्थ सुबन्त के साथ समास (न) नहीं होता है।

*उदा०-**आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन।** जो गोपाल नहीं है उसके द्वारा गौओं का दुहना आश्चर्य की बात है। **रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन।** देवदत्त का ओदन का खाना मुझे प्यारा लगता है। **साधु खलु पयसः पानं यज्ञदत्तेन।** यज्ञदत्त का दूध का पीना अच्छा है। **विचित्रा सूत्रस्य कृतिः पाणिनिना।** पाणिनि की सूत्र-रचना विचित्र है।*

*सिद्धि-**आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन।** यहां 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' (२।३।६५) से 'दोहः' इस कृदन्त के प्रयोग में कर्ता अगोपालक और कर्म गौ इन दोनों में षष्ठी विभक्ति प्राप्त होती है, किन्तु 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (२।३।६६) से कर्म में षष्ठी विभक्ति हो जाती है और कर्ता में 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (२।३।१८) से तृतीया विभक्ति होती है। प्रकृत सूत्र से उक्त कर्म में विहित षष्ठी विभक्ति के समास का प्रतिषेध किया गया है।*

कर्मणि षष्ठी-

(८) तृजकाभ्यां कर्तरि।१५।

प०वि०-तृच्-अकाभ्याम् ३।२ कर्तरि ७।१।

स०-तृच् च अकश्च तौ-तृजकौ, ताभ्याम्-तृजकाभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)

अनु०-षष्ठी, न, कर्मणि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-कर्मणि षष्ठी कर्तरि तृजकाभ्यां सुब्भ्यां न समासः।

अर्थः-कर्मणि या षष्ठी तदन्तं सुबन्तं कर्तरि वर्तमानाभ्यां **तृजकाभ्यां** समर्थाभ्यां सुबन्ताभ्यां सह न समस्यते।

उदा०-(तृच्) पुरां भेत्ता। अपां स्रष्टा। वज्रस्य भर्ता। (अक:) ओदनस्य भोजक:। सक्तूनां पायक:।

आर्यभाषा-अर्थ-(कर्मणि) 'कर्तृकर्मणो: कृति:' (२।३।६५) से कृदन्त के प्रयोग में षष्ठी विभक्ति का विधान किया गया है उस सुबन्त का (कर्तरि) कर्ता अर्थ में विद्यमान (तृजकाभ्याम्) तृच् और अक प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्तों के साथ समास (न) नहीं होता है।

*उदा०-(तृच्) **पुरां भेत्ता।** नगरों को तोड़नेवाला इन्द्र। **अपां स्रष्टा।** जल की सृष्टि करनेवाला वरुण। **वज्रस्य भर्ता।** वज्र को धारण करनेवाला इन्द्र। (अक) **ओदनस्य भोजक:।** भात को खानेवाला देवदत्त। **सक्तूनां पायक:।** सत्तुओं को पीनेवाला यज्ञदत्त।*

*सिद्धि-(१) **पुरां भेत्ता।** यहां 'भिदिर् विदारणे' (रुधा०प०) धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से कृत्संज्ञक तृच् प्रत्यय है। इसके प्रयोग में 'पुराम्' में 'कर्तृकर्मणो: कृति' (२।३।६५) से षष्ठी विभक्ति है। प्रकृत सूत्र से उस षष्ठी विभक्ति के समास का प्रतिषेध किया गया है।*

*(२) **ओदनस्य भोजक:।** यहां 'भुज पालनाभ्यवहारयो:' (अदा०आ०) से कर्ता अर्थ में 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) ण्वुल् (अक) प्रत्यय है। उसके योग में 'ओदनस्य' में पूर्ववत् (२।३।६५) षष्ठी विभक्ति है। प्रकृत सूत्र से उसके प्रयोग में षष्ठी समास का प्रतिषेध किया गया है।*

कर्तरि षष्ठी (अकेन)-

(६) कर्तरि च।१६।

प०वि०-कर्तरि ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु-षष्ठी, न इति च, 'तृजकाभ्याम्' इत्यस्माच्च 'अकेन' इत्यनुवर्तते।

अन्वय:-कर्तरि षष्ठी सुप् च अकेन सुपा सह।

अर्थ:-कर्तरि या षष्ठी तदन्तं सुबन्तं च अकान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह न समस्यते।

उदा०-भवत: शायिका। भवत आसिका। भवतोऽग्रग्रासिका।

आर्यभाषा-अर्थ-(कर्तरि) कर्ता कारक में जो (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति है उस समर्थ सुबन्त का (च) भी (अकेन) अक-प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ समास (न) नहीं होता है।

*उदा०-**भवत: शायिका।** आपकी सोने की बारी (पर्याय) है। **भवत आसिका।** आपकी बैठने की बारी है। **भवतोऽग्रग्रासिका।** आपकी पहले खाने की बारी है।*

सिद्धि-भवतः शायिका। यहां 'शीङ् स्वप्ने' (अदा०आ०) धातु से 'पर्यायार्हर्णोत्पत्तिषु ण्वुच्' (३।३।१११) से पर्याय (बारी) अर्थ में ण्वुच् प्रत्यय है। इसके 'वु' के स्थान में 'युवोरनाकौ' (७।१।१) से अक-आदेश होता है। 'शायिका' इस आकारान्त शब्द के प्रयोग में 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२।३।६५) से कर्ता 'भवतः' में षष्ठी विभक्ति है। प्रकृत सूत्र से इस में षष्ठी समास का प्रतिषेध किया गया है।

विशेष-काशिकाकार पं० जयादित्य ने 'तृजकाभ्या कर्तरि' और 'कर्तरि च' इन दोनों सूत्रों का महाभाष्यकार से विरुद्ध व्याख्यान किया है। अतः वह माननीय नहीं है।

नित्यं षष्ठीतत्पुरुषः-

(१) नित्यं क्रीडाजीविकयोः।१७।

प०वि०-नित्यम् १।१ क्रीडा-जीविकयोः ७।२।

स०-क्रीडा च जीविका च ते-क्रीडाजीविके, तयोः-क्रीडाजीविकयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-षष्ठी अकेन तत्पुरुष इति चानुवर्तते।

अन्वयः-क्रीडाजीविकयोः षष्ठी सुप् सुपा सह नित्यं समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-क्रीडायां जीविकायां चार्थे षष्ठ्यन्तं सुबन्तं नित्यं समस्यते, समासश्च तत्पुरुषो भवति।

उदा०-(क्रीडायाम्) उद्दालकपुष्पभञ्जिका। वारणपुष्पप्रचायिका। (जीविकायाम्) दन्तलेखकः। नखलेखकः।

आर्यभाषा-अर्थ-(क्रीडाजीविकयोः) क्रीडा और जीविका अर्थ में (षष्ठी) षष्ठी-अन्त सुबन्त का (सुपा) समर्थ सुबन्त के साथ (नित्यम्) सदा समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-(क्रीडा) **उद्दालकपुष्पभञ्जिका।** उद्दालक के फूल तोड़ने का खेल। **वारणपुष्पप्रचायिका।** वारण वृक्ष के फूल इकट्ठा करने का खेल। (जीविका) **दन्तलेखकः।** दांतों का लेखन करनेवाला। **नखलेखकः।** नाखूनों का लेखन (कटाई) करनेवाला।*

*सिद्धि-(१) **उद्दालकपुष्पभञ्जिका।** भञ्ज्+ण्वुल्। भञ्ज्+अक। भञ्जक+टाप्। भञ्जिक+आ। भञ्जिका+सु। भञ्जिका। उद्दालकपुष्प+आम्+भञ्जिका+सु। उद्दालकपुष्प-भञ्जिका+सु। उद्दालकपुष्पभञ्जिका।*

यहां 'भञ्जो आमर्दने' (रु०प०) धातु से 'संज्ञायाम्' से ण्वुल् प्रत्यय है। 'युवोरनाकौ' (७।१।१) से वु के स्थान में अक-आदेश होता है। स्त्रीत्व विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्'

(४।१।३) से टाप् प्रत्यय और 'प्रत्ययस्थात् कात्०' (७।३।४४) से इकार-आदेश होता है। इस सूत्र से अकान्त भञ्जिका शब्द का क्रीडा अर्थ में नित्य षष्ठी समास का विधान किया गया है।

(२) दन्तलेखकः। लिख्+ण्वुन्। लेख+अक। लेखक+सु। लेखकः। दन्त+आम्+लेखक+सु। दन्तलेखक+सु। दन्तलेखकः।

यहां 'लिख अक्षरविन्यासे' (तु०प०) धातु से 'शिल्पिनि ष्वुन्' (३।१।१४५) से ष्वुन्-प्रत्यय है। वु के स्थान में पूर्ववत् अक-आदेश होता है। इस सूत्र से अकान्त लेखक शब्द का जीविका अर्थ में नित्य षष्ठी समास का विधान किया गया है। 'कर्तरि च' (२।२।१६) से प्रतिषेध प्राप्त था।

कु-गति-प्रादि-तत्पुरुषः–

(१) कुगतिप्रादयः।१८।

प०वि०–कु-गति-प्रादयः १।३।

स०–प्र आदिर्येषां ते प्रादयः। कुश्च गतिश्च प्रादयश्च ते–कुगतिप्रादयः (बहुव्रीहिगर्भितेतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–नित्यं तत्पुरुष इति चानुवर्तते।

अन्वयः–कुगतिप्रादयः सुपः सुपा सह नित्यं समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः–कु-गति-प्रादयः सुबन्ताः समर्थेन सुबन्तेन सह नित्यं समस्यन्ते, समासश्च तत्पुरुषो भवति।

उदा०–(कु पापार्थे) कुत्सितः पुरुष इति कुपुरुषः। (गतिः) उरीकृत्य। (प्रादयः) प्रगत आचार्य इति प्राचार्यः। (दुर् निन्दायाम्) दुष्ठु पुरुष इति दुष्पुरुषः। (सु पूजायाम्) सुष्ठु पुरुष इति सुपुरुषः। (आङ् ईषदर्थे) ईषत् पिङ्गल इति आपिङ्गलः।

आर्यभाषा-अर्थ–(कुगतिप्रादयः) कु, गतिसंज्ञक और प्र आदि सुबन्तों का समर्थ सुबन्त के साथ (नित्यम्) सदा समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

उदा०–(कु पाप) कुत्सितः पुरुष इति कुपुरुषः। पापी पुरुष। (गतिसंज्ञक) उरीकृत्य। स्वीकार करके। (प्रादि) प्रगत आचार्य इति प्राचार्यः। प्रकृष्ट आचार्य। (दुर् निन्दा) दुष्ठु पुरुष इति दुष्पुरुषः। निन्दित पुरुष। (सु पूजा) सुष्ठु पुरुष इति सुपुरुषः। पूजनीय पुरुष। (आङ् ईषत्) ईषत् पिङ्गल इति आपिङ्गलः। थोड़ा भूरा।

सिद्धि-(१) कुपुरुषः। कु+सु+पुरुष+सु। कुपुरुष+सु। कुपुरुषः।

(२) उरीकृत्य। उरी+सु+कृ+क्त्वा। उरी+कृ+ल्यप्। उरी+कृ+तुक्+य। उरी+कृ+त्+य। उरीकृत्य+सु। उरीकृत्य।

*यहां 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' (१।४।६१) 'उरी' शब्द की गति संज्ञा है। गतिसंज्ञक उरी-शब्द का क्त्वा-प्रत्ययान्त कृत्वा शब्द के साथ समास होने पर **'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्'** (७।१।३७) से क्त्वा को ल्यप् आदेश होता है और **'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्'** (६।२।७२) से तुक् आगम होता है।*

*(३) प्राचार्यः। प्र+सु+आचार्य+सु। प्राचार्य+सु। प्राचार्यः। यहां 'प्र' शब्द का आचार्य शब्द के साथ तत्पुरुष समास है। प्र-आदि शब्दों का पाठ **'प्रादयः'** (४।१।५८) सूत्र के प्रवचन में दर्शाया गया है।*

उपपदतत्पुरुषः

उपपदम् (अतिङ्)–

उपपदमतिङ्।१६।

प०वि०–उपपदम् १।१ अतिङ् १।१।

स०–न तिङ् इति अतिङ् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–नित्यं तत्पुरुष इति चानुवर्तते।

अन्वयः–अतिङ् सुप् सुपा सह नित्यं समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः–अतिङन्तमुपपदसुबन्तं समर्थेन सुबन्तेन सह नित्यं समस्यते तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०–कुम्भं करोतीति कुम्भकारः। नगरं करोतीति नगरकारः।

*आर्यभाषा-**अर्थ**-(अतिङ्) तिङन्त से भिन्न (उपपदम्) उपपद सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ (नित्यम्) सदा समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।*

*उदा०-**कुम्भं करोतीति कुम्भकारः।** जो घड़ा बनाता है वह कुम्हार। **नगरं करोतीति नगरकारः।** जो नगर बनाता है वह नगरकार।*

*सिद्धि-(१) **कुम्भकारः।** कुम्भ+ङस्+कृ+अण्। कुम्भ+कार्+अ। कुम्भकार+सु। कुम्भकारः।*

*यहां कुम्भ कर्म उपपद होने पर 'डुकृञ् करणे' (त०उ०) धातु से अण् प्रत्यय है। **'अचो ञ्णिति'** (७।२।११५) से कृ धातु को वृद्धि होती है। ऐसे ही-**नगरकारः।***

उपपदम् (अमा-एव)–

(२) अमैवाव्ययेन।२०।

प०वि०-अमा ३।१ एव अव्ययपदम्, अव्ययेन ३।१।

अनु०-उपपदं तत्पुरुष इति चानुवर्तते।

अन्वयः-उपपदं सुब् अमैवाव्ययेन सुपा सह समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-उपपदं सुबन्तम् अमन्तेन एव अव्ययेन समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, नान्येन सह। तत्पुरुषश्च समासो भवति। पूर्वसूत्रेणैव समासे सिद्धे नियमार्थमिदुमुच्यते।

उदा०-स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते। लवणङ्कारं भुङ्क्ते। सम्पन्नङ्कारं भुङ्क्ते।

*आर्यभाषा-अर्थ-(उपपदम्) उपपद सुबन्त का (अमा) जिसके अन्त में अम् है **(एव)** उसी (अव्ययेन) अव्यय समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है, किसी अन्य के साथ **नहीं** और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।*

*उदा०-**स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते।** भोजन को स्वादिष्ट बनाकर खाता है। **लवणङ्कारं भुङ्क्ते।** भोजन को नमकीन बनाकर खाता है। **सम्पन्नङ्कारं भुङ्क्ते।** भोजन को घृत आदि से सम्पन्न करके खाता है।*

*सिद्धि-**स्वादुङ्कारम्।** स्वादुम्+कृ+णमुल्। स्वादुम्+कार्+अम्। स्वादुङ्कारम्+सु। **स्वादुङ्कारम्।***

*यहां 'डुकृञ् करणे' (त०उ०) धातु से **'स्वादुमि णमुल्'** (३।४।२६) से णमुल् प्रत्यय है। यहां 'स्वादुम्' उपपद का अमन्त अव्यय 'कारम्' के साथ समास होता है। इसकी 'कृन्मेजन्तः' (१।१।३९) से अव्यय संज्ञा है। 'अव्ययादाप्सुपः' (२।४।८२) से सु प्रत्यय का लोप हो जाता है।*

उपपदतत्पुरुषविकल्पः

तृतीयादीनि–

(३) तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्।२१।

प०वि०-तृतीया-प्रभृतीनि १।३ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

स०-तृतीया प्रभृतिर्येषां तानि-तृतीयाप्रभृतीनि (बहुव्रीहिः)।

अनु०-उपपदम्, अमैवाव्ययेन, तत्पुरुष इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तृतीयाप्रभृतीनि उपपदानि सुपोऽमैवाव्ययेन सुपा सहान्यतरस्यां समासस्तत्पुरुषः।

अर्थः-तृतीयाप्रभृतीनि उपपदानि सुबन्तानि अमन्तेन एव अव्ययेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते। मूलकोपदंशं भुङ्क्ते। उच्चैः कारमाचष्टे। उच्चैःकारमाचष्टे।

आर्यभाषा-अर्थ-(तृतीयाप्रभृतीनि) 'उपदंशस्तृतीयायाम्' (३।४।४७) से लेकर जो उपपद हैं उन उपपद सुबन्तों का (अमा) अम् जिसके अन्त में है (एव) उसी (अव्ययेन) अव्यय समर्थ सुबन्त के साथ (अन्यतरस्याम्) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

*उदा०-**मूलकेन उपदंशं भुङ्क्ते। मूलकोपदंशं भुङ्क्ते।** मूली को दांत से काटकर उसके साथ रोटी खाता है। उच्चैः **कारमाचष्टे। उच्चैःकारमाचष्टे।** हे ब्राह्मण! तेरी कन्या गर्भिणी है, हे वृषल! क्या तू इसे ऊंचा स्वर करके कहता है।*

*सिद्धि-(१) **मूलकोपदंशम्।** मूलक+टा+उपदंश्+णमुल्। मूलक+उपदंश्+अम्। मूलकोपदंशम्+सु। मूलकोपदंशम्।*

यहां 'उपदंशस्तृतीयायाम्' (३।४।४७) से तृतीयान्त मूलक शब्द उपपद होने पर 'डुकृञ् करणे' (त०उ०) धातु से णमुल् प्रत्यय है। 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से कृ धातु को वृद्धि होती है। तृतीयान्त 'मूलक' शब्द का अमन्त अव्यय 'कारम्' के साथ इस सूत्र से विकल्प से समास होता है। 'कृन्मेजन्तः' (१।१।३९) से मकारान्त 'कारम्' शब्द की अव्यय संज्ञा है।

*(२) **उच्चैःकारम्।** उच्चैः+सु+कृ+णमुल्। उच्चैः+कार्+अम्। उच्चैःकारम्+सु। उच्चैःकारम्।*

यहां 'अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने०' (३।४।५९) से 'उच्चैः' अव्यय शब्द उपपद होने से कृ धातु से णमुल् प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

तृतीयादीनि (क्त्वा)-

(४) क्त्वा च।२२।

प०वि०-क्त्वा ३।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-उपपदम्, तृतीयाप्रभृतीनि, अन्यतरस्याम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तृतीयाप्रभृतीनि उपपदानि सुपः क्त्वा सुपा सह चान्यतरस्यां समासस्तत्पुरुषः ।

अर्थः-तृतीयाप्रभृतीनि उपपदानि सुबन्तानि क्त्वा-प्रत्ययान्तेनापि समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति।

उदा०-उच्चैः कृत्वा। उच्चैःकृत्य।

आर्यभाषा-अर्थ-(तृतीयाप्रभृतीनि) 'उपदंशस्तृतीयायाम्' (३।४।४७) इससे लेकर (उपपदम्) जो उपपद हैं उन उपपद सुबन्तों का (क्त्वा) क्त्वा-प्रत्ययान्त समर्थ सुबन्तों के साथ (च) भी (अन्यतरस्याम्) विकल्प से समास होता है और उसकी (तत्पुरुषः) तत्पुरुष संज्ञा होती है।

उदा०-उच्चैः कृत्वा। कोई कहता है- हे ब्राह्मण ! तेरी कन्या गर्भिणी है, हे वृषल ! क्या तू इसे ऊंचा स्वर करके कहता है। उच्चैःकृत्य। यहां समास होगया। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-उच्चैःकृत्य। उच्चैः+सु+कृ+क्त्वा। उच्चै+कृ+ल्यप्। उच्चैःकृ+तुक्+य। उच्चैः+कृ+त्+य। उच्चैःकृत्य+सु। उच्चैःकृत्य।

यहां 'अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वाणमुलौ' (३।४।५९) से कृ धातु से क्त्वा प्रत्यय और इस सूत्र से तत्पुरुष समास है। 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७।१।३७) से समास में क्त्वा के स्थान में ल्यप् आदेश होता है। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६।२।६२) से तुक् आगम होता है। जहां समास नहीं होता वहां-उच्चैः कृत्वा।

इति तत्पुरुषप्रकरणम्।

बहुव्रीहिप्रकरणम्

शेषाधिकारः-

(१) शेषो बहुव्रीहिः।२३।

प०वि०-शेषः १।१ बहुव्रीहिः १।१।

अन्वयः-शेषः समासो बहुव्रीहिः।

अर्थः-पूर्वोक्तादन्यः शेषः समासो बहुव्रीहिसंज्ञको भवति। इत्यधिकारोऽयम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(शेषः) पूर्वोक्त समास से भिन्न शेष समास की (बहुव्रीहिः) बहुव्रीहि संज्ञा होती। यह संज्ञा-अधिकार सूत्र है।

अनेकं सुबन्तम्–

(२) अनेकमन्यपदार्थे।२४।

प०वि०–अनेकम् १।१ अन्यपदार्थे ७।१।

स०–न एकमिति अनेकम् (नञ्तत्पुरुषः)। अन्यच्च तत् पदमिति अन्यपदम्, तस्य–अन्यपदस्य। अन्यपदस्यार्थ इति अन्यपदार्थः, तस्मिन्–अन्यपदार्थे (कर्मधारयगर्भितषष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०–विभाषा, बहुव्रीहिः इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–अन्यपदार्थेऽनेकं सुप् परस्परं विभाषा समासो बहुव्रीहिः।

अर्थः–अन्यपदार्थे वर्तमानम् अनेकं सुबन्तं परस्परं विकल्पेन समस्यते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति। प्रथमामेकां वर्जयित्वा सर्वेषु विभक्ति-अर्थेषु बहुव्रीहिः समासो भवति।

उदा०–(द्वितीया) प्राप्तमुदकं यं ग्रामं स प्राप्तोदको ग्रामः। (तृतीया) ऊढो रथो येन स ऊढरथोऽनड्वान्। (चतुर्थी) उपहृतः पशुर्यस्मै स उपहृतपशू रुद्रः। (पञ्चमी) उद्धृतमोदनं यस्याः सा उद्धृतौदना स्थाली। (षष्ठी) चित्रा गावो यस्य स चित्रगुर्देवदत्तः। (सप्तमी) वीराः पुरुषा यस्मिन् स वीरपुरुषको ग्रामः।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(अन्यपदार्थे) अन्य पद के अर्थ में विद्यमान (अनेकम्) एक से अधिक सुबन्तों का परस्पर (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (बहुव्रीहिः) बहुव्रीहि संज्ञा होती है। यहां एक प्रथमा विभक्ति को छोड़कर द्वितीया आदि सब विभक्तियों के अर्थों में बहुव्रीहि समास होता है।

*उदा०-**(द्वितीया) प्राप्तमुदकं यं ग्रामं स प्राप्तोदको ग्रामः।** वह ग्राम जिसे जल प्राप्त होगया है। **(तृतीया) ऊढो रथो येन स ऊढरथोऽनड्वान्।** वह बैल जिसके द्वारा रथ वहन किया गया है। **(चतुर्थी)** उपहृतः **पशुर्यस्मै स उपहृतपशू रुद्रः।** वह रुद्र देवता जिसके लिये बैल आदि पशु उपहार रूप में दिया गया है। **(पञ्चमी)** उद्धृतमोदनं **यस्याः सा उद्धृतौदना स्थाली।** वह स्थाली=पतीली जिससे भात निकाल लिया गया है। **(षष्ठी) चित्रा गावो यस्य स चित्रगुर्देवदत्तः।** वह देवदत्त जिसकी गाय चितकबरी हैं। **(सप्तमी)** वीराः पुरुषा **यस्मिन् स वीरपुरुषको ग्रामः।** वह गांव जिसमें वीरपुरुष रहते हैं।*

__सिद्धि-प्राप्तोदकः।__ प्राप्त+सु+उदक+सु। प्राप्तोदक+सु। प्राप्तोदकः।

यहां प्राप्त और उदक दो पदों का बहुव्रीहि समास किया गया है। ये दोनों पद अपने से अन्य (भिन्न) तीसरे ग्राम पद के अर्थ में विद्यमान हैं कि 'ग्राम' जिसे जल प्राप्त होगया है। ऐसे ही- 'ऊढरथ:' आदि।

अव्ययादय:-

(३) संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्या: संख्येये।२५।

प०वि०-संख्यया ३।१ अव्यय-आसन्न-अदूर-अधिक-संख्या: १।३ संख्येये ७।१।

स०-अव्ययं च आसन्नं च अदूरं च अधिकं च संख्या च ता:-अव्यय०संख्या: (इतरेतरयोगद्वन्द्व:)। संख्यातुमर्हं संख्येयम्, गणनीयमित्यर्थ: (कृदन्तवृत्ति:)।

अनु०-विभाषा, बहुव्रीहि: इति चानुवर्तते।

अन्वय:-अव्यय०संख्या: सुप: संख्येये संख्यया सुपा सह विभाषा समासो बहुव्रीहि:।

अर्थ:-अव्ययादय: सुबन्ता संख्येयेऽर्थे वर्तमानेन संख्यावाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति।

उदा०-(अव्ययम्) दशानां समीपमिति उपदशा: पुरुषा:। (आसन्नम्) दशानामसन्नमिति आसन्नदशा: पुरुषा:। (अदूरम्) अदूरं दशानामिति अदूरदशा: पुरुषा:। (अधिकम्) अधिकं दशानामिति अधिकदशा: पुरुषा:। (संख्या) द्वौ च त्रयश्च ते द्वित्रा: पुरुषा:। त्रयश्च चत्वारश्च ते त्रिचतुरा: पुरुषा:।

आर्यभाषा-अर्थ-(अव्यय०संख्या:) अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक और संख्यावाची सुबन्तों का (संख्येये) गणनीय अर्थ में विद्यमान (संख्यया) संख्यावाची सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (बहुव्रीहि:) बहुव्रीहि संज्ञा होती है।

*उदा०-**(अव्यय) दशानां समीपमिति उपदशा: पुरुषा:।** लगभग दश पुरुष। **(आसन्न) आसन्नं दशानामिति आसन्नदशा: पुरुषा:।** अर्थ पूर्ववत्। **(अदूर) अदूरं दशानामिति अदूरदशा: पुरुषा:।** अर्थ पूर्ववत्। **(अधिक) अधिकं दशानामिति अधिकदशा: पुरुषा:।** दश से अधिक पुरुष। **(संख्या) द्वौ च त्रयश्चेति द्वित्रा: पुरुषा:।** दो-तीन पुरुष। **त्रयश्च चत्वारश्च इति त्रिचतुरा: पुरुषा:।** तीन-चार पुरुष।*

सिद्धि-उपदशाः। उप+सु+दश+जस्। उपदश+जस्। उपदशाः।

यहां अव्यय, उप सुबन्त तथा संख्यावाची दश सुबन्त के साथ बहुव्रीहि समास किया गया है। उप और दश दोनों पद अपने अर्थ से अन्य संख्येये=गणनीय पुरुष पद के अर्थ के वाचक हैं।

दिङ्नामानि–

दिङ्नामान्यन्तराले।२६।

प०वि०–दिक्-नामानि १।३ अन्तराले ७।१।

स०–दिशां नामानीति दिङ्नामानि (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०–विभाषा, बहुव्रीहिः इति चानुवर्तते।

अन्वयः-दिङ्नामानि सुपोऽन्तराले परस्परं समासो बहुव्रीहिः।

अर्थः–दिशावाचीनि सुबन्तानि तदन्तरालेऽर्थे परस्परं विकल्पेन समस्यन्ते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति।

उदा०–उत्तरस्याः पूर्वस्याश्च दिशाया अन्तरालमिति–उत्तरपूर्वा दिक् (ऐशानी)। पूर्वस्या दक्षिणायाश्च दिशाया अन्तरालमिति पूर्वदक्षिणा (आग्नेयी) दक्षिणस्याः पश्चिमायाश्च दिशाया अन्तरालमिति दक्षिणपश्चिमा (नैर्ऋतिः)। पश्चिमाया उत्तरस्याश्च दिशाया अन्तरालमिति पश्चिमोत्तरा (वायवी)।

आर्यभाषा-अर्थ-(दिङ्नामानि) *दिशावाची सुबन्तों का (अन्तराले) उनके बीच की दिशा के कहने में परस्पर (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (बहुव्रीहिः) बहुव्रीहि संज्ञा होती है।*

*उदा०–**उत्तरस्याः पूर्वस्याश्च दिशाया अन्तरालमिति उत्तरपूर्वा दिक्।** उत्तर और पूर्व दिशा के बीच की दिशा, जिसे ऐशानी कहते हैं। **पूर्वस्या दक्षिणायाश्च दिशाया अन्तरालमिति पूर्वदक्षिणा।** पूर्व और दक्षिण दिशा के बीच की दिशा जिसे आग्नेयी कहते हैं। **दक्षिणस्याः पश्चिमायाश्च दिशाया अन्तरालमिति दक्षिणपश्चिमा।** दक्षिण और पश्चिम दिशा के बीच की दिशा जिसे नैर्ऋति कहते हैं। **पश्चिमाया उत्तरस्याश्च दिशाया अन्तरालमिति पश्चिमोत्तरा।** पश्चिम और उत्तर दिशा के बीच की दिशा जिसे वायवी कहते हैं।*

सिद्धि-उत्तरपूर्वा। उत्तरा+ङस्+पूर्वा+ङस्। उत्तरा+पूर्वा। उत्तरपूर्वा+सु। उत्तरपूर्वा।

*यहां उत्तरा और पूर्वा दो दिशावाची सुबन्तों का समास किया गया है। उत्तरा और पूर्वा दोनों पद अपने अर्थ से अन्य अन्तराल-दिशा ऐशानी पद के अर्थ के वाचक हैं। **'स्त्रियाः पुंवत्०'** (६।३।३४) से उत्तरा को पुंवद्भाव होता है।*

विशेष- *दिशायें दश होती हैं-पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और इन दिशाओं के अन्तराल की दिशा आग्नेयी, नैर्ऋति, वायवी और ऐशानी। ध्रुवा (नीचे की दिशा) और ऊर्ध्वा (ऊपर की दिशा)।*

सप्तम्यन्तं तृतीयान्तं सरूपम्-

तत्र तेनेदमिति सरूपे।२७।

प०वि०- तत्र अव्ययम्। तेन ३।१ इदम् १।१ इति अव्ययम्। सरूपे १।२।

स०- समानं रूपं यस्य तत् सरूपम्, ते-सरूपे (बहुव्रीहिः)।

अनु०- विभाषा, बहुव्रीहिः इति चानुवर्तते।

अन्वयः- तत्र, तेन इति सरूपे सुपाविदमिति परस्परं विभाषा समासो बहुव्रीहिः।

अर्थः- तत्र इति सप्ताम्यन्ते सरूपे द्वे पदे, तेन इति च तृतीयान्ते सरूपे द्वे पदे इदमित्यस्मिन्नर्थे परस्परं समस्येते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति।

उदा०- तत्र (सप्तम्यन्ते सरूपे) केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तमिति केशाकेशि। कचेषु कचेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तमिति कचाकचि। तेन (तृतीयान्ते सरूपे) दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तमिति-दण्डादण्डि। मुसलैश्च मुसलैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तमिति मुसलामुसलि।

आर्यभाषा-अर्थ- *(तत्र-सरूपे) सप्तमी-अन्त सरूप दो पदों का (तेन-सरूपे) और तृतीयान्त सरूप दो पदों का (इदमिति) यह युद्धादि प्रवृत्त हुआ इस अर्थ में (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (बहुव्रीहिः) बहुव्रीहि संज्ञा होती है।*

*उदा०-(सप्तम्यन्त सरूप दो पद) **केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तमिति केशाकेशि।** एक दूसरे के बालों में हाथ डालकर जो युद्ध प्रवृत्त हुआ उसे 'केशाकेशि' कहते हैं। **कचेषु कचेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तमिति कचाकचि।** अर्थ पूर्ववत् है। (तृतीयान्त सरूप दो पद) **दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तमिति दण्डादण्डि।***

*एक-दूसरे पर दण्डों से परस्पर प्रहार करके जो युद्ध प्रवृत्त हुआ उसे 'दण्डादण्डि' कहते हैं। **मुसलैश्च मुसलैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तमिति मुसलामुसलि।** एक-दूसरे पर मुसलों से परस्पर प्रहार करके जो युद्ध प्रवृत्त हुआ उसे 'मुसलामुसलि' कहते हैं।*

सिद्धि-केशाकेशि। केश+सुप्+केश+सुप्। केश+केश+इच्। केशा+केश्+इ। केशाकेशि+सु। केशाकेशि।

*यहां दो सरूप पद-'केशेषु, केशेषु' इनका 'इदम्' (युद्ध) अर्थ में इस सूत्र से बहुव्रीहि समास है। 'इच् कर्मव्यतिहारे' (५।४।१२७) से समासान्त इच् प्रत्यय तथा 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३७) से पूर्वपद को दीर्घ होता है। यहां दो केश पद अपने अर्थ से अन्य युद्ध पद के अर्थ के वाचक हैं। ऐसे ही-**कचाकचि, दण्डादण्डि, मुसलामुसलि।***

सह (तुल्ययोगे)-

तेन सहेति तुल्ययोगे।२८।

प०वि०-तेन ३।१ सह अव्ययम्, इति अव्ययम्, तुल्ययोगे ७।१।

स०-तुल्येन योग इति तुल्ययोगः, तस्मिन-तुल्ययोगे (तृतीया-तत्पुरुषः)।

अनु०-विभाषा, बहुव्रीहिः इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तुल्ययोगे सहेति सुप् तेन सुपा सह विभाषा समासो बहुव्रीहिः।

अर्थः-तुल्ययोगेऽर्थे वर्तमानं सह इति सुबन्तं तेन इति तृतीयान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, समासश्च बहुव्रीहिर्भवति।

उदा०-पुत्रेण सहेति सपुत्रः। सपुत्र आगतः पिता। छात्रैः सहेति सच्छात्रः। सच्छात्र आगत उपाध्यायः।

आर्यभाषा-अर्थ-(तुल्ययोगे) तुल्ययोग (साथ) अर्थ में विद्यमान (सह इति) 'सह' इस सुबन्त का (तेन) तृतीयान्त समर्थ सुबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से समास होता है और उसकी (बहुव्रीहिः) बहुव्रीहि संज्ञा होती है।

*उदा०-**पुत्रेण सहेति सपुत्रः। सपुत्र आगतः पिता।** पिता पुत्र सहित आया है। **छात्रैः सहेति सच्छात्रः। सच्छात्र आगत उपाध्यायः।** उपाध्याय छात्रों सहित आया है।*

सिद्धि-सपुत्रः। सह+सु+पुत्र+भिस्। सह+पुत्र। सपुत्र+सु। सपुत्रः।

यहां तुल्ययोग अर्थ में विद्यमान सह शब्द का तृतीयान्त पुत्र के साथ बहुव्रीहि समास है। बहुव्रीहि समास में दोनों पद उपसर्जन होते हैं अतः 'वोपसर्जनस्य' (६।३।८०) से

*उपसर्जन 'सह' के स्थान में 'स' आदेश होता है। ऐसे ही-**सच्छात्रः**। यहां पुत्र और पिता का तथा छात्र और उपाध्याय का आगमन-क्रिया में तुल्य योगदान है।*

*विशेष-जहां 'सह' शब्द का तुल्ययोग (साथ) अर्थ नहीं होता है वहां बहुव्रीहि समास भी नहीं होता है। जैसे-**सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी**। दश पुत्रों के विद्यमान होते हुये भी गधी बोझा ढोती है। यहां 'सह' शब्द विद्यमान अर्थ में है, साथ अर्थ में नहीं।*

द्वन्द्वसमासः—

चार्थे द्वन्द्वः ।२९।

प०वि०-च-अर्थे ७।१ द्वन्द्वः १।१।

स०-चस्य अर्थ इति चार्थः, तस्मिन्-चार्थे (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-विभाषा, 'अनेकम्' इति च मण्डूकप्लुत्याऽनुवर्तते।

अन्वयः-चार्थेऽनेकं सुप् परस्परं विभाषा समासो द्वन्द्वः।

अर्थ-चार्थे वर्तमानं अनेकं सुबन्तं परस्परं समस्यते द्वन्द्वश्च समासो भवति।

उदा०-प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च तौ-प्लक्षन्यग्रोधौ। धवश्च खदिरश्च पलाशश्च ते-धवखदिरपलाशाः। पाणी च पादौ च एतेषां समाहारः पाणिपादम्। शिरश्च ग्रीवा च एतयोः समाहारः शिरोग्रीवम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(चार्थे) 'च' शब्द के अर्थ में विद्यमान (अनेकम्) अनेक सुबन्तों का परस्पर (विभाषा) विकल्प से समास होता है। और उसकी (द्वन्द्वः) द्वन्द्व संज्ञा होती है।

*उदा०-**प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च तौ प्लक्षन्यग्रोधौ**। पिलखन और बड़ का योग। **धवश्च खदिरश्च पलाशश्च ते-धवखदिरपलाशाः**। धौ, खैर और ढाक का योग। **पाणी च पादौ च एतेषां समाहारः पाणिपादम्**। हाथों और पावों का समूह। **शिरश्च ग्रीवा च एतयोः समाहारः शिरोग्रीवम्**। शिर और गर्दन का समूह।*

*सिद्धि-(१) **प्लक्षन्यग्रोधौ**। प्लक्ष+सु+न्यग्रोध+सु। प्लक्षन्यग्रोध+औ। प्लक्षन्यग्रोधौ।*

*(२) **पाणिपादम्**। पाणि+औ+पाद+औ। पाणिपाद+सु। पाणिपाद+अम्। पाणिपादम्।*

*यहां '**द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्**' (२।४।२) से एकवद्भाव होता है।*

विशेष-च शब्द के अर्थ- च शब्द के समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार ये चार अर्थ होते हैं। समुच्चय और अन्वाचय अर्थ में द्वन्द्व समास नहीं होता है।

*इतरेतरयोग और समाहार अर्थ में द्वन्द्व समास होता है। समुच्चय-ईश्वरं गुरुं च **भजस्व।** तू ईश्वर का भजन और गुरु की सेवा कर। अन्वाचय-**भिक्षामट गां चानय।** तू भिक्षा ले आ और गौ को भी ले आना। इतरेतरयोग और समाहार के उदाहरण ऊपर लिख दिये हैं।*

समासपदानां प्रयोगविधिः

उपसर्जनम्--

(१) उपसर्जनं पूर्वम्।३०।

प०वि०-उपसर्जनम् १।१ पूर्वम् १।१।

अर्थः-अस्मिन् समासप्रकरणे उपसर्जनसंज्ञकं पदं पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। पूर्वप्रयोगविधानं परप्रयोगनिवृत्त्यर्थम्।

उदा०-द्वितीया-कष्टं श्रित इति कष्टश्रितः। **तृतीया**-शंकुलया खण्ड इति शंकुलाखण्डः। **चतुर्थी**-यूपाय दारु इति यूपदारु। **पञ्चमी**-चोराद् भयमिति चोरभयम्। **षष्ठी**-राज्ञः पुरुष इति राजपुरुषः। **सप्तमी**-अक्षेषु शौण्ड इति अक्षशौण्डः।

आर्यभाषा-अर्थ-इस समास प्रकरण में (उपसर्जनम्) उपसर्जन संज्ञावाले पद का (पूर्वम्) पहले प्रयोग करना चाहिये।

*उदा०-द्वितीया-**कष्टं श्रित इति कष्टश्रितः।** कष्ट को प्राप्त हुआ, इत्यादि।*

*सिद्धि-**कष्टश्रितः।** कष्ट+अम्+श्रित+सु। कष्टश्रित+सु। कष्टश्रितः।*

*'**प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्**' (१।२।४३) इस सूत्र से समास प्रकरण के सूत्रों में जो पद प्रथमा-विभक्ति से निर्दिष्ट किया गया है, उसकी उपसर्जन संज्ञा की है। जैसे '**द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः**' (२।१।२४) इस समासविधायक सूत्र में '**द्वितीया**' पद को प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट किया गया है अतः उसकी उपसर्जन संज्ञा है। अतः '**कष्टं श्रितः**' में द्वितीयान्त '**कष्टम्**' शब्द का पहले प्रयोग किया जाता है और श्रित शब्द का पश्चात् प्रयोग होता है। ऐसा ही अन्य उदाहरणों में समझ लेवें।*

उपसर्जनं परम्--

(२) राजदन्तादिषु परम्।३१।

प०वि०-राजदन्त-आदिषु ७।३ परम् १।१।

स०-राजदन्त आदिर्येषां ते राजदन्तादयः, तेषु-राजदन्तादिषु (**बहुव्रीहिः**)।

अनु०-उपसर्जनम् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-राजदन्तादिषु उपसर्जनं परम्।

अर्थः-राजदन्तादिषु शब्देषु उपसर्जनसंज्ञकं पदं परं प्रयोक्तव्यम्। पूर्वसूत्रस्यायमपवादः।

उदा०-दन्तानां राजा इति राजदन्तः। वनस्याग्रे इति अग्रेवणम्, इत्यादि।

गणः-राजदन्तः। अग्रेवणम्। लिप्तवासितम्। नग्नमुषितम्। सिक्तसंमृष्टम्। मृष्टलुञ्चितम्। अवक्लिन्नपक्वम्। अर्पितोप्तम्। उप्तगाढम्। उलूखलमूसलम्। तण्डुलकिण्वम्। दृषदुपलम्। आरग्वायनबन्धकी। चित्ररथबाह्लीकम्। आवन्त्यश्मकम्। शूद्रार्यम्। स्नातकराजानौ। विष्वक्सेनार्जुनौ। अक्षिभ्रुवम्। दारगवम्। धर्मार्थौ। अर्थधर्मौ। कामार्थौ। अर्थकामौ। शब्दार्थौ। अर्थशब्दौ। वैकारिकतम्। गजवाजम्। गोपालधानीपूलासम्। पूलासककरण्डम्। स्थूलपूलासम्। उशीरबीजम्। सिञ्जास्थम्। चित्रास्वाती। भार्यापती। जायापती। जम्पती। दम्पती। पुत्रपती। पुत्रपशू। केशश्मश्रू। श्मश्रुकेशौ। शिरोबीजम्। सर्पिर्मधुनी। मधुसर्पिषी। आद्यन्तौ। अन्तादी। गुणवृद्धी। वृद्धिगुणौ। इति राजदन्तादयः।

आर्यभाषा-अर्थ-(राजदन्तादिषु) राजदन्त आदि शब्दों में (उपसर्जनम्) उपसर्जन संज्ञावाले पद का (परम्) पश्चात् प्रयोग करना चाहिये। यह पूर्व सूत्र का अपवाद है।

*उदा०-**दन्तानां राजा इति राजदन्तः।** दांतों का राजा। **वनस्याग्रे इति अग्रेवणम्।** वन का अगला भाग।*

***सिद्धि-(१) राजदन्तः।** दन्त+आम्+राजन्+सु। राजन्+दन्त। राजदन्त+सु। राजदन्तः।*

*यहां **'षष्ठी'** (२।२।८) इस सूत्र में **'षष्ठी'** की उपसर्जन संज्ञा है, अतः समास में षष्ठ्यन्त 'दन्त' शब्द का पर-प्रयोग किया गया है।*

***(२) अग्रेवणम्।** वन+ङस्+अग्रे+ङि। अग्रेवणम्।*

यहां पूर्ववत् उपसर्जन वन का पर-प्रयोग किया गया है। निपातन से ङि-विभक्ति का अलुक् होता है।

घि–

द्वन्द्वे घि।३२।

प०वि०–द्वन्द्वे ७।१ घि १।१।

अनु०–अत्र 'पूर्वम्' इत्यनुवर्तते न परम्।

अन्वयः–द्वन्द्वे घि पूर्वम्।

अर्थः–द्वन्द्वे समासे घि-संज्ञकं पदं पूर्वं प्रयोक्तव्यम्।

उदा०–पटुश्च गुप्तश्च तौ पटुगुप्तौ। मृदुश्च गुप्तश्च तौ मृदुगुप्तौ।

आर्यभाषा-अर्थ–(द्वन्द्वे) द्वन्द्व समास में (घि) घि संज्ञावाले पद का (पूर्वम्) पहले प्रयोग करना चाहिये।

*उदा०–**पटुश्च गुप्तश्च तौ पटुगुप्तौ।** पटु और गुप्त नामक पुरुष। **मृदुश्च गुप्तश्च तौ मृदुगुप्तौ।** मृदु और गुप्त नामक पुरुष।*

*सिद्धि-**पटुगुप्तौ।** पटु+सु+गुप्त+सु। पटुगुप्त+औ। पटुगुप्तौ।*

*यहां 'पटु' शब्द की '**शेषो घ्यसखि**' (१।४।७) से घि-संज्ञा है अतः उसका पहले प्रयोग किया गया है और गुप्त शब्द का पश्चात् प्रयोग हुआ है। इकारान्त, उकारान्त पुंलिङ्ग शब्दों की 'घि' संज्ञा है। ऐसे ही-**मृदुगुप्तौ।***

अजादि अदन्तं च–

(४) अजाद्यदन्तम्।३३।

प०वि०–अजादि-अदन्तम् १।१।

स०–अच् आदिर्यस्य तत्-अजादि, अत् अन्ते यस्य तत्-अदन्तम्, अजादि च तद् अदन्तं चेति अजाद्यदन्तम् (बहुव्रीहिगर्भितकर्मधारयः)।

अनु०–द्वन्द्वे, पूर्वमिति चानुवर्तते।

अन्वयः–द्वन्द्वेऽजादि अदन्तं पूर्वम्।

अर्थः–द्वन्द्वे समासेऽजादि-अदन्तं पदं पूर्वं प्रयोक्तव्यम्।

उदा०–उष्ट्रश्च खरश्च एतयोः समाहार उष्ट्रखरम्। उष्ट्रश्च शशकश्च एतयोः समाहार उष्ट्रशशकम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(द्वन्द्वे) द्वन्द्व समास में (अजादि-अदन्तम्) अच् जिसके आदि में और अकार (अत्) जिसके अन्त में है, ऐसे पद का (पूर्वम्) पहले प्रयोग करना चाहिये।

उदा०-उष्ट्रश्च खरश्च एतयोः समाहार उष्ट्रखरम्। ऊंट और गधे का समूह। उष्ट्रश्च शशकश्च एतयोः समाहार उष्ट्रशशकम्। ऊंट और खरगोश का समूह।

सिद्धि-उष्ट्रखरम्। उष्ट्र+सु+खर+सु। उष्ट्रखर+सु। उष्ट्रखरम्।

यहां 'उष्ट्र' शब्द अजादि और अकारान्त है इसलिये इसका पहले प्रयोग किया गया है, खर शब्द का नहीं। यहां 'विभाषा वृक्षमृग०' (२।४।१२) से द्वन्द्व समास में एकवद्भाव होता है। ऐसे ही-उष्ट्रशशकम्।

अल्पाच्-

(५) अल्पाच्तरम्।३४।

प०वि०-अल्पाच्तरम् १।१।

स०-अल्पोऽच् यस्मिन् तत्-अल्पाच् (बहुव्रीहिः)। द्वे इमे अल्पाचौ, इदमनयोरतिशयेन अल्पाच् इति अल्पाच्तरम् (तद्धितवृत्तिः)। **'द्विवचनविभज्यो०'** (५।३।५७) इति तरप्-प्रत्ययः।

अनु०-द्वन्द्वे, पूर्वमिति चानुवर्तते।

अन्वयः-द्वन्द्वेऽल्पाच्तरं पूर्वम्।

अर्थः-द्वन्द्वे समासेऽल्पाच्तरं पदं पूर्वं प्रयोक्तव्यम्।

उदा०-प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च तौ-प्लक्षन्यग्रोधौ। धवश्च खदिरश्च पलाशश्च ते-धवखदिरपलाशाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(द्वन्द्वे) द्वन्द्व समास में (अल्पाच्तरम्) दो पदों में जो थोड़े अच् (स्वर) वाला पद है उसका (पूर्वम्) पहले प्रयोग करना चाहिये।

उदा०-प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च तौ-प्लक्षन्यग्रोधौ। पिलखन और बड़ का योग। धवश्च खदिरश्च पलाशश्च ते-धवखदिरपलाशाः। धौ, खैर और ढाक का योग।

सिद्धि-प्लक्षन्यग्रोधौ। प्लक्ष+सु+न्यग्रोध+सु। प्लक्षन्यग्रोध+औ। प्लक्षन्यग्रोधौ।

यहां प्लक्ष पद में दो अच् और न्यग्रोध पद में तीन अच् हैं अतः अल्पाच्तर प्लक्ष पद का पूर्व प्रयोग किया गया है। ऐसे ही-'धवखदिरपलाशाः' में भी जान लेवें।

***विशेष-**यहां 'अल्पाच्तरम्' पद में 'तरप्' प्रत्यय का निर्देश गौण है। केवल दो पदों में ही नहीं अपितु दो से अधिक पदों के प्रयोग में भी 'अल्पाच्' पद का पूर्व प्रयोग*

किया जाता है। जैसे कि 'धवखदिरपलाशाः' उदाहरण में धव पद का पूर्व-प्रयोग स्पष्ट है।

धव को हिन्दी में 'धौ' कहते हैं। भावप्रकाश निघण्टु वटादिवर्ग में धव के संस्कृत नाम और गुण लिखे हैं–

धवो धटो नन्दितरुः स्थिरो गौरो धुरन्धरः।
धवः शीतः प्रमेहार्शःपाण्डुपित्तकफापहः।६०।

प्लक्ष को हिन्दी में पाखर वा पिलखन कहते हैं। भावप्रकाश में लिखा है–

प्लक्षो जटी पर्करी च पर्कटी च स्त्रियामपि।११।
प्लक्षः कषायः शिशिरो व्रणयोनिगदापहः।
दाहपित्तकफास्रघ्नं शोथहा रक्तपित्तनुत्।१२।

सप्तमीविशेषणं च–

(६) सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ।३५।

प०वि०–सप्तमी-विशेषणे १।२ बहुव्रीहौ ७।१।

स०–सप्तमी च विशेषणं च ते–सप्तमीविशेषणे (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–'पूर्वम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–बहुव्रीहौ सप्तमीविशेषणे पूर्वे।

अर्थः–बहुव्रीहौ समासे सप्तम्यन्तं विशेषणवाचि च पदं पूर्वं प्रयोक्तव्यम्।

उदा०–(सप्तमी) कण्ठे स्थितः कालो यस्य स कण्ठेकालः। उरसि स्थितानि लोमानि यस्य स उरसिलोमा। (विशेषणम्) चित्रा गावो यस्य स चित्रगुः। शबला गावो यस्य शबलगुः।

आर्यभाषा-अर्थ–*(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (सप्तमी-विशेषणे) सप्तम्यन्त पद का और विशेषणवाची पद का (पूर्वम्) पहले प्रयोग करना चाहिये।*

*उदा०–**(सप्तमी) कण्ठे कालः स्थितो यस्य स कण्ठेकालः।** वह जिसके कण्ठ में काल स्थित है। **उरसि स्थितानि लोमानि यस्य स उरसिलोमा।** वह जिसकी छाती में बाल हैं। **(विशेषण) चित्रा गावो यस्य सः चित्रगुः।** चित्रित गौवोंवाला। **शबला गावो यस्य सः शबलगुः।** रंग-बिरंगी गौवोंवाला।*

***सिद्धि-(१) कण्ठेकालः।** कण्ठ+ङि+काल+सु। कण्ठेकाल+सु। कण्ठेकालः।*

*यहां सप्तम्यन्त '**कण्ठे**' पद का पहले प्रयोग किया गया है। यहां '**अमूर्द्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे**' (६।३।१०) से सप्तमी विभक्ति का अलुक् है, लोप नहीं हुआ है। ऐसे ही–**उरसिलोमा।***

(२) चित्रगुः। चित्र+जस्+गो+जस्। चित्रगो। चित्रगु+सु। चित्रगुः।

*यहां विशेषवाची **'चित्र'** पद का पूर्व-प्रयोग किया गया है। **'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य'** (१।२।४८) से गो-शब्द को ह्रस्व होता है। ऐसे ही शबलगुः।*

निष्ठान्तम्–

(७) निष्ठा।३६।

वि०–निष्ठा १।१

अनु०–पूर्वम्, बहुव्रीहौ इति चानुवर्तते।

अन्वयः–बहुव्रीहौ निष्ठा पूर्वम्।

अर्थः–बहुव्रीहौ समासे निष्ठान्तं पदं पूर्वं प्रयोक्तव्यम्।

उदा०–कृतः कटो येन स कृतकटः। भिक्षिता भिक्षा येन स भिक्षितभिक्षः। अवमुक्ता उपानद् येन स अवमुक्तोपानत्कः। आहूतः सुब्रह्मण्यं येन स आहूतसुब्रह्मण्यः।

***आर्यभाषा–अर्थ–**(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (निष्ठा) निष्ठान्त पद का (पूर्वम्) पहले प्रयोग करना चाहिये।*

*उदा०–**कृतः कटो येन स कृतकटः।** वह जिसने चटाई बनाली है। **भिक्षिता भिक्षा येन स भिक्षितभिक्षः।** वह जिसने भीख मांगली है। **अवमुक्ता उपानद् येन स अवमुक्तोपानत्कः।** वह जिसने जूता उतार दिया है। **आहूतं सुब्रह्मण्यं येन स आहूतसुब्रह्मण्यः।** वह जिसने सुब्रह्मण्य (सौभाग्य) को आमन्त्रिम कर लिया है अथवा वह जिसने सुब्रह्मण्या ऋचा से होम कर लिया है।*

सिद्धि–कृत+सु+कट+सु। कृतकट+सु। कृतकटः।

*यहां कृत पद निष्ठा-प्रत्ययान्त (कृ+क्त) है, अतः उसका बहुव्रीहि समास में पहले प्रयोग किया गया है। **'क्तक्तवतू निष्ठा'** (१।१।२६) से 'क्त' प्रत्यय की निष्ठा संज्ञा है। ऐसे ही–**'भिक्षितभिक्षः'** आदि।*

निष्ठान्तं वा–

वाऽऽहिताग्न्यादिषु।३७।

प०वि०–वा अव्ययम्, अहिताग्नि-आदिषु ७।३।

स०–आहिताग्निरादिर्येषां ते–आहिताग्न्यादयः, तेषु–आहिताग्न्यादिषु (बहुव्रीहिः)।

अनु०-पूर्वम् निष्ठा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुव्रीहौ आहिताग्न्यादिषु निष्ठा पूर्वम्।

अर्थः-बहुव्रीहौ समासे आहिताग्नि-आदिषु पदेषु निष्ठान्तं पदं विकल्पेन पूर्वं प्रयोक्तव्यम्।

उदा०-आहितोऽग्निर्येन स आहिताग्निः, अग्न्याहितो वा। जातः पुत्रो यस्य जातपुत्रः, पुत्रजातो वा।

आहिताग्निः। जातपुत्रः। जातदन्तः। जातश्मश्रुः। तैलपीतः। घृतपीतः। ऊढभार्यः। गतार्थः। इत्याहिताग्न्यादयः। आकृतिगणोऽयम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि समास में (आहिताग्नि-आदिषु) आहिताग्नि आदि पदों में (निष्ठा) निष्ठान्त पद का (वा) विकल्प से (पूर्वम्) पहले प्रयोग करना चाहिये।

*उदा०-**आहितोऽग्निर्येन स आहिताग्निः।** वह जिसने अग्न्याधान=अग्निहोत्र कर लिया है। **अग्न्याहितः।** अर्थ पूर्ववत् है। **जातः पुत्रो यस्य स जातपुत्रः।** वह जिसके पुत्र पैदा होगया है। **पुत्रजातः।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*सिद्धि-**आहिताग्नि/अग्न्याहितः।** आहित+सु+अग्नि+सु। आहिताग्नि+सु। आहिताग्निः।*

*यहां निष्ठान्त **'आहित'** पद का पूर्व प्रयोग हुआ है। **अग्न्याहितः।** यहां विकल्प पक्ष में निष्ठान्त **'आहितः'** आङ्+धा++क्त। आ+हि+त। आहित+सु। आहितः। यहां **'दधातेर्हिः'** (७।४।४२) से 'धा' को 'हि' आदेश होता है। ऐसे ही- **'जातपुत्रः'** आदि।*

कडारादयः-

कडाराः कर्मधारये।३८।

प०वि०-कडाराः १।३ कर्मधारये ७।१।

अनु०-पूर्वम्, वा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-कर्मधारये कडारा वा पूर्वम्।

अर्थः-कर्मधारये समासे कडारादयः सुबन्ता विकल्पेन पूर्वं प्रयोक्तव्याः।

उदा०-कडारश्चासौ जैमिनिरिति कडारजैमिनिः। जैमिनिकडारो वा।

कडार। गडुल। काण। खञ्ज। कुण्ठ। खञ्जर। खलति। गौर। वृद्ध। भिक्षुक। पिङ्गल। तनु। वटर। इति कडारादयः।

आर्यभाषा-अर्थ-(कर्मधारये) कर्मधारय समास में (कडाराः) कडार आदि सुबन्तों का (वा) विकल्प से (पूर्वम्) पहले प्रयोग करना चाहिये।

*उदा०-**कडारश्चासौ जैमिनिरिति कडारजैमिनिः।** भूरे रंग का जैमिनि ऋषि। **जैमिनिकडारः।** अर्थ पूर्ववत् है। 'कडारः कपिलः पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ' इत्यमरः।*

*सिद्धि-**कडारजैमिनिः।** कडार+सु+जैमिनि+सु। कडारजैमिनि+सु। कडारजैमिनिः।*

*यहां कडार पद का पूर्व-प्रयोग किया गया है। **जैमिनिकडारः।** यहां विकल्प पक्ष में कडार शब्द का पश्चात्-प्रयोग किया गया है।*

*कडार विशेषण पद है, उसका **'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्'** (२।१।५६) से कर्मधारय समास होने पर पूर्व-प्रयोग प्राप्त था, अतः यहां उसका विकल्प-विधान किया गया है।*

इति एकसंज्ञाधिकारः समाससंज्ञाधिकारश्च समाप्तः।

इति पण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचने द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः।

द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः

अनभिहिताधिकारः–

(१) अनभिहिते।१।

वि०-अनभिहिते ७।१।

स०-न अभिहितम् इति अनभिहितम्, तस्मिन्-अनभिहिते (नञ्तत्पुरुषः)। अभिहितं कथितमित्यर्थः। अनभिहितम्, अकथितम, अनुक्तम्, अनिर्दिष्टमिति पर्यायाः।

अर्थः-'अनभिहिते' इत्यधिकारोऽयम्। यद् इत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः, तद् अनभिहिते=अकथिते इत्येवं वेदितव्यम्। यथास्थानमुदाहरिष्यामः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनभिहिते) 'अनभिहिते' यह अधिकार सूत्र है। इससे आगे जो कहेंगे उसे अनभिहित=अकथित विषय में समझना चाहिये। इसके यथास्थान उदाहरण देंगे।

द्वितीयाविभक्तिप्रकरणम्

द्वितीया–

(१) कर्मणि द्वितीया।२।

प०वि०-कर्मणि ७।१ द्वितीया १।१।

अनु०-'अनभिहिते' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अनभिहिते कर्मणि द्वितीया।

अर्थः-अनभिहिते कर्मणि कारके द्वितीया विभक्तिर्भवति।

उदा०-देवदत्तः कटं करोति। यज्ञदत्तो ग्रामं गच्छति।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनभिहिते) अकथित (कर्मणि) कर्म कारक में (द्वितीया) द्वितीया विभक्ति होती है।

*उदा०-**देवदत्तः कटं करोति।** देवदत्त चटाई बनाता है। **यज्ञदत्तो ग्रामं गच्छति।** यज्ञदत्त गांव जाता है।*

सिद्धि-देवदत्तः कटं करोति। कृ+लट्। कृ+उ+तिप्। कर्+ओ+ति। करोति।

*यहां कृ धातु से लट्लकार '**लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः**' (३।४।६९) से कर्ता अर्थ में किया गया है। लकार के कर्ता, कर्म और भाव ये तीन अर्थ होते हैं। जब*

*लकार कर्ता अर्थ में होता है, तब कर्ता कथित होता है और कर्म तथा भाव अकथित होते हैं। प्रकृत सूत्र से अकथित कर्म **'कटम्'** में द्वितीया विभक्ति होती है। कथित कर्ता में **'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा'** (२।३।४६) से प्रथमा विभक्ति होती है। ऐसे ही-**यज्ञदत्तो ग्रामं गच्छति।***

द्वितीया तृतीया च-

(२) तृतीया च होश्छन्दसि।३।

प०वि०-तृतीया १।१ च अव्ययपदम्, होः ६।१ छन्दसि ७।१।

अनु०-अनभिहिते, कर्मणि, द्वितीया चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि होरनभिहिते कर्मणि द्वितीया तृतीया च।

अर्थः-छन्दसि विषये हु-धातोरनभिहिते कर्मणि द्वितीया तृतीया च विभक्तिर्भवति।

उदा०-(द्वितीया) यवागूमग्निहोत्रं जुहोति। (तृतीया) यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति।

*आर्यभाषा-**अर्थ-**(छन्दसि) वेद विषय में (होः) हु-धातु के (अनभिहिते) अकथित (कर्मणि) कर्म कारण में (द्वितीया तृतीया च) द्वितीया और तृतीया विभक्ति होती है।*

*उदा०-**(द्वितीया) यवागूमग्निहोत्रं जुहोति।** देवदत्त लापसी की अग्निहोत्र में आहुति देता है। **(तृतीया) यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति।** देवदत्त लापसी से अग्निहोत्र में आहुति देता है।*

***सिद्धि-यवागूमग्निहोत्रं जुहोति।** हु+लट्। हु+शप्+तिप्। हु+(श्लु)+ति। हु+हु+ति। झु+हु+ति। जु+हो+ति। जुहोति।*

*यहां **'हु-दानादनयोः, आदाने च इत्येके'** (जु०प०) धातु से लट्लकार कर्ता अथ में किया गया है। अतः कर्ता कथित और कर्म अकथित है। प्रकृत सूत्र से अकथित कम **'यवागूम्'** में द्वितीया विभक्ति होती है। तृतीया विभक्ति भी होती है-**यवाग्वाऽग्निहोत्र जुहोति।***

द्वितीया-

(३) अन्तरान्तरेणयुक्ते।४।

प०वि०-अन्तरा-अन्तरेण-युक्ते ७।१।

स०-अन्तरा च अन्तरेण च तौ-अन्तरान्तरेणौ, ताभ्याम्-अन्तरान्तरेणाभ्याम्, अन्तरान्तरेणाभ्यां युक्त इति अन्तरान्तरेणयुक्तः, तस्मिन्-अन्तरान्तरेणयुक्ते (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भिततृतीयातत्पुरुषः)।

अनु०-द्वितीया इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अन्तरान्तरेणयुक्ते शब्दे द्वितीया।

अर्थः-अन्तरा अन्तरेण च युक्ते शब्दे द्वितीया विभक्तिर्भवति। अन्तरा अन्तरेण इति च निपातौ मध्यमविनार्थकौ गृह्येते। षष्ठी विभक्त्यपवादः।

उदा०-(अन्तरा) अन्तरा त्वां च मां च कमण्डलुः। (अन्तरेण) अन्तरेण त्वां च मां च कमण्डलुः (अन्तरेण) पुरुषकारं न किञ्चिल्-लभ्यते। अग्निमन्तरेण कथं पचेत्।

आर्यभाषा-अर्थ-*(अन्तरान्तरेणयुक्ते) अन्तरा और अन्तरेण निपात से संयुक्त शब्द में (द्वितीया) द्वितीया विभक्ति होती है। यहां 'अन्तरा' निपात मध्यमवाची और 'अन्तरेण' निपात मध्यमवाची तथा विनावाची है।*

*उदा०-**(अन्तरा) अन्तरा त्वां च मां च कमण्डलुः।** मेरे और तेरे बीच में कमण्डल (जलपात्र) है। **(अन्तरेण) अन्तरेण त्वां च मां च कमण्डलुः।** मेरे और तेरे बीच में कमण्डल है। **अन्तरेण पुरुषकारं न किञ्चिल्लभ्यते।** पुरुषार्थ के बिना कुछ नहीं मिलता है। **अग्निमन्तरेण कथं पचेत्?** देवदत्त अग्नि के बिना कैसे पकावे।*

सिद्धि-*अन्तरा त्वां च मां च कमण्डलुः। यहां अन्तरा निपात के योग में त्वाम् और माम् में द्वितीया विभक्ति है। ऐसे ही-**'अन्तरेण त्वां च मां च कमण्डलुः'** आदि।*

द्वितीया-

(४) कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे।५।

प०वि०-काल-अध्वनोः ६।२ (पञ्चम्यर्थे), अत्यन्तसंयोगे।७।१।

स०-कालश्च अध्वा च तौ-कालाध्वानौ, तयोः-कालाध्वनोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। अत्यन्तश्चासौ संयोग इति अत्यन्तसंयोगः, तस्मिन्-अत्यन्तसंयोगे (कर्मधारयः)। कालः=समयः। अध्वा=मार्गः।

अनु०-'द्वितीया' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-कालाध्वनोर्द्वितीयाऽत्यन्तसंयोगे।

अर्थः-कालवाचिभ्योऽध्ववाचिभ्यश्च शब्देभ्यो द्वितीया विभक्तिर्भवति, अत्यन्तसंयोगे गम्यमाने। क्रियागुणद्रव्यैः सह कालाध्वनोः साकल्येन सम्बन्धोऽत्यन्तसंयोग उच्यते।

उदा०-(१) काल-(क्रिया) मासमधीते[१] देवदत्तः। संवत्सरमधीते[१] यज्ञदत्तः। (गुणः) मासं[२] कल्याणी। संवत्सरं[२] कल्याणी। (द्रव्यम्) मासं[२] गुडधानाः। संवत्सरं[२] गुडधानाः।

(२) अध्वा-(क्रिया) क्रोशमधीते देवदत्तः। योजनमधीते यज्ञदत्तः। (गुणः) क्रोशं कुटिला नदी। योजनं कुटिला नदी। (द्रव्यम्) क्रोशं पर्वतः। योजनं पर्वतः।

आर्यभाषा-अर्थ- *(कालाध्वनोः) कालवाची और अध्वा=मार्गवाची शब्दों से (द्वितीया) द्वितीया विभक्ति होती है (अत्यन्तसंयोगे) यदि वहां अत्यन्त संयोग हो। क्रिया, गुण और द्रव्य के साथ कालवाची और अध्ववाची शब्दों का सम्पूर्णता से सम्बन्ध होना अत्यन्त संयोग कहाता है।*

*उदा०-(१) काल (क्रिया)-**मासमधीते देवदत्तः।** देवदत्त एक मास निरन्तर पढ़ता है। **संवत्सरमधीते यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त एक वर्ष निरन्तर पढ़ता है। (गुण) **मासं कल्याणी।** एक मास कल्याणमय रहा। **संवत्सरं कल्याणी।** एक वर्ष कल्याणमय रहा। (द्रव्य) **मासं गुडधानाः।** एक मास गुडमिश्रित धाणी खाई। **संवत्सरं गुडधानाः।** एक वर्ष गुडमिश्रित धाणी खाई।*

*(२) अध्वा (क्रिया)-**क्रोशमधीते देवदत्तः।** देवदत्त एक कोस तक पुस्तक पढ़ता है। **योजनमधीते यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त एक योजन तक पुस्तक पढ़ता है। (गुण) **क्रोशं कुटिला नदी।** नदी एक कोस तक टेढ़ी है। **योजनं कुटिला नदी।** नदी एक योजन तक टेढ़ी है। (द्रव्य) **क्रोशं पर्वतः।** एक कोस तक पहाड़ है। **योजनं पर्वतः।** एक योजन तक पहाड़ है।*

सिद्धि-मासमधीते देवदत्तः। *यह अध्ययन क्रिया के अत्यन्त संयोग में कालवाची 'मासम्' शब्द में द्वितीया विभक्ति है। ऐसे ही- '**संवत्सरमधीते यज्ञदत्तः**' आदि।*

द्वितीयापवादः (तृतीया)-

(५) अपवर्गे तृतीया।६।

प०वि०-अपवर्गे ७।१ तृतीया १।१।

अनु०-कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अपवर्गे कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया।

अर्थः-अपवर्गेऽर्थे कालवाचिभ्योऽध्ववाभ्यश्च शब्देभ्योऽत्यन्तसंयोगे सति तृतीया विभक्तिर्भवति। फलप्राप्तौ सत्यां क्रियापरिसमाप्तिरपवर्ग उच्यते।

उदा०-(कालः) मासेनानुवाकोऽधीतः। संवत्सरेणानुवाकोऽधीतः। (अध्वा) क्रोशेनानुवाकोऽधीतः। योजनेनानुवाकोऽधीतः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अपवर्गे) फल प्राप्त होने पर क्रियासमाप्ति अर्थ में (कालाध्वनोः) कालवाची और अध्वा=मार्गवाची शब्दों से (अत्यन्तसंयोगे) निरन्तरता होने पर (तृतीया) तृतीया विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) (काल) **मासेनानुवाकोऽधीतः।** एक मास निरन्तर वेद का अनुवाक (अध्याय) पढ़ा और उसे ग्रहण भी कर लिया। **संवत्सरेणानुवाकोऽधीतः।** एक वर्ष निरन्तर वेद का अनुवाक पढ़ा और उसे ग्रहण भी कर लिया।*

*(२) (अध्वा) **क्रोशेनानुवाकोऽधीतः।** एक कोस भर वेद का अनुवाक पढ़ा और उसे ग्रहण भी कर लिया। **योजनेनानुवाकोऽधीतः।** एक योजन भर वेद का अनुवाक पढ़ा और उसे ग्रहण भी कर लिया।*

*सिद्धि-**मासेनानुवाकोऽधीतः।** यहां एक मास निरन्तर अनुवाक पढ़ने और उसे ग्रहण करने पर कालवाची 'मासेन' शब्द में तृतीया विभक्ति है। यदि केवल अत्यन्तसंयोग हो और अपवर्ग न हो वहां पूर्वसूत्र से द्वितीया विभक्ति ही होती है-**मासमनुवाकोऽधीतः।** ऐसे ही-'संवत्सरेणानुवाकोऽधीतः' आदि।*

द्वितीयापवादः (सप्तमी पञ्चमी च)-

(६) सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये।७।

प०वि०-सप्तमी-पञ्चम्यौ १।२ कारक-मध्ये ७।१।

स०-सप्तमी च पञ्चमी च ते-सप्तमीपञ्चम्यौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। कारकयोर्मध्य इति कारकमध्यः, तस्मिन्-कारकमध्ये (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-'कालाध्वनोः' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-कारकमध्ये कालाध्वनोः सप्तमीपञ्चम्यौ।

अर्थः-कारकयोर्मध्ये वर्तमानेभ्यः कालवाचिभ्योऽध्ववाचिभ्यश्च शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चम्यौ विभक्ती भवति।

उदा०-(१) **कालः**-अद्य भुक्त्वा देवदत्तो द्व्यहे, द्व्यहाद् वा भोक्ता।

(२) **अध्वा**-इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्यति।

आर्यभाषा-अर्थ-(कारकमध्ये) दो कारक शक्तियों के बीच में विद्यमान (कालाध्वनोः) कालवाची और अध्ववाची शब्दों से (सप्तमीपञ्चम्यौ) सप्तमी और पञ्चमी विभक्ति होती है। यह द्वितीया विभक्ति का अपवाद है।

उदा०-(१) काल-अद्य भुक्त्वा देवदत्तो द्व्यहे, द्व्यहाद् वा भोक्ता। आज खाकर देवदत्त दो दिन में खायेगा।

(२) अध्वा-इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्यति। यहां अवस्थित यह धनुर्धारी एक कोस पर लक्ष्य को बींध देता है।

सिद्धि-अद्य भुक्त्वा देवदत्तो द्व्यहे, द्व्यहाद् वा भोक्ता। यहां कालवाची 'द्व्यह' शब्द देवदत्त की दो कर्ता-शक्तियों के मध्य में विद्यमान है, अतः उसमें सप्तमी अथवा पञ्चमी विभक्ति है। ऐसे ही-अध्वा-इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्यति।

द्वितीया–

(७) कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया।८।

प०वि०-कर्मप्रवचनीय-युक्ते ७।१ द्वितीया १।१।

स०-कर्मप्रवचनीयैर्युक्त इति कर्मप्रवचनीययुक्तः, तस्मिन्-कर्मप्रवचनीययुक्ते। (तृतीयातत्पुरुषः)।

अर्थः-कर्मप्रवचनीयसंज्ञकैर्निपातैर्युक्ते शब्दे द्वितीया विभक्तिर्भवति।

उदा०-शाकल्यस्य संहिताम् अनु प्रावर्षत्। अगस्त्यमनु असिञ्चन् प्रजाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(कर्मप्रवचनीययुक्ते) कर्मप्रवचनीयसंज्ञक निपातों से युक्त शब्द में (द्वितीया) द्वितीया विभक्ति होती है।

उदा०-शाकलयस्य संहिताम् अनु प्रावर्षत्। शाकल्यसंहिता पाठ की समाप्ति पर जोर की वर्षा हुई। अगस्त्यम् अनु-असिञ्चन् प्रजाः। अगस्त्य नक्षत्र के उदय के पश्चात् प्रजाओं ने सिंचाई का कार्य आरम्भ कर दिया।

सिद्धि-शाकल्यस्य संहिताम् अनु प्रावर्षत्। यहां 'अनुर्लक्षणे' (१।४।८३) से 'अनु' निपात की कर्मप्रवचनीय संज्ञा है और उसके योग में 'संहिताम्' में द्वितीया विभक्ति है। ऐसे ही-अगस्त्यम् अनु असिञ्चन् प्रजाः।

द्वितीयापवादः (सप्तमी)–

(८) यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी।९।

प०वि०-यस्मात् ५।१ अधिकम् १।१ यस्य ६।१ च अव्ययपदम्, ईश्वरवचनम् १।१ तत्र अव्ययपदम्, सप्तमी १।१।

स०-ईश्वरस्य वचनमिति ईश्वरवचनम् (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-'कर्मप्रवचनीययुक्ते' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-यत्र यद् यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी।

अर्थः-यत्र यद् यस्मादधिकम्, यस्य चेश्वरवचनं तत्र कर्मप्रवचनीयेन युक्ते शब्दे सप्तमी विभक्तिर्भवति। द्वितीयापवादः।

उदा०-(१) **यद् यस्मादधिकम्**-उप खार्यां द्रोणः। (२) **यस्य चेश्वरवचनम्**-अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः। अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः। अत्र स्व-स्वामिनोर्द्वयोरपि पर्यायेण सप्तमी विभक्तिर्भवति।

आर्यभाषा-अर्थ-(यस्माद् अधिकम्) जहां जो जिससे अधिक है (यस्य चेश्वरवचनम्) और जिसके ईश्वर होने का कथन किया गया है (तत्र) वहां (कर्मप्रवचनीययुक्ते) कर्मप्रवचनीयसंज्ञक निपात से युक्त शब्द में (सप्तमी) सप्तमी विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) **जो जिससे अधिक-उप खार्यां द्रोणः।** द्रोण से खारी अधिक है। द्रोण=२० सेर, खारी=एक मण। (२) **ईश्वरवचन-अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः।** पञ्चाल ब्रह्मदत्त के अधीन हैं, वह उनका ईश्वर है। **अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः।** पञ्चालों में ब्रह्मदत्त ईश्वर है। यहां स्व और स्वामी दोनों में क्रमशः सप्तमी विभक्ति होती है।*

*सिद्धि-(१) **उप खार्यां द्रोणः।** यहां 'उपोऽधिके च' (१।४।८७) से 'उप' निपात की कर्मप्रवचनीय संज्ञा है। यहां द्रोण से खारी के अधिक वचन में 'खार्याम्' में सप्तमी विभक्ति है।*

*(२) **अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः।** यहां 'अधिरीश्वरे' (१।४।९७) से 'अधि' निपात की कर्मप्रवचनीय संज्ञा है और ब्रह्मदत्त के ईश्वरवचन में 'ब्रह्मदत्ते' में सप्तमी विभक्ति है।*

द्वितीयापवादः (पञ्चमी)-

(६) पञ्चम्यपाङ्परिभिः।१०।

प०वि०-पञ्चमी १।१ अप-आङ्-परिभिः ३।३।

स०-अपश्च आङ् च परिश्च ते-अपाङ्परयः, तैः-अपाङ्परिभिः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-कर्मप्रवचनीययुक्ते इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अपाङ्परिभिः कर्मप्रवचनीयैर्युक्ते शब्दे पञ्चमी।

अर्थ:-अपाङ्परिभि: कर्मप्रवचनीयैर्युक्ते शब्दे पञ्चमी विभक्तिर्भवति। द्वितीयापवाद:।

उदा०-(१) **अप**-अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देव:। (२) **आङ्**-आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देव:। (३) **परि**-परि त्रिगतेभ्यो वृष्टो देव:।

आर्यभाषा-अर्थ-*(अपाङ्परिभि:) अप, आङ् और परि इन (कर्मप्रवचनीययुक्ते) कर्मप्रवचनीयसंज्ञक निपातों से युक्त शब्द में (पञ्चमी) पञ्चमी विभक्ति होती है। यह द्वितीया विभक्ति का अपवाद है।*

*उदा०-(१) **अप-अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देव:।** त्रिगर्त देश (जालन्धर) को छोड़कर बादल बरसा। (२) **आङ्-आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देव:।** पाटलिपुत्र (पटना) तक बादल बरसा। (३) **परि-परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देव:।** त्रिगर्त देश को छोड़कर बादल बरसा।*

*सिद्धि-(१) **अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देव:।** यहां **'अपपरी वर्जने'** (१।४।८८) से 'अप' तथा 'परि' निपात की कर्मप्रवचनीय संज्ञा है और उसके योग में **'त्रिगर्तेभ्य:'** शब्द में पञ्चमी विभक्ति है।*

*(२) **आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देव:।** यहां **'आङ् मर्यादावचने'** (१।४।८९) से 'आङ्' निपात की कर्मप्रवचनीय संज्ञा है और उसके योग **'पाटलिपुत्रेभ्य:'** शब्द में पञ्चमी विभक्ति है।*

द्वितीयापवाद: (पञ्चमी)–

(१०) प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्।११।

प०वि०-प्रतिनिधि-प्रतिदाने १।२ च अव्ययपदम्, यस्मात् ५।१।

स०-प्रतिनिधिश्च प्रतिदानं च ते-प्रतिनिधिप्रतिदाने (इतरेतर-योगद्वन्द्व:)।

अनु०-कर्मप्रवचनीययुक्ते, पञ्चमी इति चानुवर्तते।

अन्वय:-प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् तत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते शब्दे पञ्चमी।

अर्थ:-यस्मात् प्रतिनिधिर्यस्माच्च प्रतिदानं तत्र कर्मप्रवचनीयेन युक्ते शब्दे पञ्चमी विभक्तिर्भवति। मुख्यसदृश: प्रतिनिधि:। दत्तस्य प्रतिनिर्यातनं प्रतिदानम्।

उदा०-(१) **प्रतिनिधि:**- अभिमन्युरर्जुनत: प्रति। प्रद्युम्नो वासुदेवत: प्रति। (२) **प्रतिदानम्**-देवदत्तो माषान् अस्मै तिलेभ्य: प्रति यच्छति।

आर्यभाषा-अर्थ-(यस्मात्) जो जिसका (प्रतिनिधिः) प्रतिनिधि हो (यस्माच्च प्रतिदानम्) और जिसका जिससे प्रदान हो वहां (कर्मप्रवचनीययुक्ते) कर्मप्रवचनीय से युक्त शब्द में (पञ्चमी) पञ्चमी विभक्ति होती है। यह द्वितीया-विभक्ति का अपवाद है।

*उदा०-(१) **प्रतिनिधि-अभिमन्युरर्जुनतः प्रति।** अभिमन्यु अर्जुन का प्रतिनिधि है। **प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रति।** प्रद्युम्न कृष्ण का प्रतिनिधि है। (२) **प्रतिदान-देवदत्तो माषान् अस्मै तिलेभ्यः प्रति यच्छति।** देवदत्त इस व्यक्ति के उड़दों को तिलों से बदलता है।*

***सिद्धि-अभिमन्युरर्जुनतः प्रति।** अर्जुन+ङसि+तसिल्। अर्जुन+तस्। अर्जुनतः। यहां अभिमन्यु अर्जुन का प्रतिनिधि है। अतः अर्जुन में पञ्चमी विभक्ति है। यहां **'प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः'** (१।४।९२) से 'प्रति' निपात की कर्मप्रवचनीय संज्ञा है। ऐसे ही प्रतिदान में भी समझलें।*

द्वितीया चतुर्थी च–

(११) गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि।१२।

प०वि०–गत्यर्थ-कर्मणि ७।१ द्वितीया-चतुर्थ्यौ १।२ चेष्टायाम् ७।१ अनध्वनि ७।१।

स०–गतिरर्थो येषां ते-गत्यर्थाः, तेषाम्-गत्यर्थानाम्, गत्यर्थानां कर्मेति गत्यर्थकर्म, तस्मिन्-गत्यर्थकर्मणि (बहुव्रीहिगर्भितषष्ठीतत्पुरुषः)। द्वितीया च चतुर्थी च ते-द्वितीयाचतुर्थ्यौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। न अध्वा इति अनध्वा, तस्मिन्-अनध्वनि (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–'अनभिहिते' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–चेष्टायामनध्वनि अनभिहिते गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ।

अर्थः–चेष्टाक्रियाणां गत्यर्थानां धातूनाम् अध्ववर्जितेऽनभिहिते कर्मणि कारके द्वितीया-चतुर्थ्यौ विभक्ती भवतः।

उदा०–द्वितीया–ग्रामं गच्छति देवदत्तः। ग्रामं व्रजति यज्ञदत्तः। **(चतुर्थी)** ग्रामाय गच्छति देवदत्तः। ग्रामाय व्रजति यज्ञदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(चेष्टायाम्) चेष्टा क्रियावाली (गत्यर्थकर्मणि, अनध्वनि) गति-अर्थवाली धातुओं के अध्व-वर्जित अनभिहित=अकथित कर्म कारक में (द्वितीयाचतुर्थ्यौ) द्वितीया और चतुर्थी विभक्ति होती हैं।

*उदा०-द्वितीया-**ग्रामं गच्छति देवदत्तः।** देवदत्त ग्राम को जाता है। **नगरं व्रजति यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त नगर को जाता है। (२) चतुर्थी-**ग्रामाय गच्छति देवदत्तः।** अर्थ पूर्ववत् है। **नगराय व्रजति यज्ञदत्तः।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*सिद्धि-**गामं/ग्रामाय गच्छति देवदत्तः।** यहां गत्यर्थक 'गम्' धातु के 'ग्राम' कर्म में द्वितीया और चतुर्थी विभक्ति है।*

*(१) यहां गत्यर्थक धातु का ग्रहण इसलिये किया है कि यहां चतुर्थी विभक्ति न हो-**ओदनं पचति देवदत्तः।***

*(२) यहां 'चेष्टायाम्' का ग्रहण इसलिये किया है कि यहां चतुर्थी विभक्ति न हो-**मनसा पाटलिपुत्रं गच्छति देवदत्तः।***

*(३) यहां 'अनध्वनि' से अध्वा (मार्ग) कर्म का निषेध इसलिये किया है कि यहां चतुर्थी विभक्ति न हो-**अध्वानम् (मार्गम्, पन्थानम्) गच्छति देवदत्तः।***

चतुर्थीविभक्तिप्रकरणम्

चतुर्थी-

(१) चतुर्थी सम्प्रदाने।१३।

प०वि०-चतुर्थी १।१ सम्प्रदाने ७।१।

अनु०-'अनभिहिते' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अनभिहिते सम्प्रदाने चतुर्थी।

अर्थः-अनभिहिते सम्प्रदाने कारके चतुर्थी विभक्तिर्भवति। अत्र तृतीयाविभक्तिमतिक्रम्य प्रसङ्गप्राप्ता चतुर्थी विभक्तिर्विधीयते।

उदा०-देवदत्त **उपाध्यायाय** गां ददाति। **देवदत्ताय** रोचते मोदकः। बालकः **पुष्पेभ्यः** स्पृहयति इत्यादिकम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनभिहिते) अकथित (सम्प्रदाने) सम्प्रदान कारक में (चतुर्थी) चतुर्थी विभक्ति होती है। यहां द्वितीया विभक्ति के पश्चात् तृतीया विभक्ति को छोड़कर प्रसङ्गवश चतुर्थी विभक्ति का विधान किया गया है।

*उदा०-**देवदत्त उपाध्यायाय गां ददाति।** देवदत्त उपाध्याय जी के लिये गाय देता है। **देवदत्ताय रोचते मोदकः।** देवदत्त को लड्डू प्यारा लगता है। **बालकः पुष्पेभ्यः स्पृहयति।** बालक फूल को प्राप्त करना चाहता है।*

*सिद्धि-**देवदत्त उपाध्यायाय गां ददाति।** यहां **'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्'** (१।४।३२) से 'उपाध्याय' की सम्प्रदान संज्ञा है और उसमें प्रकृत सूत्र से चतुर्थी विभक्ति*

है। 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' (१।४।३२) इत्यादि सम्प्रदान कारक का सब प्रकरण देख लेवें।

द्वितीयापवादः (चतुर्थी)–

(२) क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः।१४।

प०वि०–क्रियार्था–उपपदस्य ६।१ च अव्ययपदम्, कर्मणि ७।१ स्थानिनः ६।१।

स०–क्रियायै इयमिति क्रियार्था, क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य स क्रियार्थोपपदः, तस्य क्रियार्थोपपदस्य (चतुर्थीतत्पुरुषगर्भित–उत्तरपदलोपी बहुव्रीहिः)।

अनु०–अनभिहिते, चतुर्थी इति चानुवर्तते।

अन्वयः–क्रियार्थोपपदस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य धातोरनभिहिते कर्मणि चतुर्थी।

अर्थः–क्रियार्थोपपदस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य धातोरनभिहिते कर्मणि कारके चतुर्थी विभक्तिर्भवति। द्वितीयापवादः।

उदा०–एधान् आहर्तुं व्रजतीति एधेभ्यो[४] व्रजति देवदत्तः। पुष्पाण्याहर्तुं व्रजतीति पुष्पेभ्यो[४] व्रजति देवदत्तः।

आर्यभाषा–अर्थ–(क्रियार्थोपपदस्य) क्रिया के लिये क्रिया उपपदवाली (स्थानिनः) स्थानी के अप्रयोगवाली धातु के (अनभिहिते) अकथित (कर्मणि) कर्म में (चतुर्थी) चतुर्थी विभक्ति होती है। यह द्वितीया विभक्ति का अपवाद है।

*उदा०–**एधान् आहर्तुं व्रजति इति एधेभ्यो व्रजति देवदत्तः।** देवदत्त समिधायें लाने के लिये जाता है। **पुष्पाण्याहर्तुं व्रजतीति पुष्पेभ्यो व्रजति यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त फूल लाने के लिये जाता है।*

*सिद्धि–एधान् आहर्तुं व्रजतीति एधेभ्यो व्रजति देवदत्तः। यहां 'व्रजति' क्रिया क्रियार्थ-क्रिया है। समिधायें लाने के लिये 'व्रजति' क्रिया की जारही है। उसके उपपद होने पर **'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्'** (३।३।१०) से आहर्तुम् (आ+हृ+तुमुन्) में तुमुन् प्रत्यय हुआ है। इसके प्रयोग न होने पर जो 'एध' शब्द में **'कर्मणि द्वितीया'** (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति प्राप्त थी वहां प्रकृत सूत्र से चतुर्थी विभक्ति का विधान किया गया है।*

चतुर्थी–

(३) तुमर्थाच्च भाववचनात्।१५।

प०वि०–तुम्-अर्थात् ५।१ च अव्ययपदम्, भाव-वचनात् ५।१।

स०–तुमुनोऽर्थ इवार्थो यस्य स तुमर्थः, तस्मात्-तुमर्थात् (बहुव्रीहिः)। भावं वक्ति इति भाववचनः, तस्मात्-भाववचनात् (उपपद-तत्पुरुषः)।

अनु०–चतुर्थी इति चानुवर्तते।

अन्वयः–तुमर्थाद् भाववचनाच्च चतुर्थी।

अर्थः–तुमुनः समानार्थाद् भाववचनाच्च प्रातिपदिकाच्चतुर्थी विभक्तिर्भवति। **'भाववचनाश्च'** (३।३।११) इति यद् वक्ष्यति तस्येदं ग्रहणम्।

उदा०–पाकाय व्रजति देवदत्तः, पक्तुं व्रजतीत्यर्थः। त्यागाय व्रजति ब्रह्मदत्तः। त्यागाय=त्यक्तुं व्रजतीत्यर्थः। भूतये व्रजति यज्ञदत्तः। भवितुं व्रजतीत्यर्थः। इष्टये व्रजति सोमदत्तः। यष्टुं व्रजतीत्यर्थः।

आर्यभाषा–अर्थ–(तुमर्थात्) तुमुन् प्रत्यय के समान अर्थवाले (भाववचनात्) भाव को कहनेवाले प्रातिपदिक से (च) भी (चतुर्थी) चतुर्थी विभक्ति होती है।

*उदा०–**पाकाय व्रजति देवदत्तः।** देवदत्त पकाने के लिये जाता है। **त्यागाय व्रजति ब्रह्मदत्तः।** ब्रह्मदत्त त्याग (दान) करने के लिये जाता है। **भूतये व्रजति यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त कल्याण के लिये जाता है। **इष्टये व्रजति सोमदत्तः।** सोमदत्त यज्ञ करने के लिये जाता है।*

*सिद्धि–**पाकाय व्रजति देवदत्तः।** पच्+घञ्। पच्+अ। पाक+सु। पाकः।*

*यहां क्रियार्थ-क्रिया उपपदवाली 'पच्' धातु से **'भाववचनाश्च'** (३।३।११) से घञ्-प्रत्यय का तुमुन् अर्थ में विधान किया गया है। प्रकृत सूत्र से तुमर्थक भाववचन **'पाक'** प्रातिपदिक से चतुर्थी विभक्ति का विधान किया गया है। ऐसे ही सर्वत्र समझें।*

चतुर्थी–

(४) नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च।१६।

प०वि०–नमः-स्वस्ति-स्वाहा-स्वधा-अलम्-वषड्-योगात् ५।१ च अव्ययपदम्।

स०-नमश्च स्वस्तिश्च स्वाहा च स्वधा च अलं च वषट् च ते-नम०वषटः, तैः-नमः०वषड्भिः। नम०वषड्भिर्योग इति नम०वषड्योगः, तस्मात्-नम०वषड्योगात् (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भिततृतीयातत्पुरुषः)।

अनु०-'चतुर्थी' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-नमः०वषड्योगाच्च चतुर्थी।

अर्थः-नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्युक्तात् प्रातिपदिकाच्च चतुर्थी विभक्तिर्भवति।

उदा०-(१) **नमः**-नमो देवेभ्यः। (२) **स्वस्ति**-स्वस्ति प्रजाभ्यः। (३) **स्वाहा**-अग्नये स्वाहा। (४) **स्वधा**-स्वधा पितृभ्यः। (५) **अलम्**-अलं मल्लो मल्लाय। (६) **वषट्**-वषट् अग्नये। वषट् इन्द्राय।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(नम०योगात्) नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् और वषट् इन शब्दों से युक्त प्रातिपदिक से (च) भी (चतुर्थी) विभक्ति होती है।

उदा०-(१) __नमः-नमो देवेभ्यः।__ विद्वानों के लिये नमस्कार। (२) __स्वस्ति-स्वस्ति प्रजाभ्यः।__ प्रजा का कल्याण हो। (३) __स्वधा-स्वधा पितृभ्यः।__ पितृजनों के लिये भोजन। (४) __अलम्-अलं मल्लो मल्लाय।__ इस पहलवान के लिये यह पहलवान काफी है। (५) __वषट्-वषट् इन्द्राय।__ इन्द्र देवता के लिये विशिष्ट आहुति। __वषट् अग्नये।__ अग्नि देवता के लिये विशिष्ट आहुति।

__सिद्धि-नमो देवेभ्यः।__ यहां 'नमः' शब्द के योग में 'देव' प्रातिपदिक से चतुर्थी विभक्ति होती है। ऐसे ही-__'स्वस्ति प्रजाभ्यः'__ आदि।

चतुर्थी द्वितीया च-

(५) मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु।१७।

प०वि०-मन्य-कर्मणि ७।१ अनादरे ७।१ विभाषा १।१ अप्राणिषु ७।३।

स०-मन्यस्य कर्मेति मन्यकर्म, तस्मिन्-मन्यकर्मणि (षष्ठीतत्पुरुषः)। न आदर इति अनादरः, तस्मिन्-अनादरे (नञ्तत्पुरुषः)। न प्राणिन इति अप्राणिनः, तेषु-अप्राणिषु (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-'चतुर्थी' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अप्राणिषु मन्यकर्मणि विभाषा चतुर्थी अनादरे।

अर्थः-प्राणिवर्जिते मन्यधातोः कर्मणि विकल्पेन चतुर्थी विभक्तिर्भवति, अनादरे गम्यमाने। पक्षे द्वितीया विभक्तिर्भवति।

उदा-(१) **चतुर्थी**-नाहं त्वां तृणाय[४] मन्ये। नाहं त्वां बुसाय मन्ये। (२) **द्वितीया**-नाहं त्वां तृणं[२] मन्ये। नाहं त्वां बुसं[२] मन्ये।

आर्यभाषा-अर्थ-(अप्राणिषु) प्राणिवाची कर्म को छोड़कर (मन्यकर्मणि) मन्य धातु के कर्म में (विभाषा) विकल्प से (चतुर्थी) चतुर्थी विभक्ति होती है (अनादरे) यदि वहां अनादर प्रकट हो। पक्ष में द्वितीया विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) चतुर्थी-**नाहं त्वां तृणाय मन्ये।** मैं तुझे तिनका भी नहीं समझता हूं। **नाहं त्वां बुसाय मन्ये।** मैं तुझे भूसा भी नहीं समझता हूं। (२) द्वितीया-**नाहं त्वां तृणं मन्ये।** अर्थ पूर्ववत् है। **नाहं त्वां बुसं मन्ये।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*सिद्धि-**नाहं त्वां तृणाय मन्ये।** यहां मन्य धातु के प्राणिवर्जित कर्म 'तृण' में अनादर अर्थ में चतुर्थी विभक्ति है। पक्ष में द्वितीया विभक्ति भी दर्शायी गई है।*

तृतीयाविभक्तिप्रकरणम्

तृतीया—

(१) कर्तृकरणयोस्तृतीया।१८।

प०वि०-कर्तृ-करणयोः ७।२ तृतीया १।१।

स०-कर्ता च करणं च ते-कर्तृकरणे, तयोः-कर्तृकरणयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अनभिहिते इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अनभिहितयोः कर्तृकरणयोस्तृतीया।

अर्थः-अनभिहिते कर्तरि करणे च कारके तृतीया विभक्तिर्भवति।

उदा०-(१) **कर्तरि**-देवदत्तेन कृतम्। यज्ञदत्तेन भुक्तम्। (२) **करणे**-दात्रेण लुनाति देवदत्तः। परशुना छिनत्ति यज्ञदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनभिहिते) अकथित (कर्तृकरणयोः) कर्ता और करण कारक में (तृतीया) तृतीया विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) कर्ता-**देवदत्तेन कृतम्।** देवदत्त ने किया। **यज्ञदत्तेन भुक्तम्।** यज्ञदत्त ने भोजन किया। (२) करणे-**दात्रेण लुनाति देवदत्तः।** देवदत्त दाती से काटता है। **परशुना छिनत्ति यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त फरसे से काटता है।*

*सिद्धि-(१) देवदत्तेन **कृतम्**। कृ+क्त। कृ+त। कृत+सु। कृतम्।*

*यहां **'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः'** (३।४।७०) से कृ धातु से क्त प्रत्यय कर्म अर्थ में है, अतः कर्म कथित और कर्ता अकथित है। अकथित कर्ता 'देवदत्त' में तृतीया विभक्ति है।*

*(२) **दात्रेण लुनाति देवदत्तः।** यहां लवनक्रिया में दात्र अत्यन्त साधक है। उसकी **'साधकतमं करणम्'** (१।४।४२) से करण संज्ञा है। 'लुनाति' में कर्ता अर्थ में लट्लकार है। अतः 'कर्ता' कथित और 'करण' अकथित है। अकथित 'दात्र' में तृतीया विभक्ति है।*

तृतीया–

(२) सहयुक्तेऽप्रधाने।१६।

प०वि०-सह-युक्ते ७।१ अप्रधाने ७।१।

स०-सहेन युक्त इति सहयुक्तः, तस्मिन्-सहयुक्ते (तृतीयातत्पुरुषः)। न प्रधानमिति अप्रधानम्, तस्मिन्-अप्रधाने (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-तृतीया इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-सहयुक्तेऽप्रधाने तृतीया।

अर्थः-सह इत्यनेन युक्तेऽप्रधानेऽर्थे तृतीया विभक्तिर्भवति।

उदा०-पुत्रेण सहागतः पिता। छात्रैः सहागत उपाध्यायः। **अत्र** सह-पर्यायवाचिनामपि ग्रहणं क्रियते। पुत्रेण सार्धमागतः पिता। छात्रैः साकमागत उपाध्यायः।

आर्यभाषा-अर्थ-(सहयुक्ते) सह शब्द से संयुक्त (अप्रधाने) गौण अर्थ में (तृतीया) तृतीया विभक्ति होती है।

*उदा०-**पुत्रेण सहागतः पिता।** पिता पुत्र के सहित आया। **छात्रैः सहागत उपाध्यायः।** उपाध्याय जी छात्रों सहित आये। यहां 'सह' के पर्यायवाची शब्दों का भी ग्रहण किया जाता है। **पुत्रेण सार्धमागतः पिता।** अर्थ पूर्ववत् है। **छात्रैः साकमागत उपाध्यायः।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*सिद्धि-**पुत्रेण सह आगतः पिता।** यहां पिता कर्ता का क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से पिता प्रधान और पुत्र गौण है। अतः अप्रधान पुत्र में तृतीया विभक्ति है। ऐसे ही-**छात्रैः सहागत उपाध्यायः।***

तृतीया–

(३) येनाङ्गविकारः ।२०।

प०वि०–येन ३ ।१ अङ्ग-विकारः १ ।१ ।

स०–अङ्गस्य विकार इति अङ्गविकारः (षष्ठीतत्पुरुषः)। अत्र अङ्ग' शब्दोऽङ्गसमुदाये शरीरेऽर्थे वर्तते।

अनु०–तृतीया इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–येनाङ्गविकारस्ततस्तृतीया।

अर्थः–येन विकृतेन अङ्गेन अङ्गिनः=शरीरस्य विकारो लक्ष्यते तस्मात् तृतीया विभक्तिर्भवति।

उदा०–अक्ष्णा काणो देवदत्तः। पादेन खञ्जो यज्ञदत्तः। पाणिना कुण्ठो ब्रह्मदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(येन) जिस विकृत अङ्ग से अङ्गी=शरीर का विकार लक्षित होता है उस विकृत अङ्ग से (तृतीया) तृतीया विभक्ति होती है।

*उदा०–**अक्ष्णा काणो देवदत्तः।** देवदत्त आंख से काणा है। **पादेन खञ्जो यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त पांव से लंगड़ा है। **हस्तेन कुण्ठो ब्रह्मदत्तः।** ब्रह्मदत्त हाथ से टुण्डा है।*

सिद्धि–अक्ष्णा काणो देवदत्तः।** देवदत्त के शरीर का 'अक्षि' अङ्ग से काणत्व विकार लक्षित होता है, अतः 'अक्षि' शब्द में तृतीया विभक्ति है। ऐसे ही–**पादेन खञ्जो यज्ञदत्तः, पाणिना कुण्ठो ब्रह्मदत्तः।

तृतीया–

(४) इत्थंभूतलक्षणे ।२१।

वि०–इत्थंभूतलक्षणे ७ ।१ ।

स०–कञ्चित् प्रकारं प्राप्त इत्थंभूतः, इत्थंभूतस्य लक्षणमिति इत्थंभूतलक्षणम्, तस्मिन्-इत्थम्भूतलक्षणे (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०–तृतीया इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–इत्थंभूतलक्षणे तृतीया।

अर्थः–इत्थंभूतस्य=कञ्चित् प्रकारं प्राप्तस्य पुरुषस्य लक्षणे तृतीया विभक्तिर्भवति।

उदा०-अपि भवान् कमण्डलुना[३] छात्रम् अद्राक्षीत्। अपि भवान् छात्रेण[३] उपाध्यायम् अद्राक्षीत्।

आर्यभाषा-अर्थ-*(इत्थंभूतलक्षणे) इत्थंभूत=किसी प्रकार विशेष को प्राप्त हुये पुरुष के लक्षण में (तृतीया) तृतीया विभक्ति होती है।*

*उदा०-**अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत्।** कोई किसी से पूछता है-क्या आपने कमण्डलु लिये हुये छात्र को देखा? **अपि भवान् छात्रेण उपाध्यायम् अद्राक्षीत्।** क्या आपने छात्रवाले उपाध्याय को देखा?*

सिद्धि-अपि भवान् कमण्डलुना छात्रम् अद्राक्षीत्। *यहां इत्थंभूत छात्र का लक्षण 'कमण्डलु' है, अतः उसमें तृतीया विभक्ति है। ऐसे ही-**अपि भवान् छात्रेण उपाध्यायम् अद्राक्षीत्।***

तृतीया द्वितीया च-

(५) संज्ञोऽन्यतरस्याम् कर्मणि।२२।

प०वि०-संज्ञः ६।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्, कर्मणि ७।१।

अनु०-अनभिहिते तृतीया इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संज्ञोऽनभिहिते कर्मण्यन्यतरस्यां तृतीया।

अर्थः-सम्-पूर्वस्य ज्ञा-धातोरनभिहिते कर्मणि कारके विकल्पेन तृतीया विभक्तिर्भवति। पक्षे च द्वितीया विभक्तिर्भवति।

उदा०-(१) **तृतीया**-मात्रा[३] संजानीते बालकः। (२) **द्वितीया**-मातरं[२] संजानीते बालकः।

आर्यभाषा-अर्थ-*(संज्ञः) सम् उपसर्गपूर्वक ज्ञा-धातु के (अनभिहिते) अकथित (कर्मणि) कर्म कारक में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (तृतीया) तृतीया विभक्ति होती है और पक्ष में द्वितीया विभक्ति होती है।*

*उदा०-**तृतीया-मात्रा संजानीते बालकः।** बालक माता को पहचानता है। **मातरं संजानीते बालकः।** अर्थ पूर्ववत् है।*

सिद्धि-मात्रा संजानीते बालकः। *सम्+ज्ञा+लट्। सम्+ज्ञा+श्ना+त। सम्+जा+नी+ते। संजानीते।*

*यहां **'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने'** (१।३।४६) से सम् उपसर्गपूर्वक ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है। यहां 'संजानीते' का कर्म माता है, उसमें तृतीया विभक्ति है। विकल्प पक्ष में **'कर्मणि द्वितीया'** (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति होती है।-**मातरं संजानीते बालकः।***

तृतीया–

(६) हेतौ।२३।

वि०–हेतौ ७।१।

अनु०–तृतीया इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–हेतौ तृतीया।

अर्थः–हेतुवाचके शब्दे तृतीया विभक्तिर्भवति। लोके फलसाधनसमर्थः पदार्थो हेतुरित्युच्यते।

उदा०–धनेन[३] कुलम्। विद्यया[३] यशः। कन्यया[३] शोकः।

आर्यभाषा-अर्थ-(हेतौ) हेतुवाचक शब्द में (तृतीया) तृतीया विभक्ति होती है। लोक में फल को सिद्ध करने में समर्थ पदार्थ को 'हेतु' कहते हैं।

*उदा०–**धनेन कुलम्।** कुल का हेतु धन है। **विद्यया यशः।** यश की हेतु विद्या है। **कन्यया शोकः।** शोक का हेतु कन्या है।*

*सिद्धि–**धनेन कुलम्।** यहां कुल के हेतु 'धन' शब्द में तृतीया विभक्ति है। ऐसे ही–**विद्यया यशः, कन्यया शोकः।***

पञ्चमी–

(६) अकर्तर्यृणे पञ्चमी।२४।

प०वि०–अकर्तरि ७।१ ऋणे ७।१ पञ्चमी १।१।

स०–न कर्ता इति अकर्ता, तस्मिन्–अकर्तरि (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–हेतौ इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–अकर्तरि ऋणे हेतौ पञ्चमी।

अर्थः–कर्तृवर्जिते ऋणवाचके हेतुशब्दे पञ्चमी विभक्तिर्भवति। तृतीयापवादः।

उदा०–शताद्[१] बद्धो देवदत्तः। सहस्राद्[१] बद्धो यज्ञदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अकर्तरि) कर्ता से भिन्न (ऋणे) ऋणवाचक (हेतौ) हेतु शब्द में (पञ्चमी) पञ्चमी विभक्ति होती है।

*उदा०–**शताद् बद्धो देवदत्तः।** देवदत्त सौ रुपये के ऋण से बंधा हुआ है। **सहस्राद् बद्धो यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त हजार रुपये के ऋण से बंधा हुआ है।*

सिद्धि-शताद् बद्धो देवदत्तः। यहां देवदत्त के बन्धन का 'शतम्' ऋणात्मक हेतु है, अतः उसमें पञ्चमी विभक्ति है। ऐसे ही-सहस्राद् बद्धो यज्ञदत्तः।

विशेष-इससे प्रतीत होता है कि पाणिनिकाल में भी ऋण देकर बन्धुआ मजदूर बनाने की प्रथा थी।

तृतीया पञ्चमी च–

(७) विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्।२५।

प०वि०-विभाषा १।१ गुणे ७।१ अस्त्रियाम् ७।१।

स०-न स्त्री इति अस्त्री, तस्याम्-अस्त्रियाम् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-हेतौ पञ्चमी इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अस्त्रियां गुणे हेतौ विभाषा पञ्चमी।

अर्थः-स्त्रीलिङ्गवर्जिते गुणवाचके हेतौ शब्दे विकल्पेन पञ्चमी विभक्तिर्भवति। पक्षे तृतीयापि भवति।

उदा०-(१) **पञ्चमी-**जाड्याद्[1] बद्धो देवदत्तः। पाण्डित्याद्[1] मुक्तो यज्ञदत्तः। (२) **तृतीया-**जाड्येन[3] बद्धो देवदत्तः। पाण्डित्येन[3] मुक्तो यज्ञदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग से भिन्न (गुणे) गुणवाचक (हेतौ) हेतु शब्द में (विभाषा) विकल्प से (पञ्चमी) पञ्चमी विभक्ति होती है। पक्ष में तृतीया भी होती है।

*उदा०-(१) पञ्चमी-**जाड्याद् बद्धो देवदत्तः।** देवदत्त जड़ता हेतु से संसार में बंधा हुआ है। **पाण्डित्याद् मुक्तो यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त पाण्डित्य हेतु से संसार से मुक्त होगया है। (२) तृतीया-**जाड्येन बद्धो देवदत्तः।** अर्थ पूर्ववत् है। **पाण्डित्येन मुक्तो यज्ञदत्तः।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*सिद्धि-जाड्याद् बद्धो देवदत्तः। यहां देवदत्त के बन्धन का हेतु जाड्य (मूर्खता) है, जो स्त्रीलिङ्ग में भी नहीं है। अतः उसमें पञ्चमी विभक्ति है। पक्ष में तृतीया विभक्ति भी होती है-**जाड्येन बद्धो देवदत्तः।** इत्यादि।*

षष्ठी–

षष्ठी हेतुप्रयोगे।२६।

प०वि०-षष्ठी १।१ हेतु-प्रयोगे ७।१।

स०-हेतोः प्रयोग अति हेतुप्रयोगः, तस्मिन्-हेतुप्रयोगे (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-हेतौ इत्यनुवर्तते।

अन्वय:-हेतुप्रयोगे हेतौ षष्ठी।

अर्थ:-हेतुशब्दस्य प्रयोगे हेतुवाचके शब्दे षष्ठी विभक्तिर्भवति।

उदा०-अन्नस्य हेतोर्वसति देवदत्त:।

आर्यभाषा-अर्थ-(हेतुप्रयोगे) वाक्य में हेतु शब्द का प्रयोग होने पर (हेतौ) हेतु के वाचक शब्द में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है।

*उदा०-**अन्नस्य हेतोर्वसति देवदत्त:।** देवदत्त अन्न (भोजन) के हेतु से रहता है।*

तृतीया षष्ठी च-

(६) सर्वनाम्नस्तृतीया च।२७।

प०वि०-सर्वनाम्न: ६।१ तृतीया १।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-हेतौ, हेतुप्रयोगे षष्ठी चानुवर्तते।

अन्वय:-सर्वनाम्नो हेतुप्रयोगे हेतौ च तृतीया षष्ठी च।

अर्थ:-सर्वनामसंज्ञकस्य शब्दस्य हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ च वाच्ये तृतीया षष्ठी च विभक्तिर्भवति।

उदा०-(१) **तृतीया**-केन हेतुना वसति देवदत्त:। येन हेतुना वसति देवदत्त:। (२) **षष्ठी**-कस्य हेतोर्वसतिर्यज्ञदत्त:। यस्य हेतोर्वसति यज्ञदत्त:।

आर्यभाषा-अर्थ-(सर्वनाम्न:) सर्वनामसंज्ञक और (हेतुप्रयोगे) हेतु शब्द का प्रयोग होने पर (हेतौ) हेतुवाच्य हो तो (तृतीया) तृतीया (च) और (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) तृतीया-**केन हेतुना वसति देवदत्त:।** देवदत्त यहां किस हेतु से रहता है ? **येन हेतुना वसति देवदत्त:।** देवदत्त यहां जिस हेतु से रहता है। (२) **षष्ठी-कस्य हेतोर्वसति यज्ञदत्त:।** यज्ञदत्त यहां किस हेतु से रहता है। **यस्य हेतोर्वसति यज्ञदत्त:।** यज्ञदत्त जिस हेतु से रहता है।*

*सिद्धि-**केन हेतुना वसति देवदत्त:।** यहां सर्वनाम 'किम्' शब्द तथा हेतु शब्द में तृतीया विभक्ति है। पक्ष में षष्ठी विभक्ति भी होती है-**कस्य हेतोर्वसति देवदत्त:।** इत्यादि।*

पञ्चमीविभक्तिप्रकरणम्

पञ्चमी–

(१) अपादाने पञ्चमी।२८।

प०वि०–अपादाने ७।१ पञ्चमी १।१।

अनु०–अनभिहिते इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–अनभिहितेऽपादाने पञ्चमी।

अर्थः–अनभिहितेऽपादाने कारके पञ्चमी विभक्तिर्भवति।

उदा०–ग्रामादागच्छति देवदत्तः। पर्वतादवरोहति यज्ञदत्तः। वृकेभ्यो बिभेति ब्रह्मदत्तः।

*आर्यभाषा–**अर्थ**–(अनभिहिते) अकथित (अपादाने) अपादान कारक में (पञ्चमी) पञ्चमी विभक्ति होती है।*

*उदा०–**ग्रामादागच्छति देवदत्तः।** देवदत्त गांव से आता है। **पर्वतादवरोहति यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त पहाड़ से उतरता है। **वृकेभ्यो बिभेति ब्रह्मदत्तः।** ब्रह्मदत्त भेड़ियों से डरता है।*

*सिद्धि–**ग्रामादागच्छति देवदत्तः।** यहां **'ध्रुवमपायेऽपादानम्'** (१।४।२४) से ग्राम की अपादान संज्ञा होती है। प्रकृत सूत्र से अपादान 'ग्राम' में पंचमी विभक्ति होती है। **'ध्रुवमपायेऽपादानम्'** (१।४।२४) इत्यादि अपादान कारक का सब प्रकरण देख लेवें।*

पञ्चमी–

(२) अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते।२९।

प०वि०–अन्य-आरात्-इतर-ऋते-दिक्शब्द-अञ्चूत्तरपद-आच्-आहि-युक्ते। ७।१।

स०–अन्यश्च आराच्च इतरश्च ऋते च दिक्शब्दश्च अञ्चूत्तरपदश्च आच् च आहिश्च ते-अन्य०आहयः, तैः-अन्य०आहिभिः। अन्य०आहिभिर्युक्त इति अन्य०आहियुक्तः, तस्मिन्-अन्यारादिरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भिततृतीयातत्पुरुषः)।

अनु०–पञ्चमी इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अन्य०आहियुक्ते शब्दे पञ्चमी।

अर्थः-अन्य-आरात्-इतर-ऋते-दिक्शब्द-अञ्चूत्तरपद-आच्-आहिभिः संयुक्ते शब्दे पञ्चमी विभक्तिर्भवति।

उदा०-अन्यः-(१) अन्यो देवदत्ताद् यज्ञदत्तः। अन्य इत्यर्थग्रहणं तेन पर्यायवाचिप्रयोगेऽपि पञ्चमी विभक्तिर्भवति। भिन्नो देवदत्ताद् यज्ञदत्तः। अर्थान्तरं देवदत्ताद् यज्ञदत्तः। विलक्षणो देवदत्ताद् यज्ञदत्तः।

(२) **आरात्**-आरात्-शब्दो दूरान्तिकार्थे वर्तते। तत्र दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् (२।३।२४) इति विकल्पेन षष्ठ्यां पञ्चम्यां च प्राप्तायां पञ्चमी विभक्तिर्विधीयते। आराद् ग्रामाद् गुरुकुलम्। आराद् ग्रामाद् विद्यालयः।

(३) **इतर**-इतर इति निर्दिश्यमानप्रतियोगी पदार्थ उच्यते। इतरो ब्राह्मणाद् राजन्यः।

(४) **ऋते**-इत्यव्ययं वर्जनार्थे वर्तते-ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

(५) **दिक्शब्दः**-पूर्वो ग्रामात् पर्वतः। उत्तरो ग्रामात् पर्वतः।

(६) **अञ्चूत्तरपदः**-प्राक् ग्रामाद् नदी प्रवहति। प्रत्यग् ग्रामात् नदी प्रवहति। ननु चायमपि दिक्शब्द एव ? **'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन'** (२।३।३०) इति षष्ठीं वक्ष्यति, तस्यायं पुरस्तादपकर्षः।

(७) **आच्**-दक्षिणा ग्रामाद् गुरुकुलम्। उत्तरा ग्रामाद् आश्रमः।

(८) **आहि**-दक्षिणाहि ग्रामाद् गुरुकुलम्। उत्तराहि ग्रामाद् आश्रमः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अन्य०आहियुक्ते) अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिक्शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच् और आहि इनसे संयुक्त शब्द में (पञ्चमी) पञ्चमी विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) अन्यः-**अन्यो देवदत्ताद् यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त देवदत्त से भिन्न है। यहां अन्य के पर्यायवाची शब्दों का भी ग्रहण किया जाता है। **भिन्नो देवदत्ताद् यज्ञदत्तः। अर्थान्तरं देवदत्ताद् यज्ञदत्तः। विलक्षणो देवदत्ताद् यज्ञदत्तः।** इनका अर्थ पूर्ववत् है।*

*(२) आरात्-आरात् शब्द दूर और अन्तिक (पास) अर्थ में है। उसमें **'दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्'** (२।३।२४) से विकल्प से षष्ठी और पंचमी विभक्ति प्राप्त थी, यहां पञ्चमी विभक्ति का विधान किया गया है। **आरात् ग्रामाद् गुरुकुलम्।** गुरुकुल गांव से दूर है। **आरात् ग्रामाद् विद्यालयः।** विद्यालय गांव से निकट है।*

(३) इतर-इतर शब्द निर्दिश्यमान का प्रतियोगी है। ***इतरो ब्राह्मणाद् राजन्यः।*** *ब्राह्मण से क्षत्रिय भिन्न है।*

(४) ***ऋते****-यह अव्यय निषेध अर्थ में है।* ***ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।*** *ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है।*

(५) ***दिक्शब्द-पूर्वो ग्रामात् पर्वतः।*** *गांव से पूर्व दिशा में पहाड़ है।* ***उत्तरो ग्रामात् पर्वतः।*** *गांव से उत्तर दिशा में पहाड़ है।*

(६) ***अञ्चूत्तरपद-प्राग् ग्रामाद् नदी प्रवहति।*** *गांव से पूर्व दिशा में नदी बहती है।* ***प्रत्यग् ग्रामाद् नदी प्रवहति।*** *गांव से पश्चिम दिशा में नदी बहती है। अञ्चूत्तरपदवाले शब्द भी दिक्शब्द हैं, इनका पृथक् कथन क्यों किया है ?* ***'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन'*** *(२।३।३०) से यहां षष्ठी विभक्ति का विधान किया जायेगा, अतः यहां उससे पहले ही पञ्चमी का विधान कर दिया है।*

(७) ***आच्-दक्षिणा ग्रामाद् गुरुकुलम्।*** *गांव से दक्षिण दिशा में गुरुकुल है।* ***उत्तरा ग्रामाद् आश्रमः।*** *गांव से उत्तर दिशा में आश्रम है।*

(८) ***आहि-दक्षिणाहि ग्रामाद् गुरुकुलम्।*** *अर्थ पूर्ववत् है।* ***उत्तराहि ग्रामाद् आश्रमः।*** *अर्थ पूर्ववत् है।*

सिद्धि-(१) ***अञ्चूत्तरपद-प्राग् ग्रामात् नदी प्रवहति।*** *प्र+अञ्चू+क्विन्। प्र+अञ्च्+०। प्र+अच्। प्राक्+अस्ताति। प्राक्+०। प्राक्।*

यहां प्र उपपद ***'अञ्चु गतिपूजनयोः'*** *(भ्वा०प०) धातु से* ***'ऋत्विग्दधृक्०'*** *(३।२।५९) से 'क्विन्' प्रत्यय है। उससे* ***'दिक्शब्देभ्यः'*** *(५।३।२७) से 'अस्ताति' प्रत्यय करने पर उसका* ***'अञ्चेर्लुक्'*** *(५।३।३०) से लुक् हो जाता है। प्राग् इस अञ्चूत्तरपद शब्द से युक्त 'ग्राम' शब्द में पञ्चमी विभक्ति है।*

(२) ***आच्-दक्षिणा ग्रामाद् गुरुकुलम्।*** *दक्षिण+आच्। दक्षिण+सु। दक्षिणा।*

यहां ***'दक्षिणादाच्'*** *(५।३।३६) से दक्षिण शब्द से 'आच्' प्रत्यय होता है।*

(३) ***आहि-दक्षिणाहि ग्रामाद् गुरुकुलम्।*** *दक्षिण+आहि। दक्षिणाहि+सु। दक्षिणाहि।*

यहां ***'आहि च दूरे'*** *(५।३।३७) से दक्षिण शब्द से 'आहि' प्रत्यय होता है। आहिप्रत्ययान्त से युक्त शब्द 'ग्राम' में पञ्चमी विभक्ति है।*

षष्ठी—

(३) षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन।३०।

प०वि०-षष्ठी १।१ अतसर्थ-प्रत्ययेन ३।१।

स०-अतसोऽर्थ इति अतसर्थः, तस्मिन्-अतसर्थे। अतसर्थे प्रत्यय

इति अतसर्थप्रत्ययः, तेनः-अतसर्थप्रत्ययेन (षष्ठीतत्पुरुषगर्भितसप्तमी-तत्पुरुषः)।

अन्वयः-अतसर्थप्रत्ययेन युक्ते शब्दे षष्ठी।

अर्थः-अतसर्थ-प्रत्ययान्तेन पदेन युक्ते शब्दे षष्ठी विभक्तिर्भवति।

उदा०-दक्षिणतो ग्रामस्य आगतो देवदत्तः। उत्तरतो ग्रामस्य आगतो यज्ञदत्तः। पुरस्ताद् ग्रामस्य नदी वहति। उपरि ग्रामस्य कादम्बिनी प्रयाति। उपरिष्टाद् ग्रामस्य सौदामिनी विराजते।

आर्यभाषा-अर्थ-(अतसर्थप्रत्ययेन) अतसुच् प्रत्यय और कोई उसके अर्थवाला प्रत्यय जिसके अन्त में है उससे संयुक्त शब्द में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है।

*उदा०-**दक्षिणतो ग्रामस्य आगतो देवदत्तः।** देवदत्त गांव की दक्षिण दिशा से आया। **उत्तरतो ग्रामस्य आगतो यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त गांव की उत्तर दिशा से आया। **पुरस्ताद् ग्रामस्य नदी वहति।** गांव के सामने से नदी बहती है। **उपरि ग्रामस्य कादम्बिनी प्रयाति।** गांव के ऊपर से मेघमाला जारही है। **उपरिष्टाद् ग्रामस्य सौदामिनी विराजते।** गांव के ऊपर से बिजली चमक रही है।*

*सिद्धि-(१) **दक्षिणतो ग्रामस्य आगतो देवदत्तः।** दक्षिण+ङसि+अतसुच्। दक्षिण+अतस्। दक्षिणतः।*

*यहां **'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्'** (५।३।२८) से सप्तमी, पञ्चमी और प्रथमा विभक्तिवाले, दिक्, देश और काल अर्थ में वर्तमान दक्षिण शब्द से अतसुच् प्रत्यय का विधान किया गया है। अतुसच् प्रत्ययान्त 'दक्षिणतः' से संयुक्त 'ग्राम' शब्द में षष्ठी विभक्ति है।*

*(२) **उपरि।** ऊर्ध्व+रिल्। उप+रि। उपरि।*

*यहां अतुसच् प्रत्यय के अर्थ में **'उपर्युपरिष्टात्'** (५।३।३१) से 'रिल्' प्रत्यय का निपातन किया गया है।*

*(३) **उपरिष्टात्।** ऊर्ध्व+रिष्टातिल्। उप+रिष्टात्। उपरिष्टात्।*

*यहां भी अतसुच् प्रत्यय के अर्थ में **'उपर्युपरिष्टात्'** (५।३।३१) से 'रिष्टातिल्' प्रत्यय का निपातन किया गया है। इनसे संयुक्त ग्राम शब्द में षष्ठी विभक्ति है।*

***विशेष-**'अतसुच्' प्रत्यय सप्तमी, पञ्चमी और प्रथमा विभक्तिवाले दिशावाची शब्दों से स्वार्थ में विधान किया गया है। अतः उससे संयुक्त शब्द में भी सप्तमी, पञ्चमी और प्रथमा विभक्ति होनी चाहिये। प्रकृत सूत्र से वहां षष्ठी विभक्ति का विधान किया गया है।*

द्वितीया–

(४) एनपा द्वितीया।३१।

प०वि०–एनपा ३।१ द्वितीया १।१।

अन्वयः–एनपा युक्ते शब्दे द्वितीया।

अर्थः–एनप्-प्रत्ययान्तेन पदेन संयुक्ते शब्दे द्वितीया विभक्तिर्भवति। पूर्वेण षष्ठी प्राप्ताऽनेन द्वितीया विधीयते।

उदा०–दक्षिणेन ग्रामं गुरुकुलम्। उत्तरेण ग्रामं आश्रमः।

आर्यभाषा-अर्थ-(एनपा) एनप् प्रत्यय जिसके अन्त में है उस पद से संयुक्त शब्द में (द्वितीया) द्वितीया विभक्ति होती है। पूर्व सूत्र से षष्ठी विभक्ति प्राप्त थी।

*उदा०–**दक्षिणेन ग्रामं गुरुकुलम्।** गांव की दक्षिण दिशा में अदूर (निकट) ही गुरुकुल है। **उत्तरेण ग्रामं आश्रमः।** गांव की उत्तर दिशा में अदूर ही एक आश्रम है।*

*सिद्धि–**दक्षिणेन ग्रामं गुरुकुलम्।** दक्षिण+ङि+एनप्। दक्षिण+एन। दक्षिणेन।*

*यहां '**एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः**' (५।३।३५) से प्रथमा और सप्तमी विभक्तिमान् दिशावाची दक्षिण शब्द से दिक्, देश और काल अर्थ में एनप् प्रत्यय होता है। प्रकृत सूत्र से उससे संयुक्त 'ग्राम' शब्द में द्वितीया विभक्ति का विधान किया है। ऐसे ही–**उत्तरेण ग्राममाश्रमः।***

तृतीया पञ्चमी च–

(५) पृथग्विनानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्।३२।

प०वि०–पृथग्-विना-नानाभिः ३।३ तृतीया १।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

स०–पृथक् च विना च नाना च ते-पृथग्विनानानाः, तैः-पृथग्विनानानाभिः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः–पृथग्विनानानाभिर्युक्ते शब्देऽन्यतरस्यां तृतीया।

अर्थः–पृथग्विनानानाभिः संयुक्ते शब्दे विकल्पेन तृतीया विभक्तिर्भवति, पक्षे च पञ्चमी विभक्तिर्भवति।

उदा०–(१) **पृथक्**–पृथग् देवदत्तेन[3] यज्ञदत्तः। पृथक् देवदत्ताद्[5] यज्ञदत्तः।

(२) **विना**–विना देवदत्तेन यज्ञदत्तः। विना देवदत्ताद् यज्ञदत्तः।

(३) **नाना**–नाना देवदत्तेन यज्ञदत्तः। नाना-देवदत्ताद् यज्ञदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(पृथग् विनानानाभिः) पृथक्, विना और नाना पदों से संयुक्त शब्द में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (तृतीया) तृतीया विभक्ति होती है। पक्ष में पञ्चमी विभक्ति होती है।

उदा०-(१) पृथक्-पृथग् देवदत्तेन यज्ञदत्तः। यज्ञदत्त देवदत्त से अलग है। पृथक् देवदत्ताद् यज्ञदत्तः। अर्थ पूर्ववत् है।

(२) विना-विना देवदत्तेन यज्ञदत्तः। यज्ञदत्त देवदत्त के बगैर है। विना देवदत्ताद् यज्ञदत्तः। अर्थ पूर्ववत् है।

(३) नाना-नाना देवदत्तेन यज्ञदत्तः। यज्ञदत्त देवदत्त से भिन्न है। नाना देवदत्ताद् यज्ञदत्तः। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-पृथक् देवदत्तेन यज्ञदत्तः। यहां 'पृथक्' पद से संयुक्त 'देवदत्त' में तृतीया विभक्ति है। विकल्प पक्ष में पञ्चमी विभक्ति भी होती है-पृथग् देवदत्ताद् यज्ञदत्तः, इत्यादि।

तृतीया पञ्चमी च–

(६) करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्या-सत्त्ववचनस्य।३३।

प०वि०–करणे ७।१ च अव्ययपदम्, स्तोक-अल्प-कृच्छ्र-कतिपयस्य ६।१। असत्त्ववचनस्य ६।१।

स०–स्तोकं च अल्पं च कृच्छ्रं च कतिपयं च एतेषां समाहारः, स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयम्, तस्य-स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्य (इतरेतरयोग-द्वन्द्वः)। सत्त्वं वक्तीति सत्त्ववचनः, न सत्त्ववचन इति असत्त्ववचनः, तस्य-असत्त्ववचनस्य (उपपदतत्पुरुषगर्भितषष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०–तृतीया पञ्चमी इति चानुवर्तते।

अन्वयः–असत्त्ववचनस्य स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्य करणे तृतीया पञ्चमी च।

अर्थः–असत्त्ववचनेभ्यः स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयेभ्यः शब्देभ्यः करणे कारके तृतीया पञ्चमी च विभक्तिर्भवति।

उदा०-(१) **स्तोकम्**-स्तोकेन[३] मुक्तो देवदत्तः। स्तोकाद्[५] मुक्तो देवदत्तः।

(२) **अल्पम्**-अल्पेन मुक्तो देवदत्तः। अल्पाद् मुक्तो देवदत्तः।

(३) **कृच्छ्रम्**-कृच्छ्रेण मुक्तो देवदत्तः। कृच्छ्राद् मुक्तो देवदत्तः।

(४) **कतिपयम्**-कतिपयेन मुक्तो देवदत्तः। कतिपयाद् मुक्तो देवदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(असत्त्ववचनस्य) अद्रव्यवाची (स्तोक०कतिपयस्य) स्तोक, अल्प, कृच्छ्र और कतिपय शब्दों से (करणे) करण कारक में (तृतीया) तृतीया (च) और पञ्चमी विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) स्तोक-**स्तोकेन मुक्तो देवदत्तः।** देवदत्त थोड़े से प्रयास से बन्धन से मुक्त होगया। **स्तोकाद् मुक्तो देवदत्तः।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*(२) अल्प-**अल्पेन मुक्तो देवदत्तः।** अर्थ पूर्ववत् है। **अल्पाद् मुक्तो देवदत्तः।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*(३) कृच्छ्र-**कृच्छ्रेण मुक्तो देवदत्तः।** देवदत्त कठिनाई के बन्धन से मुक्त हुआ। **कृच्छ्राद् मुक्तो देवदत्तः।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*(४) कतिपय-**कतिपयेन मुक्तो देवदत्तः।** देवदत्त कुछ ही प्रयास से बन्धन से मुक्त होगया। **कतिपयाद् मुक्तो देवदत्तः।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*सिद्धि-**स्तोकेन मुक्तो देवदत्तः।** यहां स्तोक शब्द से करण कारक में तृतीया विभक्ति है। असत्त्ववचन=अद्रव्यवचन का कथन इसलिये किया गया है कि यहां द्रव्यवाची स्तोक शब्द में तृतीया और पञ्चमी विभक्ति न हों-**स्तोकेन विषेण हतो यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त थोड़े से जहर से मर गया।*

*करण में '**कर्तृकरणयोस्तृतीया**' (२।३।१८) से तृतीया विभक्ति सिद्ध ही है, यहां करण में पञ्चमी विभक्ति का विशेष विधान किया गया है-**स्तोकाद् मुक्तो देवदत्तः**, इत्यादि।*

षष्ठी पञ्चमी च-

(७) दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्।३४।

प०वि०-दूर-अन्तिकार्थैः ३।३ षष्ठी १।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

स०-दूरं च अन्तिकं च ते-दूरान्तिके, दूरान्तिके अर्थौ येषां ते दूरान्तिकार्थाः, तैः-दूरान्तिकार्थैः (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-पञ्चमी इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-दूरान्तिकार्थैः पदैर्युक्ते शब्देऽन्यतरस्यां षष्ठी।

अर्थः-दूरार्थैरन्तिकार्थैश्च पदैः संयुक्ते शब्दे विकल्पेन षष्ठी विभक्तिर्भवति। पक्षे पञ्चमी विभक्तिर्भवति।

उदा०-**दूरार्थाः**-दूरं ग्रामस्य[१] गुरुकुलम्। दूरं ग्रामाद्[१] गुरुकुलम्। विप्रकृष्टं ग्रामस्य गुरुकुलम्। विप्रकृष्टं ग्रामाद् गुरुकुलम्।

(२) **अन्तिकार्थाः**-अन्तिकं ग्रामस्य मन्दिरम्। अन्तिकं ग्रामाद् मन्दिरम्। अभ्याशं ग्रामस्य मन्दिरम्। अभ्याशं ग्रामाद् मन्दिरम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(दूरान्तिकार्थैः) दूर और अन्तिक (पास) अर्थवाले पदों से संयुक्त शब्द में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है। पक्ष में पञ्चमी विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) दूरार्थ-**दूरं ग्रामस्य गुरुकुलम्।** गुरुकुल गांव से दूर है। **दूरं ग्रामाद् गुरुकुलम्।** अर्थ पूर्ववत् है। **विप्रकृष्टं ग्रामस्य गुरुकुलम्।** अर्थ पूर्ववत् है। **विप्रकृष्टं ग्रामाद् गुरुकुलम्।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*(२) आन्तिकार्थ-**अन्तिकं ग्रामस्य मन्दिरम्।** मन्दिर गांव के पास है। **अन्तिकं ग्रामाद् मन्दिरम्।** अर्थ पूर्ववत् है। **अभ्याशं ग्रामस्य मन्दिरम्।** अर्थ पूर्ववत् है। **अभ्याशं ग्रामाद् मन्दिरम्।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*सिद्धि-**दूरं ग्रामस्य गुरुकुलम्।** यहां 'दूर' पद से संयुक्त 'ग्राम' शब्द में षष्ठी विभक्ति है। पक्ष में पञ्चमी विभक्ति होती है-**दूरं ग्रामाद् गुरुकुलम्।***

द्वितीया तृतीया पञ्चमी च-

(८) दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च।३५।

प०वि०-दूर-अन्तिकार्थेभ्यः ५।३ द्वितीया १।१ च अव्ययपदम्।

स०-दूरं च अन्तिकं चे ते-दूरान्तिके। दूरान्तिके अर्थौ येषां ते-दूरान्तिकार्थाः, तेभ्यः-दूरान्तिकार्थेभ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-तृतीया पञ्चमी चानुवर्तते।

अन्वयः-दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया तृतीया पञ्चमी च।

अर्थः-दूरार्थेभ्योऽन्तिकार्थेभ्यश्च शब्देभ्यो द्वितीया तृतीया पञ्चमी च विभक्तिर्भवति।

उदा०-(१) दूरार्थाः-दूरं[२] ग्रामस्य गुरुकुलम्। दूरेण[३] ग्रामस्य गुरुकुलम्। दूराद्[४] ग्रामस्य गुरुकुलम्। विप्रकृष्टं ग्रामस्य गुरुकुलम्। विप्रकृष्टेन ग्रामस्य गुरुकुलम्। विप्रकृष्टाद् ग्रामस्य गुरुकुलम्।

(२) **अन्तिकार्थाः**-अन्तिकं ग्रामस्य मन्दिरम्। अन्तिकेन ग्रामस्य मन्दिरम्। अन्तिकाद् ग्रामस्य मन्दिरम्। अभ्याशं ग्रामस्य मन्दिरम्। अभ्याशेन ग्रामस्य मन्दिरम्। अभ्याशाद् ग्रामस्य मन्दिरम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(दूरान्तिकार्थेभ्यः) दूर और अन्तिक=पास अर्थवाले शब्दों से (द्वितीया) द्वितीया (तृतीया) तृतीया (च) और (पञ्चमी) पञ्चमी विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) दूरार्थ-**दूरं ग्रामस्य गुरुकुलम्।** गुरुकुल गांव से दूर है। **दूरेण ग्रामस्य गुरुकुलम्। दूराद् ग्रामस्य गुरुकुलम्।** अर्थ पूर्ववत् है। **विप्रकृष्टं ग्रामस्य गुरुकुलम्। विप्रकृष्टेन ग्रामस्य गुरुकुलम्। विप्रकृष्टाद् ग्रामस्य गुरुकुलम्।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*(२) अन्तिकार्थ-**अन्तिकं ग्रामस्य मन्दिरम्।** मन्दिर गांव के पास है। **अन्तिकेन ग्रामस्य मन्दिरम्। अन्तिकाद् ग्रामस्य मन्दिरम्।** अर्थ पूर्ववत् है। **अभ्याशं ग्रामस्य मन्दिरम्। अभ्याशेन ग्रामस्य मन्दिरम्। अभ्याशाद् ग्रामास्य मन्दिरम्।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*सिद्धि-**दूरं ग्रामस्य मन्दिरम्।** यहां दूर तथा उसके पर्यायवाची अन्तिक तथा उसके पर्यायवाची शब्दों से द्वितीया, तृतीया और पञ्चमी विभक्ति है, जैसे कि उदाहरणों में दिखाई गई है।*

सप्तमीविभक्तिप्रकारणम्

सप्तमी–

(१) सप्तम्यधिकरणे च।३६।

प०वि०-सप्तमी १।१ अधिकरणे ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-दूरान्तिकार्थेभ्यः इत्यनुवर्तते, अनभिहिते इत्यपि अनुवर्तनीयम्।

अन्वयः-दूरान्तिकार्थेभ्यः शब्देभ्योऽनभिहितेऽधिकरणे च सप्तमी।

अर्थः-दूरार्थेभ्योऽन्तिकार्थेभ्यश्च शब्देभ्योऽनभिहितेऽधिकरणे च कारके सप्तमी विभक्तिर्भवति।

उदा०-दूरार्थाः-दूरे ग्रामस्य गुरुकुलम्। विप्रकृष्टे ग्रामस्य गुरुकुलम्। (२) **अन्तिकार्थाः**-अन्तिके ग्रामस्य मन्दिरम्। अभ्याशे ग्रामस्य मन्दिरम्।

(३) **अधिकरणम्**-कटे आस्ते देवदत्तः। शकटे आस्ते यज्ञदत्तः। स्थाल्यां पचति ब्रह्मदत्ता।

आर्यभाषा-अर्थ-(दूरान्तिकार्थेभ्यः) दूर और अन्तिक=पास अर्थवाले शब्दों से (च) और (अनभिहिते) अकथित (अधिकरणे) अधिकरण कारक में (सप्तमी) सप्तमी विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) दूरार्थ-**दूरे ग्रामस्य गुरुकुलम्।** गुरुकुल गांव से दूरी पर है। **विप्रकृष्टे ग्रामस्य गुरुकुलम्।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*(२) अन्तिकार्थ-**अन्तिके ग्रामस्य मन्दिरम्।** मन्दिर गांव के पास में है। **अभ्याशे ग्रामस्य मन्दिरम्।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*(३) अधिकरण-**कटे आस्ते देवदत्तः।** देवदत्त चटाई पर बैठता है। **शकटे आस्ते यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त गाड़ी में बैठता है। **स्थाल्यां पचति ब्रह्मदत्ता।** ब्रह्मदत्ता नामक कन्या पतीली में पकाती है।*

*सिद्धि-(१) **दूरे ग्रामस्य गुरुकुलम्।** यहां दूर तथा उसके पर्यायवाची, अन्तिक तथा उसके पर्यायवाची शब्दों में सप्तमी विभक्ति है। जैसे कि उदाहरणों में दिखाई गई है।*

*(२) **कटे आस्ते देवदत्तः।** यहां 'आधारोऽधिकरणम्' (१।५।४५) से आधार 'कट' की अधिकरण संज्ञा है और उसमें प्रकृत सूत्र से सप्तमी विभक्ति होती है। ऐसे ही सर्वत्र समझें।*

सप्तमी—

(२) यस्य च भावेन भावलक्षणम्।३७।

प०वि०- यस्य ६।१ च अव्ययपदम्, भावेन ३।१ भावलक्षणम् १।१।

स०-भावस्य लक्षणमिति भावलक्षणम् (षष्ठीतत्पुरुषः)। धात्वर्थो भावः, क्रिया इत्यर्थः।

अनु०-सप्तमी इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-यस्य गवादिकस्य भावेन भावलक्षणं ततः सप्तमी।

अर्थः-यस्य गवादिकस्य भावेन=क्रियया भावलक्षणम्=क्रियान्तरं लक्ष्यते, ततः सप्तमी विभक्तिर्भवति।

उदा०-गोषु दुह्यमानासु गतो देवदत्तः। गोषु दुग्धासु समागतो यज्ञदत्तः। अग्निषु हूयमानेषु गतो देवदत्तः। अग्निषु हुतेषु समागतो यज्ञदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(यस्य) जिस गौ आदि की (भावेन) क्रिया से (भावलक्षणम्) कोई दूसरी क्रिया लक्षित की जाती है, उस पूर्व क्रिया से (च) भी (सप्तमी) सप्तमी विभक्ति होती है।

*उदा०-**गोषु दुह्यमानासु गतो देवदत्तः।** जब गाय दुही जारही थी तब देवदत्त चला गया। **गोषु दुग्धासु समागतो यज्ञदत्तः।** जब गाय दुही जा चुकी थी तब यज्ञदत्त आया। **अग्निषु हूयमानेषु गतो देवदत्तः।** जब अग्नि में होम किया जारहा था तब देवदत्त चला गया। **अग्निषु हुतासु समागतो यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त अग्नि में होम हो चुकने पर आया।*

*सिद्धि-**गोषु दुह्यमानासु गतो देवदत्तः।** यहां गौ की दोहन क्रिया से देवदत्त की गमन क्रिया लक्षित की जारही है अतः दोहन क्रिया में सप्तमी विभक्ति है। ऐसे ही सर्वत्र समझें।*

षष्ठी सप्तमी च-

(३) षष्ठी चानादरे।३८।

प०वि०-षष्ठी १।१ च अव्ययपदम्, अनादरे ७।१।

स०-न आदर इति अनादरः, तस्मिन्-अनादरे (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-सप्तमी, यस्य च भावेन भावलक्षणमिति चानुवर्तते।

अन्वयः-यस्य च भावेन भावलक्षणं ततोऽनादरे षष्ठी सप्तमी च।

अर्थः-यस्य च क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततोऽनादरे गम्यमाने षष्ठी सप्तमी च विभक्तिर्भवति।

उदा०-रुदतः[१] परिजनस्य प्राव्राजीद् दयानन्दः। रुदति[२] परिजने प्राव्राजीत् दयानन्दः। क्रोशतः परिजनस्य प्राव्राजीत् शंकरः। क्रोशति परिजने प्राव्राजीत् शंकरः।

आर्यभाषा-अर्थ-(यस्य) जिसकी (भावेन) क्रिया से (भावलक्षणम्) कोई दूसरी क्रिया लक्षित की जाती है वहां (अनादरे) अनादर प्रकट होने पर (षष्ठी) षष्ठी (च) और (सप्तमी) सप्तमी विभक्ति होती है।

*उदा०-**रुदतः परिजनस्य प्राव्राजीद् दयानन्दः।** दयानन्द परिजन के रोते हुये परिव्राजक बन गया। **रुदति परिजने प्राव्राजीद् दयानन्दः।** अर्थ पूर्ववत् है। **क्रोशतः परिजनस्य प्राव्राजीत् शंकरः।** शंकर परिवार के चिल्लाते हुये परिव्राजक बन गया। **क्रोशति परिजने प्राव्राजीत् शंकरः।** अर्थ पूर्ववत् है।*

सिद्धि-रुदतः परिजनस्य प्राव्राजीत् दयानन्दः। रुदति परिजनस्य प्राव्राजीद् दयानन्दः। यहां परिजन की रोदन क्रिया से दयानन्द की प्रव्रजन क्रिया लक्षित की गई है अतः पूर्व रोदन क्रिया में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति है। रोते हुये परिवार को छोड़कर जाना परिवार का अनादर है। ऐसे ही सर्वत्र समझें।

षष्ठी सप्तमी च-

(४) स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च।३६।

प०वि०-स्वामी-ईश्वर-अधिपति-दायाद-साक्षि-प्रतिभू-प्रसूतैः ३।३ च अव्ययपदम्।

स०-स्वामी च ईश्वरश्च अधिपतिश्च दायादश्च साक्षी च प्रतिभूश्च प्रसूतश्च ते-स्वामी०प्रसूताः, तैः-स्वामी०प्रसूतैः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-षष्ठी सप्तमी चानुवर्तते।

अन्वयः-स्वामी०प्रसूतैश्च युक्ते शब्दे षष्ठी सप्तमी च।

अर्थः-स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च पदैः संयुक्ते शब्दे षष्ठी सप्तमी च विभक्तिर्भवति।

उदा०-(१) **स्वामी**-गवां[६] स्वामी नन्दः। गोषु[७] स्वामी नन्दः। (२) **ईश्वरः**-गवामीश्वरो विराटः। गोषु ईश्वरो विराटः। (३) **अधिपतिः**-गवामधिपतिः कृष्णः। गोषु अधिपतिः कृष्णः। (४) **दायादः**-गवां दायादो देवदत्तः। गोषु दायादो देवदत्तः। (५) **साक्षी**-गवां साक्षी गोपालः। गोषु साक्षी गोपालः। (६) **प्रतिभूः**-गवां प्रतिभूः सोमदत्तः। गोषु प्रतिभूः सोमदत्तः। (७) **प्रसूतः**-गवां प्रसूतो ब्रह्मदत्तः। गोषु प्रसूतो ब्रह्मदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(स्वामी०प्रसूतैः) स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू और प्रसूत पदों से संयुक्त शब्द में (षष्ठी) षष्ठी (च) और (सप्तमी) सप्तमी विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) स्वामी-**गवां स्वामी नन्दः। गोषु स्वामी नन्दः।** नन्द गौओं का स्वामी है। (२) ईश्वर-**गवामीश्वरो विराटः। गोषु ईश्वरो विराटः।** विराट् गौओं का राजा है। (३) अधिपति-**गवामधिपतिः कृष्णः। गोषु अधिपतिः कृष्णः।** कृष्ण गौओं का रक्षक है। (४) दायादः-**गवां दायादो देवदत्तः। गोषु दायादो देवदत्तः।** देवदत्त गौओं*

का दायभागी है, पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी है। (५) साक्षी-गवां साक्षी गोपालः। गोषु साक्षी गोपालः। गोपाल गौओं का साक्षी है। (६) प्रतिभूः-गवां प्रतिभूः सोमदत्तः। गोषु प्रतिभूः सोमदत्तः। सोमदत्त गौओं का जामिन है। (७) प्रसूत-गवां प्रसूतो ब्रह्मदत्तः। गोषु प्रसूतो ब्रह्मदत्तः। ब्रह्मदत्त गौओं में उत्पन्न हुआ है।

सिद्धि-गवां स्वामी नन्दः। यहां स्वामी आदि पदों से संयुक्त गौ शब्द में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति है। दोनों का अर्थ समान है।

षष्ठी सप्तमी च-

(५) आयुक्तकुशलाभ्यां चाऽऽसेवायाम्।४०

प०वि०-आयुक्त-कुशलाभ्याम् ३।२ च अव्ययपदम्, आसेवायाम् ७।१।

स०-आुक्तश्च कुशलश्च तौ-आयुक्तकुशलौ, ताभ्याम्-आयुक्त-कुशलाभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। आसेवा=तत्परता।

अनु०-षष्ठी सप्तमी चानुवर्तते।

अन्वयः-आयुक्तकुशलाभ्यां युक्ते शब्दे आसेवायां षष्ठी सप्तमी च।

अर्थः-आयुक्तकुशलाभ्यां पदाभ्यां संयुक्ते शब्दे आसेवायां गम्यमानायां षष्ठी सप्तमी च विभक्तिर्भवति।

उदा०:-(१) आयुक्तः-आयुक्तः कटकरणस्य[६] देवदत्तः। आयुक्तः कटकरणे[७] देवदत्तः। (२) **कुशलः-**कुशलः कटकरणस्य ब्रह्मदत्तः। कुशलः कटकरणे ब्रह्मदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(आयुक्तकुशलाभ्याम्) आयुक्त और कुशल पदों से संयुक्त शब्द में (आसेवायाम्) आसेवा=तत्परता अर्थ में (षष्ठी) षष्ठी (च) और (सप्तमी) सप्तमी विभक्ति होती है।

उदा०-(१) आयुक्त-आयुक्तः कटकरणस्य देवदत्तः। आयुक्तः कटकरणे देवदत्तः। देवदत्त चटाई बनाने में लगाया हुआ है। (२) कुशल-कुशलः कटकरणस्य ब्रह्मदत्तः। कुशलः कटकरणे ब्रह्मदत्तः। ब्रह्मदत्त चटाई बनाने में चतुर है।

सिद्धि-आयुक्तः कटकरणस्य देवदत्तः। यहां आयुक्त पद से संयुक्त 'कटकरण' शब्द में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति है। ऐसे ही-कुशलः कटकरणस्य/कटकरणे ब्रह्मदत्तः।

षष्ठी सप्तमी च--

(६) यतश्च निर्धारणम्।४१।

प०वि०-यत: पञ्चम्यर्थेऽव्ययपदम्, च अव्ययपदम्, निर्धारणे ७।१।

स०-जातिगुणक्रियाभि: समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम्।

अन्वय:-आयुक्तकुशलाभ्यां युक्ते शब्दे आसेवायां षष्ठी सप्तमी च।

अर्थ:-यस्मात् समुदायाद् निर्धारणं क्रियते तस्मात् षष्ठी सप्तमी च विभक्तिर्भवति।

उदा०-जाति:-मनुष्याणां[६] क्षत्रिय: शूरतम:। मनुष्येषु[७] क्षत्रिय: शूरतम:। (२) **गुण:**-गवां[६] कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा। गोषु[७] कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा। (३) **क्रिया**-अध्वगानां[६] धावन्त: शीघ्रतमा:। अध्वगेषु[७] धावन्त: शीघ्रतमा:।

आर्यभाषा-अर्थ-(यत:) जिस समुदाय से (निर्धारणम्) एकदेश को पृथक् किया जाता है, उससे (षष्ठी) षष्ठी (च) और (सप्तमी) सप्तमी विभक्ति होती है। जाति, गुण और क्रिया की विशेषता से किसी समुदाय से किसी को पृथक् करना 'निधारण' कहाता है।

*उदा०-जाति-**मनुष्याणां क्षत्रिय: शूरतम:। मनुष्येषु क्षत्रिय: शूरतम:।** मनुष्यों में क्षत्रिय सबसे अधिक शूर होता है। (२) **गुण**-गवां कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा। गोषु कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा। गौओं में काली गौ सबसे अधिक दूधवाली होती है। (३) **क्रिया-अध्वगानां धावन्त: शीघ्रतमा:। अध्वगेषु धावन्त: शीघ्रतमा:।** मार्ग चलनेवालों में दौड़नेवाले सबसे अधिक शीघ्रगामी होते हैं।*

*सिद्धि-**मनुष्याणां/मनुष्येषु क्षत्रिय: शूरतम:।** यहां मनुष्य जाति से क्षत्रिय का निर्धारण किया गया है। अत: मनुष्य शब्द में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति है। ऐसे ही गुण और क्रिया के निर्धारण में भी समझ लेवें।*

पञ्चमी--

(७) पञ्चमी विभक्ते।४२।

स०-पञ्चमी १।१ विभक्ते ७।१।

अनु०-यतश्च निर्धारणमित्यनुवर्तते।

अन्वय:-यस्मिन् निर्धारणे विभक्तं तत्र पञ्चमी।

अर्थः-यस्मिन् निर्धारणे विभक्तं=विभागो भवति, तस्मिन् पञ्चमी विभक्तिर्भवति ।

उदा०-माथुराः पाटलिपुत्रेभ्यः सुकुमारतराः । माथुराः पाटलिपुत्रेभ्य आढ्यतराः ।

आर्यभाषा-अर्थः-(यतः) जिस (निर्धारणम्) निर्धारण में (विभक्ते) विभाग होता है, उसमें (पञ्चमी) पञ्चमी विभक्ति होती है।

*उदा०-**माथुराः पाटलिपुत्रेभ्यः सुकुमारतराः ।** मथुरा के लोग पटना के लोगों से अधिक सुकुमार हैं, अधिक कोमल स्वभाव के हैं। **माथुराः पाटलिपुत्रेभ्य आढ्यतराः ।** मथुरा के लोग पटना के लोगों से अधिक धनवान् हैं।*

*सिद्धि-**माथुराः पाटलिपुत्रेभ्यः सुकुमारतराः ।** सुकुमार+तरप् । सुकुमार+तर । सुकुमारतर+जस् । सुकुमारतराः । यहां मथुरा और पटना के लोगों का सुकुमार गुण में विभाग किया गया है और बताया है कि मथुरा के लोग पटना के लोगों से अधिक सुकुमार हैं, अतः 'पाटलिपुत्र' (पटना) शब्द में पञ्चमी विभक्ति है। यहां '**द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ**' (५ ।३ ।५७) से 'सुकुमारतर' में तरप् प्रत्यय है। ऐसे ही-**माथुराः पाटलिपुत्रेभ्य आढ्यतराः ।***

सप्तमी-

(८) साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः ।४३ ।

प०वि०-साधु-निपुणाभ्याम् ३ ।२ अर्चायाम् ७ ।१ सप्तमी १ ।१ अप्रतेः ६ ।१ ।

स०-साधुश्च निपुणश्च तौ-साधुनिपुणौ, ताभ्याम्-साधुनिपुणाभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः) । न प्रतिरिति अप्रतिः, तस्य-अप्रतेः (नञ्तत्पुरुषः) । अर्चा=पूजा इत्यर्थः ।

अन्वयः-साधुनिपुणाभ्यां युक्ते शब्देऽचार्यां सप्तमी ।

अर्थः-साधुनिपुणाभ्यां पदाभ्यां संयुक्ते शब्देऽर्चायां=पूजायां च गम्यमानायां सप्तमी विभक्तिर्भवति, यदि तत्र प्रतिशब्दो न प्रयुज्यते ।

उदा०-(१) **साधुः**-साधुर्देवदत्तो मातरि । साधुर्यज्ञदत्तः पितरि । (२) **निपुणः**-निपुणो देवदत्तो मातरि । निपुणो यज्ञदत्तः पितरि ।

आर्यभाषा-अर्थ-(साधुनिपुणाभ्याम्) साधु और निपुण पद से संयुक्त शब्द में (अर्चायाम्) पूजा अर्थ में (सप्तमी) सप्तमी विभक्ति होती है (अप्रते:) यदि वहां 'प्रति' शब्द का प्रयोग न हो।

*उदा०-(१) साधु-**साधुर्देवदत्तो मातरि।** देवदत्त माता की पूजा करने में अच्छा है। **साधुर्यज्ञदत्त: पितरि।** यज्ञदत्त पिता की पूजा करने में अच्छा है। (२) निपुण-**निपुणो देवदत्तो मातरि।** देवदत्त माता की पूजा करने में कुशल है। **निपुणो यज्ञदत्तो पितरि।** यज्ञदत्त पिता की पूजा (सेवा) करने में कुशल है।*

*सिद्धि-**साधुर्देवदत्तो मातरि।** यहां साधु पद से संयुक्त माता शब्द में पूजा अर्थ में सप्तमी विभक्ति है। यहां 'प्रति' शब्द के प्रयोग का प्रतिषेध इसलिये किया गया है कि यहां सप्तमी विभक्ति न हो-**साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति।** यहां 'लक्षणेत्थंभूताख्यान०' (१।४।८९) से प्रतिशब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा और कर्मप्रचनीययुक्ते द्वितीया (२।३।८) से द्वितीया विभक्ति होती है।*

तृतीया सप्तमी च-

(६) प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च।४४।

प०वि०-प्रसित-उत्सुकाभ्याम् ३।२ तृतीया १।१ च अव्ययपदम्।

स०-प्रसितश्च उत्सुकश्च तौ-प्रसितोत्सुकौ, ताभ्याम्-प्रसितोत्सुकाभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्व:)।

अनु०-सप्तमी इत्यनुवर्तते।

अन्वय:-प्रसितोत्सुकाभ्यां युक्ते शब्दे तृतीया सप्तमी च।

अर्थ:-प्रसितोत्सुकाभ्यां पदाभ्यां संयुक्ते शब्दे तृतीया सप्तमी च विभक्तिर्भवति।

उदा०-(१) **प्रसित:**-केशै: प्रसितो देवदत्त:। केशेषु प्रसितो देवदत्त:। (२) **उत्सुक:**-केशैरुत्सुको यज्ञदत्त:। केशेषु उत्सुको यज्ञदत्त:।

आर्यभाषा-अर्थ-(प्रसितोत्सुकाभ्याम्) प्रसित और उत्सुक पदों से संयुक्त शब्द में (तृतीया) तृतीया (च) और (सप्तमी) सप्तमी विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) प्रसित-**केशै: प्रसितो देवदत्त:। केशेषु प्रसितो देवदत्त:।** देवदत्त केशों के श्रृंगार में फंसा हुआ। (२) उत्सुक-**केशैरुत्सुको यज्ञदत्त:। केशेषु उत्सुको यज्ञदत्त:।** यज्ञदत्त केशों की सुन्दरता में उत्सुक है।*

सिद्धि-केशैः प्रसितो देवदत्तः। यहां प्रसित पद से संयुक्त केश शब्द में तृतीया विभक्ति है। ऐसे ही-केशेषु प्रसितो देवदत्तः, इत्यादि।

तृतीया सप्तमी च–

(१०) नक्षत्रे च लुपि।४५।

प०वि०-नक्षत्रे ७।१ च अव्ययपदम्, लुपि ७।१।

अनु०-तृतीया सप्तमी चानुवर्तते।

अन्वयः-लुपि नक्षत्रे च तृतीया सप्तमी च।

अर्थः-लुबन्ते नक्षत्रवाचिनि शब्दे तृतीया सप्तमी च विभक्तिर्भवति।

उदा०-**पुष्यः**-पुष्येण[3] पायसमश्नीयात्। पुष्ये[7] पायसमश्नीयात्। (२) **मघा**-मघाभिर्घृतौदनम् अश्नीयात्। मघासु घृतौदनम् अश्नीयात्।

आर्यभाषा-अर्थ-(लुपि) जहां विहित प्रत्यय का लुप् (लोप) होगया है उस (नक्षत्रे) नक्षत्रवाची शब्द में (तृतीया) तृतीया (च) और (सप्तमी) सप्तमी विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) पुष्य-**पुष्येण पायसमश्नीयात्। पुष्ये पायसमश्नीयात्।** पुष्य नक्षत्र में खीर खावे। (२) मघा-**मघाभिर्घृतौदनमश्नीयात्। मघासु घृतौदनमश्नीयात्।** मघा नक्षत्र में घी-चावल खावे।*

*सिद्धि-**पुष्येण/पुष्ये पायसमश्नीयात्।** पुष्य+अण्। पुष्य+०। पुष्य+टा। पुष्य+इन। पुष्येण। यहां नक्षत्रवाची 'पुष्य' शब्द से **'नक्षत्रेण युक्तः कालः'** (४।२।३) से 'अण्' प्रत्यय का विधान किया गया है। यदि वहां दिन और रात्रिकाल का विशेष कथन न हो तो उस 'अण्' प्रत्यय का **'लुबविशेषे'** (४।२।४) से लुप् (लोप) हो जाता है। उस लुबन्त नक्षत्रवाची 'पुष्य' शब्द में प्रकृत सूत्र से तृतीया और सप्तमी विभक्ति का विधान किया गया है। ऐसे ही-**मघाभिः/मघासु घृतौदनमश्नीयात्।***

प्रथमाविभक्तिप्रकरणम्

प्रथमा–

(१) प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा।४६।

प०वि०-प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचन-मात्रे ७।१। प्रथमा १।१।

स०-प्रातिपदिकस्य अर्थ इति प्रातिपदिकार्थः, प्रातिपदिकार्थश्च, लिङ्गं च परिमाणं च बचनं च एतेषां समाहारः-प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनम्,

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनं तद् मात्रमिति प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाण-वचनमात्रम्, तस्मिन्-प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे। एवं मात्रशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते।

अर्थः-प्रातिपदिकार्थमात्रे, लिङ्गमात्रे, परिमाणमात्रे, वचनमात्रे च प्रथमा विभक्तिर्भवति।

उदा०-(१) **प्रातिपदिकार्थमात्रे**-उच्चैः। नीचैः। (२) **लिङ्गमात्रे**-कुमारी, वृक्षः, कुण्डम्। (३) **परिमाणमात्रे**-द्रोणः, खारी, आढकम्। (४) **वचनमात्रे**-एकः, द्वौ, बहवः।

आर्यभाषा-अर्थ-(प्रातिपदिकार्थ०मात्रे) प्रातिपदिकार्थमात्र, लिङ्गमात्र, परिमाणमात्र और वचनमात्र के कथन में (प्रथमा) प्रथमा विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) **प्रातिपदिकार्थमात्र-उच्चैः**। ऊंचा। **नीचैः**। नीचा। (२) **लिङ्गमात्र-कुमारी**। अविवाहिता। **वृक्षः**। रूख। **कुण्डम्**। कुण्डा। (३) **परिमाणमात्र-द्रोणः**। धौंण। **खारी**। एक मण। **आढकम्**। पांच सेर। (४) **वचनमात्र-एकः**। एक। **द्वौ**। दो। **बहवः**। बहुत।*

*सिद्धि-**उच्चैः**। यहां प्रातिपदिक का अर्थमात्र 'ऊंचा' इतना ही कथन किया गया है अतः यहां प्रथमा विभक्ति है। अव्यय होने से उसका **'अव्ययादाप्सुपः'** (२।४।८२) से लोप होगया है। ऐसे ही सर्वत्र समझ लेवें।*

सम्बोधने प्रथमा—

(२) सम्बोधने च।४७।

प०वि०-सम्बोधने ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-'प्रथमा' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-सम्बोधने च प्रथमा।

अर्थः-सम्बोधनेऽपि प्रथमा विभक्तिर्भवति। सम्बोधनाधिके प्रातिपदिकार्थे प्रथमा न प्राप्नोति, इति प्रथमा विधीयते।

उदा०-हे देवदत्त ! हे देवदत्तौ ! हे देवदत्ताः !

आर्यभाषा-अर्थ-(सम्बोधने) सम्बोधन में (च) भी (प्रथमा) प्रथमा विभक्ति होती है।

*उदा०-**हे देवदत्त ! हे देवदत्तौ ! हे देवदत्ताः !** अर्थ स्पष्ट है।*

*सिद्धि-**हे देवदत्त !** देवदत्त+सु। देवदत्त+०। देवदत्त। यहां **'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः'** (६।१।६९) से सम्बुद्धिसंज्ञक सु-प्रत्यय का लोप होगया है। पूर्व सूत्र में प्रातिपदिकार्थमात्र*

में प्रथमा विभक्ति का विधान किया गया है। यहां हे देवदत्त ! में देवदत्त प्रातिपदिकार्थ से अतिरिक्त सम्बोधन अर्थ भी इसमें मिश्रित है, अतः पूर्व सूत्र से प्रथमा विभक्ति प्राप्त नहीं थी। इसलिये प्रकृत सूत्र से सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का विधान किया गया है। ऐसे ही-हे देवदत्तौ ! हे देवदत्ताः।

आमन्त्रित-संज्ञा–

(३) साऽऽमन्त्रितम्।४८।

प०वि०-सा १।१ आमन्त्रितम् १।१।

अनु०-'सम्बोधने' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-सम्बोधने या प्रथमा साऽऽमन्त्रितम्।

अर्थः-सम्बोधने या प्रथमा सा=तदन्तं शब्दरूपमामन्त्रितसंज्ञकं भवति।

उदा०-हे देवदत्त ! हे देवदत्तौ ! हे देवदत्ताः !

आर्यभाषा-अर्थ-(सम्बोधने) सम्बोधन में जो प्रथमा विभक्ति है (सा) तदन्त शब्द की (आमन्त्रितम्) आमन्त्रित संज्ञा होती है।

उदा०-हे देवदत्त ! हे देवदत्तौ ! हे देवदत्ताः ! अर्थ स्पष्ट है।

सिद्धि-हे देवदत्त ! यहां देवदत्त की आमन्त्रित संज्ञा होने से 'आमन्त्रितस्य च' (६।१।१९२) से इसका आद्युदात्त स्वर होता है।

सम्बुद्धि-संज्ञा–

(४) एकवचनं सम्बुद्धिः।४९।

प०वि०-एकवचनम् १।१ सम्बुद्धिः १।१।

अनु०-प्रथमा, आमन्त्रितमिति चानुवर्तते।

अन्वयः-आमन्त्रितस्य प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिः।

अर्थः-आमन्त्रितस्य प्रथमाया यद् एकवचनं तत् सम्बुद्धिसंज्ञकं भवति।

उदा०-हे देवदत्त ! हे अग्ने ! हे वायो !

आर्यभाषा-अर्थ-(आमन्त्रितम्) आमन्त्रित संज्ञावाली (प्रथमा) जो प्रथमा विभक्ति है, उसके (एकवचनम्) एकवचन की (सम्बुद्धिः) सम्बुद्धि संज्ञा होती है।

उदा०-हे देवदत्त ! हे अग्ने ! हे वायो ! अर्थ स्पष्ट है।

सिद्धि-(१) हे देवदत्त ! देवदत्त+सु। देवदत्त+०। देवदत्त। यहां 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' (६।१।६९) से सम्बुद्धि-संज्ञक 'सु' प्रत्यय का लोप हो जाता है।

(२) हे अग्ने ! अग्नि+सु। अग्ने+०। अग्ने। यहां आमन्त्रित की प्रथमा विभक्ति के 'सु' प्रत्यय की सम्बुद्धि संज्ञा होने पर 'ह्रस्वस्य गुणः' (७।३।१०८) से अंग को गुण होता है और 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' (६।१।६९) से सम्बुद्धिसंज्ञक सु-प्रत्यय का लोप हो जाता है। ऐसे ही-हे वायो !

षष्ठीविभक्तिप्रकरणम्

षष्ठी–

(१) षष्ठी शेषे।५०।

प०वि०-षष्ठी १।१ शेषे १।१। पूर्वोक्तादन्यः शेषः, तस्मिन्-शेषे।

अन्वयः-शेषे षष्ठी।

अर्थः-शेषे=यः कर्मादिभ्योऽन्यः, प्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिसम्बन्धादिस्तत्र षष्ठी विभक्तिर्भवति।

उदा०-राज्ञः पुरुषः। पशोः पादः। पितुः पुत्रः, इत्यादिकम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(शेषे) जो कर्म आदि से भिन्न तथा प्रातिपदिकार्थ से अतिरिक्त स्व-स्वामी सम्बन्ध आदि अर्थ है, उसमें (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है।

*उदा०-**राज्ञः पुरुषः।** राजा का पुरुष। **पशोः पादः।** पशु का पांव। **पितुः पुत्रः।** पिता का पुत्र, इत्यादि।*

*सिद्धि-**राज्ञः पुरुषः।** यहां पुरुष, राजा का स्व है और राजा, पुरुष का स्वामी है। अतः प्रकृत सूत्र से इस स्व-स्वामी सम्बन्ध अर्थ में 'राजन्' शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है। ऐसे ही-**पशोः पादः, पितुः पुत्रः,** आदि।*

करणे षष्ठी–

(२) ज्ञोऽविदर्थस्य करणे।५१।

प०वि०-ज्ञः ६।१ अविदर्थस्य ६।१। करणे ७।१।

स०-विद् अर्थो यस्य स विदर्थः, न विदर्थ इति अविदर्थः, तस्मिन्=अविदर्थे (बहुव्रीहिगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-षष्ठी शेषे इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अविदर्थस्य ज्ञः शेषे करणे षष्ठी।

अर्थः-अविदर्थस्य=ज्ञानार्थवर्जितस्य ज्ञाधातोः शेषे करणे कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति।

उदा०-घृतस्य जानीते देवदत्तः। मधुनो जानीते यज्ञदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अविदर्थस्य) ज्ञान अर्थ से रहित (ज्ञः) ज्ञा-धातु के (शेषे) शेष (करणे) करण कारक में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है।

*उदा०-**घृतस्य जानीते देवदत्तः।** देवदत्त घी के उपाय से भोजन में प्रवृत्त होता है। **मधुनो जानीते यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त मीठे के उपाय से भोजन में प्रवृत्त होता है।*

*सिद्धि-**घृतस्य जानीते देवदत्तः।** ज्ञा+लट्। ज्ञा+श्ना+त। ज्ञा+ना+त। ज्ञा+नी+ते। जानीते। यहां ज्ञा-धातु का विद्=जानना अर्थ नहीं है, अपितु प्रवृत्त होना अर्थ है। अतः अविदर्थ ज्ञा-धातु के करण 'घृत' शब्द में षष्ठी विभक्ति है। जहां 'ज्ञा' धातु का जानना अर्थ होगा वहां 'ज्ञा' धातु के करण में '**कर्तृकरणयोस्तृतीया**' (२।३।२८) से तृतीया विभक्ति होगी। जैसे-**स्वरेण पुत्रं जानाति देवदत्तः।** देवदत्त आवाज से अपने पुत्र को जान लेता है।*

कर्मणि षष्ठी–

(३) अधीगर्थदयेशां कर्मणि।५२।

प०वि०-अधीगर्थ-दय-ईशाम् ६।३ कर्मणि ७।१।

स०-अधीक् (अधि+इक्) अर्थो येषां ते-अधीगर्थाः, अधीगर्थाश्च दयश्च ईश् च ते-अधीगर्थदयेशः, तेषाम्-अधीगर्थदयेशाम् (बहुव्रीहि-गर्भितेतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-षष्ठी शेषे इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अधीगर्थदयेशां शेषे कर्मणि षष्ठी।

अर्थः-अधीगर्थ-दय-ईशां धातूनां शेषे कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति।

उदा०-(१) अधीगर्थाः (स्मरणार्थाः)-मातुरध्येति देवदत्तः। मातुः स्मरति देवदत्तः। (२) **दय**-घृतस्य दयते यज्ञदत्तः। (३) **ईश्**-मधुन ईष्टे ब्रह्मदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अधीगर्थदयेशाम्) अधीगर्थ=स्मरणार्थक, दय और ईश् धातु के (शेषे) शेष (कर्मणि) कर्म कारक में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) अधीगर्थ (स्मरणार्थक)-**मातुरध्येति देवदत्तः। मातुः स्मरति देवदत्तः।** देवदत्त माता सम्बन्धी लाड-प्यार को स्मरण करता है। **घृतस्य दयते यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त घृत-सम्बन्धी पदार्थों का दान करता है। ईश-**मधुन ईष्टे ब्रह्मदत्तः।** मीठे सम्बन्धी पदार्थों का स्वामी है ब्रह्मदत्त।*

*सिद्धि-**मातुरध्येति देवदत्तः।** यहां 'अध्येति' क्रिया का कर्म 'माता' है। यहां शेष कर्म होने से देवदत्त माता को याद नहीं करता है, अपितु माता-सम्बन्धी लाड-प्यार को*

*याद करता है। जहां केवल माता को स्मरण करता है वहां-**'मातरं स्मरति देवदत्तः'** साधारण कर्म में **'कर्मणि द्वितीया'** (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति होती है। ऐसे ही अन्य उदाहरणों में भी समझ लेवें।*

कर्मणि षष्ठी–

(५) कृञः प्रतियत्ने।५३।

प०वि०–कृञः ६।१ प्रतियत्ने ७।१।

सतो गुणान्तराधानं प्रतियत्नः, तस्मिन्-प्रतियत्ने।

अनु०–षष्ठी शेषे, कर्मणि इति चानुवर्तते।

अन्वयः–प्रतियत्ने कृञः शेषे कर्मणि षष्ठी।

अर्थः–प्रतियत्ने=गुणान्तराधानेऽर्थे वर्तमानस्य कृञ्-धातोः शेषे कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति।

उदा०–इन्धनम् उदकस्य उपस्कुरुते।

आर्यभाषा-अर्थ-(प्रतियत्ने) गुणान्तर-आधान करने अर्थ में विद्यमान (कृञः) कृञ् धातु के (शेषे) शेष (कर्मणि) कर्म कारक में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है।

*उदा०–**इन्धनम् उदकस्य उपस्कुरुते।** इन्धन जल के शीतलता गुण को बदलता है।*

*सिद्धि-**इन्धनम् उदकस्य उपस्कुरुते।** उप+कृ+लट्। उप+सुट्+कृ+उ+ते। उप+स्+कुर्+उ+ते। उपस्कुरुते। **'डुकृञ् करणे'** (तना०उ०) धातु सामान्यत करने अर्थ में है। **'अनेकार्था हि धातवो भवन्ति'** के प्रमाण से यह प्रतियत्न अर्थ में भी है। जब इसका प्रतियत्न अर्थ में प्रयोग होता है तब इसके शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है। यह धातु उभयपद है किन्तु जब यह प्रतियत्न अर्थ में होती है तब **'गन्धना०उपयोगेषु कृञः'** (१।३।३२) से आत्मनेपद ही होता है, परस्मैपद नहीं। जब शेष कर्म की विवक्षा नहीं होती तब कर्म में **'कर्मणि द्वितीया'** (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति होती है-**इन्धनम् उदकम् उपस्कुरुते।** इन्धन जल को उपस्कृत (संस्कृत) करता है।*

कर्मणि षष्ठी–

(६) रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः।५४।

प०वि०–रुजा-अर्थानाम् ६।३ भाव-वचनानाम् ६।३ अज्वरेः ६।१।

स०–रुजा अर्थो येषां ते रुजार्थाः, तेषाम्-रुजार्थानाम् (बहुव्रीहिः)। धात्वर्थो भावः, वक्तीति वचनः, कर्तरि ल्युट्प्रत्ययः, वचनः=कर्ता इत्यर्थः। भावो वचनो येषां ते भाववचनाः, तेषां-भाववचनानाम् (बहुव्रीहिः)।

ज्वररोगे (भ्वा०प०) न ज्वरिरिति अज्वरिः, तस्य अज्वरेः (नञ्तत्पुरुषः)। 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इति ज्वरधातोरिक्प्रत्ययेन निर्देशः।

अनु०-षष्ठी शेषे कर्मणि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-भाववचनानां ज्वरिवर्जितानां रुजार्थानां शेषे कर्मणि षष्ठी।

अर्थः-भावकर्तृकाणां ज्वरिवर्जितानां रुजार्थानां धातूनां शेषे कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति।

उदा०-चौरस्य रुजति रोगः। चौरस्य आमयति आमयः।

आर्यभाषा-अर्थ-*(भाववचनानाम्) 'भाव' कर्तावाली (अज्वरेः) ज्वर धातु से भिन्न (रुजार्थानाम्) रुजा=रोग अर्थवाली धातुओं के (शेषे) शेष (कर्मणि) कर्म कारक में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है।*

*उदा०-**चौरस्य रुजति रोगः।** रोग चोर के चित्त को सन्ताप आदि से पीड़ित करता है। **चौरस्य आमयति आमयः।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*सिद्धि-**चौरस्य रुजति रोगः।** रुज्+घञ्। रुज्+अ। रोग्+अ। रोग+सु। रोगः। यहां 'रुजो भङ्गे' (तु०प०) से 'पदरुजविशस्पृशो घञ्' (३।३।१६) से भाव अर्थ में घञ्-प्रत्यय है। यह रुजति क्रिया का कर्ता है। रुजति क्रिया के शेष कर्म चोर में षष्ठी विभक्ति है। जहां साधारण कर्म होता है वहां **'कर्मणि द्वितीया'** (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति होती है। चौरं रुजति रोगः। रोग चोर को पीड़ा देता है।*

कर्मणि द्वितीया--

(७) आशिषि नाथः।५५।

प०वि०-आशिषि ७।१ नाथः १।१।

स०-'नाथृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु' (भ्वा०आ०) इति याच्ञादिष्वर्थेषु पठ्यते। तेषामाशीरर्थस्यात्र ग्रहणम्।

अनु०-षष्ठी शेषे कर्मणि इति चानुवर्तते।

अन्वयः-आशिषि नाथः शेषे कर्मणि षष्ठी।

अर्थः-आशिषि=इच्छायामर्थे वर्तमानस्य नाथ-धातोः शेषे कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति।

उदा०-घृतस्य नाथते देवदत्तः। मधुनो नाथते यज्ञदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(आशिषि) इच्छा अर्थ में विद्यमान (नाथ:) नाथ धातु के (शेषे) शेष (कर्मणि) कर्म कारक में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है।

*उदा०-**घृतस्य नाथते देवदत्त:।** देवदत्त घी को अपनाना चाहता है। **मधुनो नाथते यज्ञदत्त:।** यज्ञदत्त मधु को अपनाना चाहता है।*

*सिद्धि-**घृतस्य नाथते देवदत्त:।** यहां नाथ धातु आशी:=इच्छा अर्थ में है। नाथते का शेष कर्म घृत है, उसमें षष्ठी विभक्ति है। ऐसे ही-**मधुनो नाथते यज्ञदत्त:।***

कर्मणि षष्ठी-

(८) जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम्।५६।

प०वि०-जासि-निप्रहण-नाट-क्राथ-पिषाम् ६।३। हिंसायाम् ७।१।

स०-जासिश्च निप्रहणश्च नाटश्च क्राथश्च पिष् च ते-जासि०पिष:, तेषाम्-जासि०पिषाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्व:)।

अनु०-षष्ठी शेषे कर्मणि इति चानुवर्तते।

अन्वय:-हिंसायां जासि०पिषां शेषे कर्मणि षष्ठी।

अर्थ:-हिंसायामर्थे वर्तमानानां जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां धातूनां शेषे कर्मणि करके षष्ठी विभक्तिर्भवति।

उदा०-(१) जासि-'जसु हिंसायाम्' (चु०प०) 'जसु ताडने' (चु०उ०)। चौरस्य जासयति देवदत्त:। **(२) निप्रहण**-(नि+प्र+हन) 'हन हिंसागत्यो: (अदा०प०)। चौरस्य निहन्ति देवदत्त:। चौरस्य प्रहन्ति देवदत्त:। चौरस्य निप्रहन्ति देवदत्त:। **(३) नाट**-नट नृतौ (दि०प०) चौरस्य नाटयति देवदत्त:। **(४) क्राथ**-क्राथ हिंसायाम् (चु०उ०) चौरस्य क्राथयति देवदत्त:। (५) **पिष्**-पिष्लृ संचूर्णने (रुधा०प०) चौरस्य पिनष्टि देवदत्त:।

आर्यभाषा-अर्थ-(हिंसायाम्) हिंसा अर्थ में विद्यमान (जासि०पिषाम्) जासि, निप्रहण, नाट, क्राथ और पिष् इन धातुओं के (शेषे) शेष (कर्मणि) कर्म कारक में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) जासि-**चौरस्य जासयति देवदत्त:।** देवदत्त चोर की हिंसा अथवा ताडना करता है। (२) निप्रहण-**चौरस्य निहन्ति देवदत्त:।** देवदत्त चोर को नीचे डालकर मारता है। **चौरस्य प्रहन्ति देवदत्त:।** देवदत्त चोर को खूब मारता है। **चौरस्य***

निप्रवहन्ति देवदत्तः। देवदत्त चोर को नीचे डालकर खूब मारता है। (३) नाट-चौरस्य नाटयति देवदत्तः। देवदत्त चोर का नाच नचाता है। (४) क्राथ-चौरस्य क्राथयति देवदत्तः। देवदत्त चोर का हनन करता है। (५) पिष्-चौरस्य पिनष्टि देवदत्तः। देवदत्त चोर की पिसाई करता है, उसे पीसता है।

सिद्धि-चौरस्य जासयति देवदत्तः। यहां हिंसार्थक जासि धातु के शेष कर्म चौर में षष्ठी विभक्ति है। यहां हिंसा का अर्थ प्राणान्त करना ही नहीं अपितु किसी भी प्रकार से उसे पीड़ित करना है। ऐसे ही-चौरस्य निहन्ति देवदत्तः, आदि।

कर्मणि षष्ठी–

(६) व्यवहृपणोः समर्थयोः।५७।

प०वि०–व्यवहृ-पणोः ६।२। समर्थयोः ६।२।

स०–व्यवहृश्च पण् च तौ व्यवहृपणौ, तयोः–व्यवहृपणोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। समोऽर्थो ययोस्तौ-समर्थौ, तयोः–समर्थयोः (बहुव्रीहिः)।

अनु०–षष्ठी शेषे कर्मणि इति चानुवर्तते।

अन्वयः–समर्थयोर्व्यवहृपणोः शेषे कर्मणि षष्ठी।

अर्थः–समानार्थयोर्व्यवहृ-पणोर्धात्वोः शेषे कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति। द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे च व्यवहृपणोः समानार्थत्वम्।

उदा०–(१) **व्यवहृ**-(वि+अव+हृञ् हरणे भ्वा०उ०) शतस्य व्यवहरति देवदत्तः। सहस्रस्य व्यवहरति यज्ञदत्तः। (२) **पण्**–'पण व्यवहारे स्तुतौ च' (भ्वा०आ०) शतस्य पणते देवदत्तः। सहस्रस्य पणते यज्ञदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(समर्थयोः) समान अर्थवाली (व्यवहृपणोः) व्यवहृ और पण धातु के (शेषे) शेष (कर्मणि) कर्म कारक में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है। द्यूत (जूआ खेलना) और क्रय-विक्रय व्यवहार में व्यवहृ और पण धातु समानार्थक हैं।

उदा०-(१) व्यवहृ-शतस्य व्यवहरति देवदत्तः। देवदत्त सौ रुपये का जूआ खेलता है अथवा सौ रुपये का क्रय-विक्रय करता है। सहस्रस्य व्यवहरति यज्ञदत्तः। यज्ञदत्त हजार रुपये का जूआ खेलता है अथवा हजार रुपये का क्रय-विक्रय करता है। (२) पण्-शतस्य पणते देवदत्तः। देवदत्त सौ रुपये का जूआ खेलता है अथवा क्रय-विक्रय करता है। सहस्रस्य पणते यज्ञदत्तः। यज्ञदत्त हजार रुपये का जूआ खेलता है अथवा क्रय-विक्रय करता है।

सिद्धि-शतस्य व्यवहरति देवदत्तः। यहां द्यूतक्रीडा और क्रय-विक्रय अर्थ में विद्यमान व्यवहृ धातु के शेष कर्म 'शत' शब्द में षष्ठी विभक्ति है। ऐसे ही-शतस्य पणते देवदत्तः, इत्यादि।

कर्मणि षष्ठी–

(१०) दिवस्तदर्थस्य ।५८।

प०वि०–दिव: ६ ।१ तदर्थस्य ६ ।१ ।

स०–सोऽर्थो यस्य स तदर्थ:, तस्य तदर्थस्य (बहुव्रीहि:) । स क: ? व्यवहृपणोरर्थ: ।

अनु०–षष्ठी कर्मणि इति चानुवर्तते । शेषे इत्यतो नानुवर्तते कर्मणि शेषत्वविवक्षाऽभावात् ।

अन्वय:–तदर्थस्य=व्यवहृपणोरर्थस्य दिव: कर्मणि षष्ठी ।

अर्थ:–तदर्थस्य=पूर्वोक्तस्य द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयव्यवहारार्थस्य च दिवो धातो: कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति ।

उदा०–शतस्य दीव्यति देवदत्त: । सहस्रस्य दीव्यति यज्ञदत्त: ।

आर्यभाषा-अर्थ-(तदर्थस्य) पूर्वोक्त द्यूतक्रीडा और क्रय-विक्रय व्यवहार अर्थवाली (दिव:) दिव धातु के (कर्मणि) कर्म में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है। इससे आगे 'शेष' की अनुवृत्ति नहीं है, शेष विवक्षा न होने से।

*उदा०-**शतस्य दीव्यति देवदत्त: ।** देवदत्त जूवे में सौ रुपये दाव पर लगाता है अथवा क्रय-विक्रय व्यवहार में सौ रुपये पाता है। **सहस्रस्य दीव्यति यज्ञदत्त: ।** यज्ञदत्त जूवे में हजार रुपये दाव पर लगाता है अथवा क्रय-विक्रय व्यवहार में हजार रुपये पाता है।*

कर्मणि षष्ठी–

(११) विभाषोपसर्गे ।५९।

प०वि०–विभाषा १ ।१ उपसर्गे ७ ।१ ।

अनु०–षष्ठी कर्मणि दिवस्तदर्थस्य इति चानुवर्तते ।

अन्वय:–तदर्थस्य=व्यवहृपणोरर्थस्योपसर्गे दिव: कर्मणि विभाषा षष्ठी ।

अर्थ:–तदर्थस्य=द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयव्यवहारार्थस्य च सोपसर्गस्य दिवो धातो: कर्मणि कारके विकल्पेन षष्ठी विभक्तिर्भवति । पक्षे द्वितीया विभक्तिर्भवति ।

उदा०-शतस्य प्रतिदीव्यति देवदत्तः । सहस्रस्य प्रतिदीव्यति यज्ञदत्तः ।

आर्यभाषा-अर्थ-(तदर्थस्य) द्यूतक्रीडा और क्रय-विक्रय व्यवहार अर्थवाली (उपसर्गे) उपसर्ग सहित (दिवः) दिव धातु के (कर्मणि) कर्म में (विभाषा) विकल्प से (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है। पक्ष में द्वितीया विभक्ति होती है।

*उदा०-**शतस्य प्रतिदीव्यति देवदत्तः । शतं प्रतिदीव्यति देवदत्तः ।** देवदत्त जूवे में प्रति बार सौ रुपये जीतता है अथवा क्रय-विक्रय व्यवहार में प्रति बार सौ रुपये प्राप्त करता है। **सहस्रस्य प्रतिदीव्यति यज्ञदत्तः । सहस्रं प्रतिदिव्यति यज्ञदत्तः ।** यज्ञदत्त जूवे में प्रति बार हजार रुपये जीतता है अथवा क्रय-विक्रय व्यवहार में प्रतिवार सौ रुपये प्राप्त करता है।*

*सिद्धि-**शतस्य/शतं प्रतिदीव्यति देवदत्तः ।** यहां प्रति उपसर्गपूर्वक दिव् धातु के कर्म 'शत' शब्द में षष्ठी विभक्ति है। पक्ष में **'कर्मणि द्वितीया'** (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति होती है।*

द्वितीया-

(१२) द्वितीया ब्राह्मणे।६०।

प०वि०-द्वितीया १।१ ब्राह्मणे ७।१।

अनु०-कर्मणि दिवस्तदर्थस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः-ब्राह्मणे तदर्थस्य=व्यवहृपणोरर्थस्य दिवः कर्मणि द्वितीया।

अर्थः-ब्राह्मणविषयके प्रयोगे वर्तमानस्य तदर्थस्य द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयव्यवहारार्थस्य च दिवो धातोः कर्मणि कारके द्वितीया विभक्तिर्भवति। अनुपसर्गस्य दिवो धातोः कर्मणि षष्ठ्यां प्राप्तायां वचनमिदमारभ्यते।

उदा०-गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः ।

*आर्यभाषा-अर्थ-(ब्राह्मणे) ब्राह्मण ग्रन्थ के प्रयोग में (तदर्थस्य) द्यूतक्रीडा और क्रय-विक्रय व्यवहार अर्थवाली (दिवः) दिव् धातु के (कर्मणि) कर्म में (द्वितीया) द्वितीया विभक्ति होती है। उपसर्ग रहित दिव् धातु के कर्म में **'दिवस्तदर्थस्य'** (२।३।५८) से षष्ठी विभक्ति प्राप्त थी, इससे द्वितीया विभक्ति का विधान किया गया है।*

*उदा०-**गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः ।** वे इसकी गौ को उस दिन सभा में खरीदें।*

*सिद्धि-**गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः ।** यहां दिव् धातु के कर्म 'गौ' में द्वितीया विभक्ति है। यह शतपथब्राह्मण का प्रयोग है। **'ब्राह्मणशब्दः शतपथस्याख्या'** इति न्यासकारः ।*

कर्मणि षष्ठी–

(१३) प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने।६१।

प०वि०–प्रेष्य-ब्रुवो: ६।२ हविष: ६।१ देवतासम्प्रदाने ७।१।

स०–प्रेष्यश्च ब्रूश्च तौ–प्रेष्यब्रुवौ, तयो:–प्रेष्यब्रुवो: (इतरेतरयोगद्वन्द्व:)। देवता सम्प्रदानं यस्य स देवतासम्प्रदान:, तस्मिन्–देवतासम्प्रदाने (बहुव्रीहि:)।

अनु०–षष्ठी कर्मणि ब्राह्मण इति चानुवर्तते।

अन्वय:–ब्राह्मणे देवतासम्प्रदाने प्रेष्यब्रुवोर्हविष: कर्मणि षष्ठी।

अर्थ:–ब्राह्मणविषये देवतासम्प्रदानेऽर्थे वर्तमानयो: प्रेष्य-ब्रुवोर्धात्वोर्हविषो वाचके कर्मणि षष्ठी विभक्तिर्भवति।

उदा०–**प्रेष्य**–अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदस: प्रे३ष्य। **ब्रूहि**–अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि।

आर्यभाषा–अर्थ–(ब्राह्मणे) ब्राह्मण ग्रन्थविषय में (देवतासम्प्रदाने) देवता-सम्प्रदानवाली (प्रेष्य-ब्रुवो:) प्रेष्य और ब्रू धातु के (हविष:) 'हवि' रूप (कर्मणि) कर्म कारक में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है।

*उदा०–**प्रेष्य–अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदस: प्रे३ष्य। ब्रू–अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रू३हि।***

*सिद्धि–**अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदस: प्रे३ष्य।** यहां 'प्रेष्य' धातु का कर्म 'हवि:' है। उसमें इस सूत्र से षष्ठी विभक्ति है। हवि के विशेषण छाग, वपा और मेद में भी समानाधिकरण से षष्ठी विभक्ति है। ऐसे ही–**अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि।***

*विशेष–स्वामी दयानन्दकृत अष्टाध्यायी–भाष्य तथा कारकीय नामक वेदांग प्रकाश में '**इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविषो वपाया मेदस: प्रेष्य। इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि**' ऐसा पाठ है। कारकीय की पादटिप्पणी में इसका अर्थ यह लिखा है–अजा के अर्थ खाने–पीने की वस्तु के योग से बिजली और अग्नि को उपयुक्त कर और सुनकर उपदेश भी कर (कारकीय पृ० ५९)।*

चतुर्थ्यर्थे षष्ठी चतुर्थी च–

(१४) चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि।६२।

प०वि०–चतुर्थी-अर्थे ७।१ बहुलम् १।१ छन्दसि ७।१।

स०-चतुर्थ्या अर्थ इति चतुर्थ्यर्थः, तस्मिन्-चतुर्थ्यर्थे (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-षष्ठी इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि चतुर्थ्यर्थे बहुलं षष्ठी।

अर्थः-छन्दसि विषये चतुर्थी-अर्थे बहुलं षष्ठी विभक्तिर्भवति। पक्षे चतुर्थी विभक्तिर्भवति।

उदा०-(१) **षष्ठी**-गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम् (यजु० २४।३५) (२) **चतुर्थी**-गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतिभ्यः।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(छन्दसि) वेद विषय में (चतुर्थ्यर्थे) चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में (बहुलम्) प्रायशः (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है। पक्ष में चतुर्थी विभक्ति होती है।

उदा०-(१) षष्ठी-__गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्।__ (२) चतुर्थी-__गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतिभ्यः।__ (यजु० २४।३५) वनस्पतियों के गुण-ज्ञान के लिये गोधा=गोह, कालक=पनियां सांप और दार्वाघाट=कठफोड़ा प्राणियों का उपयोग करें।

__सिद्धि__-उपरिलिखित उदाहरण में 'वनस्पति' शब्द में चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी और चतुर्थी विभक्ति है।

करणे षष्ठी–

(१५) यजेश्च करणे।६३।

प०वि०-यजेः ६।१ च अव्ययपदम्, करणे ७।१।

अनु०-बहुलं छन्दसि षष्ठी इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि यजेश्च करणे बहुलं षष्ठी।

अर्थः-छन्दसि विषये यज-धातोः करणे कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति। पक्षे तृतीया विभक्तिर्भवति।

उदा०-(१) **षष्ठी**-घृतस्य यजते। सोमस्य यजते। (२) **तृतीया**-घृतेन यजते। सोमेन यजते।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(छन्दसि) वेद विषय में (यजेः) यज-धातु के (करणे) करण कारक में (बहुलम्) प्रायशः (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है। पक्ष में तृतीया विभक्ति होती है।

उदा०-(१) षष्ठी-__घृतस्य यजते।__ घी से यज्ञ करता है। __सोमस्य यजते।__ सोम से यज्ञ करता है। (२) तृतीया-__घृतेन यजते। सोमेन यजते।__ अर्थ पूर्ववत् है।

__सिद्धि__-उपरिलिखित उदाहरणों में करणभूत 'घृत' और 'सोम' शब्द में षष्ठी और तृतीया विभक्ति है। __'कर्तृकरणयोस्तृतीया'__ (२।३।१८) से पक्ष में तृतीया विभक्ति होती है।

अधिकरणे षष्ठी–

(१६) कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे।६४।

प०वि०–कृत्वोऽर्थ-प्रयोगे ७।१ काले ७।१ अधिकरणे ७।१।

स०–कृत्वसुच् अर्थो येषां ते कृत्वोऽर्थाः, तेषाम्-कृत्वोऽर्थानाम्, कृत्वोऽर्थानां प्रयोग इति कृत्वोऽर्थप्रयोगः, तस्मिन्-कृत्वोऽर्थप्रयोगे (बहुव्रीहिगर्भितषष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०–षष्ठी शेषे इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–कृत्वोऽर्थप्रयोगे काले शेषेऽधिकरणे षष्ठी।

अर्थः–कृत्वसुजर्थानां प्रत्ययानां प्रयोगे काले शेषेऽधिकरणे षष्ठी विभक्तिर्भवति।

उदा०–पञ्चकृत्वो दिनस्य भुङ्क्ते देवदत्तः। द्विर्दिनस्याधीते यज्ञदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ–*(कृत्वोऽर्थप्रयोगे) कृत्वसुच् प्रत्यय के अर्थवाले प्रत्ययों के प्रयोग में (काले) कालवाची (शेषे) शेष (अधिकरणे) अधिकरण कारक में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है।*

*उदा०–**पञ्चकृत्वो दिनस्य भुङ्क्ते देवदत्तः।** देवदत्त दिन के समय में पांच बार खाता है। **द्विर्दिनस्याधीते यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त दिन के समय में दो बार पढ़ता है।*

सिद्धि-(१) पञ्चकृत्वो दिनस्य भुङ्क्ते। *पञ्च+कृत्वसुच्। पञ्च+कृत्वस्। पञ्चकृत्वस्+सु। पञ्चकृत्वः।*

*यहां **'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्'** (५।४।१७) से संख्यावाची पञ्च शब्द से क्रिया की आवृत्ति गिनने अर्थ में कृत्वसुच् प्रत्यय है। इसके प्रयोग में कालवाची दिन शब्द जो कि शेष अधिकरण है, उसमें षष्ठी विभक्ति है।*

(२) द्विर्दिनस्याधीते। *द्वि+सुच्। द्विस्+सु। द्विः। यहां **'द्वित्रिभ्यां सुच्'** (५।४।१८) से 'द्वि' शब्द से कृत्वोऽर्थ में 'सुच्' प्रत्यय है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

कर्तरि कर्मणि च षष्ठी–

(१७) कर्तृकर्मणोः कृति।६५।

प०वि०–कर्तृ-कर्मणोः ७।२ कृति ७।१।

स०–कर्ता च कर्म च ते-कर्तृकर्मणी, तयोः-कर्तृकर्मणोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अन्वयः-कृति कर्तृकर्मणोः षष्ठी।

अर्थः-कृत्-प्रत्ययानां प्रयोगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी विभक्तिर्भवति।

उदा०-(१) **कर्तरि**-भवतः[६] शायिका वर्तते। भवत[६] आसिका वर्तते। (२) **कर्मणि**-यज्ञोऽपां[६] स्रष्टा। इन्द्रः पुरां[६] भेत्ता। इन्द्रो वज्रस्य[६] भर्ता।

आर्यभाषा-अर्थ-(कृति) कृत्-संज्ञक प्रत्ययों के प्रयोग में (कर्तृकर्मणोः) कर्ता और कर्म में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) कर्ता-भवतः **शायिका वर्तते।** आपकी सोने की बारी (पर्याय) है। **भवत आसिका वर्तते।** आपकी बैठने की बारी (पर्याय) है। (२) **कर्म-यज्ञोऽपां स्रष्टा।** यज्ञ जल को बनानेवाला है। **इन्द्रः पुरां भेत्ता।** इन्द्र नगरों को तोड़नेवाला है। **इन्द्रो वज्रस्य भर्ता।** इन्द्र वज्र (शस्त्र) को धारण करनेवाला है।*

*सिद्धि-(१) **भवतः शायिका वर्तते। शीङ् स्वप्ने** (अदा०आ०) शीङ्+ण्वुच्। शी+वु। शी+अक। शै++अक। शायक+टाप्। शायिक+आ। शायिका+सु। शायिका।*

*यहां **'शीङ् स्वप्ने'** (अ०आ०) धातु से **'पर्यायार्हर्णोत्पत्तिषु ण्वुच्'** (३।३।१११) से कृत्संज्ञक ण्वुच् प्रत्यय है। इसके कर्ता 'भवत्' शब्द में षष्ठी विभक्ति है।*

*(२) **इन्द्रः पुरां भेत्ता। 'भिदिर् विदारणे'** (रुधा०प०) भिद्+तृच्। भिद्+तृ। भेद्+तृ। भेत्तृ+सु। भेत्ता।*

*यहां भिद् धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से कृत्-संज्ञक 'तृच्' प्रत्यय है। इसके कर्म 'पुर' शब्द में षष्ठी विभक्ति है। ऐसे ही-**इन्द्रो वज्रस्य भर्ता।***

कर्मणि षष्ठी-

(१८) उभयप्राप्तौ कर्मणि।६६।

प०वि०-उभय-प्राप्तौ ७।१ कर्मणि ७।१।

स०-उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन् सोऽयम्-उभयप्राप्तिः, तस्मिन्-उभयप्राप्तौ (बहुव्रीहिः)।

अनु०-षष्ठी कृति इति चानुवर्तते।

अन्वयः-कृति उभयप्राप्तौ कर्मणि षष्ठी।

अर्थः-यस्मिन् कृत-प्रयोगे उभयस्मिन्=कर्तरि कर्मणि च षष्ठी विभक्तिः प्राप्नोति तत्र कर्मण्येव षष्ठी विभक्तिर्भवति।

उदा०-आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालेन। रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन। साधु खलु पयसः पानं यज्ञदत्तेन।

आर्यभाषा-अर्थ-(कृति) जिस कृत्-प्रत्यय के प्रयोग में (उभयप्राप्तौ) कर्ता और कर्म दोनों में षष्ठी विभक्ति प्राप्त होती है वहां (कर्मणि) कर्म में ही (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है, कर्ता में नहीं।

*उदा०-**आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालेन।** जो गोपाल नहीं है उसके द्वारा गौओं को दुहना आश्चर्य की बात है। **रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन।** देवदत्त के द्वारा ओदन का खाना मुझे प्यारा लगता है। **साधु खलु पयसः पानं यज्ञदत्तेन।** यज्ञदत्त का दुग्ध का पान अच्छा है।*

*सिद्धि-**आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालेन।** 'दुह् प्रपूरणे' (अदा०प०)। दुह्+घञ्। दोह्+अ। दोह+सु। दोहः।*

*यहां 'दुह्' धातु से **'भावे'** (३।३।१८) से भाव अर्थ में कृत्-संज्ञक घञ्' प्रत्यय है। यहां कर्ता अगोपाल तथा कर्म 'गौ' दोनों में षष्ठी विभक्ति प्राप्त होती है। प्रकृत सूत्र से 'गौ' कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है। **'कर्तृकरणयोस्तृतीया'** (२।३।१८) से कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है। यहां **'कर्मणि च'** (२।२।१४) से षष्ठी समास का प्रतिषेध है। ऐसे ही-**ओदनस्य भोजनम्, पयसः पानम्।***

क्तस्य प्रयोगे षष्ठी-

(१६) क्तस्य च वर्तमाने।६७।

प०वि०-क्तस्य ६।१ च अव्ययपदम्, वर्तमाने ७।१।

अनु०-षष्ठी इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-वर्तमाने क्तस्य प्रयोगे च षष्ठी।

अर्थः-वर्तमाने काले विहितस्य क्त-प्रत्ययान्तस्य शब्दस्य प्रयोगे च षष्ठी विभक्तिर्भवति।

उदा०-राज्ञां मतो देवदत्तः। राज्ञां बुद्धो यज्ञदत्तः। राज्ञां पूजितो ब्रह्मदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(वर्तमाने) वर्तमानकाल में विहित (क्तस्य) क्त-प्रत्ययान्त शब्द के प्रयोग में (च) भी (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होता है।

*उदा०-**राज्ञां मतो देवदत्तः।** देवदत्त राजाओं के द्वारा सम्मानित है, अर्थात् वे उसका सम्मान करते हैं। **राज्ञां बुद्धो यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त राजाओं के द्वारा संज्ञात है, अर्थात् वे उसे भलीभांति जानते हैं। **राज्ञां पूजितो ब्रह्मदत्तः।** ब्रह्मदत्त राजाओं के द्वारा सत्कृत है, अर्थात् वे उसका सम्मान करते हैं।*

*सिद्धि-**राज्ञां मतो देवदत्तः।** **'मनु अवबोधने'** (त०आ०)। मन्+क्त। म+त। मत+सु। मतः।*

यहां 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' (३।२।१८८) से 'मन्' धातु से क्त-प्रत्यय वर्तमानकाल में है। उसके प्रयोग में राजन् शब्द में षष्ठी विभक्ति है। यह कर्ता में षष्ठी है। यहां 'क्तेन पूजायाम्' (२।२।१२) से षष्ठी-समास का प्रतिषेध है।

'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (२।३।६९) में निष्ठा (क्त) प्रत्यय का ग्रहण होने से क्त-प्रत्यय के प्रयोग में षष्ठी विभक्ति का प्रतिषेध प्राप्त है अतः इस सूत्र से वर्तमानकाल में विहित क्त-प्रत्यय के प्रयोग में षष्ठी विभक्ति का विधान किया गया है। यह उक्त प्रतिषेध का पूर्व अपवाद है।

क्तस्य प्रयोगे षष्ठी–

(२०) अधिकरणवाचिनश्च।६८।

प०वि०–अधिकरणवाचिनः ६।१ च अव्ययपदम्।

अधिकरणं वक्तीति अधिकरणवाची, तस्य–अधिकरणवाचिनः (कृदन्तवृत्तिः)।

अनु०–षष्ठी क्तस्य इति चानुवर्तते।

अन्वयः–अधिकरणवाचिनश्च क्तस्य प्रयोगे षष्ठी।

अर्थः–अधिकरणवाचिनश्च क्तप्रत्ययान्तस्य शब्दस्य प्रयोगेऽपि षष्ठी विभक्तिर्भवति।

उदा०–इदं छात्राणामासितम्। इदं छात्राणां शयितम्। इदं छात्राणां भुक्तम्।

आर्यभाषा-अर्थ–*(अधिकरणवाचिनः) अधिकरणवाची (क्तस्य) क्त-प्रत्ययान्त शब्द के प्रयोग में (च) भी (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है।*

*उदा०–**इदं छात्राणामासितम्।** यह छात्रों के बैठने का स्थान है। **इदं छात्राणां शयितम्।** यह छात्रों के सोने का स्थान है। **इदं छात्राणां भुक्तम्।** यह छात्रों के भोजन का स्थान है।*

सिद्धि–*इदं **छात्राणमासितम्।** **'आस् उपवेशने'** (अदा०प०)। आस्+क्त। आस्+इट्+त। आस्+इ+त। आसित+सु। आसितम्।*

*यहां **'क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः'** (३।४।७६) से आस् धातु से अधिकरण कारक में क्त-प्रत्यय है और उसके प्रयोग में 'छात्र' शब्द में षष्ठी विभक्ति है। यहां **'अधिकरणवाचिना च'** (२।२।१३) से षष्ठी समास का प्रतिषेध होता है।*

*'**न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्**' (२।३।६९) से निष्ठा (क्त) प्रत्यय का ग्रहण होने से क्त-प्रत्यय के प्रयोग में षष्ठी विभक्ति का प्रतिषेध प्राप्त है, अतः इस सूत्र से*

अधिकरण कारक में विहित क्त-प्रत्यय के प्रयोग में षष्ठी विभक्ति का विधान किया गया है। यह उक्त प्रतिषेध का पूर्व अपवाद है।

षष्ठीप्रतिषेधः–

(२१) न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्।६६।

प०वि०– न अव्ययपदम्। ल-उ-उक-अव्यय-निष्ठा-खलर्थ-तृनाम् ६।३।

स०–खलोऽर्थ इति खलर्थः, खलर्थ इव अर्थो येषां ते खलर्थाः (षष्ठीतत्पुरुषगर्भितबहुव्रीहिः)। लश्च उश्च उकश्च अव्ययं च निष्ठा च खलर्थाश्च तृन् च ते-लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनः, तेषाम्-लोकाव्ययनिष्ठा-खलर्थतृनाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०–षष्ठी इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनां प्रयोगे षष्ठी न।

अर्थः–ल-उ-उक-अव्यय-निष्ठा-खलर्थ-तृनां प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्न भवति।

'ल' इत्यनेन ये लकारस्य स्थाने आदेशा भवन्ति ते गृह्यन्ते-शतृशानचौ, कानच्-क्वसू किकिनौ च।

उदा०–(१) (ल) **शतृ–**ओदनं पचन्। (२) **शानच्–**ओदनं पचमानः। (३) **कानच्–**ओदनं पेचानः। (४) **क्वसु–**ओदनं पेचिवान्। (५) **कि–**पपिः सोमम्। (६) **किन्–**ददिर्गाः।

(७) उ-कटं चिकीर्षुः। ओदनं बुभुक्षुः। (८) **उक–**वाराणसीम् आगामुकः। (९) **अव्ययम्–**कटं कृत्वा। ओदनं भुक्त्वा। (१०) **निष्ठा–**देवदत्तेन कृतम्। ओदनं भुक्तवान् यज्ञदत्तः। (११) **खलर्थ–**ईषत्करः कट भवता। ईषत्पानः सोमो भवता।

'तृन्' इति प्रत्याहारग्रहणम्, **'लटः शतृशानचावप्रथमा-समानाधिकरणे'** (३।२।१२४) इत्यारभ्य **'तृन्'** (३।२।१५) इत्यस्य नकारपर्यन्तम्। तेन शानन्-चानश्-शतृ-तृनामपि प्रतिषेधे ग्रहणं क्रियते।

(१२) **शानन्**-सोमं पवमानः। (१३) **चानश्**-शिखण्डं वहमानः। (१४) **शतृ**-अधीयन् पारायणम्। (१५) **तृन्**-कर्ता कटान्। वदिता जनापवादान्।

आर्यभाषा-अर्थ-(ल०तृनाम्) ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ और तृन् इनके प्रयोग में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति (न) नहीं होती है।

उदा०-(१) ल-ल से लकार के स्थान में जो आदेश विधान किये गये हैं, उनका ग्रहण किया जाता है, जैसे-शतृ, शानच्, कानच्, क्वसु, कि और किन् प्रत्यय। इनके उदाहरण निम्नलिखित हैं-

*(१) **शतृ-ओदनं पचन्।** भात को पकाता हुआ। (२) **शानच्-ओदनं पचमानः।** भात को पकाता हुआ। (३) **कानच्-स ओदनं पेचानः।** उसने भात पकाया। (४) **क्वसु-स ओदनं पेचिवान्।** उसने भात पकाया। (५) **कि-पपिः सोमम्।** सोम का पान करनेवाला। (६) **किन्-ददिर्गाः।** गौओं का दान करनेवाला। (७) **उ-कटं चिकीर्षुः।** चटाई बनाने का इच्छुक। **ओदनं बुभुक्षुः।** भात को खाने का इच्छुक (८) **उक-वाराणसीमागामुकः।** बनारस में आनेवाला। (९) **अव्यय-कटं कृत्वा।** चटाई बनाकर। **ओदनं भुक्त्वा।** भात को खाकर। (१०) **निष्ठा-(क्त) देवदत्तेन कृतम्।** देवदत्त ने किया। **(क्तवतु)-ओदनं भुक्तवान् यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त ने भात खाया। (११) **खलर्थ-ईषत्करः कटो भवता।** आपके लिये चटाई बनाना कठिन कार्य नहीं है। **ईषत्पानः सोमो भवता।** आपके लिये सोम का पान करना कठिन कार्य नहीं है।*

*यहां 'तृन्' एक प्रत्याहार का ग्रहण किया है। यह प्रत्याहार **'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे'** (३।२।२२४) के 'शतृ' के 'तृ' से लेकर **'तृन्'** (३।२।२५) 'तृन्' प्रत्यय के 'न्' तक ग्रहण किया जाता है। इससे इस प्रतिषेध में शानन्, चानश्, शतृ और तृन् प्रत्यय का ग्रहण होता है।*

*(१२) **शानन्-सोमं पवमानः।** सोम का पान करनेवाला। (१३) **चानश्-शिखण्डं वहमानः।** शिखा को धारण करनेवाला। (१४) **शतृ-अधीयन् पारायणम्।** पारायण का सहजतापूर्वक अध्ययन करनेवाला। (१५) **तृन्-कर्ता कटान्।** चटाइयों को बनानेवाला।*

*सिद्धि-(१) **ओदनं पचन्।** **'डुपचष् पाके'** (भ्वा०प०) पच्+लट्। पच्+शतृ। पच्+शप्+अत्। पचत्+सु। पचन्।*

*यहां 'पच्' धातु से **'वर्तमाने लट्'** (३।२।१२३) से लट् प्रत्यय और उसके स्थान में **'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे'** (३।२।१२४) से 'शतृ' आदेश है। इस कृत् प्रत्यय के प्रयोग में 'ओदन' शब्द में **'कर्मणि द्वितीया'** (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति है। यहां **'कर्तृकर्मणोः'** (२।३।६५) से षष्ठी विभक्ति प्राप्त थी, उसका इस सूत्र से प्रतिषेध किया गया है। ऐसे ही सब उदाहरणों में समझ लेवें।*

*(२) **पचमानः।** पच्+शानच्। पच्+मुक्+आन। पच्+म्+आन। पचमान+सु। पचमानः। यहां पूर्ववत् शानच् प्रत्यय है।*

(३) **पेचान:।** *पच्+लिट्। पच्+कानच्। पच्+आन। पच्+पच्+आन। पेच्+आन। पेचान+सु। पेचान:। यहां 'पच्' धातु से* **'लिट: कानज्वा'** *(३।२।१०७) से कानच् प्रत्यय है।*

(४) **पेचिवान्।** *पच्+लिट्। पच्+क्वसु। पच्+वस्। पच्+पच्+वस्। पच्+वस्। पेचिवस्+सु। पेचिवान्। यहां 'पच्' धातु से* **'क्वसुश्च'** *(२।३।१०८) से क्वसु प्रत्यय है।*

(५) **पपि:।** **'पा पाने'** *(भ्वा०प०) पा+कि। पा+पा+इ। प+पा+इ। पपि+सु। पपि:। यहां 'पा' धातु से* **'आदृगमहनजन: किकिनौ लिट् च'** *(३।२।१७१) से 'कि' प्रत्यय है।*

(६) **ददि:।** **'डुदाञ् दाने'** *(जु०उ०)। इस धातु से पूर्ववत् किन् प्रत्यय है।*

(७) **चिकीर्षु:।** **'डुकृञ् करणे'** *(तना०उ०)। कृ+सन्। कृ+कृ+सन्। क+कृ+स। च+कीर्+स। चिकीर्ष+उ। चिकीर्षु+सु। चिकीर्षु:। यहां सन्-प्रत्ययान्त 'कृ' धातु से* **'सनाशंसभिक्ष उ:'** *(३।२।१६८) से 'उ' प्रत्यय है। ऐसे ही भुज धातु से-***बुभुक्षु:।**

(८) **आगामुक:।** **'गम्लृ गतौ'** *(भ्वा०प०)। आ+गम्+उकञ्। आ+गाम+उक। आगामुक+सु। आगामुक:। यहां 'गम्' धातु से* **'लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशृभ्य उकञ्'** *(३।२।१५४) से उकञ् प्रत्यय है।*

(९) **कृत्वा।** **'डुकृञ् करणे'** *(तना०उ०)। कृ+क्त्वा। कृ+त्वा। कृत्वा+सु। कृत्वा। यहां कृ-धातु से* **'समानकर्तृकयो: पूर्वकाले'** *(३।४।२१) से क्त्वा प्रत्यय है और क्त्वा-प्रत्ययान्त शब्द की* **'क्त्वातोसुन्कसुन:'** *(१।१।३९) से अव्यय संज्ञा है। भुज धातु से-***भुक्त्वा।**

(१०) **कृतम्।** **'डुकृञ् करणे'** *(तना०उ०)। कृ+क्त। कृ+त। कृत+सु। कृतम्। यहां 'कृ' धातु से* **'निष्ठा'** *(३।२।१०२) से निष्ठा-संज्ञक प्रत्यय भूतकाल में है।* **'क्तक्तवतू निष्ठा'** *(१।१।२६) से क्त और क्तवतु प्रत्यय की निष्ठा संज्ञा की गई है। ऐसे ही 'कृ' धातु से क्तवतु प्रत्यय करने से-***कृतवान्।**

(११) **ईषत्कर:।** **'डुकृञ् करणे'** *(तना०उ०)। ईषत्+कृ+खल्। ईषत्+कर्+अ। ईषत्कर+सु। ईषत्कर:। यहां* **'ईषद्दु:सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्'** *(३।३।१२६) से कृच्छ्र और अकृच्छ्र अर्थ में खल् प्रत्यय है।* **'ईषत्पान:'** *यहां* **'पा पाने'** *(भ्वा०प०) धातु से खल् प्रत्यय के अर्थ में* **'आतो युच्'** *(३।३।१२८) से युच् प्रत्यय है।*

(१२) **पवमान:।** **'पूञ् पवने'** *(क्र्या०उ०)। पू+शानन्। पू+शप्+मुक्+आन। पो+अ+म+आन। पवमान+सु। पवमान:। यहां पू धातु से* **'पूङ्यजो: शानन्'** *(३।२।१२८) से शानन् प्रत्यय है।*

(१३) **वहमान:।** **'वह प्रापणे'** *(भ्वा०प०)। वह+चानश्। वह्+शप्+मुक्+आन। वह्+अ+म्+आन। वहमान+सु। वहमान:। यहां वह धातु से* **'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्'** *(३।२।१२९) से चानश् प्रत्यय है।*

(१४) अधीयन्। 'इङ् अध्ययने' (अदा०आ०) अधि+इङ् +शतृ। अधि+इ+शप्+अत्। अधीय्+अ+अत्। अधीयत्+सु। अधीयन्। यहां 'इङ्' धातु से 'इङ्धार्योः शत्रकृच्छ्रिणि' (३।२।१३०) से शतृ प्रत्यय है।

(१५) कर्ता। 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०)। कृ+तृन्। कर्+तृ। कर्तृ+सु। कर्ता। यहां 'इङ्' धातु से 'तृन्' (३।२।१३५) से तृन् प्रत्यय है।

षष्ठीप्रतिषेधः-

(२२) अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः।७०।

प०वि०-अक-इनोः ६।२ भविष्यत्-आधमर्ण्ययोः ६।२।

स०-अकश्च इन् च तौ-अकेनौ, तयोः-अकेनोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। अधमम् ऋणं यस्य सोऽधमर्णः। अधमर्णस्य भाव आधमर्ण्यम्। भविष्यच्च आधमर्ण्यञ्च ते-भविष्यदाधमर्ण्ये, तयोः-भविष्यदाधमर्ण्ययोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-षष्ठी, न इति चानुवर्तते।

अन्वयः-भविष्यदाधमर्ण्ययोरकेनोः प्रयोगे षष्ठी न।

अर्थः-भविष्यति काले विहितस्य अकप्रत्ययान्तस्य, भविष्यति काले आधमर्ण्ये चार्थे विहितस्य इन्प्रत्ययान्तस्य शब्दस्य प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्न भवति।

उदा०-(१) अकः-(भविष्यति)-कटं कारको व्रजति। ओदनं भोजको व्रजति। (२) **इनः-**(भविष्यति)-ग्रामं गमी देवदत्तः। नगरं गामी यज्ञदत्तः। (३) **इनः-**(आधमर्ण्ये)-शतं दायी देवदत्तः। सहस्रं दायी यज्ञदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(भविष्यदाधमर्ण्ययोः, अकेनोः) भविष्यत् काल में विहित अक-प्रत्ययान्त और भविष्यत् काल तथा आधमर्ण्य अर्थ में विहित इन्-प्रत्ययान्त शब्द के प्रयोग में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति (न) नहीं होती है,

*उदा०-(१) अक-(भविष्यत्)-**कटं कारको व्रजति।** चटाई को बनानेवाला जारहा है। **ओदनं भोजको व्रजति।** भात को खानेवाला जारहा है। (२) इन्-(भविष्यत्)-**ग्रामं गमी देवदत्तः।** देवदत्त गांव को जानेवाला है। **नगरं गामी यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त नगर को जानेवाला है। (३) इन्-(आधमर्ण्य)-**शतं दायी देवदत्तः।** देवदत्त सौ रुपये ऋण देनेवाला है। **सहस्रं दायी यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त हजार रुपये ऋण देनेवाला है।*

*सिद्धि-(१) **कटं कारको व्रजति।** 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०)। कृ+ण्वुल्। कृ+अक। कार्+अक। कारक+सु। कारकः। यहां कृ धातु से भविष्यत् काल अर्थ में **'तुमुन्ण्वुलौ***

क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३।३।१०) से 'ण्वुल्' प्रत्यय है। इसके प्रयोग में 'कट' शब्द में 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' (२।३।६५) से प्राप्त षष्ठी विभक्ति नहीं होती है। 'कर्मणि द्वितीया' (२।३।२) से द्वितीया विभक्ति होती है।

(२) ग्रामं गमी देवदत्तः। 'गम्लृ गतौ' (भ्वा०प०)। गमी शब्द 'भविष्यति गम्यादयः' (३।३।३) में भविष्यत् काल में निपातित है। इसके प्रयोग में 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२।३।६५) से प्राप्त षष्ठी विभक्ति नहीं होती है अपितु पूर्ववत् द्वितीया विभक्ति होती है। ऐसे ही-नगरं गामी यज्ञदत्तः।

(३) शतं दायी देवदत्तः। 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०) दा+णिनि। दा+इन्। दा+युक्+इन्। दायिन्+सु। दायी। यहां 'दा' धातु से 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' (३।३।१७०) से आधमर्ण्य (ऋणी होना) अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय है। इसके प्रयोग में पूर्ववत् षष्ठी विभक्ति का प्रतिषेध होता है तथा पूर्ववत् द्वितीया विभक्ति होती है।

कर्तरि वा षष्ठी–

(२३) कृत्यानां कर्तरि वा।७१।

प०वि०–कृत्यानाम् ६।३ कर्तरि ७।१ वा अव्ययपदम्।

अनु०–षष्ठी इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–कृत्यानां प्रयोगे कर्तरि वा षष्ठी।

अर्थः–कृत्यप्रत्ययान्तानां शब्दानां प्रयोगे कर्तरि विकल्पेन षष्ठी विभक्तिर्भवति। पक्षे तृतीया विभक्तिर्भवति।

उदा०–भवतः कटः कर्त्तव्यः। भवता कटः कर्त्तव्यः।

आर्यभाषा-अर्थ-(कृत्यानाम्) कृत्य-प्रत्ययान्त शब्दों के प्रयोग में (कर्तरि) कर्ता कारक में (वा) विकल्प से (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है। पक्ष में तृतीया विभक्ति होती है।

उदा०-भवतः[१] कटः कर्त्तव्यः। आपको चटाई बनानी चाहिये। भवता[२] कटः कर्त्तव्यः। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-भवतः कटः कर्त्तव्यः। 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०)। कृ+तव्य। कर्+तव्य। कर्त्तव्य+सु। कर्त्तव्यः। यहां 'कृ' धातु से 'तव्यत्तव्यानीयरः' (३।१।९६) से कृत्य-संज्ञक 'तव्य' प्रत्यय है। इस सूत्र से इसके कर्ता 'भवत्' शब्द में षष्ठी विभक्ति है। पक्ष में 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (२।३।१८) से तृतीया विभक्ति होती है।

'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' (३।४।७०) से कृत्य संज्ञक प्रत्यय भाव और कर्मवाच्य में होते हैं। इसलिये कर्ता अकथित रहता है। अकथित कर्ता में पूर्वोक्त सूत्र से तृतीया विभक्ति होती है।

षष्ठी तृतीया च-

(२४) तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्।७२।

प०वि०-तुल्यार्थैः ३।३ अतुला-उपमाभ्याम् ३।२ तृतीया १।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

स०-तुल्योऽर्थो येषां ते तुल्यार्थाः, तैः-तुल्यार्थैः (बहुव्रीहिः)। तुला च उपमा च ते-तुलोपमे, न तुलोपमे इति अतुलोपमे, ताभ्याम्-अतुलोपमाभ्याम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अन्वयः-अतुलोपमाभ्यां तुल्यार्थैर्युक्तेऽन्यतरस्यां तृतीया।

अर्थः-तुलोपमावर्जितैस्तुल्यार्थैः संयुक्ते शब्दे विकल्पेन तृतीया विभक्तिर्भवति। पक्षे च षष्ठी विभक्तिर्भवति।

उदा०-तुल्यो देवदत्तेन यज्ञदत्तः। तुल्यो देवदत्तस्य यज्ञदत्तः। सदृशो देवदत्तेन यज्ञदत्तः। सदृशो देवदत्तस्य यज्ञदत्तः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अतुलोपमाभ्याम्) तुला और उपमा शब्द को छोड़कर (तुल्यार्थैः) तुल्य अर्थवाले पदों से संयुक्त शब्द में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (तृतीया) तृतीया विभक्ति होती है। पक्ष में षष्ठी विभक्ति होती है।

*उदा०-(१) तुल्य-**तुल्यो देवदत्तेन यज्ञदत्तः।** यज्ञदत्त देवदत्त के समान है। **तुल्यो देवदत्तस्य यज्ञदत्तः।** अर्थ पूर्ववत् है। (२) सदृश-**सदृशो देवदत्तेन यज्ञदत्तः।** **सदृशो देवदत्तस्य यज्ञदत्तः।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*सिद्धि-**तुल्यो देवदत्तेन यज्ञदत्तः।** यहां तुल्य पद से संयुक्त 'देवदत्त' शब्द में तृतीया विभक्ति है। पक्ष में षष्ठी विभक्ति भी होती है जैसा कि उदाहरण में दर्शाया गया है।*

*तुला और उपमा शब्द का वर्जन इसलिये किया गया है कि यहां तृतीया विभक्ति न हो-**तुला रामस्य नास्ति। उपमा कृष्णस्य न विद्यते।***

षष्ठी चतुर्थी च-

(२५) चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः।७३।

प०वि०-चतुर्थी १।१ च अव्ययपदम्, आशिषि ७।१। आयुष्य-मद्र-भद्र-कुशल-सुख-अर्थ-हितैः ३।३।

स०-आयुष्यं च मद्रं च भद्रं च कुशलं च सुखं च अर्थश्च हितश्च तानि, आयुष्य०हितानि, तैः-आयुष्य०हितैः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अन्यतरस्यामित्यनुवर्तते।

अन्वयः-आयुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैर्युक्तेऽन्यतरस्यां चतुर्थी चाशिषि।

अर्थः-आयुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः पदैः संयुक्ते शब्दे विकल्पेन चतुर्थी विभक्तिर्भवति। आशिषि गम्यमानायाम्। पक्षे च षष्ठी विभक्तिर्भवति।

उदा०-(१) **आयुष्यम्**-आयुष्यं देवदत्ताय[४] भूयात्। आयुष्यं देवदत्तस्य[६] भूयात्। (२) **मद्रम्**-मद्रं देवदत्ताय भूयात्। मद्रं देवदत्तस्य भूयात्। (३) **भद्रम्**-भद्रं देवदत्ताय भूयात्। भद्रं देवदत्तस्य भूयात्। (४) **कुशलम्**-कुशलं देवदत्ताय भूयात्। कुशलं देवदत्तस्य भूयात्। (५) **सुखम्**-सुखं देवदत्ताय भूयात्। सुखं देवदत्तस्य भूयात्। (६) **अर्थः**-अर्थो देवदत्ताय भूयात्। अर्थो देवदत्तस्य भूयात्। (७) **हितम्**-हितं देवदत्ताय भूयात्। हितं देवदत्तस्य भूयात्।

आर्यभाषा-अर्थ-(आयुष्य०हितैः) आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ और हित पदों से संयुक्त शब्द में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (चतुर्थी) चतुर्थी विभक्ति होती है। पक्ष में षष्ठी विभक्ति होती है।

उदा०-(१) आयुष्य-आयुष्यं देवदत्ताय/देवदत्तस्य भूयात्। देवदत्त की दीर्घ आयु हो। (२) मद्र-मद्रं देवदत्ताय/देवदत्तस्य भूयात्। देवदत्त को हर्ष हो। (३) भद्र-भद्रं देवदत्ताय/देवदत्तस्य भूयात्। देवदत्त का कल्याण हो। (४) कुशल-कुशलं देवदत्ताय/देवदत्तस्य भूयात्। देवदत्त का कुशल हो। (५) सुख-सुखं देवदत्ताय/देवदत्तस्य भूयात्। देवदत्त को सुख हो। (६) अर्थ-अर्थो देवदत्ताय/देवदत्तस्य भूयात्। देवदत्त के धन हो। (७) हित-हितं देवदत्ताय/देवदत्तस्य भूयात्। देवदत्त का हित हो।

सिद्धि-आयुष्यं देवदत्ताय/देवदत्तस्य भूयात्। 'भूयात्' यह पद आशीर्लिङ् प्रथम पुरुष एकवचन का है। यहां आशीर्वाद अर्थ में आयुष्य पद से संयुक्त 'देवदत्त' शब्द में चतुर्थी और षष्ठी विभक्ति है। ऐसे सब उदाहरणों में समझ लेवें।

इति पण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचने द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः

द्विगु-एकवद्भावः–

(१) द्विगुरेकवचनम्।१।

प०वि०–द्विगुः १।१ एकवचनम् १।१।

स०–एकस्य वचनमिति एकवचनम् (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अर्थः–द्विगुः समास एकवचनं भवति, एकस्यार्थस्य वाचको भवतीत्यर्थः। समाहारद्विगोश्चेदं ग्रहणं नान्यस्य।

उदा०–पञ्चानां पूलानां समाहार इति पञ्चपूली। पञ्चानां वटानां समाहार इति पञ्चवटी।

आर्यभाषा-अर्थ-(द्विगुः) द्विगु समास (एकवचनम्) एकवचन अर्थात् एक अर्थ का वाचक होता है, अर्थात् वहां एकवचन होता है। यहां समाहार द्विगु का ग्रहण है, अन्य का नहीं।

*उदा०-**पञ्चानां पूलानां समाहार इति पञ्चपूली।** पांच पूलों का समुदाय। **पञ्चानां वटानां समाहार इति पञ्चवटी।** पांच बड़ों का समुदाय।*

सिद्धि-पञ्चपूली। *पञ्चन्+आम्+पूल+आम्। पञ्चपूल+ङीप्। पञ्चपूल+ई। पञ्चपूली+सु। पञ्चपूली।*

*यहां 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (२।१।५०) से द्विगु समास है। **'द्विगोः'** (४।१।२१) से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय है। यहां पांच पूलों के कथन में **'बहुषु बहुवचनम्'** (१।४।२१) से बहुवचन प्राप्त था। इस सूत्र से एकवचन का विधान किया गया है। ऐसे ही-**पञ्चवटी।***

द्वन्द्व-एकवद्भावप्रकरणम्

प्राण्याद्यङ्गानाम्–

(१) द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्।२।

प०वि०–द्वन्द्वः १।१ च अव्ययपदम्, प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम् ६।३।

स०-प्राणी च तूर्यश्च सेना च ताः-प्राणितूर्यसेनाः, तासाम्-प्राणितूर्यसेनानाम्, प्राणितूर्यसेनानामङ्गानीति प्राणितूर्यसेनाङ्गानि, तेषाम्-प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितषष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-एकवचनमित्यनुवर्तते।

अन्वयः-प्राणितूर्यसेनाङ्गानां द्वन्द्वश्चैकवचनम्।

अर्थः-प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानाम् च द्वन्द्वसमासोऽपि एकवचनम्=एकवचनस्यार्थस्य वाचको भवति, तत्रैकवचनं भवतीत्यर्थः।

उदा०-(१) **प्राण्यङ्गानाम्**- पाणी च पादौ च एतेषां समाहारः पाणिपादम्। शिरश्च ग्रीवा च एतयोः समाहारः शिरोग्रीवम्।

(२) **तूर्याङ्गानाम्**-मार्दङ्गिकाश्च पाणविकाश्च एतेषां समाहारो मार्दङ्गिपाणविकम्। वीणावादकाश्च परिवादकाश्च एतेषां समाहारो वीणावादकपरिवादकम्।

(३) **सेनाङ्गानाम्**-रथिकाश्च अश्वरोहाश्च एतेषां समाहारो रथिकाश्वरोहम्। रथिकाश्च पादाताश्च एतेषां समाहारो रथिकपादातम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्) प्राणी के अङ्ग, तूर्य=वाद्यवृन्द (आरकेष्ट्रा) के अङ्ग और सेना के अङ्गवाची शब्दों का (द्वन्द्वः) द्वन्द्व समास (च) भी (एकवचनम्) एक अर्थ का वाचक होता है, अर्थात् वहां एकवचन होता है।

*उदा०-(१) प्राणी अङ्ग-**पाणी च पादौ च एतेषां समाहारः पाणिपादम्।** हाथ और पांव का समूह। **शिरश्च ग्रीवा च एतयोः समाहारः शिरोग्रीवम्।** शिर और गर्दन का समूह।*

*(२) तूर्य-अङ्ग-**मार्दङ्गिकाश्च पाणविकाश्च एतेषां समाहारो मार्दङ्गिकपाणविकम्।** मृदङ्ग (ढोल) और पणव (वाद्यविशेष) बजानेवालों का समूह। **वीणावादकाश्च परिवादकाश्च एतेषां समाहार इति वीणावादकपरिवादकम्।** वीणा बजानेवाले और सारङ्गी बजानेवालों का समूह।*

*(३) सेना-अङ्ग-**रथिकाश्च अश्वरोहाश्च एतेषां समाहार इति रथिकाश्वरोहम्।** रथ में बैठनेवाले और घुड़सवारों का समूह। **रथिकाश्च पादाताश्च एतेषां समाहारो रथिकपादातम्।** रथ में चलनेवाले और पैदल चलनेवालों का समूह।*

*सिद्धि-(१) **पाणिपादम्।** यहां पाणि और पाद शब्दों के समाहार द्वन्द्व में एकवचन है। ऐसे ही सब उदाहरणों में एकवद्भाव समझ लेवें।*

चरणवाचिनाम्–

(३) अनुवादे चरणानाम्।३।

प०वि०–अनुवादे ७।१ चरणानाम् ६।३।

अनु०–एकवचनं द्वन्द्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः–चरणानां द्वन्द्व एकवचनमनुवादे।

अर्थः–चरणवाचिनां शब्दानां द्वन्द्वः समास एकस्यार्थस्य वाचको भवति, अनुवादे गम्यमाने।

उदा०–कठाश्च कालापाश्च एतेषां समाहारः कठकालापम्। उदगात् कठकालापम्। कठाश्च कौथुमाश्च एतेषां समाहारः कठकौथुमम्। प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्।

*आर्यभाषा-अर्थ-(चरणानाम्) शाखाध्यायी वाचक शब्दों का (द्वन्द्वः) **समास** (एकवचनम्) एक अर्थ का वाचक होता है (अनुवाद) यदि वहां अनुवाद=**अनुकथन** (प्रशंसा) प्रकट हो।*

*उदा०–**कठाश्च कालापाश्च एतेषां समाहारः कठकालापम्। उदगात् कठकालापम्।** कठ और कालाप चरण=शाखा के अध्ययन करनेवाले संघ ने उन्नति की। **कठाश्च कौथुमाश्च एतेषां समाहारः कठकौथुमम्। प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्।** कठ और कौथुम चरण=शाखा के अध्ययन करनेवाले संघ ने प्रतिष्ठा प्राप्त की।*

*सिद्धि–**कठकालपम्।** कठ+जस्+कालाप+जस्। कठकालाप+सु। कठकालापम्।*

*यहां **'चार्थे द्वन्द्वः'** (२।२।२९) से समाहार द्वन्द्व समास है और इस सूत्र से कठ और कालाप चरण=शाखा के अध्ययन करनेवालों के द्वन्द्व समास में एकवचन है। ऐसे ही–**कठकौथुमम्।***

*विशेष–(१) **अनुवाद**–शब्द प्रमाण से भिन्न प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विज्ञात अर्थ का शब्दों से कीर्तन (प्रशंसा) करना अनुवाद कहाता है।*

*(२) **चरण**–चरण शब्द वैदिकशाखा के विद्यालय का वाचक है। यह शब्द शाखा अर्थ में मुख्य और शाखा का अध्ययन करनेवाले पुरुष अर्थ में गौण है। यहां गौण अर्थ का ग्रहण किया गया है।*

(३) ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० तथा अथर्ववेद की ९ इस प्रकार वेदों की ११३१ शाखायें हैं। ये सब आज उपलब्ध नहीं हैं, कुछ शाखायें मिलती हैं।

यजुर्वेदीययज्ञानाम्–

(३) अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम्।४।

प०वि०–अध्वर्यु-क्रतुः १।१ अनपुंसकम् १।१।

स०–अध्वर्योः क्रतुरिति अध्वर्युक्रतुः (षष्ठीतत्पुरुषः)। न नपुंसकमिति अनपुंसकम् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–एकवचनं द्वन्द्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः–अनपुंसकानामध्वर्युक्रतूनां द्वन्द्व एकवचनम्।

अर्थः–नपुंसकलिङ्गभिन्नानाम् अध्वर्युक्रतुवाचिनां शब्दानां द्वन्द्वसमास एकस्यार्थस्य वाचको भवति। अध्वर्युवेदे (यजुर्वेदे) विहितो यः क्रतुः (यज्ञः) सोऽध्वर्युक्रतुरित्युच्यते।

उदा०–अर्कश्च अश्वमेधश्च एतयोः समाहारः, अर्काश्वमेधम्। सायाह्नश्च अतिरात्रश्च एतयोः समाहारः सायाह्नातिरात्रम्। सोमयागश्च राजसूयश्च एतयोः समाहारः सोमयागराजसूयम्।

आर्यभाषा-अर्थ–*(अनपुंसकम्) नपुंसकलिङ्ग से भिन्न (अध्वर्युक्रतुः) यजुर्वेद में विहित यज्ञवाची शब्दों का (द्वन्द्वः) द्वन्द्व समास (एकवचनम्) एक अर्थ का वाचक होता है।*

*उदा०–**अर्कश्च अश्वमेधश्च एतयोः समाहारोऽर्काश्वमेधम्।** अर्क और अश्वमेध यज्ञ का संघात। **सायाह्नश्च अतिरात्रश्च एतयोः समाहारः सायाह्नातिरात्रम्।** सायाह्न और अतिरात्र यज्ञ का संघात। **सोमयागश्च राजसूयश्च एतयोः समाहारः सोमयागराजसूयम्।** सोमयाग और राजसूय यज्ञ का संघात।*

सिद्धि-अर्काश्वमेधम्। *अर्क+सु+अश्वमेध+सु। अर्काश्वमेध+सु। अर्काश्वमेधम्।*

यहां 'चार्थे द्वन्द्वः' (२।२।२९) से समाहार अर्थ में द्वन्द्व समास है। अर्क और अश्वमेध शब्द पुंलिङ्ग हैं, नपुंसकलिङ्ग नहीं हैं और ये अध्वर्युक्रतु=यजुर्वेद में विहित यज्ञवाची शब्द हैं। अतः इस सूत्र से इनके द्वन्द्व समास में एकवचन का विधान किया गया है।

***विशेष-** अर्क और अश्वमेध आदि यज्ञों का व्याख्यान यजुर्वेद के शतपथब्राह्मण में देख लेवें।*

समीपवाचिनाम् (अध्ययनतः)–

(४) अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम्।५।

प०वि०–अध्ययनतः तृतीया-अर्थेऽव्ययपदम्। अविप्रकृष्टाख्यानाम् ६।३।

स०–न विप्रकृष्टा इति अविप्रकृष्टा, अविप्रकृष्टा आख्या येषां तेऽविप्रकृष्टाख्याः, तेषाम्-अविप्रकृष्टाख्यानाम् (नञ्तत्पुरुषगर्भित-बहुव्रीहिः)।

अनु०–एकवचनं द्वन्द्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः–अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानां द्वन्द्व एकवचनम्।

अर्थः–अध्ययननिमित्तेन अविप्रकृष्टाख्यानां=समीपाख्यानां शब्दानां द्वन्द्वसमास एकस्यार्थस्य वाचको भवति।

उदा०–पदकाश्च क्रमकाश्च एतेषां समाहारः पदकक्रमकम्। क्रमकाश्च वार्तिकाश्च एतेषां समाहारः क्रमकवार्तिकम्।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(अध्ययनतः) अध्ययन के निमित्त से (अविप्रकृष्टाख्यानाम्) समीपता के वाचक शब्दों का (द्वन्द्वः) द्वन्द्व समास (एकवचनम्) एक अर्थ का वाचक होता है।

उदा०-__पदकाश्च क्रमकाश्च एतेषां समाहारः पदकक्रमकम्।__ पदपाठ और क्रमपाठ करनेवालों का समूह। __क्रमकाश्च वार्तिकाश्च एतेषां समाहारः क्रमकवार्तिकम्।__ क्रमपाठ और संहितापाठ करनेवालों का समूह। वृत्ति=संहिता।

__सिद्धि-पदकक्रमकम्।__ पद+वुन्। पद+अक। पदक+जस्। पदकाः।

यहां अध्ययन अर्थ में __'क्रमादिभ्यो वुन्'__ (४।२।६१) से वुन् प्रत्यय है। ऐसे ही क्रम शब्द से भी अध्ययन अर्थ में पूर्ववत् वुन्-प्रत्यय है। जो वेद के पदों का अध्ययन करनेवाले हैं वे 'पदक' कहाते हैं और जो वेद के क्रम का अध्ययन करनेवाले हैं वे 'क्रमक' कहाते हैं। पद के पश्चात् क्रम का अध्ययन करना चाहिये अतः इनकी अध्ययन निमित्त से अविप्रकृष्टता=समीपता है। इनके द्वन्द्व समास में इस सूत्र से एकवचन का विधान किया गया है।

जहां अध्ययन के निमित्त से समीपता नहीं होती है वहां द्वन्द्व समास में एकवचन नहीं होता है-__पितापुत्रौ।__

जातिवाचिनाम्–

(५) जातिरप्राणिनाम्।६।

प०वि०–जाति: १।१ अप्राणिनाम् ६।३।

स०–प्राणो येषु वर्तते ते प्राणिन:, न प्राणिन इति अप्राणिन:, तेषाम्–अप्राणिनाम् (नञ्तत्पुरुष:)।

अनु०–एकवचनं द्वन्द्व इति चानुवर्तते।

अन्वय:–अप्राणिनां जातीनां द्वन्द्व एकवचनम्।

अर्थ:–अप्राणिनाम्=प्राणिवर्जितानां जातिवाचिनां शब्दानां द्वन्द्वसमास एकस्यार्थस्य वाचको भवति।

उदा०–आरा च शस्त्री च एतयो: समाहार आराशस्त्रि। धानाश्च शष्कुल्यश्च एतेषां समाहारो धानाशष्कुलि। गोधूमाश्च चणकाश्च एतेषां समाहारो गोधूमचणकम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(अप्राणिनाम्) प्राणिवाची शब्दों को छोड़कर (जाति:) जातिवाची शब्दों का (द्वन्द्व:) द्वन्द्व समास (एकवचनम्) एक अर्थ का वाचक होता है।

*उदा०–**आरा च शस्त्री च एतयो: समाहार आराशस्त्रि।** आर और छुरी का संघात। 'आरा चर्मप्रभेदिका' इत्यमर:। 'स्याच्छस्त्री चासिपुत्री च छुरिका चासि धेनुका' इत्यमर:। **धानाश्च शष्कुल्यश्च एतेषां समाहारो धानाशष्कुलि।** धाणी और पूरी का संघात। 'धाना भृष्टयवे स्त्रिय:' इत्यमर:। **गोधूमाश्च चणकाश्च एतेषां समाहारो गोधूमचणकम्।** गेहूं और चणों का संघात (गोचणी)।*

*सिद्धि–**आराशस्त्रि।** आरा+सु+शस्त्री+सु। आराशस्त्रि+सु। आराशस्त्रि।*

*यहां जातिवाची आरा और शस्त्री शब्द का **'चार्थे द्वन्द्व:'** (२।२।२९) से समाहार द्वन्द्व समास है। ये दोनों अप्राणिवाची हैं अत: इनके द्वन्द्व समास में इस सूत्र से एकवचन होता है। **'स नपुंसकम्'** (२।४।१७) से यह नपुंसकलिङ्ग है। **'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य'** (१।२।४७) से शस्त्री शब्द को ह्रस्व हो जाता है। ऐसे ही–**धानाशष्कुलि, गोधूमचणकम्।***

*विशेष–जहां प्राणिवाचक जातिवाची शब्दों का द्वन्द्व समास है वहां एकवचन नहीं होता है–**ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रा:।***

नदीदेशवाचिनाम्–

(६) विशिष्टलिङ्गो नदी देशोऽग्रामाः ।७।

प०वि०–विशिष्टलिङ्गः १ ।१ नदी १ ।१ देशः १ ।१ । अग्रामाः १ ।३ ।

स०–विशिष्टं लिङ्गं यस्य स विशिष्टलिङ्गः (बहुव्रीहिः) । शालासमुदायो ग्रामः । न ग्रामा इति अग्रामाः (नञ्तत्पुरुषः) ।

अनु०–एकवचनं द्वन्द्व इति चानुवर्तते ।

अन्वयः–विशिष्टलिङ्गानां नदीनामग्रामाणां देशानां च द्वन्द्व एकवचनम् ।

अर्थः–विशिष्टलिङ्गानाम्=भिन्नलिङ्गानां नदीवाचिनां ग्रामवर्जितानां देशवाचिनां च शब्दानां द्वन्द्वसमास एकस्यार्थस्य वाचको भवति ।

उदा०–(१) **नदीवाचिनाम्**–उद्ध्यश्च इरावती च एतयोः समाहार उद्ध्येरावति । गङ्गा च शोणश्च एतयोः समाहारो गङ्गाशोणम् ।

(२) **देशवाचिनाम्**–कुरुश्च कुरुक्षेत्रं च एतयोः समाहारः कुरु-कुरुक्षेत्रम् । कुरुश्च कुरुजाङ्गलं च एतेषां समाहारः कुरुकुरुजाङ्गलम् ।

आर्यभाषा-अर्थ-(विशिष्टलिङ्गः) भिन्न लिङ्गवाले (नदी) नदीवाची तथा (अग्रामाः) ग्रामवाची शब्दों को छोड़कर (देशः) देशवाची शब्दों का (द्वन्द्वः) द्वन्द्व समास (एकवचनम्) एक अर्थ का वाचक होता है ।

उदा०-(१) नदीवाची-उद्ध्यश्च इरावती च एतयोः समाहारः उद्ध्येरावति । उद्ध्य और इरावती नदी का संगम । गङ्गा च शोणश्च एतयोः समाहारो गङ्गाशोणम् । गङ्गा और शोण नदी का संगम ।

(२) देशवाची-कुरुश्च कुरुक्षेत्रं च एतयोः समाहारः कुरुकुरुक्षेत्रम् । कुरु और कुरुक्षेत्र का संधिस्थान । कुरवश्च कुरुजाङ्गलं च एतेषां समाहारः कुरुकुरुजाङ्गलम् । कुरु और कुरुजाङ्गल देश का सन्धिस्थान ।

सिद्धि-(१) उद्ध्येरावती । उद्ध्य+सु+इरावती+सु । उद्ध्येरावति+सु । उद्ध्येरावति ।

यहां उद्ध्य और इरावती इन नदीवाची शब्दों का द्वन्द्व समास है । ये दोनों भिन्न लिङ्गवाले हैं । उद्ध्य शब्द पुंलिङ्ग और इरावती शब्द स्त्रीलिङ्ग है । इस सूत्र से इनके द्वन्द्व समास में एकवचन का विधान किया गया है ।

*समस्त पद **'स नपुंसकम्'** (२।४।१७) से नपुंसकलिङ्ग होता है। **'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य'** (१।२।४७) से इरावती शब्द को ह्रस्व हो जाता है। उद्ध्य शब्द **'भिद्योद्ध्यौ नदी'** (३।१।११५) से नदी अर्थ में क्यप्-प्रत्ययान्त निपातित है।*

उद्ध्य नदी का वर्तमान नाम उझ है। यह जम्मू प्रान्त के जसरोटा जिले में होती हुई कुछ दूर पंजाब में बहकर गुरुदासपुर जिले में रावी नदी के दाहिने किनारे पर मिल गई है। इरावती वर्तमान रावी नदी का नाम है (पा०का० भारतवर्ष पृ० ५२)।

*(२) **गङ्गाशोणम्।** गङ्गा+शोण+सु। गङ्गशोण+सु। गङ्गाशोणम्।*

यहां गङ्गा और शोण इन नदीवाची शब्दों का द्वन्द्व समास है। ये दोनों शब्द भिन्न लिङ्गवाले हैं। इस सूत्र से इनके द्वन्द्व समास में एकवचन का विधान किया गया है। शोणनदी गोंडवाना से निकलकर पटना के निकट गङ्गा में गिरती है।

*(३) **कुरुकुरुक्षेत्रम्।** कुरु+सु+कुरुक्षेत्र+सु। कुरुकुरुक्षेत्र+सु। कुरुकुरुक्षेत्रम्। ऐसे ही-**कुरुकुरुजाङ्गलम्।***

यहां कुरु और कुरुक्षेत्र इन देशवाची शब्दों का द्वन्द्व समास है। दोनों भिन्न लिङ्गवाले हैं। कुरु शब्द पुंलिङ्ग और कुरुक्षेत्र शब्द नपुंसकलिङ्ग है। इस सूत्र से इनके द्वन्द्व समास में एकवचन का विधान किया गया है। दिल्ली और मेरठ का प्रदेश कुरु कहाता था जिसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। कुरुक्षेत्र लोकप्रसिद्ध है। रोहतक-हिसार क्षेत्र का नाम-कुरुजाङ्गल है।

क्षुद्रजन्तूनाम्--

(७) क्षुद्रजन्तवः।८।

प०वि०-क्षुद्रजन्तवः १।३।

स०-क्षुद्राश्च ते जन्तव इति क्षुद्रजन्तवः (कर्मधारयः)।

अनु०-एकवचनं द्वन्द्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः-क्षुद्रजन्तूनां द्वन्द्व एकवचनम्।

अर्थः-क्षुद्रजन्तुवाचिनां शब्दानां द्वन्द्व एकस्यार्थस्य वाचको भवति।

उदा०-यूकाश्च लिक्षाश्च एतासां समाहारो यूकालिक्षम्। दंशाश्च मशकाश्च एतेषां समाहारो दंशमशकम्।

आर्यभाषा-अर्थ- *(क्षुद्रजन्तवः) छोटे-छोटे जन्तुवाची शब्दों का (द्वन्द्वः) द्वन्द्व समास (एकवचनम्) एक अर्थ का वाचक होता है।*

*उदा०-**यूकाश्च लिक्षाश्च एतासां समहारो यूकालिक्षम्।** जूं और लीख जन्तुओं का संघात। **दंशाश्च मशकाश्च एतेषां समाहारो दंशमशकम्।** डांस और मच्छरों का संघात।*

सिद्धि-यूकालिक्षम्। यूका+सु+लिक्षा+सु। यूकालिक्ष+सु। यूकालिक्षम्।

*यहां क्षुद्रजन्तुवाची यूका और लिक्षा शब्दों का द्वन्द्व समास है। इस सूत्र से इनके द्वन्द्व समास में एकवचन का विधान किया गया है। **'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य'** (१।२।४७) से लिक्षा शब्द को ह्रस्व होता है। ऐसे ही-**दंशमशकम्।***

नित्यविरोधिनाम्-

(८) येषां च विरोधः शाश्वतिकः।६।

प०वि०-येषाम् ६।३ च अव्ययपदम्, विरोधः १।१ शाश्वतिकः १।१।

अनु०-एकवचनं द्वन्द्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः-येषां च शाश्वतिको विरोधस्तेषां द्वन्द्व एकवचनम्।

अर्थः-येषां प्राणिनां शाश्वतिकः=नित्यं विरोधोऽस्ति, तद्वाचिनां शब्दानां द्वन्द्वसमास एकस्यार्थस्य वाचको भवति।

उदा०-मार्जारश्च मूषकश्च एतयोः समाहारो मार्जारमूषकम्। अहिश्च नकुलश्च एतयोः समाहारोऽहिनकुलम्। काकश्च उलूकश्च एतयोः समाहारः काकोलूकम्।

आर्यभाषा-अर्थ-*(येषाम्) जिन प्राणियों का (शाश्वतिकः) नित्य (विरोधः) वैर है, उनके वाचक शब्दों का (द्वन्द्वः) द्वन्द्व समास (एकवचनम्) एक अर्थ का वाचक होता है।*

*उदा०-**मार्जारश्च मूषकश्च एतयोः समाहारो मार्जारमूषकम्।** बिल्ले और चूहे का संयोग। **अहिश्च नकुलश्च एतयोः समाहारोऽहिनकुलम्।** सांप और नेवले का संयोग। **काकश्च उलूकश्च एतयोः समाहारः काकोलूकम्।** कौआ और उल्लू का संघात।*

*सिद्धि-**मार्जारमूषक।** मार्जार+सु+मूषक+सु। मार्जारमूषक+सु। मार्जारमूषकम्।*

*बिल्ली और चूहे का शाश्वतिक विरोध है, अतः उनके वाचक मार्जार और मूषक शब्दों का जो द्वन्द्व समास है, उसमें इस सूत्र से एकवचन का विधान किया गया है। ऐसे ही-**अहिनकुलम्, काकोलूकम्।***

शूद्राणाम्-

(९) शूद्राणामनिरवसितानाम्।१०।

प०वि०-शूद्राणाम् ६।३ अनिरवसितानाम् ६।३।

स०-निरवसिताः=बहिष्कृताः। न निरवसिता अनिरवसिताः, तेषाम्-अनिरवसितानाम् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-एकवचनं द्वन्द्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अनिरवसितानां शूद्राणां द्वन्द्व एकवचनम्।

अर्थः-अनिरवसितानाम्=पात्राद् अबहिष्कृतानां शूद्रवाचिनां शब्दानां द्वन्द्वसमास एकस्यार्थस्य वाचको भवति।

उदा०-तक्षाणश्च अयस्काराश्च एतेषां समाहारः तक्षायस्कारम्। रजकाश्च तन्तुवायाश्च एतेषां समाहारो रजकतन्तुवायम्।

***आर्यभाषा*-*अर्थ*-(अनिरवसितानाम्) पात्र से अबहिष्कृत (शूद्राणाम्) शूद्रवाची शब्दों का (द्वन्द्वः) द्वन्द्व समास (एकवचनम्) एक अर्थ का वाचक होता है।**

*उदा०-**तक्षाणश्च अयस्काराश्च एतेषां समाहारः तक्षायस्कारम्।** खाती और लुहारों का समुदाय। **रजकाश्च तन्तुवायाश्च एतेषां समाहारो रजकतन्तुवायम्।** धोबी और जुलाहों का समुदाय।*

सिद्धि*-*तक्षायस्कारम्। *तक्षन्+जस्+अयस्कार+जस्। तक्षायस्कार+सु। तक्षायस्कारम्।*

*यहां पात्र से अबहिष्कृत शूद्रवाची तक्षा और अयस्कार शब्दों का द्वन्द्व समास है। इस सूत्र से इनके द्वन्द्व समास में एकवचन का विधान किया गया है। ऐसे ही-**रजकतन्तुवायम्।***

विशेष-*धर्मशास्त्रकारों ने मनुष्य जाति के आर्य और दस्यु दो भेद किये हैं। आर्य के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद हैं। यहां शूद्र के दो भेद बतलाये गये हैं। जो मैले-कुचैले रहते हैं तथा मांस आदि भक्षण करनेवाले हैं। उन्हें ब्राह्मण आदि वर्ण के लोग भोजन के लिये पात्र देना भी उचित नहीं समझते, ऐसे शूद्रों को निरवसित (बहिष्कृत) कहा गया है और जो अपनी कला से ब्राह्मण आदि वर्णों की सेवा करते हैं और शरीर तथा वस्त्र आदि से भी शुद्ध रहते हैं, उन्हें अनिरवसित (अबहिष्कृत) कहा गया है। शूद्र मनुष्य जाति का ब्राह्मण आदि वर्णों के समान एक अनिवार्य अंग है। वह समाज में शरीर के पांव अंग के समान है। हेय अथवा घृणापात्र नहीं है। वह उक्त तीन वर्णों का सहायक है।*

गवाश्वादयः-

(१०) गवाश्वप्रभृतीनि च।११।

प०वि०-गवाश्व-प्रभृतीनि १।३ च अव्ययपदम्।

स०-गवाश्वः प्रभृतिर्येषां तानीमानि-गवाश्वप्रभृतीनि (बहुव्रीहिः)।

अनु०-एकवचनं द्वन्द्व इति च सम्बध्यते।

अर्थः-गवाश्वप्रभृतीनि च कृतैकवद्भावानि द्वन्द्वरूपाणि साधूनि भवन्ति।

उदा०-गावश्च अश्वाश्च एतेषां समाहारो गवाश्वम्। गावश्च अविकाश्च एतेषां समाहारो गवाविकम्, इत्यादिकम्।

गवाश्वम्। गवाविकम्। गवैडकम्। अजाविकम्। अजैडकम्। कुब्जवामनम्। कुब्जकैरातकम्। पुत्रपौत्रम्। श्वचाण्डालम्। स्त्रीकुमारम्। दासीमाणवकम्। शाटीपिच्छकम्। उष्ट्रखरम्। उष्ट्रशशम्। मूत्रशकृत्। मूत्रपुरीषम्। सकृन्मेदः। मांसशोणितम्। दर्भशरम्। दर्भपूतीकम्। अर्जुनशिरीषम्। तृणोपलम्। दासीदासम्। कुटीकुटम्। भागवतीभागवतम्। इति गवाश्वप्रभृतयः।

__आर्यभाषा-अर्थ-__(गवाश्वप्रभृतीनि) गवाश्व आदि गण में पठित शब्द जिनमें एकवद्भाव किया हुआ है और जो द्वन्द्व समास रूप हैं, उन्हें साधु (ठीक) समझना चाहिये।

उदा०-__गावश्च अश्वाश्च एतेषां समाहारो गवाश्वम्।__ गाय और घोड़ों का समुदाय। __गावश्च अविकाश्च एतेषां समाहारो गवाविकम्।__ गाय और भेड़ों का संघ।

__सिद्धि-गवाश्वम्।__ गो+जस्+अश्व+जस्। गो+अश्व। गवाश्व+सु। गवाश्वम्।

यहां गौ और अश्व शब्द का द्वन्द्व समास किया हुआ है, यहां दीर्घत्व निपातन से समझना चाहिये। इस सूत्र से द्वन्द्व समास में एकवद्भाव होता है। ऐसे ही-__गवाविकम्__ आदि।

एकवद्भावविकल्पः-

(११) विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम्।१२।

प०वि०-विभाषा १।१ वृक्ष-मृग-तृण-धान्य-व्यञ्जन-पशु-शकुनि-अश्ववडव-पूर्वापर- अधरोत्तराणाम् ६।३।

स०-वृक्षश्च मृगश्च तृणं च धान्यं च व्यञ्जनं च पशुश्च शकुनिश्च अश्ववडवं च पूर्वापरं च अधरोत्तरं च तानि-वृक्ष०अधरोत्तराणि, तेषाम्-वृक्ष०अधरोत्तराणाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-एकवचनं द्वन्द्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः-वृक्ष०उत्तराणां द्वन्द्वो विभाषैकवचनम्।

अर्थः- वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणां शब्दानां द्वन्द्वसमासो विकल्पेन एकस्यार्थस्य वाचको भवति।

उदा०-(१) वृक्षः-प्लक्षाश्च न्यग्रोधाश्च एतेषां समाहारः प्लक्षन्यग्रोधम् (समाहारः)। प्लक्षाश्च न्यग्रोधाश्च ते प्लक्षन्यग्रोधाः (इ०यो०)।

(२) मृगः-रुरवश्च पृषताश्च एतेषां समाहारो रुरुपृषतम् (स०)। रुरवश्च पृषताश्च ते रुरुपृषताः (इ०यो०)।

(३) तृणम्-कुशाश्च काशाश्च एतेषां समाहारः कुशकाशम् (स०)। कुशाश्च काशाश्च ते कुशकाशाः (इ०यो०)।

(४) धान्यम्-व्रीहयश्च यवाश्च एतेषां समाहारो व्रीहियवम् (स०)। व्रीहयश्च यवाश्च ते व्रीहियवाः (इ०यो०)।

(५) व्यञ्जनम्-दधि च घृतं च एतयोः समाहारो दधिघृतम् (स०)। दधि च घृतं च ते-दधिघृते (इ०यो०)।

(६) पशुः-गावश्च महिषाश्च एतेषां समाहारो गोमहिषम् (स०)। गावश्च महिषाश्च ते गोमहिषाः (इ०यो०)।

(७) शकुनि-तित्तिरयश्च कपिञ्जलाश्च एतेषां समाहारः, तित्तिरिकपिञ्जलम् (स०)। तित्तिरयश्च कपिञ्जलाश्च ते तित्तिरिकपिञ्जलाः।

(८) अश्ववडवम्-अश्वश्च वडवा च एतयोः समाहारोऽश्ववडवम् (स०)। अश्वश्च वडवा च तौ अश्ववडवौ (इ०यो०)।

(९) पूर्वापरम्-पूर्वञ्च अपरञ्च एतयोः समाहारः पूर्वापरम् (स०)। पूर्वञ्च अपरञ्च ते-पूर्वापरे (इ०यो०)।

(१०) अधरोत्तरम्-अधरं चोत्तरं च एतयोः समाहारोऽधरोत्तरम् (स०)। अधरं च उत्तरं च ते-अधरोत्तरे (इ०यो०)।

आर्यभाषा-अर्थ-(वृक्ष०अधरोत्तराणाम्) वृक्ष, मृग, तृण, धान्य, व्यञ्जन, पशु, शकुनि, अश्ववडव, पूर्वापर और अधरोत्तर शब्दों का (द्वन्द्वः) द्वन्द्व समास (विभाषा) विकल्प से (एकवचनम्) एक अर्थ का वाचक होता है। पक्ष में द्विवचन तथा बहुवचन भी होता है।

उदा०-(१) वृक्ष-प्लक्षाश्च न्यग्रोधाश्च एतेषां समाहारः प्लक्षन्यग्रोधम्। पिलखन और बड़ के वृक्षों का समूह। प्लक्षाश्च न्यग्रोधाश्च ते प्लक्षन्यग्रोधाः। पिलखन और बड़ के वृक्ष।

यहां विभाषा वचन से समाहार और इतरेतरयोग दोनों प्रकार का द्वन्द्व समास होता है। जहां समाहार है वहां समुदाय और जहां इतरेतरयोग है वहां उन पदार्थों के परस्पर संयोग का कथन किया जाता है। संस्कृतभाषा में दोनों प्रकार का विग्रह करके उदाहरण दिखाये गये हैं। विस्तार भय से यहां पुनः नहीं लिखे जाते हैं। यहां केवल उनका अर्थ दर्शाया जाता है–

(२) मृग-रुरुपृषतम्। रुरु=हरिण और पृषत=चित्तीदार हरिणों का संघ। रुरुपृषताः। हरिण और चित्तीदार हरिणों का संयोग।

(३) तृण-कुशकाशम्। डाभ और कांस नामक घास का ढेर। कुशकाशाः। डाभ और कांस नामक घास का संयोग।

(४) धान्य-व्रीहियवम्। चावल और जौ का मिश्रित ढेर। व्रीहियवाः। चावल और जौ का संयोग।

(५) व्यञ्जन-दधिघृतम्। दही और घी मिश्रित। दधिघृते। दही और घी का संयोग।

(६) शकुनि (पक्षी)-तित्तिरिकपिञ्जलम्। तीतर और पपीहा पक्षियों का संघ। तित्तिरिकपिञ्जलाः। तीतर और पपीहा पक्षियों का संयोग।

(७) अश्ववडवम्-अश्ववडवम्। घोड़ा और घोड़ी का संघात। अश्ववडवौ। घोड़ा और घोड़ी का संयोग।

(८) पूर्वापर-पूर्वापरम्। पूर्व और अपर दिशा की सन्धि। पूर्वापरे। पूर्व और अपर दिशा का संयोग।

(९) अधरोत्तर-अधरोत्तरम्। ऊपर और नीचे की सन्धि। अधरोत्तरे। नीचे और ऊपर का संयोग।

सिद्धि-(१) प्लक्षन्यग्रोधम्। प्लक्ष+जस्। न्यग्रोध+जस्। प्लक्षन्यग्रोध-सु। प्लक्षन्यग्रोधम्।

यहां वृक्षवाची प्लक्ष और न्यग्रोध शब्दों के समाहार द्वन्द्व समास में इस सूत्र से एकवद्भाव होगया है।

(२) प्लक्षन्यग्रोधाः। प्लक्ष+जस्। न्यग्रोध+जस्। प्लक्षन्यग्रोध+जस्। प्लक्षन्यग्रोधाः।

यहां वृक्षवाची प्लक्ष और न्यग्रोध शब्दों के इतरेतरयोग समास में विकल्प पक्ष में एकवचन नहीं अपितु 'बहुषु बहुवचनम्' (१।४।२१) से बहुवचन होगया है। ऐसे ही अन्य उदाहरणों में भी समझ लेवें।

विशेष-समाहार अर्थ में दो पदार्थों का संघात होता है और इतरेतरयोग में दो **पदार्थों का संयोग मात्र होता है।**

एकवद्भावविकल्प–

(१२) विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि।१३।

प०वि०–विप्रतिषिद्धम् १।१ च अव्ययपदम्, अनधिकरणवाचि १।१।

स०–अधिकरणं वक्तीति तद् अधिकरणवाचि, न अधिकरणवाचि इति अनधिकरणवाचि (उपपदगर्भितनञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–एकवचनं द्वन्द्वो विभाषा इति चानुवर्तते।

अन्वयः–विप्रतिषिद्धानामनधिकरणवाचिनां च द्वन्द्वो विभाषैकवचनम्।

अर्थः–विप्रतिषिद्धानाम्=परस्परविरुद्धानाम् अनधिकरणवाचिनाम्=अद्रव्यवाचिनां शब्दानां द्वन्द्वसमासो विकल्पेन एकस्यार्थस्य वाचको भवति।

उदा०–शीतञ्च उष्णञ्च एतयोः समाहारः शीतोष्णम्। शीतञ्च उष्णञ्च ते शीतोष्णे। सुखं च दुःखं च एतयोः समाहारः सुखदुःखम्। सुखं च दुःखं च ते–सुखदुःखे।

आर्यभाषा–अर्थ–(विप्रतिषिद्धम्) परस्पर विरोधी (अनधिकरणवाचि) अद्रव्य के वाची=गुणवाची शब्दों का (द्वन्द्वः) द्वन्द्व समास (विभाषा) विकल्प से (एकवचनम्) एक अर्थ का वाचक होता है।

*उदा०–**शीतं च उष्णं च एतयोः समाहारः शीतोष्णम्।** ठण्ड और गर्म का मिश्रण। **शीतं च उष्णं च ते शीतोष्णे।** ठण्डा और गर्म का संयोग। **सुखं च दुःखं च एतयोः समाहारः सुखदुःखम्।** सुख और दुःख का मिश्रमण। **सुखं च दुःखं ते–सुखदुःखे।** सुख और दुःख का संयोग।*

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। *(गीता २।३८)*

***सिद्धि–शीतोष्णम्।** शीत+सु+उष्ण+सु। शीतोष्ण+सु। शीतोष्णम्।*

*यहां शीत और उष्ण परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। ये किसी द्रव्य के वाचक नहीं हैं, अपितु किसी द्रव्य के धर्म (गुण) हैं। इन शब्दों के द्वन्द्व समास में इस सूत्र से एकवचन का विधान किया गया है। पक्ष में इतरेतरयोग द्वन्द्व में द्विवचन भी होता है–**शीतोष्णे।** ऐसे ही–**सुखदुःखम्, सुखदुःखे।***

एकवद्भावप्रतिषेधः--

(१३) न दधिपय आदीनि।१४।

प०वि०-न अव्ययपदम्, दधिपयआदीनि १।३।

स०-दधि च पयश्च ते दधिपयसी, दधिपयसी आदिर्येषां तानीतानि दधिपयआदीनि (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-एकवचनं द्वन्द्व इति चानुवर्तते।

अन्वयः-दधिपयआदीनां द्वन्द्व एकवचनं न।

अर्थः-दधिपयआदीनि द्वन्द्वरूपाणि एकस्यार्थस्य वाचकानि न भवन्ति।

उदा०-दधि च पयश्च ते दधिपयसी। सर्पिश्च मधुश्च ते सर्पिर्मधुनी।

दधिपयसी। सर्पिर्मधुनी। मधुसर्पिषी। ब्रह्मप्रजापती। शिववैश्रवणौ। स्कन्दविशाखौ। परिव्राट्कौशिकौ। प्रवर्ग्योपसदौ। शुक्लकृष्णौ। इध्माबर्हिषी। निपातनाद्दीर्घः। दीक्षातपसी। श्रद्धातपसी। मेधातपसी। अध्ययनतपसी। उलूखलमुसले। आद्यावसाने। श्रद्धामेधे। ऋक्सामे। वाङ्मनसे। इति दधिपयआदीनि।

आर्यभाषा-अर्थ-(दधिपय आदीनि) दधिपयसी आदि (द्वन्द्वः) द्वन्द्व रूप शब्द (एकवचनम्) एक अर्थ के वाचक (न) नहीं होते हैं।

*उदा०-दधि च **पयश्च ते-दधिपयसी**। दही और दूध का संयोग। **सर्पिश्च मधु च ते सर्पिर्मधुनी**। घी और शहद का संयोग।*

*सिद्धि-**दधिपयसी**। दधि+सु+पयस्+सु। दधिपयस्+औ। दधिपयस्+शी। दधिपयस्+ई। दधिपयसी।*

यहां दधि और पयस् शब्द के द्वन्द्व समास में एकवद्भाव का प्रतिषेध होने से 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' (१।४।२२) से द्वित्वविवक्षा में द्विवचन हो गया है।

विशेष-दधि और पय (दूध) का मिश्रण करना उपयुक्त नहीं अपितु यहां समाहार द्वन्द्व समास न करके इतरेतरयोग द्वन्द्व का विधान किया गया है। यही भाव दधिपय आदि सभी शब्दों के द्वन्द्व समास में मतिगोचर होरहा है।

एकवद्भावप्रतिषेधः--

(१४) अधिकरणैतावत्त्वे च।१५।

प०वि०-अधिकरण-एतावत्त्वे ७।१ च अव्ययपदम्।

स०-एतावतो भाव एतावत्त्वम् (तद्धितवृत्तिः)। **अधिकरणस्य**

एतावत्त्वमिति अधिकरणैतावत्त्वम्, तस्मिन्-अधिकरणैतावत्त्वे (षष्ठीतत्पुरुषः)। अधिकरणम्=द्रव्यम्। एतावत्त्वम्=इयत्ता मात्रेत्यर्थः।

अनु०-एकवचनं द्वन्द्वो न इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अधिकरणैतावत्त्वे द्वन्द्व एकवचनं न।

अर्थः-अधिकरणैतावत्त्वे=द्रव्यस्य इयत्तायां गम्यमानायां द्वन्द्वसमास एकस्यार्थस्य वाचको न भवति।

उदा०-दश दन्तोष्ठाः। दश मार्दङ्गिकपाणविकाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अधिकरणैतावत्त्वे) द्रव्य के परिमाण प्रकट होने पर (द्वन्द्वः) द्वन्द्व समास (एकवचनम्) एक अर्थ का वाचक (न) नहीं होता है।

*उदा०-**दश दन्तोष्ठाः।** दस दांत और ओष्ठों का संयोग। **दश मार्दङ्गिपाणविकाः।** दश मृदङ्ग (ढोल) तथा पणव नामक वाद्ययन्त्र बजानेवालों का योग।*

*सिद्धि-**दश दन्तोष्ठाः।** दन्त+जस्+ओष्ठ+औ। दन्तोष्ठ+जस्। दन्तोष्ठाः।*

*यहां दन्त और ओष्ठ का दश संख्या में परिमाण कथन किया गया है अतः इस सूत्र से यहां द्वन्द्व समास में एकवचन का प्रतिषेध है। पुनः **'बहुषु बहुवचनम्'** (१।४।२१) से बहुवचन हो जाता है।*

एकवद्भावविकल्पः-

(१६) विभाषा समीपे।१६।

प०वि०-विभाषा १।१ समीपे ७।१।

अनु०-एकवचनं द्वन्द्वोऽधिकरणैतावत्त्वे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अधिकरणैतावत्त्वस्य समीपे द्वन्द्वो विभाषैकवचनम्।

अर्थः-अधिकरणैतावत्त्वस्य=द्रव्यपरिमाणस्य समीपे वाच्ये द्वन्द्वसमासो विकल्पेन एकस्यार्थस्य वाचको भवति।

उदा०-उपदशं दन्तोष्ठम्। उपदशा दन्तोष्ठाः। उपदशं मार्दङ्गिकपाणविकम्। उपदशा मार्दङ्गिकपाणविकाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अधिकरणैतावत्त्वे) द्रव्य के परिमाण की (समीपे) समीपता के कथन में (द्वन्द्वः) द्वन्द्व समास (विभाषा) विकल्प से (एकवचनम्) एक अर्थ का वाचक होता है।

*उदा०-उपदशं दन्तोष्ठम्। लगभग दस दांत और ओष्ठ का समूह। **उपदशा दन्तोष्ठाः**। लगभग दस दांत और ओष्ठ का योग। उपदशं **मार्दङ्गिकपाणविकम्**। लगभग दस मृदङ्ग (ढोल) और पणव वाद्ययन्त्र बजानेववालों का समूह। **उपदशा मार्दङ्गिकपाणविकाः**। लगभग दस मृदङ्ग और पणव नामक वाद्ययन्त्र बजानेवालों का योग।*

सिद्धि-दन्तोष्ठम्। दन्त+जस+ओष्ठ+औ। दन्तोष्ठ+सु। दन्तोष्ठम्।

*दांत और ओष्ठ की लगभग दश संख्या के कथन में इनके द्वन्द्व समास में इस सूत्र से एकवद्भाव हुआ है। जहां एकवद्भाव नहीं होता है, वहां-दन्तोष्ठाः। यहां '**बहुषु बहुवचनम्**' (१।४।२१) से बहुवचन होता है।*

लिङ्गप्रकरणम्

द्विगुर्द्वन्द्वश्च–

(१) स नपुंसकम्।१७।

प०वि०-सः १।१ नपुंसकम् १।१।

अनु०-द्विगुः, एकवचनं द्विगुश्च सम्बध्यते।

अन्वयः-स द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकम्।

अर्थः-य एकस्यार्थस्य वाचको द्विगुः, द्वन्द्वश्च स नपुंसकलिङ्गो भवति।

उदा०-(१) **द्विगुः**-पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम्। दशानां गवां समाहारो दशगवम्। (२) **द्वन्द्वः**-पाणी च पादौ च एतेषां समाहारः पाणिपादम्। शिरश्च ग्रीवा च एतयोः समाहारः शिरोग्रीवम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(सः) जो एक अर्थ का वाचक द्विगु और द्वन्द्व समास है वह (नपुंसकम्) नपुंसकलिङ्ग होता है।

*उदा०-(१) द्विगु-**पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम्**। पांच गायों का समूह। **दशानां गवां समाहारो दशगवम्**। दश गायों का समूह। (२) द्वन्द्व-**पाणी च पादौ च एतेषां समाहारः पाणिपादम्**। हाथ और पांव का संघात। **शिरश्च ग्रीवा च एतयोः समाहारः शिरोग्रीवम्**। शिर और गर्दन का संघात।*

*सिद्धि-(१) **पञ्चगवम्**। पञ्चन्+आम्+गो+आम्। पञ्चगो+टच्। पञ्चगो+अ। पञ्चगव+सु। पञ्चगवम्।*

*यहां **'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च'** (२।१।५१) से समाहार अर्थ में द्विगु समास है। **'गोरतद्धितलुकि'** (५।४।९२) से समासान्त टच् प्रत्यय है। **'द्विगुरेकवचनम्'** (२।४।१) से एकवद्भाव होता है। इस सूत्र से समस्त पद नपुंसकलिङ्ग है। नपुंसकलिङ्ग में **'अतोऽम्'** (७।१।२४) से 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश होता है।*

*(२) **पाणिपादम्।** पाणि+औ+पाद+औ। पाणिपाद+सु। पाणिपाद+अम्। पाणिपादम्।*

*यहां समाहार द्वन्द्व समास में **'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्'** (२।४।२) से एकवद् भाव होकर इस सूत्र से नपुंसकलिङ्ग होता है। नपुंसकलिङ्ग में **'अतोऽम्'** (७।१।२४) से 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश होता है।*

अव्ययीभावः–

(२) अव्ययीभावश्च।१८।

प०वि०–अव्ययीभावः १।१ च अव्ययपदम्।

अनु०–'नपुंसकम्' इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–अव्ययीभावश्च नपुंसकम्।

अर्थः–अव्ययीभावश्च समासो नपुंसकलिङ्गो भवति।

उदा०–स्त्रीष्वधि इति अधिस्त्रि। गुरुकुलस्य समीपमिति उपगुरुकुलम्।

आर्यभाषा-अर्थ–*(अव्ययीभावः) अव्ययीभाव समास (च) भी (नपुंसकम्) नपुंसकलिङ्ग होता है।*

*उदा०–**स्त्रीष्वधि इति अधिस्त्रि।** स्त्रियों के विषय में। **गुरुकुलस्य समीपमिति उपगुरुकुलम्।** गुरुकुल के समीप।*

सिद्धि–(१) अधिस्त्रि। *अधि+सु+स्त्री+सुप्। अधिस्त्रि+सु। अधिस्त्रि।*

*यहां अधि और स्त्री शब्द का **'अव्ययं विभक्ति०'** (२।१।६) से सप्तमी विभक्ति के अर्थ में अव्ययीभाव समास है। इस सूत्र से समस्त पद नपुंसकलिङ्ग होता है। **'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य'** (१।२।४७) से नपुंसकलिङ्ग में स्त्री शब्द का ह्रस्व होता है। **'अव्ययीभावश्च'** (१।१।४०) से अव्ययीभाव समास अव्यय होता है अतः **'अव्ययादाप्सुपः'** (२।४।८२) से 'सु' प्रत्यय का 'लुक्' हो जाता है।*

*(२) **उपगुरुकुलम्।** उप+सु+गुरुकुल+ङस्। उपगुरुकुल+सु। उपगुरुकुल+अम्। उपगुरुकुलम्।*

*यहां उप और गुरुकुल शब्द का **'अव्ययं विभक्तिसमीप०'** (२।१।६) से समीप अर्थ में अव्ययीभाव समास होता है। इस सूत्र से समस्तपद नपुंसकलिङ्ग होता है। **'अव्ययीभावश्च'** (१।१।४०) से अव्ययीभाव समास अव्यय होता है अतः **'अव्ययादाप्सुपः'***

(२।४।८२) से 'सु' का 'लुक्' प्राप्त है किन्तु 'नाव्ययीभावदतोऽम्त्वपञ्चम्याः' (२।४।८३) से 'उपगुरुकुल' शब्द के अकारान्त होने से 'सु' का 'लुक्' नहीं होता है, अपितु उसके स्थान में अम्-आदेश हो जाता है।

*विशेष- **'अव्ययीभावश्च'** (१।१।४०) से अव्ययीभाव समास का समस्तपद अव्यय होता है। अव्ययीभाव समास का प्रकरण **'अव्ययं विभक्ति०'** (२।१।६) से लेकर **'अन्यपदार्थे च संज्ञायाम्'** (२।१।२०) तक द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में देख लेवें।*

तत्पुरुषाधिकारः–

(३) तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः।१६।

प०वि०-तत्पुरुषः १।१ अनञ्-कर्मधारयः १।१।

स०-नञ् च कर्मधारयश्च तौ-नञ्कर्मधारयौ, नञ्कर्मधारयौ न विद्येते यस्मिन्त्सोऽनञ्कर्मधारयः (इतरेतरद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-नपुंसकमित्यनुवर्तते।

अन्वयः-अनञ्कर्मधारयस्तत्पुरुषो नपुंसकम्।

अर्थः-नञ्कर्मधारयभिन्नस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति, इत्यधिकारोऽयम्। यथा वक्ष्यति- **'विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्'** (२।४।२५) इति, देवानां सेना इति देवसेनम्, देवसेना वा। असुराणां सेना इति असुरसेनम्, असुरसेना वा।

आर्यभाषा-अर्थ-(अनञ्कर्मधारयः) नञ् और कर्मधारय से भिन्न (तत्पुरुषः) तत्पुरुष समास (नपुंसकम्) नपुंसकलिङ्ग होता है, यह अधिकार है। जैसे कि आगे कहेगा- 'विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्' (२।४।२५)।

*उदा०-**देवानां सेना इति देवसेनम्, देवसेना वा।** देवताओं की सेना। **असुराणां सेना इति असुरसेनम्, असुरसेना वा।** असुरों की सेना।*

विशेष-इनकी सिद्धि यथास्थान दिखाई जायेगी।

कन्थान्तस्तत्पुरुषः–

(४) संज्ञायां कन्थोशीनरेषु।२०।

प०वि०-संज्ञायाम् ७।१ कन्था १।१ उशीनरेषु ७।३।

अनु०-तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः, नपुंसकम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-संज्ञायामनञ्कर्मधारयः कन्थान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकमुशीनरेषु।

अर्थः-संज्ञायां विषये नञ्कर्मधारयभिन्नः कन्थान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति, यदि सा कन्था उशीनरेषु भवति।

उदा०-सौशमिनां कन्था इति सौशमिकन्थम्। आह्वराणां कन्था इति आह्वरकन्थम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(संज्ञायाम्) संज्ञा विषय में (अनञ्कर्मधारयः) नञ् और कर्मधारय से भिन्न (कन्था) कन्था शब्द जिसके अन्त में है ऐसा (तत्पुरुषः) तत्पुरुष समास (नपुंसकम्) नपुंसकलिङ्ग होता है, यदि वह कन्था (उशीनरेषु) उशीनर नामक जनपद की हो।

*उदा०-**सौशमिनां कन्था इति सौशमिकन्थम्।** सौशमि लोगों की कन्था। **आह्वराणां कन्था इति आह्वरकन्थम्।** आह्वर लोगों की कन्था।*

***सिद्धि-सौशमिकन्थम्। सौशमिः।** सुशम+इञ्। सौशम्+इ। सौशमि+सु। सौशमिः। सौशमि+आम्+कन्था+सु। सौशमिकन्थ+सु। सौशमिकन्थम्। सौशमि लोगों की कन्था।*

*यहां सौशमि और कन्था शब्द का 'षष्ठी' (२।२।८) से षष्ठी तत्पुरुष समास है जो कि नञ् और कर्मधारय से भिन्न है। इस सूत्र से यह समस्तपद नपुंसकलिङ्ग है। नपुंसकलिङ्ग होने से '**ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य**' (१।२।४७) से कन्था शब्द को ह्रस्व होता है। नपुंसकलिङ्ग में '**अतोऽम्**' (७।१।२४) से 'सु' को 'अम्' आदेश हो जाता है। ऐसे ही-**आह्वरकन्थम्।***

***विशेष**-(१) अमरकोष की हिन्दी टीका में 'कन्था' शब्द का अर्थ 'बिछौना' किया है।*

(२) कन्था पण्य वस्तुओं में थी और व्यापारिक स्तर पर बनाई जाती थी। उशीनर की कन्थायें अन्य प्रदेशों में श्रेष्ठ गिनी जाती थी। (पतञ्जलिकालीन भारतवर्ष पृ० ५७४)।

*(३) रावी और चनाब नदी के बीच के भूभाग में उशीनर नामक एक जनपद था। उस जनपद में बनी कन्थाओं की '**सौशमिकन्थम्**' और '**आह्वरकन्थम्**' संज्ञा-विशेष थी।*

उपज्ञोपक्रमान्तस्तत्पुरुषः-

(५) उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्।२१।

प०वि०-उपज्ञा-उपक्रमम् १।१ तद्-आदि-आचिख्यासायाम् ७।१।

स०-उपज्ञा च उपक्रमश्च एतयोः समाहार उपज्ञोपक्रमम् **(समाहारद्वन्द्वः)। तयोरादिरिति तदादिः, तस्य तदादेः, आख्यातुमिच्छा**

आचिख्यासा, तदादेराचिख्यासा इति तदाद्याचिख्यासा, तस्याम्-तदाद्याचिख्यासायाम् (षष्ठीतत्पुरुषः)।

अनु०-नपुंसकम्, तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारय इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अनञ्कर्मधारय उपज्ञोपक्रमान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं तदाद्याचिख्यासायाम्।

अर्थः-नञ्कर्मधारयभिन्न उपज्ञान्त उपक्रमान्तश्च तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति, तदाद्याचिख्यासायाम्=तयोः प्रारम्भस्य प्रवक्तुमिच्छायां गम्यमानायाम्।

उदा०-(१) **उपज्ञा**-पाणिनेरुपज्ञा इति पाणिन्युपज्ञम्। पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्। व्याडेरुपज्ञा इति व्याड्युपज्ञम्। व्याड्युपज्ञं दशहुष्करणम्।

(२) **उपक्रमः**-आद्यस्योपक्रम इति आद्युपक्रमम्। आद्योपक्रमं प्रासादः। नन्दस्योपक्रम इति नन्दोपक्रमम्। नन्दोपक्रमाणि मानानि।

*आर्यभाषा-**अर्थ**-(अनञ्कर्मधारयः) नञ् और कर्मधारय से भिन्न (उपज्ञा-उपक्रमम्) उपज्ञा और उपक्रम शब्द जिसके अन्त में हैं, ऐसा (तत्पुरुषः) तत्पुरुष समास (नपुंसकम्) नपुंसकलिङ्ग होता है, यदि वहां (तदाद्याचिख्यासायाम्) उन उपज्ञा और उपक्रम के प्रारम्भ के कथन की इच्छा हो।*

*उदा०-**उपज्ञा-पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्।** पाणिनिमुनि ने अपने उपज्ञान से सर्वप्रथम काल-लक्षणरहित व्याकरणशास्त्र की रचना की। **व्याड्युपज्ञं दशहुष्करणम्।** व्याडि मुनि ने अपने उपज्ञान से सर्वप्रथम दश हुष् शब्दों सहित काल-लक्षणयुक्त व्याकरणशास्त्र की रचना की। पाणिनि के 'वृत्' शब्द के समान व्याडि का 'हुष्' शब्द समाप्ति का सूचक है।*

*(२) उपक्रम-**आद्योपक्रमं प्रासादः।** आद्य (विश्वकर्मा) शिल्पी ने सर्वप्रथम प्रासाद=महल बनाने का कार्य प्रारम्भ किया। **नन्दोपक्रमाणि मानानि।** नन्द नामक राजा ने सर्वप्रथम मान=बाटों से तोलने की पद्धति प्रारम्भ की।*

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि मगध देश के सम्राट् नन्द पाणिनि के मित्र थे। मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में पाणिनिमुनि की शास्त्रकार परीक्षा हुई थी। राजा नन्द ने ही उक्त मान-पद्धति का उपक्रम किया था। (पा० का० भारतवर्ष पृ० ४७२-७३)

*सिद्धि-**पाणिन्युपज्ञम्।** पाणिनि+ङस्+उपज्ञा+सु। पाणिन्युपज्ञ+सु। पाणिन्युपज्ञ+अम्। पाणिन्युपज्ञम्।*

*यहां पाणिनि और उपज्ञा शब्द का '**षष्ठी**' (२।२।८) से षष्ठी तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से समस्तपद नपुंसकलिङ्ग है। नपुंसकलिङ्ग होने से '**ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य**' (१।२।४७) से उपज्ञा शब्द को ह्रस्व होता है। नपुंसकलिङ्ग में '**अतोऽम्**' (७।१।२४) से 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश होता है। ऐसे ही-**व्याड्युपज्ञं दशहुष्करणम्**, आदि।*

छायान्तस्तत्पुरुषः-

(६) छाया बाहुल्ये।२२।

प०वि०-छाया १।१ बाहुल्ये ७।१।

बहुलस्य भावो बाहुल्यम्, तस्मिन्-बाहुल्ये (तद्धितवृत्तिः)।

अनु०-नपुंसकम्, तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारय इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अनञ्कर्मधारयश्छायान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं बाहुल्ये।

अर्थः-नञ्कर्मधारयभिन्नश्छायान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति, बाहुल्ये गम्यमाने। समासे पूर्वपदस्यार्थस्य बाहुल्यमिष्यते, न छायायाः।

उदा०-शलभानां छाया इति शलभच्छायम्। इक्षूणां छाया इति इक्षुच्छायम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(*अनञ्कर्मधारयः) नञ् और कर्मधारय से भिन्न (छाया) छाया शब्द जिसके अन्त में है ऐसा (तत्पुरुषः) तत्पुरुष समास (नपुंसकम्) नपुंसकलिङ्ग होता है यदि वहां (बाहुल्ये) पूर्वपद के अर्थ का बाहुल्य=आधिक्य हो।*

*उदा०-**शलभानां छाया इति शलभच्छायम्।** टिड्डी-दल की छाया। **इक्षूणां छाया इति इक्षुच्छायम्।** बहुत गन्नों की छाया।*

*सिद्धि-**शलभच्छायम्।** शलभ+आम्+छाया+सु। शलभच्छाय+सु। शलभच्छायम्।*

*यहां शलभ और छाया शब्द का '**षष्ठी**' (२।२।८) से षष्ठी तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से समस्तपद नपुंसकलिङ्ग होता है। नपुंसकलिङ्ग होने से '**ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य**' (१।२।४७) से छाया शब्द को ह्रस्व होता है। नपुंसकलिङ्ग में '**अतोऽम्**' (७।१।२४) से 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश होता है।*

*यहां बाहुल्य का कथन इसलिये है कि यहां नपुंसकलिङ्ग न हो-**कुड्यच्छाया।** एक दीवार की छाया।*

सभान्तस्तत्पुरुषः–

(७) सभाराजाऽमनुष्यपूर्वा ।२३।

प०वि०–सभा १।१ राज-अमनुष्यपूर्वा १।१।

स०–न मनुष्य इति अमनुष्यः, राजा च अमनुष्यश्च तौ राजामनुष्यौ, राजामनुष्यौ पूर्वौ यस्याः सा राजामनुष्यपूर्वा (सभा) (नञ्तत्पुरुषद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०–नपुंसकम्, तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारय इति चानुवर्तते।

अन्वयः–अनञ्कर्मधारयो राजामनुष्यपूर्वः सभान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकम्।

अर्थः–नञ्कर्मधारयभिन्नो राजपूर्वोऽमनुष्यपूर्वश्च सभान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति। अत्र राजशब्देन तत्पर्यायवाचिनां ग्रहणमिष्यते, न राजशब्दस्य।

उदा०–(१) **राजपूर्वः**–इनस्य सभा इति इनसभम्। ईश्वरस्य सभा इति ईश्वरसभम्। (२) **अमनुष्यपूर्वः**–राक्षसस्य सभा इति राक्षससभम्। पिशाचस्य सभा इति पिशाचसभम्।

***आर्यभाषा-अर्थ**–(अनञ्कर्मधारयः) नञ् **और** कर्मधारय से भिन्न (राजामनुष्यपूर्वः) राजपूर्वपदवाला तथा अमनुष्य=राक्षस पूर्वपदवाला तथा (सभा) सभा उत्तरपदवाला (तत्पुरुषः) तत्पुरुष समास (नपुंसकम्) नपुंसकलिङ्ग होता है। यहां राजा शब्द से उसके पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण किया जाता है, राजा शब्द का नहीं।*

*उदा०–(१) राजपूर्व–**इनस्य सभा इति इनसभम्।** राजा का भवन। **ईश्वरस्य सभा इति ईश्वरसभम्।** अर्थ पूर्ववत् है। (२) अमनुष्यपूर्व–**राक्षसस्य सभा इति राक्षससभम्।** राक्षस का घर। **पिशाचस्य सभा इति पिशाचसभम्।** पिशाच का घर।*

सभा**–सभा शब्द का समुदाय और शाला दो अर्थ हैं। यहां शाला अर्थ का ग्रहण किया गया है क्योंकि आगामी सूत्र **'अशाला च'** (२।४।२४) में शाला अर्थ का निषेध किया गया है। 'वासः **कुटी शाला सभा'इत्यमरः।

***सिद्धि-इनसभम्।** इन+ङस्+सभा+सु। इनसभ+सु। इनसभम्।*

*यहां इन और सभा शब्द का **'षष्ठी'** (२।२।८) से षष्ठी तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से समस्तपद नपुंसकलिङ्ग है। नपुंसकलिङ्ग होने से **'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य'** (१।२।४७) से सभा शब्द को ह्रस्व होता है। नपुंसकलिङ्ग में **'अतोऽम्'** (७।१।२४) से 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश होता है।*

*विशेष-(१) राजपूर्वा-जब सभा शब्द का, राजा शब्द पूर्वपद होता तब समस्तपद नपुंसकलिङ्ग नहीं होता है, जैसे-**राज्ञः सभा इति राजसभा।** राजा का भवन।*

*(२) **अमनुष्यपूर्वा**-पाणिनिमुनि के मत में समाज के मनुष्य और अमनुष्य दो भेद हैं। '**मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च**' (४।१।६१) के प्रमाण से मनु के सन्तान मनुष्य अथवा मानव कहाते हैं और शेष अमनुष्य अर्थात् राक्षस आदि हैं। जब सभा शब्द का कोई मनुष्यवाची शब्द पूर्वपद होता है तब नपुंसकलिङ्ग नहीं होता है जैसे-**देवदत्तस्य सभा इति देवदत्तसभा।** देवदत्त का घर।*

सभान्तस्तत्पुरुषः-

(८) अशाला च।२४।

प०वि०-अशाला १।१। च अव्ययपदम्।

स०-शाला गृहमित्यर्थः। न शाला इति अशाला (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-नपुंसकम्, तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारयः सभा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अनञ्कर्मधारयोऽशालार्थश्च सभान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकम्।

अर्थः-नञ्कर्मधारयभिन्नः शालार्थवर्जितः सभान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकलिङ्गो भवति। सभाशब्दोऽत्र समुदायवचनो गृह्यते।

उदा०-स्त्रीणां सभा इति स्त्रीसभम्। दासीनां सभा इति दासीसभम्।

***आर्यभाषा-अर्थ**-(अनञ्कर्मधारयः) नञ् और कर्मधारय से भिन्न (अशाला च) और शाला अर्थ से रहित (सभा) सभा शब्द जिसके अन्त में है वह (तत्पुरुषः) तत्पुरुष समास (नपुंसकम्) नपुंसकलिङ्ग होता है। यहां 'सभा' शब्द समुदायवाची ग्रहण किया जाता है।*

*उदा०-**स्त्रीणां सभा इति स्त्रीसभम्।** स्त्रियों का समुदाय। **दासीनां सभा इति दासीसभम्।** दासियों का समूह।*

***सिद्धि-स्त्रीसभम्।** स्त्री+आम्+सभा+सु। स्त्रीसभ+सु। स्त्रीसभम्।*

*यहां स्त्री और सभा शब्द का '**षष्ठी**' (२।२।८) से षष्ठी तत्पुरुष है। इस सूत्र से समस्तपद नपुंसकलिङ्ग है। नपुंसकलिङ्ग होने से '**ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य**' (१।२।४७) से सभा शब्द को ह्रस्व होता है। नपुंसकलिङ्ग में '**अतोऽम्**' (७।१।२४) से '**सु**' के स्थान में '**अम्**' आदेश होता है।*

***विशेष**-यहां शाला अर्थ का निषेध इसलिये किया गया है कि यहां नपुंसकलिङ्ग न हो जैसे-**अनाथसभा।** अनाथ की कुटी।*

सेनान्तादितत्पुरुषः–

(६) विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्।२५।

प०वि०-विभाषा १।१ सेना-सुरा-छाया-शाला-निशानाम् ६।३।

स०-सेना च सुरा च छाया च शाला च निशा च ताः-सेनासुराच्छाया-शालानिशाः, तासाम्-सेनासुराच्छायाशालानिशानाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-नपुंसकम्, तत्पुरुषोऽनञ्कर्मधारय इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अनञ्कर्मधारयः सेना०निशान्तस्तत्पुरुषो विभाषा नपुंसकम्।

अर्थः-नञ्कर्मधारयभिन्नः सेनासुराच्छायाशालानिशान्तानां शब्दानां तत्पुरुषो विकल्पेन नपुंसकलिङ्गो भवति।

उदा०-(१) **सेना**-देवानां सेना इति देवसेनं देवसेना वा। (२) **सुरा**-यवानां सुरा इति यवसुरं यवसुरा वा। (३) **छाया**-कुड्यस्य छाया इति कुड्यच्छायं कुड्यछाया वा। (४) **शाला**-गवां शाला इति गोशालं गोशाला वा। (५) **निशा**-शुनां निशा इति श्वनिशं श्वनिशा वा।

यस्यां निशायां श्वान उपवसन्ति सा श्वनिशमित्युच्यते। सा पुनः कृष्णचतुर्दशी, तस्यां हि श्वान उपवसन्तीति प्रसिद्धिः। इति पदमञ्जर्यां हरदत्तः। यस्यां निशायां श्वानो मत्ता विहरन्ति सा श्वनिशं श्वनिशेति चोच्यते। इति न्यासकारः।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(अनञ्कर्मधारयः) नञ्कर्मधारय से भिन्न (सेना०निशानाम्) सेना, सुरा, छाया, शाला और निशा शब्द जिसके अन्त में है वह (तत्पुरुषः) तत्पुरुष समास (विभाषा) विकल्प से (नपुंसकम्) नपुंसकलिङ्ग होता है।

*उदा०-(१) सेना-**देवानां सेना इति देवसेनं देवसेना वा।** देवताओं की सेना। (२) सुरा-**यवानां सुरा इति यवसुरं यवसुरा वा।** जौ की शराब। (३) छाया-**कुड्यस्य छाया इति कुड्यच्छायं कुड्यच्छाया वा।** दीवार की छाया। (४) **शाला-गवां शाला इति गोशालं गोशाला वा।** गायों का घर। (५) **निशा-शुनां निशा इति श्वनिशं श्वनिशा वा।** कुत्तों की रात।*

*जिस रात में कुत्ते उपवास रखते हैं उसे '**श्वनिशम्**' अथवा '**श्वनिशा**' कहते हैं और वह कृष्ण चतुर्दशी है ऐसी लोक-प्रसिद्धि है (पदमञ्जरी हरदत्त)। जिसमें कुत्ते मस्त होकर घूमते हैं उसे '**श्वनिशम्**' अथवा '**श्वनिशा**' कहते हैं (न्यासकार जिनेन्द्र बुद्धिपाद, द्र० २।४।२५)।*

*सिद्धि-**देवसेनम्**। देव+आम्+सेना+सु। देवसेन+सु। देवसेनम्।*

*यहां देव और सेना शब्द का **'षष्ठी'** (२।२।८) से षष्ठी तत्पुरुष समास है। इस सूत्र से समस्तपद विकल्प से नपुंसकलिङ्ग है। नपुंसकलिङ्ग के पक्ष में **'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य'** (१।२।४७) से सेना शब्द को ह्रस्व होता है। नपुंसकलिङ्ग में **'अतोऽम्'** (७।२।२४) से 'सु' के स्थान में 'अम्' आदेश होता है। जहां नपुंसकलिङ्ग नहीं होता वहां-**देवसेना**। ऐसे ही **यवसुरम्, यवसुरा** आदि।*

द्वन्द्वस्तत्पुरुषश्च-

(१०) परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः।२६।

प०वि०-परवत् अव्ययपदम्, लिङ्गम् १।१ द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः ७।२।

स०-परस्य इव इति परवत् (तद्धितवृत्तिः)। द्वन्द्वश्च तत्पुरुषश्च तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ, तयोः द्वन्द्वतत्पुरुषयोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अर्थः-द्वन्द्वे तत्पुरुषे च समासे परवत्=उत्तरपदस्येव लिङ्गं भवति।

उदा०-(१) **द्वन्द्वः**-कुक्कुटश्च मयूरी च ते कुक्कुटमयूर्यौ। मयूरी च कुक्कुटश्च तौ मयूरीकुक्कुटौ। (२) **तत्पुरुषः**-अर्द्धं पिपल्या इति अर्द्धपिप्पली। अर्द्धं कौशातक्या इति अर्द्धकौशातकी।

आर्यभाषा-अर्थ-(द्वन्द्वतत्पुरुषयोः) द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में (परवत्) उत्तरपद के समान (लिङ्ग) लिङ्ग होता है।

*उदा०-(१) द्वन्द्व-**कुक्कुटश्च मयूरी च ते कुक्कुटमयूर्यौ**। एक मुर्गा और एक मोरणी दोनों। **मयूरी च कुक्कुटश्च तौ मयूरीकुक्कुटौ**। एक मोरणी और एक मुर्गा दोनों। (२) तत्पुरुष-**अर्ध पिप्पल्या इति अर्ध पिप्पली**। छोटी पीपल का आधा भाग। **अर्ध कौशातक्या इति अर्ध कौशातकी**। तोरी का आधा भाग।*

*सिद्धि-(१) **कुक्कुटमयूर्यौ**। कुक्कुट+सु+मयूरी+सु। कुक्कुटमयूरी+औ। कुक्कुटमयूर्यौ।*

यहां द्वन्द्व समास में पूर्वपद कुक्कुट शब्द पुंलिङ्ग और उत्तरपद मयूरी शब्द स्त्रीलिङ्ग है। इस सूत्र से समस्तपद उत्तरपद मयूरी के समान स्त्रीलिङ्ग होता है।

*(२) **अर्द्धपिप्पली**। अर्ध+सु+पिप्पली+ङस्। अर्धपिप्पली+सु। अर्धपिप्पली।*

*यहां अर्ध और पिप्पली शब्द का **'अर्धं नपुंसकम्'** (२।२।२) से एकदेशितत्पुरुष समास है। यहां पूर्वपद अर्ध शब्द नपुंसक और उत्तरपद पिप्पली शब्द स्त्रीलिङ्ग है। इस सूत्र से समस्तपद उत्तरपद पिप्पली के समान स्त्रीलिङ्ग होता है। इस पाद के प्रारम्भ में द्वन्द्व समास में एकवद्भाव का विधान किया है। एकवद्भाववाले द्वन्द्व समास का*

'स नपुंसकम्' (२।४।१७) से नपुंसकलिङ्ग होता है, अतः यहां द्वन्द्व समास के लिङ्ग विधान में इतरेतरयोगद्वन्द्व का ग्रहण समझना चाहिये।

द्वन्द्वसमासः-

(११) पूर्ववदश्ववडवौ।२७।

प०वि०-पूर्ववत् अव्ययपदम्, अश्ववडवौ १।२। षष्ठ्यर्थे (प्रथमा)।

स०-पूर्वस्येव पूर्ववत् (तद्धितवृत्तिः)। अश्वश्च वडवा च तौ-अश्ववडवौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-लिङ्गं द्वन्द्वे इति चानुवर्तनीयम्।

अन्वयः-अश्ववडयोर्द्वन्द्वे पूर्ववत् लिङ्गम्।

अर्थः-अश्ववडयोः शब्दयोर्द्वन्द्वे समासे पूर्ववत्-पूर्वपदस्य इव लिङ्गं भवति। पूर्वसूत्रस्यायमपवादः।

उदा०-अश्वश्च वडवा च तौ-अश्ववडवौ।

*आर्यभाषा-**अर्थ-**(अश्ववडवौ) अश्व और वडवा शब्द के (द्वन्द्वे) द्वन्द्व समास में (पूर्ववत्) पूर्वपद के समान (लिङ्गम्) लिङ्ग होता है। यह पूर्व सूत्र का अपवाद है।*

*उदा०-**अश्वश्च वडवा च तौ अश्ववडवौ।** एक घोड़ा और एक घोड़ी दोनों।*

*सिद्धि-**अश्ववडवौ।** अश्व+सु+वडवा+सु। अश्ववडव+औ। अश्ववडवौ।*

यहां द्वन्द्व समास में पूर्वपद अश्व पुंलिङ्ग और उत्तरपद वडवा शब्द स्त्रीलिङ्ग है। इस सूत्र से समस्तपद, पूर्वपद अश्व के समान पुंलिङ्ग होता है।

'विभाषा वृक्षमृग०' (२।४।१२) से पशुओं के द्वन्द्व समास में विकल्प से एकवद्भाव का विधान किया गया है। अश्व और वडवा के द्वन्द्व समास में जब एकवद्भाव नहीं होता तब इतरेतरयोग समास में यह पूर्वपद के समान पुंलिङ्ग होता है।

द्वन्द्वसमासः-

(१२) हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि।२८।

प०वि०-हेमन्त-शिशिरौ १।२ अहो-रात्रे १।२ च अव्ययपदम्, छन्दसि ७।१।

स०-हेमन्तश्च शिशिरं च तौ हेमन्तशिशिरौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। अहश्च रात्रिश्च ते-अहोरात्रे (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। अत्र उभयत्र षष्ठ्यर्थे प्रथमा।

अनु०-लिङ्गं द्वन्द्वे पूर्ववदिति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि विषये हेमन्तशिशिरयोरहोरात्रयोश्च द्वन्द्वे पूर्ववल्लिङ्गम्।

अर्थः-छन्दसि विषये हेमन्तशिशिरयोरहोरात्रयोश्च द्वन्द्वे समासे पूर्ववत्=पूर्वपदस्येव लिङ्गं भवति। **'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः'** (२।४।२६) इत्यस्यायमपवादः।

उदा०-हेमन्तश्च शिशिरं च तौ हेमन्तशिशिरौ। हेमन्ताशिशिरावृतू वर्चो द्रविणं (यजु० १०।१४)। अहश्च रात्रिश्च ते अहोरात्रे। अहोरात्रे द्रवतः संविदाने (अथर्व० १०।७।६)।

आर्यभाषा-अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (हेमन्तशिशिरौ) हेमन्त और शिशिर और (अहोरात्रे) अहन् और रात्रि शब्द के (द्वन्द्वे) द्वन्द्व समास में (च) भी (पूर्ववत्) पूर्वपद के समान (लिङ्गम्) लिङ्ग होता है।

*उदा०-**हेमन्तश्च शिशिरं च तौ हेमन्तशिशिरौ।** हेमन्त और शिशिर ऋतु दोनों। वैदिक प्रयोग-**हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणं** (यजु० १०।१४)। **अहश्च रात्रिश्च ते अहोरात्रे।** दिन और रात दोनों। वैदिक प्रयोग-**अहोरात्रे द्रवतः संविदाने** (अथर्व० १०।७।६)।*

*सिद्धि-(१) **हेमन्तशिशिरौ।** हेमन्त+सु+शिशिर+सु। हेमन्तशिशिर+औ। हेमन्तशिशिरौ।*

यहां द्वन्द्व समास में पूर्वपद हेमन्त शब्द पुंलिङ्ग और उत्तरपद शिशिर शब्द नपुंसकलिङ्ग है। इस सूत्र से समस्तपद, पूर्वपद हेमन्त के समान पुंलिङ्ग होता है।

*(२) **अहोरात्रे।** अहन्+सु+रात्रि+सु। अहरु+रात्रि। अहउ+रात्रि। अहोरात्र+औ। अहोरात्र+शी। अहोरात्र+ई। अहोरात्रे।*

यहां द्वन्द्व समास में पूर्वपद अहन् शब्द नपुंसकलिङ्ग और उत्तरपद रात्रि शब्द स्त्रीलिङ्ग है। इस सूत्र से समस्त पद, पूर्वपद अहन् के समान नपुंसकलिङ्ग होता है।

यहां अहन् शब्द को 'अहन्' (८।२।६८) से रुत्व, 'हशि च' (६।१।११४) से उत्व और 'आद्गुणः' (६।१।८६) से गुण रूप एकादेश होता है। छः ऋतुओं का परिचय यह है-

(१)	*वसन्त (चैत्र-वैशाख)*	*(२)*	*ग्रीष्म (ज्येष्ठ-आषाढ़)*
(३)	*वर्षा (श्रावण-भाद्रपद)*	*(४)*	*शरद् (आश्विन-कार्तिक)*
(५)	*हेमन्त (मार्गशीर्ष-पौष)*	*(६)*	*शिशिर (माघ-फाल्गुन)*

तत्पुरुषः--

(१३) रात्राह्नाहाः पुंसि।२६।

प०वि०-रात्र-अह्न-अहाः १।३ पुंसि ७।१।

स०-रात्रश्च अह्नश्च अहश्च ते-रात्राह्नाहाः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। कृतसमासान्तानां शब्दानां निर्देशोऽयम्।

अनु०-तत्पुरुषः इत्यनुवर्तनीयम्।

अन्वयः-रात्राह्नाहान्तस्तत्पुरुषः पुंसि।

अर्थः-रात्र-अह्न-अहशब्दान्तस्तत्पुरुषः समासः पुंसि=पुंलिङ्गे भवति। **'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः'** (२।४।२६) इति परल्लिङ्गतया स्त्री-नपुंसकलिङ्गयोः प्राप्तयोर्वचनमिदमारब्धम्।

उदा०-(१) रात्रः-द्वयो रात्र्योः समाहारः, द्विरात्रः। तिसृणां रात्रीणां समाहारः, त्रिरात्रः। **(२) अह्नः**-अह्नः पूर्व इति पूर्वाह्णः। अह्नोऽपर इति अपराह्णः। अह्नो मध्य इति मध्याह्नः। **(३) अहः**-द्वयोरह्नोः समाहारः, द्व्यहः। त्रयाणामह्नां समाहारः, त्र्यहः।

*आर्यभाषा-अर्थ-(रात्राह्नाहाः) रात्र, अह्न और अहः शब्द जिसके अन्त में है वह (तत्पुरुषः) तत्पुरुष समास (पुंसि) पुंलिङ्ग में होता है। यह **'परवलिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः'** (२।४।२६) का अपवाद है।*

*उदा०-(१) रात्र-**द्वयो रात्र्योः समाहारः, द्विरात्रः।** दो रात्रियों का समाहार (एकीभाव)। **तिसृणां रात्रीणां समाहार इति त्रिरात्रः।** तीन रात्रियों का समाहार। (२) **अह्न-अह्नः पूर्व इति पूर्वाह्णः।** दिन का पूर्व भाग। **अह्नोऽपर इति अपराह्णः।** दिन का दूसरा भाग। **अह्नो मध्य इति मध्याह्नः।** दिन का मध्य भाग। (३) अहः-**द्वयोरह्नोः समाहार इति द्व्यहः।** दो दिनों का समाहार (एकीभाव)। **त्रयाणामह्नां समाहार इति त्र्यहः।** तीन दिनों का समाहार।*

*सिद्धि-(१) **द्विरात्रः।** द्वि+सु+रात्रि+सु। द्विरात्रि+अच्। द्विरात्र+अ। द्विरात्र+सु। द्विरात्रः।*

यहां 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (२।१।५१) से द्वि और रात्रि शब्द का समाहार अर्थ में द्विगु तत्पुरुष समास है। 'अहः सर्वैकदेशसंख्यापुण्याच्च रात्रेः' (५।४।८७) से समासान्त 'अच्' प्रत्यय है। 'यस्येति च' (६।४।१४२) से रात्रि के इकार का लोप होता है। यहां 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' (२।४।२६) से उत्तरपद रात्रि शब्द के समान स्त्रीलिङ्ग प्राप्त था। इस सूत्र से समस्तपद पुंलिङ्ग होता है।

(२) पूर्वाह्णः। पूर्व+सु+अह्न+ङस्। पूर्वाहन्+अच्। पूर्वाह्न+अ। पूर्वाहन्+अ। पूर्वाह्णः।

यहां 'पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे' (२।२।१) से पूर्व और अहन् शब्द का एकदेशी तत्पुरुष समास है। 'रात्राहःसखिभ्यष्टच्' (५।४।९१) से समासान्त टच् प्रत्यय है। 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः' (५।४।८८) से अहन् के स्थान में अह्न आदेश होता है। 'अह्नोऽदन्तात्' (८।४।७) से अह्न के न को णत्व होता है। यहां पूर्ववत् उत्तरपद अहन् शब्द के समान नपुंसकलिङ्ग प्राप्त था इस सूत्र से समस्तपद पुंलिङ्ग होता है।

(३) द्व्यहः। द्वि+सु+अहन्+सु। द्व्यहन्+टच्। द्व्यह्+अ। द्व्यह+सु। द्व्यहः।

यहां 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (२।१।५१) से द्वि और अहन् शब्द का समाहार अर्थ में द्विगुतत्पुरुष समास है। 'न संख्यादेः समाहारे' (५।४।८९) से अहन् के स्थान में अह्न आदेश नहीं होता है। 'अह्नष्टखोरेव' (६।४।१४५) से अहन् के टि-भाग (अन्) का लोप हो जाता है।

तत्पुरुषः—

(१३) अपथं नपुंसकम्।३०।

प०वि०–अपथम् १।१ नपुंसकम् १।१।

स०–न पन्था इति अपथम् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–'तत्पुरुषः' इत्यनुवर्तनीयम्।

अन्वयः–अपथमित्यत्र तत्पुरुषे नपुंसकम्।

अर्थः–अपथम् इत्यत्र तत्पुरुषे समासे नपुंसकलिङ्गं भवति।

उदा०–न पन्था इति अपथम्। अपथमिदम्। अपथानि गाहते मूढः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अपथम्) अपथ इस तत्पुरुष समास में (नपुंसकम्) नपुंसकलिङ्ग होता है।

*उदा०-**न पन्था इति अपथम्।** जो ठीक मार्ग नहीं है=कुपथ। **अपथमिदम्।** यह कुमार्ग है। **अपथानि गाहते मूढः।** मूर्ख कुमार्ग में धक्के खाता है।*

***सिद्धि-अपथम्।** नञ्+सु+पथिन्+सु। अ+पथिन्+अ। अपथ्+अ। अपथ+सु। अपथ+अम्। अपथम्।*

यहां 'नञ्' (२।२।६) से नञ्तत्पुरुष समास है। 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (५।४।७४) से समासान्त 'अ' प्रत्यय है। 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) से पथिन् के टि-भाग (इन्) का लोप हो जाता है। यहां 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' (२।२।२६) से उत्तरपद पथिन् शब्द के समान समस्तपद पुंलिङ्ग प्राप्त था, इस सूत्र से नपुंसकलिङ्ग होता है।

तत्पुरुषः–

(१४) अर्धर्चाः पुंसि च।३१।

प०वि०–अर्धर्चाः १।३ पुंसि ७।१ च अव्ययपदम्।

स०–अर्धम् ऋचः इति अर्धर्चः, ते-अर्धर्चाः (एकदेशितत्पुरुषः)। अत्र बहुवचनमाद्यर्थद्योतकम्।

अनु०–नपुंसकमित्यनुवर्तते।

अन्वयः–अर्धर्चाः पुंसि नपुंसके च।

अर्थः–अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि नपुंसके च भवन्ति।

उदा०–अर्धम् ऋचः इति अर्धर्चः, अर्धर्चं वा। गोमयो गोमयं वा, इत्यादिकम्।

अर्द्धर्च। गोमय। कषाय। कार्षापण। कुतप। कपाट। शङ्ख। चक्र। गूथ। यूथ। ध्वज। कबन्ध। पद्म। गृह। सरक। कंस। दिवस। यूप। अन्धकार। दण्ड। कमण्डलु। मण्ड। भूत। द्वीप। द्यूत। चक्र। धर्म। कर्मन्। मोदक। शतमान। यान। नख। नखर। चरण। पुच्छ। दाडिम। हिम। रजत। सक्तु। पिधान। सार। पात्र। घृत। सैन्धव। औषध। आढक। चषक। द्रोण। खलीन। पात्रीव। षष्टिक। वार। बाण। प्रोथ। कपित्थ। शुष्क। शील। शुल्व। सीधु। कवच। रेणु। कपट। सीकर। मुसल। सुवर्ण। यूप। चमस। वर्ण। क्षीर। कर्ष। आकाश। अष्टापद। मङ्गल। निधन। निर्यास। जम्भ। वृत्त। पुस्त। क्ष्वेडित। शृङ्ग। शृङ्खल। मधु। मूल। मूलक। शराव। शाल। वप्र। विमान। मुख। प्रग्रीव। शूल। वज्र। कर्पट। शिखर। कल्क। नाट। मस्तक। वलय। कुसुम। तृण। पङ्क। कुण्डल। किरीट। अर्बुद। अंकुश। तिमिर। आश्रम। भूषण। इल्कस। मुकुल। वसन्त। तडाग। पिटक। विटङ्क। माष। कोश। फलक। दिन। दैवत। पिनाक। समर स्थाणु। अनीक। उपवास। शाक। कर्पास। चषाल। खण्ड। दर। विटप। रण। बल। मल। मृणाल। हस्त। सूत्र। ताण्डव। गाण्डीव। मण्डप। पटह। सौध। पार्श्व। शरीर। फल। छल। पुर। राष्ट्र। विश्व। अम्बर।

कुट्टिम। मण्डल। ककुद। तोमर। तोरण। मञ्चक। पुङ्ख। मध्य। बाल। वल्मीक। वर्ष। वस्त्र। देह। उद्यान। उद्योग। स्नेह। स्वर। सङ्गम। निष्क। क्षेम। शूक। छत्र। पवित्र। यौवन। पानक। मूषिक। वल्कल। कुञ्ज। विहार। लोहित। विषाण। भवन। अरण्य। पुलिन। दृढ। आसन। ऐरावत। शूर्प। तीर्थ। लोमश। तमाल। लोह। दण्डक। शपथ। प्रतिसर। दारु। धनुस्। मान। तङ्क। वितङ्क। मठ। सहस्र। ओदन। प्रवाल। शकट। अपराह्ण। नीड। शकल। कुणप। मुण्ड। पूत। मरु। लोमन। लिङ्ग। सीर। क्षत। ऋण। कडार। पूर्ण। पणव। विशाल। बुस्त। पुस्तक। पल्लव। निगड। खल। स्थूल। शार। नाल। प्रवर। कटक। कण्टक। छाल। कुमुद। पुराण। जाल। स्कन्ध। ललाट। कुङ्कुम। कुशल। विडङ्ग। पिण्याक। आर्द्र। हल। योध। बिम्ब। कुक्कुट। कुडप। खण्डल। पञ्चक। वसु। उद्यम। स्तन। स्तेन। क्षत्र। कलह। पालक*। वर्चस्क। कूर्च। तण्डक। तण्डुल। इत्यर्धर्चादयः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अर्धर्चाः) अर्धर्चा आदि शब्द (पुंसि) पुंलिङ्ग (च) और (नपुंसकम्) नपुंसकलिङ्ग होते हैं।

*उदा०-**अर्धम् ऋच इति अर्धर्चः।** ऋचा का आधा भाग। **गोमयः, गोमयम्।** गौ का पुरीष (मल) गोबर, इत्यादि।*

*सिद्धि-**अर्धर्चः।** अर्ध+सु+ऋच्+ङस्। अर्ध+ऋच्+अ। अर्धर्च+सु। अर्धर्चः।*

यहां अर्ध और ऋच् शब्द का 'अर्धं नपुंसकम्' (२।२।२) से एकदेशी तत्पुरुष समास है। 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (५।४।७४) से समासान्त 'अ' प्रत्यय है। 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' (२।२।२६) से उत्तरपद शब्द ऋक् शब्द के स्त्रीलिङ्ग होने से समस्तपद, स्त्रीलिङ्ग प्राप्त था, इस सूत्र से पुंलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग होता है।

आदेशप्रकरणम् (अन्वादेशे)

इदम् (अश्)–

(१) इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ।३२।

प०वि०-इदमः ६।१ अन्वादेशे ७।१ अश् १।१ अनुदात्तः १।१ तृतीया-आदौ ७।१।

*हल इत्यधिकं पुस्तकान्तरे।

स०-आदेशः=कथनम्। अन्वादेशोऽनुकथनम्, तस्मिन्-अन्वादेशे। तृतीया आदिर्यस्याः सा तृतीयादिः, तस्याम्-तृतीयादौ (बहुव्रीहिः)।

अन्वयः-अन्वादेशे इदमोऽश् अनुदात्तस्तृतीयादौ।

अर्थः-अन्वादेशविषयस्य इदंशब्दस्य स्थानेऽश्-आदेशो भवति, स चानुदात्तो भवति, तृतीयादौ विभक्तौ परतः।

उदा०-आदेशवाक्यम्-आभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता। **अन्वादेशवाक्यम्**-अथो आभ्यामहरप्यधीतम्। **आदेशवाक्यम्**-अस्मै छात्राय कम्बलं देहि। **अन्वादेशवाक्यम्**-अथो अस्मै शाटकमपि देहि। **आदेशवाक्यम्**-अस्य छात्रस्य शोभनं शीलम्। **अन्वादेशवाक्यम्**-अथो अस्य प्रभूतं स्वम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(अन्वादेशे) अनुकथन विषयक (इदमः) इदम् शब्द के स्थान में (अश्) अश्-आदेश होता है और वह (अनुदात्तः) अनुदात्त होता है (तृतीयादौ) तृतीया आदि विभक्ति परे होने पर।

*उदा०-आदेशवाक्य-**आभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता**। इन दो छात्रों ने सारी रात पढ़ा। अन्वादेशवाक्य-**अथो आभ्यामहरप्यधीतम्**। और इन दोनों छात्रों ने सारा दिन भी पढ़ा। आदेशवाक्य-**अस्मै छात्राय कम्बलं देहि**। इस छात्र को कम्बल दे। अन्वादेशवाक्य-**अथो अस्मै शाटकमपि देहि**। और इस छात्र को एक धोती भी दे। आदेशवाक्य-**अस्य छात्रस्य शोभनं शीलम्**। इस छात्र का स्वभाव अच्छा है। अन्वादेशवाक्य-**अथो अस्य प्रभूतं स्वम्**। और इसके पास पर्याप्त धन भी है।*

*सिद्धि-**आभ्याम्**। इदम्+भ्याम्। अश्+भ्याम्। अ+भ्याम्। आभ्याम्।*

यहां अन्वादेश विषय में इस सूत्र से 'इदम्' के स्थान में अश्-आदेश है। यह शित् होने से 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' (१।१।५५) से सर्वादेश होता है। इसका स्वर अनुदात्त है। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) से सु आदि प्रत्ययों का स्वर भी अनुदात्त होता है।

एतद् (अश्)-

(२) एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ।३३।

प०वि०-एतदः ६।१ त्र-तसोः ७।२ त्र-तसौ १।२ च अव्ययपदम्, अनुदात्तौ १।२।

स०-त्रश्च तस् च तौ-त्रतसौ, तयोः-त्रतसोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। त्रश्च तस् च तौ-त्रतसौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-अन्वादेशे, अश्, अनुदात्त इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अन्वादेशे एतदोऽश् अनुदात्तस्त्रतसोः, त्रतसौ चानुदात्तौ।

अर्थः-अन्वादेशविषयस्य एतद्-शब्दस्य स्थानेऽश्-आदेशो भवति, स चानुदात्तो भवति, त्रतसोः प्रत्यययोः परतः, तौ त्रतसौ चानुदात्तौ भवतः।

उदा०-**आदेशवाक्यम्**-एतस्मिन् ग्रामे सुखं वसामः। **अन्वादेश-वाक्यम्**-अथो अत्र युक्ता अधीमहे। **आदेशवाक्यम्**-एतस्मात् अध्यापकात् छन्दोऽधीष्व। **अन्वादेशवाक्यम्**-अथो अतो व्याकरणमप्यधीष्व।

आर्यभाषा-अर्थ-(अन्वादेशे) अनुकथन विषयक (एतदः) एतद् शब्द के स्थान में (अश्) अश् आदेश होता है और वह (अनुदात्तः) अनुदात्त होता है (त्रतसोः) त्र और तस् प्रत्यय परे होने पर और वे (त्रतसौ) त्र और तस् प्रत्यय (च) भी (अनुदात्तौ) अनुदात्त होते हैं।

*उदा०-(१) त्र-आदेशवाक्य-**एतस्मिन् ग्रामे सुखं वसामः।** हम इस गांव में सुखपूर्वक रहते हैं। अन्वादेशवाक्य-**अथो अत्र युक्ता अधीमहे।** और हम यहां लगनपूर्वक पढ़ते हैं। (२) तस्-आदेशवाक्य-**अस्माद् अध्यापकात् छन्दोऽधीष्व।** तू इस अध्यापक से छन्द पढ़। अन्वादेशवाक्य-**अथो अस्माद् व्याकरणमप्यधीष्व।** और तू इस अध्यापक से व्याकरण भी पढ़।*

*सिद्धि-(१) **अत्र।** एतद्+ङि+त्रल्। अश्+त्र। अ+त्र। अत्र।*

*यहां एतद् शब्द से **'सप्तम्यास्त्रल्'** (५।३।१०) से त्रल् प्रत्यय है। इस त्रल् प्रत्यय के परे होने पर इस सूत्र से अन्वादेश विषय में 'एतद्' के स्थान में 'अश्' सर्वादेश होता है। यह अश् आदेश तथा त्रल् प्रत्यय अनुदात्त होते हैं।*

*(२) **अतः।** एतद्+ङसि+तसिल्। अश्+तस्। अ+तस्। अ+तः। अतः।*

*यहां 'एतद्' शब्द से **'पञ्चम्यास्तसिल्'** (५।३।७) से तसिल् प्रत्यय है। शेष कार्य 'अत्र' के समान हैं।*

*विशेष-एतद् के स्थान में **'एतदोऽश्'** (५।३।५) से अश् आदेश सिद्ध था, अनुदात्त स्वर के लिये यहां अश् आदेश का विधान किया गया है।*

इदम्, एतद् (एन)-

(३) द्वितीयाटौस्स्वेनः।३४।

प०वि०-द्वितीया-टौ-ओसुसु ७।३ एनः १।१।

स०-द्वितीया च टा च ओस् च ते-द्वितीयाटौसः, तेषु-द्वितीयाटौस्सु (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-'इदमः' इति मण्डुकप्लुत्याऽनुवर्तते। अन्वादेशे, अनुदात्त एतद् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-इदम् एतदश्चैनोऽनुदात्तो द्वितीयाटौस्सु।

अर्थः-(१) इदम् (द्वितीया) आदेशवाक्यम्-इमं छात्रं छन्दोऽध्यापय। **अन्वादेशवाक्यम्**-अथो एनं व्याकरणमप्यध्यापय। **टा-आदेशवाक्यम्**-अनेन छात्रेण रात्रिरधीता। **अन्वादेशवाक्यम्**-अथो एतेनाहरप्यधीतम्। **ओस्-आदेशवाक्यम्**-अनयोश्छात्रयोः शोभनं शीलम्। **अन्वादेशवाक्यम्**-अथो एनयोः प्रभूतं स्वम्।

(२) एतद् (द्वितीया) आदेशवाक्यम्-एतं छात्रं छन्दोऽध्यापय। **अन्वादेशवाक्यम्**-अथो एनं व्याकरणमप्यध्यापय। **टा-आदेशवाक्यम्**-एतेन छात्रेण रात्रिरधीता। **अन्वारदेशवाक्यम्**-अथो एनेनाहरप्यधीतम्। **ओस्-आदेशवाक्यम्**-एतयोश्छात्रयोः शोभनं शीलम्। **अन्वादेशवाक्यम्**-अथो एनयोः प्रभूतं स्वम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(अन्वादेशे) अनुकथन विषयक (इदमः) इदम् शब्द के स्थान में (एतदः) एतद् शब्द के स्थान में (एनः) एन-आदेश होता है और वह (अनुदात्तः) अनुदात्त होता है (द्वितीयाटौस्सु) द्वितीया विभक्ति, टा और ओस् प्रत्यय परे होने पर।

*उदा०-(१) इदम् (द्वितीया) आदेशवाक्य-**इमं छात्रं छन्दोऽध्यापय।** तू इस छात्र को छन्दशास्त्र पढ़ा। अन्वादेशवाक्य-**अथो एनं व्याकरणमप्यध्यापय।** और तू इसे व्याकरणशास्त्र भी पढ़ा। टा-आदेशवाक्य-**अनेन छात्रेण रात्रिरधीता।** इस छात्र ने सारी रात पढ़ा। अन्वादेशवाक्य-**अथो एनेनाहरप्यधीतम्।** और इसने सारा दिन भी पढ़ा। ओस्-आदेशवाक्य-**अनयोश्छात्रयोः शोभनं शीलम्।** इन दो छात्रों का स्वभाव अच्छा है। अन्वादेशवाक्य-**अथो एनयोः प्रभूतं स्वम्।** और इन दोनों के पास पर्याप्त धन भी है।*

*(२) एतद् (द्वितीया) आदेशवाक्य-एतं छात्रं छन्दोऽध्यापय। अन्वादेशवाक्य-**अथो एनं व्याकरणमप्यध्यापय।** टा-आदेशवाक्य-अनेन छात्रेण रात्रिरधीता। अन्वारदेशवाक्य-**अथो अनेनाहरप्यधीतम्।** ओस्-आदेशवाक्य-**एतयोश्छात्रयोः शोभनं शीलम्।** अन्वादेशवाक्य-**अथो एनयोः प्रभूतं स्वम्।** इन वाक्यों का अर्थ पूर्ववत् है।*

*सिद्धि-(१) **एनम्।** इदम्+अम्। एन+अम्। एनम्।*

यहां द्वितीया विभक्ति के अम् प्रत्यय परे होने पर 'इदम्' शब्द के स्थान में अन्वादेश विषय में एन-आदेश है।

(२) एनेन। इदम्+टा। एन+इन। एनेन।

यहां टा-प्रत्यय परे होने पर पूर्ववत् एन-आदेश है।

(३) एनयो:। इदम्+ओस्। एन+ओस्। एने+ओस्। एनयो।

यहां ओस् प्रत्यय के परे होने पर पूर्ववत् एन-आदेश होता है।

(४) एतद् शब्द के स्थान पर जो एन-आदेश होता है उसकी सिद्धि भी ऐसे ही समझें।

आर्धधातुकप्रकरणम्

आर्धधातुकाधिकार:–

(१) आर्धधातुके।३५।

वि०–आर्धधातुके ७।१, विषयसप्तम्येषा।

अर्थ:–'आर्धधातुके' इत्यधिकारोऽयम्, **'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनिलुगणिञो:'** (२।४।५८) यावत्। यदित ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामस्तदार्धधातुके विषये तद् वेदितव्यम्। यथास्थानमुदाहरिष्याम:।

*आर्यभाषा-अर्थ-(आर्धधातुके) आर्धधातुके इसका **'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनिलुगणिञो:'** (२।४।५८) सूत्र तक अधिकार है। पाणिनिमुनि इससे आगे जो कहेंगे उसे आर्धधातुक विषय में जानें। इसके उदाहरण यथास्थान दिये जायेंगे।*

*विशेष-(१) आर्धधातुक-धातु से सार्वधातुक और आर्धधातुक नामक दो प्रकार के प्रत्यय होते हैं। **'तिङ्शित् सार्वधातुकम्'** (३।४।११३) जो तिङ् और शित् प्रत्यय हैं, उन्हें सार्वधातुक कहते हैं। तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महिङ् इन १८ प्रत्ययों को तिङ् कहते हैं। जिन प्रत्ययों का श् इत् (लोप) हो जाता है उन 'शप्' आदि प्रत्ययों को शित् कहते हैं। **'आर्धधातुकं शेष:'** (३।४।११४) तिङ् और शित् से भिन्न तव्यत् आदि प्रत्ययों का नाम आर्धधातुक है।*

(२) विषय सप्तमी-व्याकरणशास्त्र में निमित्त सप्तमी, परसप्तमी और विषय सप्तमी ये तीन प्रकार की सप्तमी विभक्तियां हैं। यहां 'आर्धधातुके' विषय सप्तमी है। आर्धधातुक विषय की विवक्षा होने पर वक्ष्यमाण कार्य हो जाते हैं, तत्पश्चात् उससे यथाप्राप्त प्रत्यय होते हैं।

अद् (जग्धि)–

(२) अदो जग्धिर्ल्यप् ति किति।३६।

प०वि०–अद: ६।१ जग्धि: १।१ ल्यप् ७।१ लुप्त-सप्तम्येषा, ति ७।१ किति ७।१।

स०-क् इत् यस्य स कित्, तस्मिन्-किति (बहुव्रीहिः)।

अनु०-आर्धधातुके इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अदो जग्धिर्ल्यपि ति किति चार्धधातुके।

अर्थः-अदः स्थाने जग्धिरादेशो भवति, ल्यपि प्रत्यये, तकारादौ च किति आर्धधातुके विषये।

उदा०-(१) **ल्यपि**-प्रजग्ध्य। विजग्ध्य। (२) **ति किति**-जग्धः। जग्धवान्।

आर्यभाषा-अर्थ-*(अदः) अद् धातु के स्थान में (जग्धिः) जग्धि आदेश होता है, (ल्यप्) ल्यप् प्रत्यय और (ति किति) तकारादि कित् प्रत्यय सम्बन्धी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।*

*उदा०-(१) **ल्यप् प्रत्यय-प्रजग्ध्य।** खूब खाकर। **विजग्ध्य।** विशेष खाकर। (२) तकारादि कित् **प्रत्यय-जग्धः।** खाया। **जग्धवान्।** खाया।*

सिद्धि-(१) प्रजग्ध्य। *प्र+अद्+क्त्वा। प्र+जग्ध्+ल्यप्। प्र+जग्ध्+य। प्रजग्ध्य।*

*यहां प्र उपसर्गपूर्वक **'अद भक्षणे'** (अदा०प०) धातु से **'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले'** (३।४।२१) से क्त्वा प्रत्यय है। **'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्'** (७।१।३७) से क्त्वा प्रत्यय के स्थान में ल्यप् आदेश होता है। आर्धधातुक ल्यप् प्रत्यय के विषय में इस सूत्र से अद् धातु के स्थान में जग्धि आदेश होता है। ऐसे ही-**विजग्ध्य।***

*(२) **जग्धः।** अद्+क्त। अग्ध्+त। जग्ध्+ध। जग्द्+ध। जग्०+ध। जग्ध+सु। जग्धः।*

*यहां **'अद् भक्षणे'** (अदा०प०) धातु से **'निष्ठा'** (३।२।१०२) से भूतकाल में क्त-प्रत्यय है। यह प्रत्यय तकारादि कित् है। इस आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से अद् धातु के स्थान में जग्धि आदेश होता है।*

*यहां **'झषस्तथोर्धोऽधः'** (८।२।४०) से क्त के त को ध, **'झलां जश् झशि'** (८।४।५३) से पूर्व ध् को द् और **'झरो झरि सवर्णे'** (८।४।६५) से द् का लोप हो जाता है। ऐसे ही आर्धधातुक क्तवतु प्रत्यय विषय में 'जग्धवान्' सिद्ध करें।*

अद् (घस्लृ)-

(३) लुङ्सनोर्घस्लृ।३७।

प०वि०-लुङ्-सनोः ७।२ घस्लृ १।१।

स०-लुङ् च सन् च तौ लुङ्सनौ, तयोः-लुङ्सनोः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०-आर्धधातुके, अद इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अदो घस्लृ लुङ्सनोरार्धधातुकयोः।

अर्थः-अदः स्थाने घस्लृ-आदेशो भवति, लुङि सनि चार्धधातुके विषये।

उदा०-(१) लुङ् -अघसत्। अघसताम्। अघसन्। (२) **सन्**-जिघत्सति। जिघत्सतः। जिघत्सन्ति।

आर्यभाषा-अर्थ-(अदः) अद् धातु के स्थान में (घस्लृ) घस्लृ आदेश होता है (लुङ्सनोः) लुङ् और सन् प्रत्यय सम्बन्धी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।

*उदा०-(१) लुङ् -**अघसत्**। उसने खाया। **अघसताम्**। उन दोनों ने खाया। **अघसन्**। उन सबने खाया। (२) सन्-**जिघत्सति**। वह खाना चाहता है। **जिघत्सतः**। वे दोनों खाना चाहते हैं। **जिघत्सन्ति**। वे सब खाना चाहते हैं।*

*सिद्धि-(१) **अघसत्**। अद्+लुङ्। अद्+घस्लृ+च्लि+लुङ्। अ+घस्+अङ्+तिप्। अ+घस्+अ+त्। अघसत्।*

*यहां **'अद् भक्षणे'** (अदा०प०) धातु से भूतकाल में **'लुङ्'** (३।२।११०) से लुङ् प्रत्यय है। लुङ् आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से अद् धातु के स्थान में घस्लृ आदेश होता है। **'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु'** (३।१।५५) से च्लि के स्थान में अङ् आदेश होता है।*

*(२) **जिघत्सति**। अद्+सन्। घस्लृ+सन्। घस्+स। घस्+घस्+स। घ+घस्+स। घि+घत्+स। झि+घत्+स। जि+घत्+स। जिघत्स+लट्। जिघत्स+शप्+तिप्। जिघत्स+अ+ति। जिघत्सति।*

*यहां **'अद् भक्षणे'** (अदा०प०) धातु से **'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा'** (३।१।७) से इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय है। सन् सम्बन्धी आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से अद् धातु के स्थान में 'घस्लृ' आदेश होता है। **'सन्यङोः'** (६।१।९) से घस् को द्वित्व, **'सः स्यार्धधातुके'** (७।४।४९) से घस् के सकार को तकार, **'सन्यतः'** (७।४।७९) से अभ्यास के अकार को इकार **'कुहोश्चुः'** (७।४।६२) से अभ्यास के घकार को झकार और **'अभ्यासे चर्च'** (८।४।५८) से अभ्यास के झकार को 'जश्' जकार आदेश होता है। **'जिघत्स'** की **'सनाद्यन्ता धातवः'** (३।२।३२) से धातु संज्ञा होकर उससे **'वर्तमाने लट्'** (३।२।१२२) से लट् प्रत्यय होता है।*

अद् (घस्लृ)-

(४) घञपोश्च।३८।

प०वि०-घञ्-अपोः ७।२। च अव्ययपदम्।

स०-घञ् च अप् च तौ घञपौ, तयोः-घञपोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-आर्धधातुके, अदः, घस्लृ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अदो घस्लृ घञपोरार्धधातुकयोः।

अर्थः-अदः स्थाने घस्लृ-आदेशो भवति, घञि अपि चार्धधातुके विषये।

उदा०-(१) **घञ्**-घासः। (२) **अप्**-प्रघसः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अदः) अद् धातु के स्थान में (घस्लृ) घस्लृ आदेश होता है (घञपोः) घञ् और अप् प्रत्यय सम्बन्धी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।

उदा०-(१) घञ्-घासः। खाना। (२) अप्-प्रघसः। प्रकृष्ट खाना।

सिद्धि-(१) घासः। अद्+घञ्। घस्लृ+घ। घस्+अ। घास्+अ। घास+सु। घासः।

यहां 'अद् भक्षणे' (अदा०प०) धातु से 'भावे' (३।३।१८) से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय है। घञ् आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से अद् धातु के स्थान में घस्लृ आदेश होता है। 'अत उपधायाः' (७।२।११६) से उपधा वृद्धि होती है।

(२) प्रघसः। प्र+अद्+अप्। प्र+घस्लृ+अ। प्र+घस्+अ। प्रघस्+सु। प्रघसः।

यहां 'अद् भक्षणे' (अदा०प०) धातु से 'उपसर्गेऽदः' (३।३।५९) से भाव अर्थ में अप् प्रत्यय है। अप् आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से अद् धातु के स्थान में घस्लृ आदेश होता है।

अद् वा (घस्लृ)-

(५) बहुलं छन्दसि।३६।

प०वि०-बहुलम् १।१ छन्दसि ७।१।

अनु०-आर्धधातुके अदः, घस्लृ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि अदो बहुलं घस्लृ आर्धधातुके।

अर्थः-छन्दसि विषयेऽदः स्थाने बहुलं घस्लृ-आदेशो भवति, आर्धधातुके विषये।

उदा०-घस्लृ-आदेशः-घस्तां नूनम्। सग्धिश्च मे। **न च घस्लृ-आदेशः**-आत्तामद्य मध्यत मेद उद्भृतम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(छन्दसि) वेदविषय में (अदः) अद् धातु के स्थान में (बहुलम्) विकल्प से (घस्लृ) घस्लृ आदेश होता है (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।

उदा०-घस्लृ आदेश-घस्तां नूनम् (यजु० २१।४३)। सग्धिश्च मे (यजु० १८।९)। घस्लृ आदेश नहीं-अत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतम्।

सिद्धि-(१) घस्ताम्। इद्+लुङ्। घस्लृ+च्लि+लुङ्। घस्+०+तस्। घस्+ताम्। घस्ताम्।

*यहां **'अद् भक्षणे'** (अदा०प०) धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से भूतकाल में लुङ् प्रत्यय, 'च्लि लुङि' (३।१।४३) से च्लि प्रत्यय, इस आर्धधातुक प्रत्यय के विषय में इस सूत्र से अद् धातु के स्थान में घस्लृ आदेश होता है। **'मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः'** (२।४।८०) से 'च्लि' प्रत्यय का लुक् है। **'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः'** (३।४।१०१) से 'तस्' के स्थान में 'ताम्' आदेश है। **बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि'** (६।४।७५) से 'लुङ्' में 'अट्' आगम नहीं होता है। **घस्ताम्**-उन दोनों ने भोजन किया।*

*(२) **सग्धिः।** अद्+क्तिन्। घस्लृ+ति। घस्+ति। घ्स्+ति। घ्स्+धि। घ्०+धि। ग्+धि। ग्धि+सु। ग्धिः। समानाग्धिरिति सग्धिः।*

*यहां **'अद् भक्षणे'** (अदा०प०) धातु से **'स्त्रियां क्तिन्'** (३।३।९४) से भाव अर्थ में क्तिन् प्रत्यय है। इस आर्धधातुक प्रत्यय के विषय में इस सूत्र से अद् धातु के स्थान में घस्लृ आदेश है। **'घसिभसोर्हलि च'** (६।४।१००) से घस्लृ धातु का उपधा-लोप, **झषस्तथोर्धोऽधः'** (८।२।४०) से प्रत्यय के तकार को धकार, **'झलो झलि'** (८।२।२६) से घस् धातु के सकार का लोप, **'झलां जश् झशि'** (८।४।५३) से धातु के घकार को जश् गकार होता है। तत्पश्चात् **'पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च'** (२।१।५८) से कर्मधारयतत्पुरुष समास होता है। **'समानस्य च्छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु'** ६।३।८४) से छन्द में समान के स्थान में स-आदेश होता है। सग्धिः=समान भोजन।*

*(३) **आत्ताम्।** अद्+लुङ्। आट्+अद्+च्लि+लुङ्। आ+अद्+सिच्+तस्। आ+अद्+०+ताम्। आ+अत्+ताम्। आत्ताम्।*

*यहां **'अद् भक्षणे'** (अदा०प०) धातु से 'लुङ्' (३।२।१२०) से भूतकाल में लुङ् प्रत्यय, **'आडजादीनाम्'** (६।४।७२) से धातु को आट् आगम, **'च्लि लुङि'** (३।१।४३) से 'च्लि' प्रत्यय, **'च्लेः सिच्'** (३।१।४४) से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश, **'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः'** (३।४।१०१) से तस् के स्थान में ताम् आदेश **'झलो झलि'** (८।२।२६) से 'च्लि' के स् का लोप और **'खरि च'** (८।४।५५) से धातुस्थ दकार को तकार आदेश होता है। यहां बहुल करके अद् के स्थान में घस्लृ आदेश नहीं होता है। आत्ताम्=उन दोनों ने भोजन किया।*

अद् (वा घस्लृ)-

(६) लिट्यन्यतरस्याम्।४०।

प०वि०-लिटि ७।१ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

अनु०-आर्धधातुके, अदः, घस्लृ इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अदोऽन्यतरस्यां घस्लृ लिटि आर्धधातुके।

अर्थः-अदः स्थाने विकल्पेन घस्लृ-आदेशो भवति, लिटि आर्धधातुके विषये।

उदा०-(१) घस्लृ-आदेशः-जघास। जक्षतुः। जक्षुः। **(२) न च घस्लृ-आदेशः**-आद। आदतुः। आदुः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अदः) अद् धातु के स्थान में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (घस्लृ) घस्लृ आदेश होता है (लिटि) लिट्लकार सम्बन्धी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।

*उदा०-**(१) घस्लृ आदेश-जघास।** उसने भोजन किया। **जक्षतुः।** उन दोनों ने भोजन किया। **जक्षुः।** उन सबने भोजन किया। **(२) घस्लृ आदेश नहीं-आद। आदतुः। आदुः।** अर्थ पूर्ववत् है।*

*सिद्धि-**(१) जघास।** अद्+लिट्। घस्लृ+तिप्। घस्+णल्। घस्+घस्+अ। घ+घस्+अ। ज+घास्+अ। जघास।*

*यहां **'अद भक्षणे'** (अदा०प०) धातु से **'परोक्षे लिट्'** (३।२।११५) से लिट् प्रत्यय, **'परस्मैपदानां णलतुसुस०'** (३।४।८२) से तिप् के स्थान में णल् आदेश, **'लिटि धातोरनभ्यासस्य'** (६।१।८) से धातु का द्वित्व, **'अत उपधायाः'** (७।२।११६) धातु को उपधावृद्धि और **'कुहोश्चुः'** (७।४।६२) से धातु के अभ्यास घकार को जकार आदेश होता है। यहां लिट् आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से अद् धातु के स्थान में घस्लृ आदेश है।*

*(२) **आद।** अद्+लिट्। अद्+तिप्। अद्+णल्। अद्+अद्+अ। अ+आद्+अ। आद।*

यहां विकल्प पक्ष में लिट्सम्बन्धी आर्धधातुक विषय में अद् धातु के स्थान में घस्लृ आदेश नहीं है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

वेञ् (वा वयिः)-

(७) वेञो वयिः।४१।

प०वि०-वेञः ६।१ वयिः १।१।

अनु०-आर्धधातुके लिटि, अन्यतरस्याम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-वेञोऽन्यतरस्यां वयिर्लिटि आर्धधातुके।

अर्थः-वेञः स्थाने विकल्पेन वयिरादेशो भवति, लिटि आर्धधातुके विषये।

उदा०-(१) वयि-आदेशः-उवाय। ऊयतुः। ऊयुः।। ऊवतुः। ऊवुः। **न च वयि-आदेशः**-ववौ। ववतुः। ववुः।

आर्यभाषा-अर्थ-(विज:) वेञ् धातु के स्थान में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (वयि:) वयि आदेश होता है (लिटि) लिट्लकार सम्बन्धी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।

*उदा०-(१) **वयि आदेश:-उवाय।** उसने कपड़ा बुना। **ऊयतु:।** उन दोनों ने कपड़ा बुना। **ऊयु:।** उन सबने कपड़ा बुना। **अथवा-ऊवतु:।** उन दोनों ने कपड़ा बुना। **ऊवु:।** उन सबने कपड़ा बुना। (२) वयि आदेश **नहीं-ववौ।** **ववतु:।** **ववु:।** अर्थ पूर्ववत् है।*

***सिद्धि-(१) उवाय।** वेञ्+लिट्। वा+तिप्। वय्+णल्। वय्+अ। वय्+वय्+अ। व+वाय्+अ। उ+वाय्+अ। उवाय।*

*यहां 'वेञ् **तन्तुसन्ताने**' (भ्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् लिट्लकार। इस सूत्र से लिट्सम्बन्धी आर्धधातुक विषय में वेञ् धातु के स्थान में वयि आदेश है। **'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्'** (६।१।१७) से धातु के अभ्यास को सम्प्रसारण और **'सम्प्रसारणाच्च'** (४।१।१०६) से पूर्वरूप होता है। 'अत: उपधाया:' (७।२।११६) से धातु को उपधावृद्धि होती है। **'लिटि वयो य:'** (६।१।३८) से वय् के य् का सम्प्रसारण नहीं होता है।*

*(२) **ऊवतु:।** वेञ्+लिट्। वा+तस्। वय्+अतुस्। उव्+अतुस्। उव्+उव्+अतुस्। उ+उव्+अतुस्। ऊवतु:।*

*यहां **'वश्चान्यतरस्यां किति'** (६।१।३९) से वय् धातु के य् को लिट् कित् विषय में विकल्प से व् आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही उस् में-**ऊवु:।***

*(३) **ववौ।** वेञ्+लिट्। वा+तिप्। वा+णल्। वा+अ। वा+वा+औ। व+वा+औ। ववौ।*

*यहां विकल्प पक्ष में वेञ् धातु के स्थान में वयि आदेश नहीं हुआ। **'आत औ णल:'** (७।१।३४) से 'णल्' के स्थान में औ-आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

हन् (वध)-

(८) हनो वध लिङि।४२।

प०वि०-हन: ६।१ वध १।१ लिङि ७।१।

अनु०-आर्धधातुके इत्यनुवर्तते।

अन्वय:-हनो वध लिङि आर्धधातुके।

अर्थ:-हन: स्थाने वध-आदेशो भवति, लिङि आर्धधातुके विषये। वध इत्यकारान्तोऽयमादेश:।

उदा०-वध्यात्। वध्यास्ताम्। वध्यासु:।

आर्यभाषा-अर्थ-(हनः) हन् धातु के स्थान में (वध) वध आदेश होता है (लिङि) लिङ्लकार सम्बन्धी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में। 'वध' यह अकारान्त आदेश है।

*उदा०-**वध्यात्।** वह वध करे। **वध्यास्ताम्।** वे दोनों वध करें। **वध्यासुः।** वे सब वध करें। वध=मारना।*

*सिद्धि-**वध्यात्।** हन्+लिङ्। वध+यासुट्+तिप्। वध्+या+त्। वध्यात्।*

*यहां **'हन् हिंसागत्योः'** (अदा०प०) धातु से **'आशिषि लिङ्लोटौ'** (३।३।१७३) से आशीर्वाद अर्थ में लिङ् प्रत्यय और इस सूत्र से हन् के स्थान में वध आदेश है। **'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च'** (३।४।१०३) से यासुट् आगम, **'किदाशिषि'** (३।४।१०४) से कित्त्व, **'अतो लोपः'** (६।४।४८) से आर्धधातुक विषय में वध के अकार का लोप, **'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च'** (८।२।२९) से यासुट् के सकार का लोप होता है। **'लिङाशिषि'** (३।४।११६) से 'आशीर्लिङ्' आर्धधातुक होता है।*

हन् (वध)–

(६) लुङि च।४३।

प०वि०-लुङि ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-आर्धधातुके हनः, वध इति चानुवर्तते।

अन्वयः-हनो वधो लुङि आर्धधातुके।

अर्थः-हनः स्थाने वध-आदेशो भवति, चा लुङि चार्धधातुके विषये।

उदा०-अवधीत्। अवधिष्टाम्। अवधिषुः।

आर्यभाषा-अर्थः-(हनः) हन् धातु के स्थान में (वध) वध आदेश होता है, (लुङि) लुङ् सम्बन्धी (च) भी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।

*उदा०-**अवधीत्।** उसने वध किया। **अवधिष्टाम्।** उन दोनों ने वध किया। **अवधिषुः।** उन सबने वध किया।*

*सिद्धि-**अवधीत्।** हन्+लुङ्। अट्+वध्+च्लि+लुङ्। अ+वध+सिच्+तिप्। अ+वध्+इट्+स्+ईट्+त्। अ+वध्+इ+व+ई+त्। अवधीत्।*

*यहां **'हन् हिंसागत्योः'** (अदा०प०) धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से भूतकाल में लुङ् प्रत्यय और इस सूत्र से आर्धधातुक विषय में वध आदेश होता है। **'अतो लोपः'** (६।४।४८) से वध के अकार का लोप और उसके स्थानिवद्भाव से **'वदव्रजहलन्तस्याचः'** (७।२।३) से वध को वृद्धि नहीं होती है। **'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'** (७।२।३५) से सिच् को इट् आगम, **'अस्तिसिचोऽपृक्ते'** (७।३।९६) से तिप् को ईट् आगम और **'इट ईटि'** (७।२।२८) से सिच् के सकार का लोप होता है।*

हन् (वा वध)–

(१०) आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्।४४।

प०वि०–आत्मनेपदेषु ७।३ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्।

अनु०–आर्धधातुके, हनः, वध, लुङि इति चानुवर्तते।

अन्वयः–हनोऽन्यतरस्यां वध आत्मनेपदेषु लुङि आर्धधातुके।

अर्थः–हनः स्थाने विकल्पेन वध-आदेशो भवति, आत्मनेपदेषु प्रत्ययेषु परतः, लुङि आर्धधातुके विषये।

उदा०–**वध-आदेशः**–आवधिष्ट। आवधिषाताम्। आवधिषत। **न च वध-आदेशः**–आहत। आहसाताम्। आहसत।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(हनः) हन् धातु के स्थान में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (वध) वध आदेश होता है (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद प्रत्यय परे होने पर (लुङि) लुङ्लकार सम्बन्धी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।

उदा०–वध–आदेश–__आवधिष्ट।__ उसने आघात=धक्का दिया। __आवधिष्टाम्।__ उन दोनों ने धक्का दिया। __आवधिषत।__ उन सब ने धक्का दिया। (२) वध आदेश नहीं–__आहत। आहसाताम्। आहसत।__ अर्थ पूर्ववत् है।

__सिद्धि–अवधिष्ट।__ आङ्+हन्+लुङ्। आ+अट्+वध्+च्लि+लुङ्। आ+अ+वध्+सिच्+त। आ+वध्+इट्+स्+त। आ+वध्+इ+ष्+ट। आवधिष्ट।

यहां 'हन् हिंसागत्योः' (अदा०प०) धातु से __'आङो यमहनः'__ (१।३।२८) से आङ्पूर्वक होने से आत्मनेपद और इस सूत्र से आत्मनेपद लुङ्लकारसम्बन्धी आर्धधातुक विषय में हन् के स्थान में वध आदेश होता है। __'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'__ (७।२।३५) से सिच् को इट् आगम, __'आदेशप्रत्यययोः'__ (८।३।५९) से सिच् को षत्व और __'ष्टुना ष्टुः'__ (८।४।४१) से टुत्व=त को ट होता है।

(२) __आहत।__ आङ्+हन्+लुङ्। आ+अट्+हन्+च्लि+लुङ्। आ+अ+हन्+सिच्+त। आ+ह+०+स्+त। आ+ह+०+त। आहत।

यहां हन् धातु के स्थान में विकल्प पक्ष में इस सूत्र से वध आदेश नहीं है। __'हनः सिच्'__ (१।२।१४) से सिच् प्रत्यय कित् होकर __'अनुदात्तोपदेशवनति-तनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति'__ (६।४।३४) से अनुनासिक का लोप और __'ह्रस्वादङ्गात्'__ (८।२।२७) से सिच् के सकार का लोप होता है।

इण् (गा)–

(११) इणो गा लुङि।४५।

प०वि०–इणः ६।१ गा १।१ लुङि ७।१।

अनु०–आर्धधातुके इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–इणो गा लुङि आर्धधातुके।

अर्थः–इणः स्थाने गा-आदेशो भवति, लुङि आर्धधातुके विषये।

उदा०–अगात्। अगाताम्। अगुः।

__आर्यभाषा-अर्थ–__(इणः) इण् धातु के स्थान में (गा) आदेश होता है (लुङि) लुङ्लकार सम्बन्धी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।

उदा०–__अगात्।__ वह गया। __अगाताम्।__ वे दोनों गये। __अगुः।__ वे सब गये।

__सिद्धि–अगात्।__ इण्+लुङ्। अट्+गा+च्लि+लुङ्। अ+गा+सिच्+तिप्। अ+गा+स्+त्। अ+गा+०+त्। अगात्।

यहां 'इण् गतौ' (अदा०प०) धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से भूतकाल में लुङ् प्रत्यय और इसके आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से इण् धातु के स्थान में गा आदेश होता है। __'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु'__ (२।४।७७) से 'सिच्' का लुक् हो जाता है।

इण् (गम्)–

(१२) णौ गमिरबोधने।४६।

प०वि०–णौ ७।१ गमिः १।१ अबोधने ७।१।

स०–न बोधनमिति अबोधनम्, तस्मिन्–अबोधने (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०–आर्धधातुके, इण इति चानुवर्तते।

अन्वयः–अबोधने इणो गमिर्णावार्धधातुके।

अर्थः–अबोधनेऽर्थे वर्तमानस्य इणः स्थाने गमिरादेशो भवति, णिचि आर्धधातुके विषये।

उदा०–गमयति। गमयतः। गमयन्ति।

__आर्यभाषा-अर्थ–__(अबोधने) ज्ञान अर्थ से रहित (इणः) इण् धातु के स्थान में (गमि) गमि आदेश होता है (णौ) णिच् प्रत्यय सम्बन्धी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।

*उदा०-**गमयति।** वह भेजता है। **गमयतः।** वे दोनों भेजते हैं। **गमयन्ति।** वे सब भेजते हैं।*

सिद्धि-गमयति। *इण्+णिच्। गम्+इ। गाम्+इ। गम्+इ। गमि+लट्। गमि+शप्+तिप्। गमि+अ+ति। गमे+अ+ति। गमयति।*

*'इण् गतौ' (अदा०प०) यह धातु गत्यर्थक है। गति के ज्ञान, गमन और प्राप्ति ये तीन अर्थ होते हैं। यहां ज्ञान=बोधन अर्थ से रहित इस धातु से '**हेतुमति च**' (३।१।२६) णिच् प्रत्यय और इस आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से 'इण्' के स्थान में 'गमि' आदेश होता है। गम् से णिच् प्रत्यय परे होने पर '**अत उपधायाः**' (७।२।११६) से 'गम्' की उपधावृद्धि होती है। णिच् प्रत्यय परे रहने पर '**मितां ह्रस्वः**' से 'गाम्' की उपधा को ह्रस्व हो जाता है। '**घटादयो मितः**' इस धातुपाठस्थ गणसूत्र से घटादि धातु मित् हैं, किन्तु गम् धातु '**जनीजृष्क्नुसुरञ्जोऽमन्ताश्च**' (धा०पा० गणसूत्र) से अमन्त होने से मित् है। णिजन्त गमि धातु से '**वर्तमाने लट्**' (३।२।१२३) से लट् प्रत्यय है।*

इण् (गम्)–

(१३) सनि च।४७।

प०वि०-सनि ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०-आर्धधातुके, इणः, गमिः, अबोधने इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अबोधने इणो गमिः सनि चार्धधातुके।

अर्थः-अबोधनेऽर्थे वर्तमानस्य इणः स्थाने गमिरादेशो भवति, सनि चार्धधातुके विषये।

उदा०-जिगमिषति। जिगमिषतः। जिगमिषन्ति।

आर्यभाषा-अर्थ- *(अबोधने) ज्ञान अर्थ से रहित (इणः) इण् धातु के स्थान में (गमिः) गमि आदेश होता है (सनि) सन् प्रत्यय सम्बन्धी (च) भी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।*

*उदा०-**जिगमिषति।** वह जाना चाहता है। **जिगमिषतः।** वे दोनों जाना चाहते हैं। **जिगमिषन्ति।** वे सब जाना चाहते हैं।*

सिद्धि-जिगमिषति। *इण्+सन्। गम्+स। गम्+गम्+स। ग+गम्+इट्+स। गि+गम्+इ+स। जि+गम्+इ+ष। जिगमिष+लट्। जिमिष+शप्+तिप्। जिगमिष+अ+ति। जिगमिषति।*

*यहां ज्ञान अर्थ से रहित '**इण् गतौ**' (अदा०प०) धातु से '**धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा**' (३।१।७) से सन् प्रत्यय और इस आर्धधातुक विषय में*

*इस सूत्र से 'इण्' धातु के स्थान में 'गम्' आदेश होता है। **'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'** (७।२।३५) से सन् प्रत्यय को इट् आगम, 'सन्यतः' (७।४।७९) से अभ्यास के अ को इ, 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से अभ्यास के ग् को ज् और 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से सन् प्रत्यय के स को ष होता है। **'जिगमिष'** इस सनाद्यन्त धातु से **'वर्तमाने लट्'** (३।२।१२३) से वर्तमान काल में लट् प्रत्यय है।*

इङ् (गम्)–

(१४) इङश्च।४८।

प०वि०–इङः ६।१ च अव्ययपदम्।

अनु०–आर्धधातुके गमिः, सनि इति चानुवर्तते।

अन्वयः–इङश्च गमिः सनि आर्धधातुके।

अर्थः–इङः स्थाने च गमिरादेशो भवति, सनि आर्धधातुके विषये। इङ् धातुरयं नित्यमधिपूर्वः।

उदा०–अधिजिगांसते। अधिजिगांसेते। अधिजिगांसन्ते।

आर्यभाषा–अर्थ– *(इङः) इङ् धातु के स्थान में (च) भी (गमिः) गमि आदेश होता है (सनि) सन् प्रत्यय सम्बन्धी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।*

*उदा०–**अधिजिगांसते।** वह पढ़ना चाहते हैं। **अधिजिगांसेते।** वे दोनों पढ़ना चाहते हैं। **अधिजिगांसन्ते।** वे सब पढ़ना चाहते हैं।*

सिद्धि–अधिजिगांसते। *अधि+इङ्+सन्। अधि+गम्+स। अधि+गम्+गम्+स। अधि+ग+गम्+स। अधि+गि+गम्+स। अधि+जि+गाम्+स। अधिजिगांस+लट्। अधिजिगांस+शप्+त। अधिजिगांस+अ+ते। अधिजिगांसते।*

*'**इङ् अध्ययने**' (अदा०प०) यह धातु नित्य अधि उपसर्गपूर्व है। आर्धधातुक सन् प्रत्यय के विषय में इस सूत्र से 'इङ्' के स्थान में 'गम्' आदेश हाता है। **'सन्यतः'** (७।४।७९) से अभ्यास के 'अ' को 'इ' और 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से अभ्यास के 'ग्' को 'ज्' होता है। सन् प्रत्यय परे होने पर **'अज्झनगमां सनि'** (६।४।२६) से 'गम्' धातु को दीर्घ होता है। **'अधिजिगांस'** इस सनाद्यन्त धातु से **'वर्तमाने लट्'** (३।२।१२३) से वर्तमानकाल में लट् प्रत्यय है। यहां **'पूर्ववत् सनः'** (१।४।६२) से आत्मनेपद होता है।*

इङ् (गाङ्)–

गाङ् लिटि।४६।

प०वि०–गाङ् १।१ लिटि ७।१।

अनु०–आर्धधातुके, इङः इति चानुवर्तते।

अन्वयः-इङो गाङ् लिटि आर्धधातुके।

अर्थः-इङः स्थाने गाङ् आदेशो भवति, लिटि आर्धधातुके विषये।

उदा०-अधिजगे। अधिजगाते। अधिजगिरे।

आर्यभाषा-अर्थ-(इङः) इङ् धातु के स्थान में (गाङ्) गाङ् आदेश होता है (लिटि) लिट्लकारसम्बन्धी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।

*उदा०-**अधिजगे।** उसने पढ़ा। **अधिजगाते।** उन दोनों ने पढ़ा। **अधिजगिरे।** उन सबने पढ़ा।*

*सिद्धि-**अधिजगे।** अधि+इङ्+लिट्। अधि+गाङ्+त। अधि+गा+गा+एश्। अधि+ज+ग्०+ए। अधिजगे।*

*यहां नित्य अधिपूर्व 'इङ् अध्ययने' (अदा०प०) धातु से **'परोक्षे लिट्'** (३।२।११५) से अनद्यतन परोक्ष भूतकाल में लिट् प्रत्यय है। **'लिट् च'** (३।४।११५) से लिट् प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा होती है। लिट् आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से 'इङ्' धातु के स्थान में 'गाङ्' आदेश होता है। **'ह्रस्वः'** (७।४।५९) से अभ्यास के गा को ह्रस्व, **'कुहोश्चुः'** (७।४।६२) से अभ्यास के 'ग्' को 'ज्' होता है। **'आतो लोप इटि च'** (६।४।६४) से गा के आ का लोप हो जाता है। **लिटस्तझयोरेशिरेच्'** (३।४।८१) से त प्रत्यय के स्थान में एश् आदेश होता है।*

इङ् (वा गाङ्)-

(१५) विभाषा लुङ्लृङोः।५०।

प०वि०-विभाषा १।१ लुङ-लृङोः ७।२।

स०-लुङ् च लृङ् च तौ लुङ्लृङौ, तयोः-लुङ्लृङोः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०-आर्धधातुके, इङः गाङ् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-इङो विभाषा गाङ् लुङलृङोरार्धधातुकयोः।

अर्थः-इङः स्थाने विकल्पेन गाङ् आदेशो भवति लुङि लृङि चार्धधातुके विषये।

उदा०-(१) (लुङ्) **गाङ्-आदेशः**-अध्यगीष्ट। अध्यगीषाताम्। अध्यगीषत। **न च गाङ्-आदेशः**-अध्यैष्ट। अध्यैषाताम्। अध्यैषत।

(२) (लृङ्) **गाङ्-आदेशः**-अध्यगीष्यत। अध्येगीष्येताम्। **अध्यगीष्यन्त। न च गाङ्-आदेशः-अध्यैष्यत। अध्यैष्येताम्। अध्यैष्यन्त।**

आर्यभाषा-अर्थ-(इङः) इङ् धातु के स्थान में (विभाषा) विकल्प से (गाङ्) गाङ् आदेश होता है (लुङ्लृङोः) लुङ् और लृङ्लकार सम्बन्धी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।

उदा०-(१) लुङ्-गाङ् आदेश-**अध्यगीष्ट।** उसने पढ़ा। **अध्यगीषाताम्।** उन दोनों ने पढ़ा। **अध्यगीषत।** उन सबने पढ़ा। **गाङ् आदेश नहीं-अध्यैष्ट। अध्यैषाताम्। अध्यैषत।** अर्थ पूर्ववत् है।

(२) लृङ्-**गाङ् आदेश-अध्यगीष्यत।** यदि वह पढ़ता। **अध्यगीष्येताम्।** यदि वे दोनों पढ़ते। **अध्यगीष्यन्त।** यदि वे सब पढ़ते। **गाङ्-आदेश नहीं-अध्यैष्यत। अध्यैष्येताम्। अध्यैष्यन्त।** अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-(१) **अध्यगीष्ट।** अधि+इङ्+लुङ्। अधि+अट्+गाङ्+च्लि+लुङ्। अधि+अ+गा+सिच्+त। अधि+अ+गा+स्+त। अधि+अ+गी+ष्+ट। अध्यगीष्ट।

यहां नित्य अधि पूर्व 'इङ् **अध्ययने**' (अ०आ०) धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से सामान्य भूतकाल में 'लुङ्' प्रत्यय है। 'लुङ्' प्रत्ययसम्बन्धी आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से 'इङ्' धातु के स्थान में 'गाङ्' आदेश होता है। '**घुमास्थागापाजहातिसां हलि**' (६।४।६६) से गा को ई-आदेश होता है। '**गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्**' (१।२।१) से 'सिच्' प्रत्यय के ङित् होने से '**सार्वधातुकार्धधातुकयोः**' (७।२।८४) से गुण नहीं होता है। '**आदेशप्रत्यययोः**' (८।३।५९) से 'सिच्' के 'स्' को 'ष्' और '**ष्टुना ष्टुः**' (८।४।४१) से टुत्व='त' प्रत्यय को 'ट' होता है।

(२) **अध्यैष्ट।** अधि+इङ्+लुङ्। अधि+आट्+इ+च्लि+ल्। अधि+औ+सिच्+त। अध्यै+ष्+ट। अध्यैष्ट।

यहां पूर्ववत् लुङ् प्रत्यय, '**आडजादीनाम्**' (६।४।७२) से आट् आगम है। विकल्प पक्ष में इस सूत्र से इङ् के स्थान में गाङ् आदेश नहीं है। '**आटश्च**' (६।१।९०) से वृद्धि होती है। '**आदेशप्रत्यययोः**' (८।३।५९) से 'सिच्' के 'स्' को 'ष्' और '**ष्टुना ष्टुः**' (८।४।४१) से टुत्व='त' प्रत्यय को 'ट' होता है।

(३) **अध्यगीष्यत।** अधि+इङ्+लृङ्। अधि+अट्+गाङ्+स्य+ल्। अधि+अ+गा+स्य+त। अधि+अ+गी+ष्य+त। अध्यगीष्यत।

यहां '**लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ**' (३।३।१३९) से 'लृङ्' प्रत्यय और '**स्यतासीलृलुटोः**' (३।१।३३) से 'स्य' प्रत्यय है। इस 'लृङ्'सम्बन्धी आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से 'इङ्' के स्थान में 'गाङ्' आदेश होता है। पूर्ववत् 'गा' को ई-आदेश तथा गुण नहीं होता है। पूर्ववत् 'स्य' को मूर्धन्य होता है।

(४) **अध्यैष्यत।** अधि+इङ्+लृङ्। अधि+आट्+इ+स्य+ल्। अधि+आ+इ+स्य+त। अध्यै+ष्य+त। अध्यैष्यत।

यहां पूर्ववत् 'लुङ्' प्रत्यय इसके आर्धधातुक विषय के पक्ष में इस सूत्र से 'गाङ्' आदेश नहीं होता है। 'आटश्च' (६।१।९०) से वृद्धि होती है। 'आदेशप्रत्यययो:' (८।३।५९) से 'स्य' को मूर्धन्य हो जाता है।

इङ् (वा गाङ्)–

(१६) णौ च संश्चङोः।५१।

प०वि०–णौ ७।१ च अव्ययपदम् १।१ संश्चङोः ७।२।

स०–सन् च चङ् च तौ संश्चङौ, तयोः–संश्चङोः (इतरेतर-योगद्वन्द्वः)।

अनु०–आर्धधातुके, इङः, गाङ्, विभाषा इति चानुवर्तते।

अन्वयः–इङो विभाषा गाङ् सँश्च ङोर्णौ चार्धधातुके।

अर्थः–इङः स्थाने विकल्पेन गाङ् आदेशो भवति। सन्परके चङ्परके णिचि चार्धधातुके विषये।

उदा०–(१) **सन्परकणिच्–(गाङ्–आदेशः)**–अधिजिगापयिषति। **(न च गाङ्–आदेशः)**–अध्यापिपयिषति। (२) **चङ्परकणिच्–(गाङ् आदेशः)**–अध्यजीगपत्। **(न च गाङ्–आदेशः)**–अध्यापिपत्।

***आर्यभाषा–अर्थ**–(इङः) 'इङ्' धातु के स्थान में (विभाषा) विकल्प से (गाङ्) 'गाङ्' आदेश होता है (संश्चङोः) सन्परक और चङ्परक (णिच्) 'णिच्' प्रत्यय सम्बन्धी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।*

*उदा०–**(१) सन्परक णिच्–(गाङ् आदेश)–अधिजिगापयिषति।** वह पढ़ना चाहता है। **(गाङ् आदेश नहीं)–अध्यापिपयिषति।** वह पढ़ना चाहता है। **(२) चङ्परक णिच्–(गाङ् आदेश)–अध्यजीगपत्।** उसने पढ़ाया। (गाङ् आदेश नहीं)–**अध्यापिपत्।** उसने पढ़ाया।*

***सिद्धि**–(१) **अधिजिगापयिषति।** अधि+इङ्+णिच्। अधि+गाङ्+इ। अधि+गा+पुक्+इ। अधि+गा+प्+इ। अधिगापि। अधिगापि+सन्। अधि+गा गा पि+स। अधि+ग गा पि+इट्+स। अधि+गि गा पि+इ+ष। अधिजिगापयिष+लट्। अधिजिगापयिष++शप्+तिप्। अधिजिगापयिषति।*

*यहां अधिपूर्व **'इङ् अध्ययने'** (अ०आ०) से **हेतुमति च'** (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय है। इस आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से इङ् के स्थान में गाङ् आदेश होता है। **'अर्तिह्री०'** (७।३।२६) से 'गा' को 'पुक्' का आगम होता है। णिजन्त अधिगापि धातु*

से 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' (३।१।७) से इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय होता है। 'सन्यडोः' (६।१।९) से धातु को द्वित्व, **'सन्यतः'** (७।४।७९) से अभ्यास को इत्व और **'कुहोश्चुः'** (७।४।६२) अभ्यास को चुत्व=ग् को ज् होता है। **अधिजिगापयिष'** इस सन्नाद्यन्त धातु से **'वर्तमाने लट्'** (३।२।१२३) से वर्तमानकाल में लट् प्रत्यय है।

(२) **अध्यापिपयिषति।** अधि+इङ्+णिच्। अधि+इ+इ। अधि+आ+पुक्+इ। अधि+आपि। अधि+आपि+सन्। अधि+आ+पि पि+स। अधि+आ+पि पि+इट्+स। अधि+आ+ति पे+इ+स। अध्यापिपयिष। अध्यापिपयिष+लट्। अध्यापिपयिष+शप्+तिप्। अध्यापिपयिषति।

यहां अधिपूर्व इङ् धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय। विकल्प पक्ष में 'इङ्' के स्थान में 'गाङ्' आदेश नहीं होता है। **'क्रीङ्जीनां णौ'** (६।१।४८) से इङ् के स्थान में आकार आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् हैं।

(३) **अध्यजीगपत्।** अधि+इङ्+णिच्। अधि+गाङ्+इ। अधि+गा+पुक्+इ। अध+गापि। अधिःगापि+लुङ्। अधि+अट्+गापि+च्लि+ल्। अधि+अ+गापि+चङ्+तिप्। अधि+अ+ग गा प्+अ+त्। अधि+अ+ग गा प्+अ+त्। अधि+अ+गि+ग प्+अ+त्। अधि+अ+जि+गप्+अ+त्। अध्यजीगपत्।

यहां अधिपूर्व 'इङ्' धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय है। इस आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से 'इङ्' के स्थान में 'गाङ्' आदेश होता है। 'अधिगापि' णिजन्त धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' प्रत्यय, **'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्'** (३।१।४८) से 'च्लि' के स्थान में 'चङ्' आदेश, **'चङि'** (६।१।११) से धातु के गा भाग को द्वित्व, **'ह्रस्वः'** (७।४।५९) से अभ्यास को ह्रस्व, **'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः'** (७।४।१) से उपधा ह्रस्व होता है। शेष कार्य पूर्ववत् हैं।

(४) **अध्यापिपत्।** अधि+इङ्+णिच्। अधि+आ+इ। अधि+आ+पुक्+इ। अधि+आपि। अधि+आपि+लुङ्। अधि+आट्+आपि+च्लि+ल्। अध्यापि+चङ्+तिप्। अधि+आ पि पि+अ+त्। अध्यापिप्+अ+त्। अध्यापिपत्।

यहां अधिपूर्व 'इङ्' धातु से पूर्ववत् 'णिच्' प्रत्यय। इस आर्धधातुक विषय में विकल्प पक्ष में 'इङ्' के स्थान में 'गाङ्' आदेश नहीं होता है। **'क्रीङ्जीनां णौ'** (६।१।४८) से 'इङ्' के स्थान में आकार आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।

अस् (भू)--

(१७) अस्तेर्भूः।५२।

प०वि०-अस्तेः ६।१ भूः १।१।

अनु०-आर्धधातुके इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अस्तेर्भूरार्धधातुके।

अर्थ:-अस्तेः स्थाने भूरादेशो भवति, आर्धधातुके विषये।

उदा०-भविता। भवितुम्। भवतिव्यम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(अस्तेः) 'अस्' धातु के स्थान में (भूः) 'भू' आदेश होता है (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।

*उदा०-**भविता।** होनेवाला। **भवितुम्।** होने के लिये। **भवितव्यम्।** होना चाहिये।*

***सिद्धि-(१) भविता।** भू+तृच्। भू+इट्+तृ। भो+इ+तृ। भवितृ+सु। भविता।*

*यहां 'अस् भुवि' (अदा०प०) धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से 'तृच्' प्रत्यय है। इस आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से 'अस्' के स्थान में 'भू' आदेश होता है। **'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'** (७।२।३५) से 'तृच्' को इट्-आगम और **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'** (७।३।८४) से गुण होता है।*

*(२) **भवितुम्।** अस्+तुमुन्। भू+तुम्। भो+इट्+तुम्। भो+इ+तुम्। भवितुम्।*

*यहां 'अस् भुवि' (अदा०प०) धातु से **'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्'** (३।३।१०) से 'तुमुन्' प्रत्यय है। इस आर्धधातुक विषय में 'अस्' धातु के स्थान में 'भू' आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*(३) **भवितव्यम्।** अस्+तव्यत्। भू+तव्य। भू+इट्+तव्य। भो+इ+तव्य। भवितव्य+सु। भवितव्यम्।*

*यहां 'अस् भुवि' (अदा०प०) धातु से **'तव्यत्तव्यानीयरः'** (३।१।९६) से 'तव्यत्' प्रत्यय है। इस आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से 'अस्' के स्थान में 'भू' आदेश होता है।*

ब्रू (वच्)-

(१८) ब्रुवो वचिः।५३।

प०वि०-ब्रुवः ६।१ वचिः १।१।

अनु०-आर्धधातुके इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-ब्रुवो वचिरार्धधातुके।

अर्थ:-ब्रुवः स्थाने वचिरादेशो भवति, आर्धधातुके विषये।

उदा०-वक्ता। वक्तुम्। वक्तव्यम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(ब्रुवः) 'ब्रू' धातु के स्थान में (वचिः) 'वच्' आदेश होता है (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।

*उदा०-**वक्ता।** बोलनेवाला। **वक्तुम्।** बोलने के लिये। **वक्तव्यम्।** बोलना चाहिये।*

सिद्धि-वक्ता । ब्रू+तृच् । वच्+तृ । वक्तृ+सु । वक्ता ।

यहां 'ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि' (अदा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'तृच्' प्रत्यय होता है। इस आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से 'ब्रू' धातु के स्थान में 'वच्' आदेश होता है। 'खरि च' (८।४।५५) से 'वच्' के च् को चर्=क् होता है। ऐसे ही 'वक्तुम्' और 'वक्तव्यम्' रूप सिद्ध करें।

चक्षिङ् (ख्याञ्)-

(१९) चक्षिङः ख्याञ्।५४।

प०वि०-चक्षिङः ६।१ ख्याञ् १।१।

अनु०-आर्धधातुके इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-चक्षिङः ख्याञ् आर्धधातुके।

अर्थः-चक्षिङः स्थाने ख्याञ् आदेशो भवति, आर्धधातुके विषये।

उदा०-आख्याता। आख्यातुम्। आख्यातव्यम्।

आर्यभाषा-अर्थ-(चक्षिङः) चक्षिङ् धातु के स्थान में (ख्याञ्) ख्याञ् आदेश होता है (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।

*उदा०-**आख्याता**। कहनेवाला। **आख्यातुम्**। कहने के लिये। **आख्यातव्यम्**। कहना चाहिये।*

*सिद्धि-**आख्याता**। आङ्+चक्षिङ्+तृच्। आ+ख्याञ्+तृ। आ+ख्या+तृ। आख्यातृ+सु। आख्याता।*

*यहां आङ् उपसर्गपूर्वक '**चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि, अयं दर्शनेऽपि** (अदा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'तृच्' प्रत्यय है। इस आर्धधातुक विषय में 'चक्षिङ्' धातु के स्थान में इस सूत्र से 'ख्याञ्' आदेश होता है। ऐसे ही-'**आख्यातुम्**' और '**आख्यातव्यम्**' रूप सिद्ध करें।*

चक्षिङ् (वा ख्याञ्)-

(२०) वा लिटि।५५।

प०वि०-वा अव्ययपदम्, लिटि ७।१।

अनु०-आर्धधातुके, चक्षिङः, ख्याञ् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-चक्षिङो वा ख्याञ् लिटि आर्धधातुके।

अर्थः-चक्षिङः स्थाने विकल्पेन ख्याञ्-आदेशो भवति, लिटि आर्धधातुके विषये।

उदा०-**ख्याञ्-आदेश:**-आचख्यौ। आचख्यतुः। आचख्युः। **न च ख्याञ्-आदेश:**-आचचक्षे। आचचक्षाते। आचचक्षिरे।

आर्यभाषा-अर्थ-(चक्षिङः) चक्षिङ् धातु के स्थान में (वा) विकल्प से (ख्याञ्) ख्याञ् आदेश होता है (लिटि) लिट्लकार-सम्बन्धी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।

*उदा०-ख्याञ्-आदेश-**आचख्यौ**। उसने कहा। **आचख्यतुः**। उन दोनों ने कहा। **आचख्युः**। उन सबने कहा। ख्याञ् आदेश नहीं-**आचचक्षे**। **आचचक्षाते**। **आचचक्षिरे**। अर्थ पूर्ववत् है।*

*सिद्धि-(१) **आचख्यौ**। आङ्+चक्षिङ्+लिट्। आ+ख्याञ्+ल्। आ+ख्या+तिप्। आ+ख्या+णल्। आ+ख्या+औ। आ+ख्या+ख्या+औ। आ+खा+ख्या+औ। आ+ख+ख्या+औ। आ+च+ख्या+औ। आचख्यौ।*

*यहां आङ् उपसर्गपूर्वक '**चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि, अयं दर्शनेऽपि**' (अदा०आ०) धातु से '**परोक्षे लिट्**' (३।२।११५) से अनद्यतन परोक्ष भूतकाल में 'लिट्' प्रत्यय है। '**लिट् च**' (३।४।११५) से 'लिट्' प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा है। इस आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से 'चक्षिङ्' धातु के स्थान में 'ख्याञ्' आदेश होता है। '**परस्मैपदानां णलतुस्०**' (३।४।८२) से 'तिप्' प्रत्यय के स्थान में 'णल्' आदेश और '**आत औ णलः**' (७।१।३४) से 'णल्' के स्थान में औ-आदेश होता है। '**लिटि धातोरनभ्यासस्य**' (६।२।८) से 'ख्या' को द्वित्व, '**हलादिः शेषः**' (७।४।६०) से 'खा' शेष, '**ह्रस्वः**' (७।४।५९) से खा को ह्रस्व ख, और '**कुहोश्चुः**' (७।४।६२) से 'ख' को च वर्ग 'च' होता है। ऐसे ही-**आचख्यतुः, आचख्युः** रूप सिद्ध करें।*

*(२) **आचचक्षे**। आङ्+चक्षिङ्+लिट्। आ+चक्ष्+ल्। आ+चक्ष्+त। आ+चक्ष्+एश्। आ+चक्ष्+चक्ष्+ए। आ+च+चक्ष्+ए। आचचक्षे।*

*यहां आङ् उपसर्गपूर्वक '**चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि, अयं दर्शनेऽपि**' (अ०आ०) धातु से पूर्ववत् 'लिट्' प्रत्यय है। विकल्प पक्ष में 'चक्षिङ्' धातु के स्थान में 'ख्याञ्' आदेश नहीं होता है। '**लिटस्तझयोरेशिरेच्**' (३।४।८१) से 'त' प्रत्यय के स्थान में 'एश्' आदेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है। ऐसे ही-**आचचक्षाते, आचचक्षिरे** रूप सिद्ध करें।*

अज् (वी)-

(२१) अजेर्व्यघञपोः।५६।

प०वि०-अजेः ६।१ वी १।१ अघञपोः ७।२।

स०-घञ् च अप् च तौ घञपौ, न घञपाविति अघञपौ, तयोः-अघञपोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-आर्धधातुके, वा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अजेर्वी, अघञपोरार्धधातुकयोः ।

अर्थः-अजेः स्थाने विकल्पेन वी-आदेशो भवति, घञपोर्वर्जिते आर्धधातुके विषये।

उदा-**वी-आदेशः**-प्रवेता। प्रवेतुम्। प्रवेतव्यम्। **न च वी-आदेशः**- प्राजिता। प्राजितुम्। प्राजितव्यम्।

__आर्यभाषा-अर्थः__-(अजेः) 'अज्' धातु के स्थान में (वा) विकल्प से (वी) वी-आदेश होता है (घञपोः) 'घञ्' और 'अप्' प्रत्यय से रहित (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।

उदा०-__वी-आदेश-प्रवेता।__ प्रगति करनेवाला/फैंकनेवाला। __प्रवेतुम्।__ प्रगति करने/फैंकने के लिये। __प्रवेतव्यम्।__ प्रगति करना/फैंकना चाहिये। __वी-आदेश नहीं-प्राजिता। प्राजितुम्। प्राजितव्यम्।__ अर्थ पूर्ववत् है।

__सिद्धि-(१) प्रवेता।__ प्र+अज्+तृच्। प्र+वी+तृ। प्र+वे+तृ। प्रवेतृ+सु। प्रवेता।

यहां प्र उपसर्गपूर्वक __'अज गतिक्षेपणयोः'__ (भ्वा०प०) धातु से __'ण्वुल्तृचौ'__ (३।१।१३३) से 'तृच्' प्रत्यय है। इस आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से 'अज्' धातु के स्थान में वी-आदेश होता है। __'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'__ (७।३।८४) से धातु को गुण होता है। ऐसे ही-__प्रवेतुम्, प्रवेतव्यम्__ रूप सिद्ध करें।

(२) __प्राजिता।__ प्र+अज्+तृच्। प्र+अज्+इट्+तृ। प्र+अज्+इ+तृ। प्रजितृ+सु। प्राजिता।

यहां प्र उपसर्गपूर्वक 'अज्' धातु से पूर्ववत् 'तृच्' प्रत्यय है। विकल्प पक्ष में इस सूत्र से 'अज्' धातु के स्थान में 'वी' आदेश नहीं होता है। __'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'__ (७।२।३५) से 'तृच्' को 'इट्' आगम होता है। ऐसे ही-__प्राजितुम्, प्राजितव्यम्__ रूप सिद्धि करें।

अज् (वा)-

(२२) वा यौ।५७।

प०वि०-वा १।१ यौ ७।१।

अनु०-आर्धधातुके, अजेः इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अजेर्वा यावार्धधातुके।

अर्थः-अजेः स्थाने वा-आदेशो भवति, यावार्धधातुके विषये।

उदा०-वायुः।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(अजेः) अज् धातु के स्थान में (वा) वा-आदेश होता है, (यौ) यु प्रत्ययसम्बन्धी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।

उदा०-वायुः । गति करनेवाला/फैंकनेवाला ।

सिद्धि-वायुः । अज्+युच् । वा+यु । वायु+सु । वायुः ।

यहां 'अज गतिक्षेपणयोः' (भ्वा०प०) धातु से 'यजिमनिशुन्धिवसिजनिभ्यो युच्' (उणा० ३ ।२०) से बहुल वचन से औणादिक 'युच्' प्रत्यय है। इस आर्धधातुक विषय में इस सूत्र से 'अज्' धातु के स्थाने में 'वा' आदेश होता है।

यह सूत्रव्याख्या व्याकरणमहाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि के अनुसार है। काशिकाकार पं० जयादित्य ने इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है-

अर्थ-(अजेः) अज् धातु के स्थान में (वा) विकल्प से (वी) वी आदेश होता है (यु) 'ल्युट्' प्रत्ययसम्बन्धी (आर्धधातुके) आर्धधातुक विषय में।*

उदा०-वी-आदेश-प्रवयणो दण्डः । प्रवयणमानय। वी-आदेश नहीं-प्राजनो दण्डः । प्राजनमानय। दण्डा ले आ।

प्रत्ययलुक्प्रकरणम्

अण्+इञ्-

(१) ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनिलुगणिञोः ।५८।

प०वि०-ण्य-क्षत्रिय-आर्ष-ञितः ५ ।१ यूनि ७ ।१ लुक् १ ।१ अणिञोः ६ ।२ ।

स०-ञ् इत् यस्य स ञित् (बहुव्रीहिः)। ण्यश्च क्षत्रियश्च आर्षश्च ञिच्च एतेषां समाहार-ण्यक्षत्रियार्षञित्, तस्मात्-ण्यक्षत्रियार्षञितः (समाहारद्वन्द्वः)। अण् च इञ् च तौ अणिञौ, तयोः-अणिञोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अर्थः-ण्यन्तात् क्षत्रियवाचिन ऋषिवाचिनो ञितश्च गोत्रप्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकाद् युवापत्येऽर्थे विहितस्य अण्-प्रत्ययस्य इञ्प्रत्ययस्य च लुग् भवति।

** "नेयं विभाषा। किं तर्हि ? आदेशो विधीयते। 'वा' इत्ययमादेशो भवत्यजेर्यौ परतः। वायुरिति" (भाष्यकारः पतञ्जलिः)।*

अत्र महर्षिदयानन्दस्य टिप्पणी-

*जयादित्येनास्य सूत्रस्यायमर्थः कृतः-यौ ल्युटि प्रत्ययेऽजधातोर्विकल्पेन 'वी' इत्ययमादेशो **भवति**। तत्र रूपद्वयं साधितम्। तदिदं पूर्वसूत्रे विकल्पानुवर्तनेनैव सिद्धं, पुनर्महाभाष्य-विरुद्धत्वाज्जयादित्यस्य व्याख्यानमत्यन्तमसङ्गतम् (अष्टाध्यायीभाष्यम्)।*

उदा०-(१) **ण्यन्तात्**-कुरोर्गोत्रापत्यं कौरव्यः (पिता)। कौरव्यस्य युवापत्यं कौरव्यः (पुत्रः)।

(२) **क्षत्रियात्**-श्वफलस्य गोत्रापत्यं श्वाफलकः। श्वाफलकस्य युवापत्यं श्वाफलकः (पुत्रः)।

(३) **आर्षात्**-वसिष्ठस्य गोत्रापत्यं वासिष्ठः (पिता)। वासिष्ठस्य युवापत्यं वासिष्ठः (पुत्रः)।

(४) **ञितः**-बिदस्य गोत्रापत्यं बैदः (पिता)। बैदस्य युवापत्यं बैदः। (पुत्रः)।

(५) **इञ्**-तिकस्य गोत्रापत्यं तैकायनिः (पिता)। तैकायनेर्युवापत्यं तैकायनिः (पुत्रः)।

आर्यभाषा-अर्थ-*(ण्यक्षत्रियार्षञितः) ण्य-प्रत्ययान्त, क्षत्रियवाची, ऋषिवाची और ञित्-प्रत्ययान्त इन गोत्र प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से (यूनि) युवापत्य अर्थ में विहित (अणिञोः) अण् और इञ् प्रत्यय का (लुक्) लोप होता है।*

*उदा०-(१) **ण्यन्त-कुरोर्गोत्रापत्यं कौरव्यः (पिता)**। कुरु का गोत्रापत्य कौरव्य (पिता) है। **कौरव्यस्य युवापत्यं कौरव्यः (पुत्रः)**। कौरव्य का युवापत्य कौरव्य (पुत्र) है।*

*(२) **क्षत्रिय-श्वाफलकस्य गोत्रापत्यं श्वाफलकः (पिता)**। श्वाफलक क्षत्रिय का गोत्रापत्य श्वाफलक (पिता) है। **श्वाफलकस्य युवापत्यं श्वाफलकः (पुत्रः)**। श्वाफलक क्षत्रिय का युवापत्य श्वाफलक (पुत्र) है।*

*(३) **आर्ष-वसिष्ठस्य गोत्रापत्यं वसिष्ठः (पिता)**। वसिष्ठ ऋषि का गोत्रापत्य वासिष्ठ (पिता) है। **वासिष्ठस्य युवापत्यं वासिष्ठः (पुत्रः)**। वासिष्ठ ऋषि का युवापत्य वासिष्ठ (पुत्र) है।*

*(४) **ञित-बिदस्य गोत्रापत्यं बैदः (पिता)**। बिद का गोत्रापत्य बैद (पिता) है। **बैदस्य युवापत्यं बैदः (पुत्रः)**। बैद का युवापत्य बैद (पुत्र) है।*

*(५) **इञ्-तिकस्य गोत्रापत्यं तैकायनिः (पिता)**। तिक का गोत्रापत्य तैकायनि (पिता) है। **तैकायनेर्युवापत्यं तैकायनिः (पुत्रः)**। तैकायनि का युवापत्य तैकायनि (पुत्र) है।*

सिद्धि-*(१) **कौरव्यः**। कुरु+ण्य। कुरु+य। कौरु+य। कौरो+य। कौरव्+य। कौरव्य+सु। कौरव्यः। कौरव्य+इञ्। कौरव्य+०। कौरव्य+सु। कौरव्यः।*

*यहां कुरु प्रातिपदिक से **'कुर्वादिभ्यो ण्यः'** (४।१।१५१) से गोत्रापत्य अर्थ में 'ण्य' प्रत्यय और इससे **'अत इञ्'** (४।१।९५) से युवापत्य अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय होता है। इस सूत्र से इस 'इञ्' प्रत्यय का लुक् (लोप) हो जाता है।*

(२) श्वाफलकः । श्वफलक+अण् । श्वाफलक+अ । श्वाफलक+सु । श्वाफलकः । स्वाफलक+इञ् । श्वाफलक+० । श्वाफलक+सु । श्वाफलकः ।

*यहां क्षत्रियवाची श्वाफक प्रातिपदिक से गोत्रापत्य अर्थ में **'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च'** (४।१।११४) से गोत्रापत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। इससे युवापत्य अर्थ में **'अत इञ्'** (४।१।९५) से 'इञ्' प्रत्यय होता है। इस सूत्र से इस 'इञ्' प्रत्यय का लुक् हो जाता है।*

*(३) **वासिष्ठः ।** वसिष्ठ+अण् । वासिष्ठ+अ । वासिष्ठ+सु । वासिष्ठः । वासिष्ठ+इञ् । वासिष्ठ+० । वासिष्ठ+सु । वासिष्ठः ।*

*यहां ऋषिवाची वसिष्ठ प्रातिपदिक से **'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च'** (४।१।११४) से गोत्रापत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय है। इससे युवापत्य अर्थ में **'अत इञ्'** (४।१।९२) से 'इञ्' प्रत्यय होता है। इस सूत्र से इस इञ् प्रत्यय का लुक् हो जाता है।*

*(४) **बैदः ।** बिद+अञ् । बैद+अ । बैद+सु । बैदः । बैद+इञ् । बैद+० । बैद+सु । बैदः ।*

*यहां 'बिद' प्रातिपदिक से गोत्रापत्य अर्थ में **'अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्'** (४।१।१०४) से 'अञ्' प्रत्यय होता है। यह 'ञित्' प्रत्यय है। इससे युवापत्य अर्थ में 'इत इञ्' (४।१।९५) से 'इञ्' प्रत्यय होता है। इस सूत्र से इस 'इञ्' प्रत्यय का लुक् हो जाता है।*

*(५) **तैकायनिः ।** तिक+फिञ् । तैक+आयनि । तैकायनि+सु । तैकायनिः । तैकायनि+अण् । तैकायनि+० । तैकायनि+सु । तैकायनिः ।*

*यहां 'तिक' प्रातिपदिक से **'तिकादिभ्यः फिञ्'** (४।१।१५४) से गोत्रापत्य अर्थ में फिञ् प्रत्यय होता है। इससे युवापत्य अर्थ में **'तस्यापत्यम्'** (४।१।९२) से युवापत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है। इस सूत्र से इस 'अण्' प्रत्यय का लुक् होता है।*

***विशेष-(१) गोत्र**-व्याकरणशास्त्र में **'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्'** (४।१।१६२) से पौत्र (पोता) की गोत्र संज्ञा है। जैसे गर्ग का पुत्र गार्गि और गार्गि का पुत्र अर्थात् गर्ग का पौत्र 'गार्ग्य' कहाता है। गार्ग्य के युवापत्य को गार्ग्यायण कहते हैं।*

*(२) **युवा**-जब तक गर्ग वंश का कोई वृद्ध पुरुष जीवित रहता है, तभी तक वह चौथा पुरुष युवा (अपत्य) कहाता है- **'जीवति तु वंश्ये युवा'** (४।१।१६३)।*

युवप्रत्ययस्य-

(२) पैलादिभ्यश्च।५६।

प०वि०-पैलादिभ्यः ५।३ च अव्ययपदम्।

स०-पैल आदिर्येषां ते पैलादयः, तेभ्यः-पैलादिभ्यः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-यूनि लुक् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-पैलादिभ्यश्च यूनि लुक्।

अर्थः-पैलादिभ्यो गोत्रप्रत्ययान्तेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो युवापत्येऽर्थे विहितस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति।

उदा०-पीलाया गोत्रापत्यं पैलः (पिता)। पैलस्य युवापत्यं पैलः (पुत्र)।

पैल। शालङ्कि। सात्यकि। सात्यकामि। दैवि। औदमज्जि। औदव्रजि। औदमेघि। औदबुद्धि। दैवस्थानि। पैङ्गलायनि। राणायनि। रौहक्षिति। गौलिङ्गि। औद्गाहमानि। ओज्जिहानि। रागक्षति। राणि। सौमनि। आहमानि। तद्राजाच्चाणः। आकृतिगणोऽयम्। इति पैलादयः।

आर्यभाषा-अर्थ-(पैलादिभ्यः) पैल आदि गोत्र-प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से (यूनि) युवापत्य अर्थ में विहित प्रत्यय का (लुक्) लुक् होता है।

*उदा०-**पीलाया गोत्रापत्यं पैलः (पिता)।** पीला ऋषिका का गोत्रापत्य पैल (पिता) है। **पैलस्य युवापत्यं पैलः (पुत्रः)।** पैल ऋषिका का युवापत्य पैल (पुत्र) है।*

*सिद्धि-**पैलः।** पीला+अण्। पैल+अ। पैल+सु। पैलः। पैल+फिञ्। पैल+०। पैल+सु। पैलः।*

*यहां 'पीला' प्रातिपदिक से गोत्रापत्य अर्थ में **'पीलाया वा'** (४।१।११८) से 'अण्' प्रत्यय है। इससे युवापत्य अर्थ में **'अणो द्व्यचः'** (४।१।१५६) 'फिञ्' प्रत्यय होता है। इस सूत्र से इस 'फिञ्' प्रत्यय का लुक् होता है।*

युवप्रत्ययस्य—

(३) इञः प्राचाम्।६०।

प०वि०-इञः ५।१ प्राचाम् ६।३।

अनु०-यूनि, लुक् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-प्राचामिञो यूनि लुक्।

अर्थः-प्राचां गोत्रे वर्तमानाद् इञ्-प्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकाद् युवापत्येऽर्थे विहितस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति।

उदा०-पन्नागारस्य गोत्रापत्यं पान्नागारिः (पिता)। पान्नागारेर्युवापत्यं पान्नागारिः (पुत्रः)। मन्थरैषणस्य गोत्रापत्यं मान्थरैषणिः (पिता)। मान्थरैषणेर्युवापत्यं मान्थरैषणिः (पुत्रः)।

पन्नम्=प्राप्तम् अगारं यस्य स पन्नागारः। मन्थरा=मन्दीभूता एषणा यस्य स मान्थरैषणः। (इति पदमञ्जर्यां हरदत्तमिश्रः)।

आर्यभाषा-अर्थ-(प्राचाम्) प्राची दिशा के देश में विद्यमान (इञः) इञ्-प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से (यूनि) युवापत्य अर्थ में विहित प्रत्यय का (लुक्) लोप होता है।

*उदा०-**पन्नागारस्य गोत्रापत्यं पान्नागारिः (पिता)।** पन्नागार ऋषि का गोत्रापत्य पान्नागारि (पिता) है। **पान्नागारेर्युवापत्यं पान्नागारिः (पुत्रः)।** पान्नागारि ऋषि का युवापत्य पान्नागारि (पुत्र) है। **मन्थरैषणस्य गोत्रापत्यं मान्थरैषणिः (पिता)।** मन्थरैषण ऋषि का गोत्रापत्य मान्थरैषणि (पिता) है। **मान्थरैषणेर्युवापत्यं मान्थरैषणिः (पुत्रः)।** मान्थरैषणि ऋषि का युवापत्य मान्थरैषणि (पुत्र) है।*

*सिद्धि-**पान्नागारिः।** पन्नागार+इञ्। पान्नागार+इ। पान्नागारि+सु। पान्नागारिः। पान्नागिरि+फक्। पान्नागारि+०। पान्नागारि+सु। पान्नागारिः।*

*यहां **'पन्नागार'** प्रातिपदिक से गोत्रापत्य अर्थ में **'अत इञ्'** (४।१।९५) से इञ् प्रत्यय होता है। इससे युवापत्य अर्थ में **'यञिञोश्च'** (४।१।१०१) से 'फक्' प्रत्यय होता है। इस सूत्र से इस फक् प्रत्यय का लुक् हो जाता है।*

विशेष-पन्नागार और मन्थरैषण प्राग्देशीय गोत्र हैं।

लुक्प्रतिषेधः-

(४) न तौल्वलिभ्यः।६१।

प०वि०-न अव्ययपदम्, तौल्वलिभ्यः ५।३।

अनु०-यूनि लुक् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तौल्वलिभ्यो यूनि लुङ् न।

अर्थः-तौल्वल्यादिभ्यो गोत्रप्रत्ययान्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विहितस्य युवप्रत्ययस्य लुङ् न भवति।

उदा०-तुल्वस्य गोत्रापत्यं तौल्वलिः। तौल्वलेर्युवापत्यं तौल्वलायनः।

तौल्वलि। धारणि। रावणि। पारणि। दैलीपि। दैवलि। दैवमति। दैवयज्ञि। प्रावाहणि। मान्धातकि। आनुहारति। श्वाफलकि। आनुमति। आहिंसि। आसुरि। आयुधि। नैमिषि। आसिबन्धकि। बैकि। पौष्करसादि। वैरकि। वैलकि। वैहति। वैकर्णि। कारेणुपालि। कामलि। रान्धकि। आसुराहति। प्राणहति। पौष्कि। कान्दकि। दौषकगति। आन्तराहति। इति तौल्वल्यादयः।

आर्यभाषा-अर्थ-(तौल्वलिभ्यः) तौल्वलि आदि गोत्र प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से (यूनि) युवापत्य अर्थ में विहित प्रत्यय का (लुक्) लोप (न) नहीं होता है।

उदा०-तुल्वलस्य गोत्रापत्यं तौलवलिः। तुल्वल ऋषि का गोत्रापत्य तौल्वलि (पिता) है। तौल्वलेर्युवापत्यं तौल्वलायनः (पुत्रः)। तौल्वलि ऋषि का युवापत्य तौल्वलायन (पुत्र) है।

सिद्धि-तौल्वलायनः। तुल्वल+इञ्। तौल्वल्+इ। तौल्वलि+सु। तौल्वलिः। तौल्वलि+फक्। तौल्वल्+आयन। तौल्वलायन+सु। तौल्वलायनः।

*यहां 'तुल्वल' प्रातिपदिक से गोत्रापत्य अर्थ में **'अत इञ्'** (४।१।९५) से 'इञ्' प्रत्यय है। इससे युवापत्य अर्थ में **'यञिञोश्च'** (४।१।१०१) से 'फक्' प्रत्यय होता है। इस सूत्र से इस प्रत्यय का लुक् नहीं होता है। **'आयनेय०'** (७।१।२) से 'फ' के स्थान में आयन आदेश होता है।*

तद्राजसंज्ञकस्य-

(५) तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्।६२।

प०वि०-तद्राजस्य ६।१ बहुषु ७।३ तेन ३।१ एव अव्ययपदम्, अस्त्रियाम् ७।१।

स०-न स्त्री इति अस्त्री, तस्याम्-अस्त्रियाम् (नञ्तत्पुरुषः)।

अनु०-लुक् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अस्त्रियां बहुषु तद्राजस्य लुक् तेनैव कृतं बहुत्वं चेत्।

अर्थः-स्त्रीलिङ्गवर्जितस्य बहुषु वर्तमानस्य तद्राजसंज्ञकस्य लुग् भवति, यदि तेनैव तद्राजसंज्ञकेन प्रत्ययेन कृतं बहुत्वं स्यात्।

उदा०-अङ्गस्यापत्यम्-आङ्गः। अङ्गस्य बहूनि अपत्यानि-अङ्गाः। बङ्गस्यापत्यम्-बाङ्गः। बङ्गस्य बहूनि अपत्यानि-बङ्गाः। मगधस्यापत्यम्-मागधः। मगधस्य बहूनि अपत्यानि-मगधाः। कलिङ्गस्यापत्यम्-कालिङ्गः। कलिङ्गस्य बहूनि अपत्यानि-कलिङ्गाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग से रहित (बहुषु) बहुत अर्थ में विद्यमान (तद्राजस्य) तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का (लुक्) लोप होता है, यदि वहां (तेन-एव) उसी तद्राजसंज्ञक प्रत्यय से बहुत्व का कथन किया गया हो।

*उदा०-**अङ्गस्यापत्यम्-आङ्गः।** अङ्ग देश के राजा का पुत्र 'आङ्ग' कहाता है। **अङ्गस्य बहूनि अपत्यानि-अङ्गाः।** अङ्ग के बहुत पुत्र 'अङ्ग' कहाते हैं। **बङ्गस्यापत्यम्-***

*बाङ्गः। बङ्ग देश के राजा का पुत्र 'बाङ्ग' कहाता है। **बङ्गस्य बहूनि अपत्यानि-बङ्गाः।** बङ्ग के बहुत पुत्र बङ्ग कहाते हैं। **कलिङ्गस्यापत्यम्-कालिङ्गः।** कलिङ्ग देश के राजा का पुत्र 'कालिङ्ग' कहाता है। **कलिङ्गस्य बहूनि अपत्यानि-कलिङ्गाः।** कलिङ्ग के बहुत पुत्र 'कलिङ्ग' कहाते हैं।*

*सिद्धि-**अङ्गाः।** अङ्ग+अण्+जस्। अङ्ग+०+जस्। अङ्गाः।*

*यहां '**द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्**' (४।१।१७०) से तद्राजसंज्ञक 'अण्' प्रत्यय है। इसका बहुत पुत्रों के अर्थ की विवक्षा में इस सूत्र से 'लुक्' हो जाता है। ऐसे ही-**बङ्गाः, मगधाः, कलिङ्गाः।***

*विशेष-(१) तद्राज- '**ते तद्राजाः**' (४।१।१७२) तथा '**ञ्यादयस्तद्राजाः**' (५।३।११९) से जिन-प्रत्ययों की तद्राज-संज्ञा की गई है, उन्हें उस प्रकरण में देखकर समझ लेवें।*

(२) अङ्ग-गङ्गा के दाहिने तट पर अवस्थित राज्य। इसकी राजधानी चम्पा नगरी (अनङ्गपुरी) थी। यह चम्पा नगरी आधुनिक भागलपुर नगर के समीप बिहार प्रान्त में थी।

(३) मगध-बिहार प्रान्त में अवस्थित प्राचीन मगध राज्य। इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। इसका प्राचीन नाम कीकट देश भी है।

(४) कलिङ्ग-उड़ीसा के दक्षिण ओर का प्रदेश। इसकी राजधानी कलिङ्ग नगर थी। आधुनिक राजमहेन्द्री नगर। (२, ३, ४ के लिये द्र० संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ का परिशिष्ट)।

गोत्रप्रत्ययस्य-

(६) यस्कादिभ्यो गोत्रे।६३।

प०वि०-यस्क-आदिभ्यः ५।३ गोत्रे ७।१।

स०-यस्क आदिर्येषां ते यस्कादयः, तेभ्यः-यस्कादिभ्यः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-लुक्, बहुषु, तेन, एव, अस्त्रियाम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अस्त्रियां बहुषु यस्कादिभ्यो गोत्रे लुक् तेनैव कृतं बहुत्वं चेत्।

अर्थः-स्त्रीलिङ्गवर्जितेभ्यो बहुष्वर्थेषु वर्तमानेभ्यो यस्कादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गोत्रापत्येऽर्थे विहितस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति, यदि तेनैव **गोत्रापत्यप्रत्ययेन कृतं बहुत्वं स्यात्।**

उदा०-यस्कस्य गोत्रापत्यम्-यास्कः। यस्कस्य बहूनि अपत्यानि-यस्काः। लह्यस्य गोत्रापत्यम्-लाह्यः। लह्यस्य बहूनि अपत्यानि-लह्याः।

यस्क। लह्य। द्रुघ। अयःस्थूण। भलन्दन। विरूपाक्ष। भूमि। इला। सपत्नी। **द्व्यचो नद्याः। त्रिवेणी त्रिवणं च।** कद्रुय। कबोध। परल। ग्रीवाक्ष। गोभिलिक। राजल। तडाक। वडाक। इति शिवाद्यन्तर्गतो यस्कादिगणः (४।१।११२)।

आर्यभाषा-अर्थ-(अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग से रहित, (बहुषु) बहुत अर्थों में वर्तमान (यस्कादिभ्यः) यस्क आदि प्रातिपदिकों से (गोत्रे) गोत्रापत्य अर्थ में विहित प्रत्यय का (लुक्) लोप होता है (तेन-एव) यदि उसी गोत्र-प्रत्यय से बहुत्व का कथन किया गया हो।

*उदा०-**यस्कस्य गोत्रापत्यम्-यास्कः।** यस्क ऋषि का गोत्रापत्य=पौत्र 'यास्क' कहाता है। **यस्कस्य बहूनि अपत्यानि-यस्काः।** यस्क के बहुत पौत्र 'यस्क' कहाते हैं। **लह्यस्य गोत्रापत्यम्-लाह्यः।** लह्य ऋषि का गोत्रापत्य=पौत्र 'लाह्य' कहाता है। **लह्यस्य बहूनि अपत्यानि-लह्याः।** लह्य के बहुत पौत्र 'लह्य' कहाते हैं।*

*सिद्धि-**यस्काः।** यस्क+ङस्+अण्+जस्। यस्क+०+अस्। यस्काः।*

*यहां यस्क प्रातिपदिक से गोत्रापत्य, अर्थ में **'शिवादिभ्योऽण्'** (४।१।११२) से 'अण्' प्रत्यय है। इसके बहुत पौत्रों के अर्थ की विवक्षा में इस प्रत्यय का इस सूत्र से लुक् हो जाता है।*

विशेष-यस्कादिगण, शिवादिगण (४।१।११२) के अन्तर्गत है।

यञ्+अञ्-

(७) यञञोश्च।६४।

प०वि०-यञ्-अञोः ६।२ च अव्ययपदम्।

स०-यञ् च अञ् च तौ यञञौ, तयोः-यञञोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-लुक्, बहुषु, तेन, एव, अस्त्रियाम्, गोत्रे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अस्त्रियां बहुषु गोत्रे यञञोश्च लुक्, तेनैव कृतं बहुत्वं चेत्।

अर्थः-स्त्रीलिङ्गवर्जितस्य बहुष्वर्थेषु वर्तमानस्य गोत्रापत्येऽर्थे विहितस्य यञ्प्रत्ययस्य अञ्प्रत्ययस्य **च लुग् भवति**, यदि तेनैव **गोत्रप्रत्ययेन** कृतं **बहुत्वं स्यात्**।

उदा०-(१) **यञ्**-गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः। गर्गस्य बहूनि अपत्यानि-गर्गाः। वत्सस्य गोत्रापत्यं वात्स्यः। वत्सस्य बहूनि अपत्यानि-वत्साः।

(२) **अञ्**-बिदस्य गोत्रापत्यं बैदः। बिदस्य बहूनि अपत्यानि-बिदाः। उर्वस्य गोत्रापत्यम्-और्वः। उर्वस्य बहूनि अपत्यानि-उर्वाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग से रहित (बहुषु) बहुत अर्थों में वर्तमान (गोत्रे) गोत्रापत्य अर्थ में विहित (यञञोश्च) यञ् और अञ् प्रत्यय का (लुक्) लोप होता है यदि (तेन-एव) उसी गोत्र-प्रत्यय से बहुत्व का कथन किया हो।

*उदा०-(१) **यञ्-गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः।** गर्ग ऋषि का पौत्र 'गार्ग्य' कहाता है। **गर्गस्य बहूनि अपत्यानि-गर्गाः।** गर्ग ऋषि के बहुत पौत्र 'गर्गाः' कहाते हैं। **वत्सस्य गोत्रापत्य वात्स्यः।** वत्स ऋषि का पौत्र 'वात्स्य' कहाता है। **वत्सस्य बहूनि अपत्यानि-वत्साः।** वत्स ऋषि के बहुत पौत्र 'वत्साः' कहाते हैं।*

*(२) **अञ्-बिदस्य गोत्रापत्यं बैदः।** बिद ऋषि का पौत्र 'बैद' कहाता है। **बिदस्य बहूनि अपत्यानि-बिदाः।** बिद ऋषि के बहुत पौत्र 'बिदाः' कहाते हैं। **उर्वस्य गोत्रापत्यं और्वः।** उर्व ऋषि का पौत्र 'और्वः' कहाता है। **उर्वस्य बहूनि अपत्यानि-उर्वाः।** उर्व ऋषि के बहुत पौत्र 'उर्वाः' कहाते हैं।*

*सिद्धि-(१) **गर्गाः।** गर्ग+ङस्+यञ्+जस्। गर्ग+अस्। गर्गाः।*

*यहां गर्ग प्रातिपदिक से **'गर्गादिभ्यो यञ्'** (४।१।१०५) से गोत्रापत्य अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय है। उसके बहुत पौत्रों के अर्थ की विवक्षा में इस यञ्प्रत्यय का इस सूत्र से लुक् हो जाता है।*

*(२) **बिदाः।** बिद+ङस्+अञ्+जस्। बिद+०+जस्। बिदाः।*

*यहां बिद प्रातिपदिक से **'अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्'** (४।१।१०४) से गोत्रापत्य अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय है। उसके बहुत पौत्रों की विवक्षा में इस 'अञ्' प्रत्यय का इस सूत्र से लुक् हो जाता है।*

गोत्रप्रत्ययस्य-

(८) अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यश्च।६५।

प०वि०-अत्रि-भृगु-कुत्स-वसिष्ठ-गोतम-अङ्गिरोभ्यः ५।३ च अव्ययपदम्।

स०-अत्रिश्च भृगुश्च कुत्सश्च वसिष्ठश्च गोतमश्च अङ्गिरा च ते-अत्रि०अङ्गिरसः, तेभ्यः-अत्रि०अङ्गिरोभ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-लुक्, बहुषु, तेन, एव, अस्त्रियाम्, गोत्रे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-अस्त्रियां बहुषु अत्रिभृगुवत्सवसिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यश्च गोत्रे लुक् तेनैव कृतं बहुत्वं चेत्।

अर्थः-स्त्रीलिङ्गवर्जितेभ्यो बहुष्वर्थेषु वर्तमानेभ्यः अत्रिभृगुवत्सवसिष्ठ-गोतमाङ्गिरोभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो गोत्रापत्येऽर्थे विहितस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति, यदि तेनैव गोत्रप्रत्ययेन कृतं बहुत्वं स्यात्।

उदा०-(१) **अत्रिः**-अत्रेर्गोत्रापत्यम्-आत्रेयः। अत्रेर्बहूनि अपत्यानि-अत्रयः। (२) **भृगुः**-भृगोर्गोत्रापत्यम्-भार्गवः। भृगोर्बहूनि अपत्यानि-भृगवः। (३) **कुत्सः**-कुत्सस्य गोत्रापत्यम्-कौत्सः। कुत्सस्य बहूनि अपत्यानि-कुत्साः। (४) **वसिष्ठः**-वसिष्ठस्य गोत्रापत्यम्-वासिष्ठः। वसिष्ठस्य बहूनि अपत्यानि-वसिष्ठाः। (५) **गोतमः**-गोतमस्य गोत्रापत्यम्-गौतमः। गोतमस्य बहूनि अपत्यानि-गोतमाः। (६) **अङ्गिराः**-अङ्गिरसो गोत्रापत्यम्-आङ्गिरसः। अङ्गिरसो बहूनि अपत्यानि-अङ्गिरसः।

आर्यभाषा-अर्थ-(अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग से रहित (बहुषु) बहुत अर्थों में वर्तमान (अत्रि०अङ्गिरोभ्यः) अत्रि, भृगु, कुत्स, वसिष्ठ, गोतम, अङ्गिरा इन प्रातिपदिकों से (च) भी (गोत्रे) गोत्रापत्य अर्थ में विहित प्रत्यय का (लुक्) लोप होता है, यदि (तेनैव) उसी गोत्रापत्य से बहुत्व का कथन किया गया हो।

*उदा०-(१) **अत्रि-अत्रेर्गोत्रापत्यम्-आत्रेयः।** अत्रि ऋषि का पौत्र 'आत्रेयः' कहाता है। **अत्रेर्बहूनि अपत्यानि-अत्रयः।** अत्रि ऋषि के बहुत पौत्र 'अत्रयः' कहाते हैं। (२) **भृगु-भृगोर्गोत्रापत्यम्-भार्गवः।** भृगु ऋषि का पौत्र 'भार्गवः' कहाता है। **भृगोर्बहूनि अपत्यानि-भृगवः।** भृगु ऋषि के बहुत पौत्र 'भृगवः' कहाते हैं। (३) **कुत्स-कुत्सस्य गोत्रापत्यम्-कौत्सः।** कुत्स ऋषि का पौत्र 'कौत्सः' कहाता है। **कुत्सस्य बहूनि अपत्यानि-कुत्साः।** कुत्स ऋषि के बहुत पौत्र 'कुत्साः' कहाते हैं। (४) **वसिष्ठ-वसिष्ठस्य गोत्रापत्यम्-वासिष्ठः।** वसिष्ठ ऋषि का पौत्र 'वासिष्ठः' कहाता है। **वसिष्ठस्य बहूनि अपत्यानि-वसिष्ठाः।** वसिष्ठ ऋषि के बहुत पौत्र 'वसिष्ठाः' कहाते हैं। (५) **गोतम-गोतमस्य गोत्रापत्यम्-गौतमः।** गोतम ऋषि का पौत्र 'गौतमः' कहाता है। **गोतमस्य बहूनि अपत्यानि-गोतमाः।** गोतम ऋषि के पौत्र 'गोतमाः' कहाते हैं। (६) **अङ्गिरा-अङ्गिरसो गोत्रापत्यम्-आङ्गिरसः।** अङ्गिरा ऋषि का पौत्र 'आङ्गिरस' कहाता है। **अङ्गिरसो बहूनि अपत्यानि-अङ्गिरसः।** अङ्गिरा ऋषि के बहुत पौत्र 'अङ्गिरसः' कहाते हैं।*

सिद्धि-(१) अत्रयः। अत्रि+ङस्+ढक्+जस्। अत्रि+0+अस्। अत्रयः।

यहां अत्रि प्रातिपदिक से 'इतश्चानिञः' (४।१।१२२) से गोत्रापत्य अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय होता है। उसके बहुत पौत्रों की विवक्षा में इस सूत्र से 'ढक्' प्रत्यय का लुक् हो जाता है।

(२) भृगवः। भृगु+ङस्+अण्+जस्। भृगु+अस्। भृगवः।

यहां भृगु प्रातिपदिक से 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' (४।१।११४) से गोत्रापत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है। उसके बहुत पौत्रों की विवक्षा में इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय का लुक् हो जाता है।

(३) ऐसे ही-कुत्साः, वसिष्ठाः, गोतमाः, अङ्गिरसः।

प्राच्यभरतगोत्रप्रत्ययस्य–

(६) बह्वच इञः प्राच्यभरतेषु।६६।

प०वि०–बहु-अचः ५।१ इञः ६।१ प्राच्य-भरतेषु ७।३।

स०–बहवोऽचो यस्मिन् सः-बह्वच्, तस्मात्-बह्वचः (बहुव्रीहिः)। प्राक्षु भवाः प्राच्याः। प्राच्याश्च भरताश्च ते प्राच्यभरताः (कर्मधारयः)।

अनु०–लुक्, बहुषु, तेन, एव, गोत्रे इति चानुवर्तते। अस्त्रियाम् इति च नानुवर्तते।

अन्वयः–बहुषु बह्वचः प्राच्यभरतेषु इञो लुक्, तेनैव कृतं बहुत्वं चेत्।

अर्थः–बहुष्वर्थेषु वर्तमानाद् बहु-अचः प्रातिपदिकात् प्राच्यगोत्रे भरतगोत्रे चार्थे विहितस्य इञ्-प्रत्ययस्य लुग् भवति, यदि तेनैव गोत्र-प्रत्ययेन कृतं बहुत्वं स्यात्।

उदा०–(१) **प्राच्यगोत्रम्**–पन्नागारस्य गोत्रापत्यम्-पान्नागारिः। पन्नागारस्य बहूनि अपत्यानि-पन्नागाराः। मन्थरैषणस्य गोत्रापत्यम्-मान्थरैषणिः। मन्थरैषणस्य बहूनि अपत्यानि-मन्थरैषणाः।

(२) **भरतगोत्रम्**–युधिष्ठिरस्य गोत्यापत्यम्-यौधिष्ठिरिः। युधिष्ठिरस्य बहूनि अपत्यानि-युधिष्ठिराः। अर्जुनस्य गोत्रापत्यम्-आर्जुनिः। अर्जुनस्य बहूनि अपत्यानि-अर्जुनाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(बहुषु) बहुत अर्थों में वर्तमान (बहु-अचः) बहुत् अच्वाले प्रातिपदिक से (प्राच्य-भारतेषु) प्राच्यगोत्र और भरतगोत्र में विहित (इञः) इञ्-प्रत्यय का (लुक्) लोप हो जाता है यदि (तेनैव) उसी गोत्रप्रत्यय से उसका बहुत्व कथन किया गया हो।

उदा०-(१) प्राच्यगोत्र-पन्नागारस्य गोत्रापत्यम्-पान्नागारिः। पन्नागार का पौत्र 'पान्नागारिः' कहाता है। पन्नागारस्य बहूनि अपत्यानि-पन्नागाराः। पन्नागार के बहुत पौत्र 'पन्नागाराः' कहाते हैं। मन्थरैषणस्य गोत्रापत्यम्-मान्थरैषणिः। मन्थरैषण का पौत्र 'मान्थरैषणिः' कहाता है। मन्थरैषणस्य बहूनि अपत्यानि-मन्थरैषणाः। मन्थरैषण के बहुत पौत्र 'मन्थरैषणाः' कहाते हैं।

(२) भरतगोत्र-युधिष्ठिरस्य गोत्रापत्यम्-यौधिष्ठिरिः। युधिष्ठिर का पौत्र 'यौधिष्ठिरिः' कहाता है। युधिष्ठिरस्य बहूनि अपत्यानि-युधिष्ठिराः। युधिष्ठिर के बहुत पौत्र 'युधिष्ठिराः' कहाते हैं। अर्जुनस्य गोत्रापत्यम्-आर्जुनिः। अर्जुन का पौत्र 'आर्जुनिः' कहाता है। अर्जुनस्य बहूनि अपत्यानि-अर्जुनाः। अर्जुन के बहुत पौत्र 'अर्जुनाः' कहाते हैं।

सिद्धि-पन्नागाराः। पन्नागार+ङस्+इञ्+जस्। पान्नागार+०+अस्। पन्नागाराः।

यहां प्राच्य गोत्रवाची 'पन्नागार' प्रातिपदिक से गोत्रापत्य के अर्थ में 'अत इञ्' (४।१।९५) से 'इञ्' प्रत्यय होता है। उसका बहुत पौत्रों की विवक्षा में इस सूत्र से लुक् हो जाता है। ऐसे ही अन्य उदाहरणों में भी समझ लेवें।

विशेष-शरावती (साबरमती) के पूर्व का देश प्राच्य कहाता है। वर्तमान कुरुक्षेत्र का प्राचीन नाम भरत जनपद था।

लुक्प्रतिषेधः-

(१०) न गोपवनादिभ्यः।६७।

प०वि०-न अव्ययपदम्, गोपवन-आदिभ्यः ५।३।

स०-गोपवन आदिर्येषां ते-गोपवनादयः, तेभ्यः-गोपवनादिभ्यः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-लुक्, बहुषु, तेन, एव, गोत्रे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुषु गोपवनादिभ्यो गोत्रे लुङ् न, तेनैव कृतं बहुत्वं चेत्।

अर्थः-बहुष्वर्थेषु वर्तमानेभ्यो गोपवनादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गोत्रापत्येऽर्थे विहितस्य प्रत्ययस्य लुङ् न भवति, यदि तेनैव गोत्रप्रत्ययेन कृतं बहुत्वं स्यात्।

उदा०-गोपवनस्य गोत्रापत्यम्-गौपवनः। गोपवनस्य **बहूनि अपत्यानि-**गौपवनाः। शिग्रोर्गोत्रापत्यम्-शैग्रवः। शिग्रोर्बहूनि **अपत्यानि-शैग्रवाः।**

गोपवन। शिग्रु। बिन्दु। भाजन। अश्वावतान। श्यामाक। श्यमाक। श्यापर्ण। हरित। किन्दास। वह्यस्क। अर्कलूष। वध्योष। विष्णुवृद्ध। प्रतिबोध। रथन्तर। रथीतर। गविष्ठिर। निषाद। मठर। मृद। पुनर्भू। पुत्र। दुहितृ। ननान्दृ। **परस्त्री परशुं च।** इति बिन्दाद्यन्तर्गतो गोपवनादिगणः (४।१।१०४)।

आर्यभाषा-अर्थ-(बहुषु) बहुत अर्थों में वर्तमान (गोपवनादिभ्यः) गोपवन आदि प्रातिपदिकों से (गोत्रे) गोत्रापत्य अर्थ में विहित प्रत्यय का (लुक्) लोप (न) नहीं होता है।

*उदा०-**गोपवनस्य गोत्रापत्यम्-गौपवनः।** गोपवन का पौत्र 'गौपवनः' कहाता है। **गोपवनस्य बहूनि अपत्यानि-गौपवनाः।** गोपवन ऋषि के बहुत पौत्र 'गौपवनाः' कहाते हैं। **शिग्रोर्गोत्रापत्यम्-शैग्रवः।** शिग्रु ऋषि का पौत्र 'शैग्रवः' कहाता है। **शिग्रोर्बहूनि अपत्यानि-शैग्रवाः।** शिग्रु ऋषि के बहुत पौत्र 'शैग्रवाः' कहाते हैं।*

*सिद्धि-**गौपवनाः।** गोपवन+ङस्+अञ्+जस्। गौपवन+अ+अस्। गौपवनाः।*

*यहां **'गौपवन'** प्रातिपदिक से गोत्रापत्य अर्थ में **'अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्'** (४।१।१०४) से 'अञ्' प्रत्यय है। **'यञञोश्च'** (२।४।६४) से इस 'अञ्' प्रत्यय का लुक् प्राप्त था। इस सूत्र से प्रत्यय के लुक् का प्रतिषेध किया गया है।*

विशेष-गोपवन आदि शब्द बिदादिगण (४।१।१०४) के अन्तर्गत हैं।

गोत्रप्रत्ययस्य-

(११) तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे।६८।

प०वि०-तिक-कितवादिभ्यः ५।३ द्वन्द्वे ७।१।

स०-तिकश्च कितवश्च तौ कितकितवौ, आदिश्च आदिश्च तौ आदी, तिककितवौ आदी येषां ते तिककितवादयः, तेभ्यः-तिककितवादिभ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वगर्भितबहुव्रीहिः)।

अनु०-लुक्, बहुषु, तेन, एव, गोत्रे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-द्वन्द्वे बहुषु तिककितवादिभ्यो गोत्रे लुक्, तेनैव कृतं बहुत्वं चेत्।

अर्थः-द्वन्द्वे समासे बहुष्वर्थेषु वर्तमानेभ्यस्तिकादिभ्यः कितवादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो गोत्रापत्येऽर्थे विहितस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति, यदि तेनैव गोत्रप्रत्ययेन कृतं बहुत्वं स्यात्।

उदा०-तिकस्य गोत्रापत्यं तैकायनिः, कितवस्य गोत्रापत्यं कैतवायनिः । तैकायनयश्च, कैतवायनयश्च ते-तिककितवाः । वङ्खरस्य गोत्रापत्यं वाङ्खरिः । भण्डीरथस्य गोत्रापत्यं भाण्डीरथिः । वाङ्खरयश्च भाण्डीरथयश्च ते वङ्खरभण्डीरथाः ।

तिककितवाः । वङ्खरभण्डीरथाः । उपकलमकाः । पफनकनरकाः । बकनखगुश्वपदपरिणद्धाः । उब्जककुभाः । लङ्कशान्तमुखाः । उरसलङ्कटाः । भ्रष्टककपिष्ठलाः । कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः । अग्निवेशदासेरकाः । इति तिककितवादयः ।

आर्यभाषा-अर्थ-(द्वन्द्वे) द्वन्द्व समास में (बहुषु) बहुत अर्थों में वर्तमान (तिककितवादिभ्यः) तिक आदि और कितव आदि प्रातिपदिकों से (गोत्रे) गोत्रापत्य अर्थ में विहित प्रत्यय का (लुक्) लोप होता है, यदि (तेन-एव) उसी गोत्रापत्य प्रत्यय से बहुत अर्थ का कथन किया गया हो।

*उदा०-(१) **तिकस्य गोत्रापत्यं तैकायनिः।** तिक ऋषि का पौत्र 'तैकायनिः' कहाता है। **कितवस्य गोत्रापत्यं कैतवायनिः।** कितव ऋषि का पौत्र 'कैतवायनिः' कहाता है। **तैकायनयश्च कैतवायनयश्च ते तिककितवाः।** तिक ऋषि और कितव ऋषि के बहुत पौत्र 'तिककितवाः' कहाते हैं।*

*(२) **वङ्खरस्य गोत्रापत्यं वाङ्खरिः।** वङ्खर ऋषि का पौत्र 'वाङ्खरिः' कहाता है। **भण्डीरथस्य गोत्रापत्यं भाण्डीरथिः।** भण्डीरथ ऋषि का पौत्र 'भाण्डीरथिः' कहाता है। **वाङ्खरयश्च भाण्डीरथयश्च ते वङ्खरभण्डीरथाः।** वङ्खर ऋषि और भण्डीरथ के ऋषि के बहुत पौत्र 'वङ्खरभण्डीरथाः' कहाते हैं।*

*सिद्धि-(१) **तिककितवाः।** तिक+ङस्+फिञ्+सु। तैक+आयनि+सु। तैकायनिः। कितव+ङस्+फिञ्+सु। कैतव+आयन+सु। कैतवायनिः।*

*यहां तिक और कितव प्रातिपदिक से गोत्रापत्य अर्थ में **'तिकादिभ्यः फिञ्'** (४।१।१५४) से 'फिञ्' प्रत्यय है। इनके द्वन्द्व समास में बहुत पौत्रों की विवक्षा में इस प्रत्यय का इस सूत्र से लुक् हो जाता है।*

*(२) **वङ्खरभण्डीरथाः।** यहां वङ्खर और भण्डीरथ प्रातिपदिक से गोत्रापत्य अर्थ में **'अत इञ्'** (४।१।९५) से 'इञ्' प्रत्यय होता है। इनके द्वन्द्व समास में बहुत पौत्रों की विवक्षा में इस सूत्र से इस प्रत्यय का लुक् हो जाता है।*

वा गोत्रप्रत्ययस्य–

(१२) उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे।६६।

प०वि०–उपक-आदिभ्य: ५।३ अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्, अद्वन्द्वे ७।१।

स०–उपक आदिर्येषां ते उपकादय:, तेभ्य:–उपकादिभ्य: (बहुव्रीहि:)। न द्वन्द्व इति अद्वन्द्व:, तस्मिन्–अद्वन्द्वे (नञ्तत्पुरुष:)।

अनु०–लुक्, बहुषु, तेन, एव, गोत्रे इति चानुवर्तते।

अन्वय:–अद्वन्द्वे बहुषु उपकादिभ्यो गोत्रेऽन्यतरस्यां लुक्, तेनैव कृतं बहुत्वं चेत्।

अर्थ:–अद्वन्द्वे च समासे बहुष्वर्थेषु वर्तमानेभ्य: उपकादिभ्य: प्रातिपदिकेभ्यो गोत्रापत्येऽर्थे विहितस्य प्रत्ययस्य विकल्पेन लुग् भवति, यदि तेनैव गोत्रप्रत्ययेन कृतं बहुत्वं स्यात्।

उदा०–उपकलमका:। भ्रष्टककपिष्ठला:। कृष्णाजिनसुन्दरा:। उपकादीनामेते त्रय: शब्दा: कृतद्वन्द्वास्तिककितवादिषु पठ्यन्ते। एतेषु पूर्वसूत्रेण गोत्रप्रत्ययस्य नित्यं लुग् भवति।

अद्वन्द्वे चानेन सूत्रेण विकल्पो विधीयते–उपका औपकायना वा। लमका लामकायना वा। भ्रष्टका भ्राष्टकयो वा। कपिष्ठला: कापिष्ठलयो वा। कृष्णाजिना: कार्ष्णाजिनयो वा। कृष्णसुन्दरा:। कार्ष्णसुन्दरयो वा। परिशिष्टानां च द्वन्द्वेऽद्वन्द्वे च गोत्रप्रत्ययस्य विकल्पेन लुग् भवति–

पण्डराक। अण्डारक। गडुक। सुपर्यक। सुपिष्ठ। मयूरकर्ण। खारीजङ्घ। शलाबल। पतञ्जल। कण्ठेरणि। कुषीतक। काशकृत्स्न। निदाघ। कलशीकण्ठ। दामकण्ठ। कृष्णपिङ्गल। कर्णक। पर्णक। जटिलक। बधिरक। जन्तुक। अनुलोम। अर्द्धपिङ्गलक। प्रतिलोम। प्रतान। अनभिहित।

आर्यभाषा-अर्थ-(अद्वन्द्वे) अद्वन्द्व समास में (बहुषु) बहुत अर्थों में वर्तमान (उपकादिभ्य:) उपक आदि प्रातिपदिकों से (गोत्रे) गोत्रापत्य अर्थ में विहित प्रत्यय का

(अन्यतरस्याम्) विकल्प से (लुक्) लोप होता है, यदि (तेन-एव) उसी गोत्र प्रत्यय से बहुत अर्थ का कथन किया गया हो।

*उदा०-**उपकलमकाः, भ्रष्टककपिष्ठलाः, कृष्णाजिनसुन्दराः।** उपकादिगण के ये तीन शब्द द्वन्द्व समास सहित 'तिककितव' आदि गण में पठित हैं। इनमें पूर्वसूत्र (२।४।६८) से गोत्रप्रत्यय का नित्य लुक् होता है।*

*अद्वन्द्व में इस सूत्र से गोत्र-प्रत्यय के लुक् का विकल्प-विधान किया है-**उपकाः। औपकायनाः।** उपक ऋषि के पौत्र। **लमकाः। लामकायनाः।** लमक ऋषि के पौत्र। इत्यादि।*

सिद्धि-(१) उपकाः। उपक+ङस्+फक्+जस्। उपक+०+अस्। उपकाः।

*यहां उपक शब्द से गोत्रापत्य अर्थ में **'नडादिभ्यः फक्'** (४।१।९९) से फक् प्रत्यय है। उपक के बहुत पौत्रों की विवक्षा में इस सूत्र से उस 'फक्' प्रत्यय का लुक् हो जाता है।*

*(२) **औपकायनाः।** उपक+ङस्+फिञ्+जस्। औपक+आयन+अस्। औपकायनाः।*

यहां विकल्प पक्ष में 'फक्' प्रत्यय का 'लुक्' नहीं हुआ है।

गोत्रप्रत्ययस्य–

(१३) आगस्त्यकौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच्।७०।

प०वि०-आगस्त्य-कौण्डिन्ययोः ६।२ अगस्ति-कुण्डिनच् १।१।

स०-आगस्त्यश्च कौण्डिन्यश्च तौ आगस्त्यकौण्डिन्यौ, तयोः-आगस्त्यकौण्डिन्ययोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। अगस्तिश्च कुण्डिनच् च एतयोः समाहारोऽस्तिकुण्डिनच् (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-लुक् तेन एव बहुषु गोत्रे इति चानुवर्तते।

अन्वयः-बहुषु आगस्त्यकौण्डिन्ययोर्गोत्रे लुक्, तयोश्चागस्तिकुण्डिनच तेनैव कृतं बहुत्वं स्यात्।

अर्थः-बहुष्वर्थेषु वर्तमानयोरागस्त्यकौण्डिन्ययोः शब्दयोर्गोत्रापत्येऽर्थे विहितस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति, तयोश्च स्थाने यथासंख्यम् अगस्तिकुण्डिनचावादेशौ भवतः, यदि तेनैव गोत्रप्रत्ययेन कृतं बहुत्वं स्यात्।

उदा०-अगस्त्यस्य गोत्रापत्यम्-आगस्त्य:। अगस्त्यस्य बहूनि अपत्यानि-अगस्तय:। कुण्डिन्या गोत्रापत्यम्-कौण्डिन्य:। कुण्डिन्या बहूनि अपत्यानि-कुण्डिना:।

आर्यभाषा-अर्थ-(बहुषु) बहुत अर्थों में वर्तमान (आगस्त्यकौण्डिन्ययो:) आगस्त्य और कौण्डन्य के (गोत्रे) गोत्रापत्य अर्थ में विहित प्रत्यय का (लुक्) लोप होता है और उनके स्थान में यथासंख्य (अगस्तिकुण्डिनच्) अगस्ति और कुण्डिनच् आदेश होते हैं, यदि (तेन-एव) उसी गोत्रप्रत्यय से उनके बहुत्व का कथन किया गया हो।

*उदा०-**अगस्त्यस्य गोत्रापत्यम्-आगस्त्य:।** अगस्त्य ऋषि का पौत्र 'आगस्त्य:' कहाता है। **अगस्त्यस्य बहूनि अपत्यानि-अगस्तय:।** अगस्त्य ऋषि के बहुत पौत्र 'अगस्तय:' कहाते हैं। **कुण्डिन्या गोत्रापत्यं कौण्डिन्य:।** कुण्डिनी ऋषिका का पौत्र 'कौण्डिन्य:' कहाता है। **कुण्डिन्या: बहूनि अपत्यानि-कुण्डिना:।** कुण्डिनी ऋषिका के बहुत पौत्र 'कुण्डिना:' कहाते हैं।*

***सिद्धि-(१) अगस्तय:।** अगस्त्य+ङस्+अण्+जस्। अगस्ति+०+अस्। अगस्तय:।*

*यहां अगस्त्य प्रातिपदिक से **'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च'** (४।१।११४) से गोत्रापत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है। 'अगस्त्य' के बहुत पौत्र अर्थ की विवक्षा में इस सूत्र से इस 'अण्' प्रत्यय का लुक् हो जाता है और 'अगस्त्य' शब्द के स्थान में 'अगस्ति' आदेश हो जाता है।*

***(२) कुण्डिना:।** कुण्डिनी+ङस्+यञ्+जस्। कुण्डिनच्+०+अस्। कुण्डिना:।*

*यहां कुण्डिनी प्रातिपदिक से गोत्रापत्य अर्थ में **'गर्गादिभ्यो यञ्'** (४।१।१०५) से यञ् प्रत्यय होता है। 'कुण्डिनी' के बहुत पौत्र अर्थ की विवक्षा में इस सूत्र से 'यञ्' प्रत्यय का लुक् हो जाता है और उसके स्थान में 'कुण्डिनच्' आदेश होता है।*

*(३) कुण्डिनी शब्द मध्योदात्त है। कुण्डिनच् शब्द में चकार का अनुबन्ध **'चितोऽन्तोदात्त:'** (६।१।१६२) अन्तोदात्त स्वर के लिये किया गया है।*

सुप्प्रत्ययस्य-

(१४) सुपो धातुप्रातिपदिकयो:।७१।

प०वि०-सुप: ६।१ धातु-प्रातिपदिकयो: ६।२।

स०-धातुश्च प्रातिपदिकं च ते-धातुप्रातिपदिके, तयो:-धातुप्रातिपदिकयो: (इतरेतरयोगद्वन्द्व:)।

अनु०-लुक् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-धातुप्रातिपदिकयोः सुपो लुक्।

अर्थः-धात्ववयवस्य प्रातिपदिकावयवस्य च सुप्-प्रत्ययस्य लुग् भवति।

उदा०-(१) **धातोः**-आत्मनः पुत्रमिच्छति-पुत्रीयति। आत्मनो घटमिच्छति-घटीयति। (२) **प्रातिपदिकस्य**-कष्टं श्रित इति कष्टश्रितः। राज्ञः पुरुष इति राजपुरुषः।

आर्यभाषा-अर्थ-(धातुप्रातिपदिकयोः) धातु के अवयव और प्रातिपदिक के अवयव (सुपः) सुप्-प्रत्यय का (लुक्) लोप हो जाता है।

*उदा०-(१) **धातु-आत्मनः पुत्रमिच्छति-पुत्रीयति।** अपने पुत्र को चाहता है। **आत्मनो घटमिच्छति-घटीयति।** अपने घट (घड़ा) को चाहता है। (२) **प्रातिपदिक-कष्टं श्रित इति कष्टश्रितः।** कष्ट को प्राप्त हुआ। **राज्ञः पुरुष इति राजपुरुषः।** राजा का पुरुषः।*

*सिद्धि-(१) **पुत्रीयति।** पुत्र+अम्+क्यच्। पुत्र+य। पुत्रीय+लट्। पुत्रीय+शप्+ति। पुत्रीय+अ+ति। पुत्रीयति।*

*यहां 'पुत्र' शब्द से इच्छा अर्थ में '**सुप आत्मनः क्यच्**' (३।१।८) से 'क्यच्' प्रत्यय है। इसकी '**सनाद्यन्ता धातवः**' (३।१।३२) से धातु संज्ञा है। इस सूत्र से धातु-अवयवसम्बन्धी 'अम्' प्रत्यय (सुप्) का लुक् हो जाता है।*

*(२) **कष्टश्रितः।** कष्ट+अम्+श्रित+सु। कष्टश्रित+सु। कष्टश्रितः।*

*यहां 'कष्ट' और 'श्रित' सुबन्त का '**द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः**' (२।१।२४) से द्वितीया तत्पुरुष समास होता है। इस सूत्र से 'कष्ट' और 'श्रित' प्रातिपदिक के अवयव 'अम्' और 'सु' (सुप्) प्रत्यय का लुक् हो जाता है। 'कष्टश्रित' इसकी '**कृत्तद्धितसमासाश्च**' (१।२।४६) से पुनः प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'सु' आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है।*

(३) सुप्-सु आदि २१ प्रत्ययों को 'सुप्' कहते हैं।

शप्-प्रत्ययस्य-

(१५) अदिप्रभृतिभ्यः शपः।७२।

प०वि-अदि-प्रभृतिभ्यः ५।३ शपः ६।१।

स०-अदिः प्रभृतिर्येषां तेऽदिप्रभृतयः, तेभ्यः-अदिप्रभृतिभ्यः (बहुव्रीहिः)।

अनु०-लुक् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अदिप्रभृतिभ्यः शपो लुक्।

अर्थः-अदिप्रभृतिभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य शप्-प्रत्ययस्य लुग् भवति।

उदा०-अत्ति। हन्ति। द्वेष्टि।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(अदिप्रभृतिभ्यः) धातुपाठ के अदादिगण में पठित धातुओं से परे (शपः) शप्-प्रत्यय का (लुक्) लोप हो जाता है।

__उदा०-अत्ति।__ वह खाता है। __हन्ति।__ वह मारता है। __द्वेष्टि।__ वह द्वेष करता है।

__सिद्धि-अत्ति।__ अद्+लट्। अद्+शप्+तिप्। अद्+०+ति। अत्ति।

यहां 'अद् __भक्षणे__' (अदा०प०) धातु से वर्तमानकाल में __'वर्तमाने लट्'__ (३।२।१२३) से लट् प्रत्यय है। __'कर्तरि शप्'__ (३।१।६८) से शप्-प्रत्यय होता है। इस सूत्र से अदादिगण की अद् धातु से 'शप्' प्रत्यय का लुक् हो जाता है।

__विशेष__-पाणिनीय धातुपाठ में अदादिगण की सब धातु देख लेवें।

शप्प्रत्ययस्य (बहुलम्)-

(१६) बहुलं छन्दसि।७३।

प०वि०-बहुलम् १।१ छन्दसि ७।१।

अनु०-शपः, लुक् इति चानुवर्तते।

अन्वयः-छन्दसि बहुलं शपो लुक्।

अर्थः-छन्दसि विषये शप्-प्रत्ययस्य बहुलं लुग् भवति।

उदा०-(१) **शपो लुङ् न-वृत्रं हनति।** (ऋ० ८।८९।३)। अहिः शयते। (२) **शपो लुक्-त्राध्वं नो देवाः।** (ऋ० २।२९।६)।

__आर्यभाषा-अर्थ__-(छन्दसि) वेदविषय में (शपः) शप्-प्रत्यय का (बहुलम्) बहुलता से (लुक्) लोप होता है।

उदा०-(१) शप् का लुक् नहीं-वृत्रं __हनति।__ वह वृत्र को मारता है। __अहिः शयते।__ अहि (सर्प) सोता है। (२) शप् का लुक्-__त्राध्वं नो देवाः।__ हे विद्वानो ! तुम हमारा पालन करो।

सिद्धि-(१) __हनति।__ हन्+लट्। हन्+शप्+तिप्। हन्+अ+ति। हनति।

यहां 'हन __हिंसागत्योः__' (अदा०प०) धातु से वर्तमानकाल में __'वर्तमाने लट्'__ (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। __'कर्तरि शप्'__ (३।२।६८) से 'शप्' प्रत्यय है। यह धातु अदादिगण की है। __'अदिप्रभृतिभ्यः शपः'__ (२।४।७२) से शप् का लुक् कहा गया है किन्तु इस सूत्र से उक्त वैदिक प्रयोग में 'शप्' का 'लुक्' नहीं होता है। ऐसे ही-__शीङ् स्वप्ने__' (अदा०आ०) से-__शयते।__

(२) त्राध्वम्। त्रै+लोट्। त्रै+शप्+ध्वम्। त्रा+०+ध्वम्। त्राध्वम्।

यहां विधि आदि अर्थों में 'त्रैङ् पालने' (भ्वा०आ०) धातु से 'लोट् च' (३।३।१६२) से 'लोट्' प्रत्यय है। यहां वैदिक प्रयोग में भ्वादि धातु से इस सूत्र से 'शप्' प्रत्यय का लुक् हो जाता है।

(३) छन्द में बहुलवचन से जहां 'शप्' प्रत्यय का 'लुक्' विधान किया गया है वहां लुक् नहीं होता है और जहां लुक् विधान नहीं किया है, वहां लुक् हो जाता है। यह उपरिलिखित उदाहरणों में स्पष्ट है।

यङ्प्रत्ययस्य–

(१७) यङोऽचि च।७४।

प०वि०–यङः ६।१ अचि ७।१ च अव्ययपदम्।

अनु०–लुक्, बहुलम् इति चानुवर्तते।

अन्वयः–यङश्च बहुलं लुगचि।

अर्थः–यङ्प्रत्ययस्य च बहुलं लुग् भवति, अचि प्रत्यये परतः।

उदा०–(१) **अचि**–लोलुवः। पोपुवः। सनीस्रंसः। दनीध्वंसः। (२) **बहुलग्रहणाद् अनच्यपि लुग् भवति**–शाकुनिको लालपीति। दुन्दुभिर्वावदीति।

आर्यभाषा-अर्थ-(यङः) यङ्-प्रत्यय का (च) भी (बहुलम्) बहुलता से (लुक्) लोप हो जाता है (अचि) अच्-प्रत्यय परे होने पर।

*उदा०-**लोलुवः**। बहुत काटनेवाला। **पोपुवः**। बहुत पवित्र करनेवाला। **सनीस्रंसः**। बहुत नष्ट करनेवाला। **दनीध्वंसः**। बहुत ध्वंस करनेवाला।*

*यहां बहुल का ग्रहण करने से अच्-प्रत्यय से अन्यत्र भी यङ्-प्रत्यय का लुक् हो जाता है-**शाकुनिको लालपीति**। पक्षियों का शिकारी बहुत शब्द करता है। **दुन्दुभिर्वावदीति**। ढोल बहुत बजता है।*

*सिद्धि-(१) **लोलुवः**। लूञ्+यङ्। लू+लू+य। लोलूय+अच्। लोलू०+अ। लोल् उवङ्+अ। लोलुव+सु। लोलुवः।*

यहां 'लुञ् छेदने' (क्र्या०उ०) धातु से क्रियासमभिहार अर्थ में 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय है। 'सन्यङोः' (६।१।९) से धातु को द्वित्व होता है। यङन्त 'लोलुव' धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (३।१।१३४) से 'अच्' प्रत्यय होता है। अच्-प्रत्यय के परे होने पर इस सूत्र से 'यङ्'

*का लुक् हो जाता है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से प्राप्त गुण का **'न धातुलोपे आर्धधातुके'** (१।१।४) से निषेध होता है। 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (६।४।७७) से धातु को 'उवङ्' आदेश हो जाता है।*

*(२) 'पूञ् पवने' (क्र्या०उ०) से 'स्रंसुध्वंसु अधःपतने' (भ्वा०प०) से **सनीस्रंसः** और दनीध्वंसः शब्द सिद्ध होते हैं।*

*(३) **लालपीति।** लप्+यङ्। लप्+लप्+य। ल+लप्+य। लालप्य+लट्। लालप्य+शप्+तिप्। लालप्य+०+ति। लालप्+०+ईट्+ति। लालपीति।*

*यहां 'लप् व्यक्तायां वाचि' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् यङ्-प्रत्यय है। **'दीर्घोऽकितः'** (७।४।८३) से अभ्यास को दीर्घ और **'यङो वा'** (७।३।९४) से ईट् आगम होता है। यहां बहुलवचन से 'अच्' प्रत्यय से अन्यत्र भी इस सूत्र 'यङ्' का लुक् होगया है। यङ्लुक् विषय को 'चर्करीतं च' (अदादिगणवार्तिक) से अदादिगण में मानने से **'अदिप्रभृतिभ्यः शपः'** (२।४।७२) से 'शप्' प्रत्यय का भी लुक् हो जाता है।*

(४) 'वद व्यक्तायां वाचि' (भ्वा०प०) से वावदीति।

शपः श्लुः–

(१७) जुहोत्यादिभ्यः श्लुः।७५।

प०वि०–जुहोति-आदिभ्यः ५।३ श्लुः १।१।

स०–जुहोतिरादिर्येषां ते जुहोत्यादयः, तेभ्यः-जुहोत्यादिभ्यः (बहुव्रीहिः)।

अनु०–शप इत्यनुवर्तते।

अन्वयः–जुहोत्यादिभ्यः शपः श्लुः।

अर्थः–जुहोत्यादिभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य शप्-प्रत्ययस्य श्लुर्भवति।

उदा०–जुहोति। बिभेति। नेनेक्ति।

आर्यभाषा-अर्थ-(जुहोत्यादिभ्यः) जुहोति आदि धातुओं से परे (शपः) शप्-प्रत्यय का (श्लुः) श्लु=लोप होता है।

*उदा०-**जुहोति।** वह देता है, खाता है, लेता है। **बिभेति।** वह डरता। **नेनेक्ति।** वह शुद्ध करता/पोषण करता है।*

*सिद्धि-(१) **जुहोति।** हु+लट्। हु+शप्+तिप्। हु+०+ति। हु+हु+ति। झु+हु+ति। जु+हो+ति। जुहोति।*

यहां 'हु दानादनयोः, आदाने चेत्यके' (जु०प०) धातु से वर्तमानकाल में 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से लट्-प्रत्यय है। 'कर्तरि शप्' (३।२।६८) से 'शप' प्रत्यय है। इस सूत्र से शप् का 'श्लु' (लोप) होता है। 'श्लौ' (६।१।२०) से धातु को द्वित्व, 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से अभ्यास के ह को झ और 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५४) से झ को ज होता है।

(२) 'ञिभी भये' (जु०प०) से-बिभेति। 'णिजिर् शौचपोषणयोः' (जु०प०) से-नेनिक्ति।

(३) प्रत्यय के लोप की 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' (१।१।६२) से लुक्, श्लु और लुप् ये तीन संज्ञायें होती हैं।

(४) पाणिनीय धातुपाठ के जुहोपत्यादिगण में जुहोति (हु) आदि धातु देख लेवें।

शपः श्लुः (बहुलम्)–

(१८) बहुलं छन्दसि।७६।

प०वि०–बहुलम् १।१ छन्दसि ७।१।

अनु०–शपः श्लुरिति चानुवर्तते।

अन्वयः–छन्दसि बहुलं शपः श्लुः।

अर्थः–छन्दसि विषये बहुलं शप्-प्रत्ययस्य श्लुर्भवति।

उदा०–(१) **शपः श्लुः–** पूर्णां विवष्टि। जनिमाबिभक्ति। **न च शपः श्लुः**–दाति प्रियाणि। धाति देवम्।

आर्यभाषा–अर्थ–(छन्दसि) वेदविषय में (बहुलम्) बहुलता से (शपः) शप्-प्रत्यय का (श्लुः) श्लु=लोप होता है।

उदा०–शप् का श्लु–**पूर्णां विवष्टि।** पूर्णा को चाहता है। **जनिमाबिभक्ति।** माता-पिता की सेवा करता है। (२) शप् का श्लु **नहीं–दाति प्रियाणि।** प्रिय वस्तुयें देता है। **धाति देवम्।** देवता (विद्वान्) का धारण-पोषण करता है।

सिद्धि–(१) **विवष्टि।** वश्+लट्। वश्+शप्+तिप्। वश+०+ति। वश्+वश्+ति। वि+वस्+ति। वि+वष्+टि। विवष्टि।

यहां 'वश कान्तौ' (अदा०प०) धातु से वर्तमानकाल में 'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३) से 'लट्' प्रत्यय है। 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से 'शप्' प्रत्यय है। यह अदादिगण की धातु है अतः 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (२।४।७२) से 'शप्' का 'लुक्' होना चाहिये किन्तु छन्द में बहुलवचन से 'शप्' का 'श्लु' होता है। 'श्लौ' (६।१।१०) से धातु को द्वित्व, 'बहुलं

छन्दसि' (७।४।७८) से अभ्यास को इत्व, 'व्रश्चभ्रस्ज०' (८।२।३६) से 'श्' को षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) से टवर्ग=त को ट होता है।

*(२) 'भज सेवायाम्' (भ्वा०प०) से-**बिभक्ति।** पूर्ववत् 'शप्' का 'श्लु' है।*

*(३) **दाति।** दा+लट्। दा+शप्+तिप्। दा+०+ति। दाति।*

यहां 'डुदाञ् दाने' (अदा०उ०) धातु से बहुल-वचन से 'शप्' का 'लुक्' होगया है। यह धातु जुहोत्यादिगण की है, 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' (२।४।७५) से 'शप्' का 'श्लु' होना चाहिये था। यह सब छन्द में बहुलवचन की महिमा है।

*(४) 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जु०उ०) से-**धाति।***

सिच्प्रत्ययस्य-

(१६) गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु।७७।

प०वि०-गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः ५।३ सिचः ६।१ परस्मै-पदेषु ७।३।

स०-गातिश्च स्थाश्च घुश्च पाश्च भूश्च ते गातिस्थाघुपाभुवः, तेभ्यः-गातिस्थाघुपाभूभ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-लुगित्यनुवर्तते, न श्लुः।

अन्वयः-गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचो लुक् परस्मैपदेषु।

अर्थः-गातिस्थाघुपाभूभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य सिच्-प्रत्ययस्य लुग् भवति, परस्मैपदेषु प्रत्ययेषु परतः।

उदा०-(१) **गातिः**-अगात्। (२) **स्था**-अस्थात्। (३) **घुः**-(दा)-अदात्। (धा)-अधात्। (४) **पा**-अपात्। (५) **भूः**-अभूत्।

आर्यभाषा-अर्थ-(गातिस्थाघुपाभूभ्यः) गाति, स्था, घु, (दा, धा) पा और भू धातु से परे (सिचः) सिच् प्रत्यय का (लुक्) लोप होता है यदि (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्यय परे हों।

*उदा०-(१) गाति-**अगात्।** वह गया। (२) स्था-**अस्थात्।** वह ठहरा। (३) घु-(दा)-**अदात्।** उसने दिया। (धा)-**अधात्।** उसने धारण-पोषण किया। (४) पा-**अपात्।** उसने पीया। (५) भू-**अभूत्।** वह था।*

*सिद्धि-(१) **अगात्।** इण्+लुङ्। इ+च्लि+ल्। गा+सिच्+तिप्। अ+गा+०त्। अगात्।*

यहां 'इण् गतौ' (अदा०प०) धातु से सामान्य भूतकाल में 'लुङ्' (३।२।११०) से लुङ्' प्रत्यय है। 'च्लि लुङि' (३।१।४३) से 'च्लि' प्रत्यय और उसके स्थान में 'च्लेः सिच्' (३।१।४४) से 'सिच्' आदेश है। 'इणो गा लुङि' (२।४।४५) से आर्धधातुक विषय में 'इण्' के स्थान में 'गा' आदेश होता है। इस सेत्र से 'गा' धातु से परे सिच्-प्रत्यय का लुक् होता है।

(२) अस्थात्। 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' (भ्वा०प०)।

(३) अदात्। 'डुदाञ् दाने' (जु०उ०)।

(४) अधात्। 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जु०उ०)।

(५) अपात्। 'पा पाने' (भ्वा०प०)।

(६) अभूत्। 'भू सत्तायाम्' (भ्वा०प०)।

विशेष-घु- 'दाधा घ्वदाप्' (१।१।२०) से 'दा' रूप और 'धा' रूप धातुओं की 'घु' संज्ञा की गई है। उनका यहां ग्रहण किया जाता है।

वा सिच्-प्रत्ययस्य--

(२०) विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः।७८।

प०वि०-विभाषा १।१ घ्रा-धेट्-शा-छा-सः ५।१।

स०-घ्राश्च धेट् च शाश्च छाश्च साश्च, एतेषां समाहारो घ्राधेट्शाच्छासाः, तस्मात्-घ्राधेट्शाच्छासः (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०-लुक् सिचः परस्मैपदेषु इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-घ्राधेट्शाच्छासः सिचो विभाषा परस्मैपदेषु।

अर्थः-घ्राधेट्शाच्छासाभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य सिच्-प्रत्ययस्य विकल्पेन लुग् भवति, परस्मैपदेषु प्रत्ययेषु परतः।

उदा०-(१) **घ्रा**-अघ्रात्, अघ्रासीत्। (२) **धेट्**-अधात्, अधासीत्। (३) **शा**-अशात्, अशासीत्। (४) **छा**-अच्छात्, अच्छासीत्। (५) **सा**-असात्, असासीत्।

आर्यभाषा-अर्थ-(घ्राधेट्शाच्छासः) घ्रा, धेट्, शा, छा और सा धातुओं से परे (सिचः) सिच्-प्रत्यय का (विभाषा) विकल्प से (लुक्) लोप होता है (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्यय परे होने पर।

*उदा०-(१) **घ्रा-अघ्रात्, अघ्रासीत्।** उसने सूंघा। (२) **धेट्-अधात्, अधासीत्।** उसने पीया। (३) **शा-अशात्, अशासीत्।** उसने छीला। (४) **छा-अच्छात्, अच्छासीत्।** उसने काटा। (५) **सा-असात्, असासीत्।** उसने समाप्त किया।*

सिद्धि-(१) अघ्रात्। घ्रा+लुङ्। अट्+घ्रा+च्लि+ल्। अ+घ्रा+सिच्+तिप्। अ+घ्रा+०+त्। अघ्रात्।

यहां 'घ्रा गन्धोपादाने' (भ्वा०प०) धातु से सामान्य भूतकाल में 'लुङ्' (३।२।११०) से 'लुङ्' प्रत्यय है। 'च्लि लुङि' (३।२।४३) से च्लि-प्रत्यय और 'च्लेः सिच्' (३।२।४४) से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' आदेश है। इस सूत्र से 'सिच्' प्रत्यय का 'लुक्' होता है।

(२) अघ्रासीत्। घ्रा+लुङ्। अट्+च्लि+ल्। अ+घ्रा+सिच्+तिप्। अ+घ्रा+इट्+स्+ईट्+त। अ+घ्रास्+ई+त्। अघ्रासीत्।

यहां 'यमरमनमातां सक् च' (६।३।७३) से धातु को 'सक्' आगम होता है। 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।३।३५) से सिच् को इट् आगम, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (७।३।९६) से त्-प्रत्यय को 'ईट्' आगम और 'इट ईटि' (७।२।२८) से सिच् के स् का लोप होता है। यहां विकल्प पक्ष में इस सूत्र से 'सिच्' का 'लुक्' नहीं हुआ।

(२) अधात्, अधासीत्। 'धेट् पाने' (भ्वा०प०)।

(३) अशात्, अशासीत्। 'शो तनूकरणे' (दिवा०प०)।

(४) अच्छात्, अच्छासीत्। 'छो छेदने' (दिवा०प०)।

(५) असात्, असासीत्। 'षो अन्तकर्मणि' (दिवा०प०)।

त+थास्-

(२१) तनादिभ्यस्तथासोः।७६।

प०वि०-तन-आदिभ्यः ५।३ त-थासोः ७।२।

स०-तन आदिर्येषां ते तनादयः, तेभ्यः-तनादिभ्यः (बहुव्रीहिः)। तश्च थास् च तौ तथासौ, तयोः-तथासोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-लुक्, सिचः, विभाषा इति चानुवर्तते।

अन्वयः-तनादिभ्यो सिचो विभाषा लुक् तथासोः।

अर्थः-तनादिभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य सिच्-प्रत्ययस्य विकल्पेन लुग् भवति, त-थासोः प्रत्यययोः परतः।

उदा०-(त)-अतत, अतनिष्ट। असात, असनिष्ट। **(थास्)**-अतथाः, अतनिष्ठाः। असाथाः। असनिष्ठाः।

आर्यभाषा-अर्थ-(तनादिभ्यः) तन आदि धातुओं से परे (सिचः) सिच्-प्रत्यय का (विभाषा) विकल्प (लुक्) लोप होता है (त-थासोः) त और थास् प्रत्यय परे होने पर।

उदा०-(त)-अतत, अतनिष्ट। उसने फैलाया। असात, असनिष्ट। उसने दान किया। (थास्)-अतथाः, अतनिष्ठाः। तूने फैलाया। असाथाः, असनिष्ठाः। तूने दान किया।

सिद्धि-(१) अतत। अन्+लुङ्। अट्+तन्+च्लि+त्। अ+तन्+सिच्+त। अ+त०+०+त। अतत।

यहां 'तनु विस्तारे' (तना०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' प्रत्यय, च्लि और सिच् आदेश है। इस सूत्र से त-प्रत्यय परे होने पर सिच् प्रत्यय का लोप होता है। 'अनुदात्तोपदेश०' (६।४।३७) से अनुनासिक (न्) का लोप होता है।

(२) अतनिष्ट। तन्+लुङ्। अट्+तन्+च्लि+त। अ+तन्+सिच्+त। अ+तन्+इट्+स्+त। अतनिष्ट।

यहां विकल्प पक्ष में इस सूत्र से 'सिच्' प्रत्यय का 'लुक्' नहीं होता है। 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) से 'सिच्' प्रत्यय को 'इट्' आगम, 'आदेश-प्रत्यययोः' (८।३।५९) से षत्व और 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४२) से ष्टुत्व होता है।

(३) थास्-प्रत्यय के रूप भी ऐसे ही सिद्ध करें।

(४) असनिष्ट। 'षणु दाने' (तना०उ०)।

लिट्-प्रत्ययस्य-

(२२) मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः।८०।

प०वि०-मन्त्रे ७।१ घस-ह्वर-णश-वृ-ह-आद्-वृच-कृ-गमि-जनिभ्यः ५।३ लेः ६।१।

स०-घसश्च ह्वरश्च णशश्च वृश्च दहश्च आच्च वृज् च कृश्च गमिश्च जनिश्च ते घस०जनयः, तेभ्यः-घस०जनिभ्यः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अनु०-लुक् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-मन्त्रे घस०जनिभ्यो लेर्लुक्।

अर्थः-मन्त्रे विषये घसह्वरणशवृदहाद्वृचकृगमिजनिभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य च्लि-प्रत्ययस्य लुग् भवति।

उदा०-(१) घस-अक्षन्नमीमदन्त (ऋ० १।८२।२)। (२) **ह्वर-**माह्वर्मित्रस्य त्वम्। (३) **नश-**प्रणङ्मर्त्यस्य (ऋ० १।१८।३)। (४) **वृ (वृङ्, वृञ्)-**सुरुचो वेन आवः (यजु० १३।३)। (५) **दह-**मा न आधक् (ऋ० ६।६१।१४)। (६) **आत्-**(अकारान्त) आ प्रा द्यावापृथिवी

अन्तरिक्षम् (१।११५।१)। (७) वृज्- मा नो अस्मिन् महाधने परा वर्क् (ऋ० ८।७५।२)। (८) कृ-अक्रन् कर्म कर्मकृतः। (यजु० ३।४७)। (९) गमि-अग्मन् (ऋ० १।१२१।७)। (१०) जनि-अज्ञत वा अस्य दन्ताः (ऐ० ७।१४।१५)।

आर्यभाषा-अर्थ-(मन्त्रे) वेदविषय में (घस०जनिभ्यः) घस, हर, नश, वृ, दह, आत्=आकारान्त, वृज्, कृ, गमि और जनि धातुओं से परे (लेः) च्लि-प्रत्यय का (लुक्) लोप होता है।

उदा०-ऊपर संस्कृतभाषा में देख लेवें। उदाहरणों के अर्थ वेद में निर्दिष्ट पते पर देखें। मन्त्रखण्डों का अर्थ देना सम्भव नहीं है।

सिद्धि-(१) अक्षन्। अद्+लुङ्। घस्+ल्। अट्+घस्+च्लि+ल्। अ+घस्+०+झि। अ+घस्+अन्ति। अ+घस्+अन्त्। अ+घ्स्+अन्। अ+घ्ष्+अन्। अ+ग्ष्+अन्। अ+क्ष्+अन्। अक्षन्।

यहां 'अद भक्षणे' (अदा०प०) धातु से 'लुङ्' (३।२।११०) से सामान्य भूतकाल में 'लुङ्' प्रत्यय है। 'लुङ्सनोर्घस्लृ' (२।४।३७) से 'अद' के स्थान में 'घस्लृ' आदेश है। 'च्लि लुङि' (३।१।४३) से 'च्लि' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'च्लि' प्रत्यय का लुक् होता है। 'झोऽन्तः' (७।२।३) से 'झ्' को अन्त-आदेश, 'इतश्च' (३।४।१००) से इकार का लोप, 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से 'त्' का लोप होता है। 'गमहनजन०' (६।४।९२) से 'घस्' का उपधा लोप, 'शासिवसिघसीनां च' (८।३।६०) से 'घस्' को षत्व, (घष्) 'झलां जश् झशि' से घ्स् को जशत्व (ग्ष्) और 'खरि च' (८।४।५५) से ग्ष् को चर्त्व (क्ष्) होता है।

(२) माह्वः। ह्वृ+लुङ्। ह्वृ+च्लि+ल्। ह्वृ+०+तिप्। ह्वर्+त्। ह्वर्०। ह्वः।

यहां 'ह्वृ कौटिल्ये' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' और 'च्लि' प्रत्यय है। 'न माङ्योगे' (६।४।७४) से अड् आगम का निषेध है। इस सूत्र से 'च्लि' प्रत्यय का लुक् होता है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से ह्वृ को गुण (ह्वर्) 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६८) से 'त' का लोप होता है। 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (८।३।२५) से 'र्' को विसर्जनीय होता है।

(३) प्राणट्। प्र+नश्+लुङ्। प्र+अट्+नश्+च्लि+ल्। प्र+अ+नश्+०+तिप्। प्रा+नश्+त्। प्रा+नष्+०। प्रा+नड्। प्रा+नट्। प्राणट्।

यहां 'णश अदर्शने' (दिवा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' और 'च्लि' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'च्लि' प्रत्यय का लुक् होता है। 'व्रश्चभ्रस्ज०' (८।२।३६) से नश् को षत्व (नष्)। 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) से जशत्व (नट्) और 'वाऽवसाने' (८।४।५६)

से चर्त्व (नट्) होता है। 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (८।४।१४) से णत्व होता है।

(४) आवः । आङ्+वृ+लुङ् । आ+अट्+वृ+च्लि+ल् । आ+वृ+०+तिप् । आ+वर्+त् । आ+वर्+० । आवः ।

यहां 'वृञ् वरणे' (स्वा०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' और 'च्लि' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'च्लि' प्रत्यय का लुक् होता है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से 'वृञ्' को गुण (वर्) और 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६८) से 'त्' का लोप होता है।

(५) धक् । दह्+लुङ् । दह्+च्लि+ल् । दह्+०+सिप् । दह्+०+स् । दह्+० । दघ् । धघ् । धग् । धक् ।

यहां 'दह भस्मीकरणे' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' और 'च्लि' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'च्लि' प्रत्यय का लुक् होता है। 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।१।६८) से 'स्' का लोप होता है। 'दादेर्धातोर्घः' (८।२।३२) से 'दह्' के 'ह्' को 'घ्', 'एकाचो बशो भष्०' (८।२।३७) से 'दह्' के 'द्' को 'ध्', 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) से 'घ्' को जस्='ग्' और 'वाऽवसाने' (८।४।५६) से 'ग्' को चर् 'क्' होता है। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (६।४।७५) से अट् आगम नहीं है।

(६) आप्राः । आङ्+प्रा+लुङ् । आ+अट्+प्रा+च्लि+ल् । आ+प्रा+०+सिप् । आ+प्रा+स् । आप्राः ।

यहां आङ्पूर्वक 'प्रा पूरणे' (अ०प०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' और 'च्लि' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'च्लि' प्रत्यय का लुक् होता है। 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) से 'स्' को रुत्व और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (८।३।१५) से विसर्जनीय होता है।

(७) वर्क् । वृज्+लुङ् । वृज्+च्लि+ल् । वृज्+०+तिप् । वर्ज्+त् । वर्ज्+० । वर्ग् । वर्क् ।

यहां 'वृजी वर्जने' (अदा०आ०/रुधा०प०/चु०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' और 'च्लि' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'च्लि' प्रत्यय का लुक् होता है। 'पुगन्तलघूपधस्य च' (७।३।८६) से 'वृज्' को गुण (वर्ज), 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' (६।२।६८) से 'त्' का लोप, 'चोः कुः' (८।२।३०) से 'ज्' को कुत्व (ग्) और 'वाऽवसाने' (८।४।५६) से चर्त्व (क्) होता है। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (६।४।७५) से अट् आगम नहीं होता है।

(८) अक्रन् । कृ+लुङ् । अट्+कृ+च्लि+ल् । अ+कृ+०+झि । अ+कृ+अन्ति । अ+कृ+अन् । अक्रन् ।

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' और 'च्लि' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'च्लि' प्रत्यय का लुक् होता है। 'झोऽन्तः' (७।१।३) से 'झ्' को अन्त आदेश और

*'**इतश्च**' (३।४।१००) से इकार का लोप होता है। '**इको यणचि**' (६।१।७७) से 'ऋ' को 'र्' होता है।*

*(९) **अग्मन्।** गम्+लुङ्। अट्+गम्+च्लि+ल्। अ+गम्+०+झि। अ+गम्+अन्ति। अ+गम्+अन्त्। अग्म्+अन्। अग्मन्।*

*यहां '**गम्लृ गतौ**' (भ्वा०प०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' और 'च्लि' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'च्लि' प्रत्यय का 'लुक्' होता है। '**गमहनजन०**' (६।४।९२) से गम् धातु का उपधा-लोप होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

*(१०) **अज्ञत।** जन्+लुङ्। अट्+जन्+च्लि+ल्। अ+जन्+झ। अ+जन्+अत। अ+ज्न्+अत। अ+ज्ञ्+अत। अज्ञत।*

*यहां '**जनी प्रादुर्भावे**' (दिवा०आ०) धातु से पूर्ववत् 'लुङ्' और 'च्लि' प्रत्यय है। इस सूत्र से 'च्लि' प्रत्यय का 'लुक्' होता है। '**आत्मनेपदेष्वनतः**' (७।१।५) से 'झ्' के स्थान में 'अत्' आदेश है। '**गमहनजन०**' (६।४।९८) से जन् का उपधा-लोप होता है। '**स्तोः श्चुना श्चुः**' (८।४।४०) से 'जन्' के 'न्' को चवर्ग (ञ्) होता है।*

आम्प्रत्ययस्य—

(२३) आमः।८१।

वि०–आमः ५।१।

अनु०–लुक्, लेरिति चानुवर्तते।

अन्वयः–आमो लेर्लुक्।

अर्थः–आम उत्तरस्य लिट्-प्रत्ययस्य लुग् भवति।

उदा०–ईहाञ्चक्रे। ऊहाञ्चक्रे।

***आर्यभाषा-अर्थ**-(आमः) आम् प्रत्यय से परे (लेः) लिट् प्रत्यय का (लुक्) लोप होता है।*

*उदा०-**ईहाञ्चक्रे।** उसने चेष्टा की। **ऊहाञ्चक्रे।** उसने वितर्क किया।*

*सिद्धि-(१) **ईहाञ्चक्रे।** ईह्+लिट्। ईह्+आम्+लि। ईह्+आम्+०। ईहाम्+सु। ईहाम्+०। ईहाम्। ईहाम्+कृ+लिट्। ईहाम्+क+कृ+ए। ईहां+च+कृ+ए। ईहाञ्चक्रे।*

*यहां '**ईह चेष्टायाम्**' (भ्वा०आ०) धातु से अनद्यतन परोक्ष भूतकाल में '**परोक्षे लिट्**' (३।२।११५) से लिट् प्रत्यय है। '**इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः**' (१।३।३६) से आम्-प्रत्यय होता है। इस सूत्र से लिट् का लोप होता है। '**कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि**' (३।१।४०) से आम्-प्रत्यय के पश्चात् लिट् परे होने पर 'कृ' धातु का प्रयोग होता है।*

'आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य' (१।३।६३) से अनुप्रयुक्त 'कृ' धातु से आत्मनेपद और 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' (३।४।८२) से 'त' के स्थान में 'एश्' आदेश होता है। 'उरत्' (७।४।६६) से अभ्यास के 'ऋ' को 'अ' और 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) से अभ्यास के 'क्' को 'च्' आदेश होता है।

(२) ऊहांचक्रे-ऊह वितर्के (भ्वा०आ०)। पूर्ववत्।

आपः सुपश्च–

(२४) अव्ययादाप्सुपः।८२।

प०वि०-अव्ययात् ५।१ आप्-सुपः ६।१।

स०-आप् च सुप् च एतयोः समाहार आप्सुप्, तस्य-आप्-सुपः (समाहारद्वन्द्वः)।

अनु०- लुग् इत्यनुवर्तते।

अन्वयः-अव्ययाद् आप्सुपो लुक्।

अर्थः-अव्ययाद् उत्तरस्य आपः सुपश्च प्रत्ययस्य लुग् भवति।

उदा०-(१) **आपः**-तत्र शालायाम्। यत्र शालायाम्। (२) **सुपः**-कृत्वा। हृत्वा।

आर्यभाषा-अर्थ-(अव्ययात्) अव्यय से परे (आप्-सुपः) आप् और सुप् प्रत्यय का (लुक्) लोप होता है।

*उदा०-(१) आप्-**तत्र शालायाम्**। उस शाला=घर में। **यत्र शालायाम्**। जिस शाला=घर में। (२) सुप्-**कृत्वा**। करके। **हृत्वा**। हरण करके।*

*सिद्धि-**तत्र**। तत्र+टाप्। तत्र+आप्। तत्र+०। तत्र+सु। तत्र।*

*यहां 'तत्र' शब्द की 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (१।१।३८) से अव्यय संज्ञा है। यहां तत्र शब्द का स्त्रीलिङ्ग शाला शब्द के साथ समानाधिकरण भाव होने से स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' (४।१।४) से 'टाप्' प्रत्यय होता है। इस सूत्र से 'टाप्' (आप्) प्रत्यय का लोप हो जाता है। ऐसे ही-**यत्र शालायाम्**।*

*(२) **कृत्वा**। कृ+क्त्वा। कृ+त्वा। कृत्वा+सु। कृत्वा+०। कृत्वा।*

यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) से क्त्वा प्रत्यय है। 'क्त्वातोसुन्कसुनः' (१।२।४०) से क्त्वा-प्रत्ययान्त शब्द की अव्यय संज्ञा है। इस सूत्र से सुप् (सु) प्रत्यय का लुक् होता है।

सुब्लुक्प्रतिषेधः–

(२५) नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः ।८३ ।

प०वि०–न अव्ययपदम्, अव्ययीभावात् ५ ।१ अतः ५ ।१ अम् १ ।१ तु अव्ययपदम्, अपञ्चम्याः ६ ।१ ।

स०–न पञ्चमी इति अपञ्चमी, तस्या अपञ्चम्याः (नञ्तत्पुरुषः) ।

अनु०–लुक् सुप् इति चानुवर्तते ।

अन्वयः–अतोऽव्ययीभावात् सुपो लुङ् न, सुपस्त्वम्, अपञ्चम्याः ।

अर्थः–अदन्ताद् अव्ययीभावाद् उत्तरस्य सुप्-प्रत्ययस्य लुङ् न भवति, सुपः स्थाने तु अम्-आदेशो भवति, विभक्तिं वर्जयित्वा ।

उदा०–कुम्भस्य समीपमिति उपकुम्भम् । उपकुम्भं तिष्ठति । उपकुम्भं पश्य ।

आर्यभाषा-अर्थ-(अतः) अकारान्त (अवययीभावः) अव्ययीभाव समास से परे (सुपः) सुप् प्रत्यय का (लुक्) लोप (न) नहीं होता है (तु) अपितु सुप् के स्थान में (अम्) अम्-आदेश होता है (अपञ्चम्याः) पञ्चमी विभक्ति को छोड़कर ।

*उदा०-**कुम्भस्य समीपमिति उपकुम्भम् ।** कुम्भ के पास । **उपकुम्भं तिष्ठति ।** वह कुम्भ के पास खड़ा है । **उपकुम्भं पश्य ।** तू कुम्भ के समीपस्थ को देख ।*

*सिद्धि-**उपकुम्भम् ।** उपकुम्भ+सु । उपकुम्भ+अम् । उपकुम्भम् ।*

यहां उप और कुम्भ सुबन्त का 'अव्ययं विभक्ति०' (२ ।१ ।६) से अव्ययीभाव समास है । अव्ययीभावश्च' (१ ।१ ।४२) से अव्ययीभाव समास की अव्यय संज्ञा है । पूर्व सूत्र से अव्ययीभाव से 'सुप्' प्रत्यय का लुक् प्राप्त था । इस सूत्र से सुप् प्रत्यय के लुक् का प्रतिषेध होता है और सुप् के स्थान में 'अम्' आदेश भी होता है ।

तृतीया+सप्तमी (बहुलम्)–

(२६) तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् ।८४ ।

प०वि०–तृतीया-सप्तम्योः ६ ।२ बहुलम् १ ।१ ।

स०–तृतीया च सप्तमी च ते तृतीयासप्तम्यौ, तयोः-तृतीयासप्तम्योः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः) ।

अनु०–अव्ययीभावात्, अतः, अम् इति चानुवर्तते ।

अन्वयः-अतोऽव्ययीभावात् तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् अम्।

अर्थः-अदन्ताद् अव्ययीभावाद् उत्तरस्यास्तृतीयायाः सप्तम्याश्च विभक्तेः स्थाने बहुलम् अम्-आदेशो भवति।

उदा०-(१) **तृतीया**-उपकुम्भेन कृतम्। उपकुम्भं कृतम्। (२) **सप्तमी**-उपकुम्भे निधेहि। उपकुम्भं निधेहि।

आर्यभाषा-अर्थ-(अतः) अकारान्त (अव्ययीभावात्) अव्ययीभाव समास से परे (तृतीया-सप्तम्योः) तृतीया और सप्तमी विभक्ति के स्थान में (बहुलम्) विकल्प से (अम्) अम्-आदेश होता है।

उदा०-(१) तृतीया-कुम्भस्य समीपमिति उपकुम्भम्। उपकुम्भेन कृतेन। कुम्भ के समीपस्थ ने किया। उपकुम्भं कृतम्। अर्थ पूर्ववत् है। (२) सप्तमी-उपकुम्भे निधेहि। कुम्भ के समीप में रख। उपकुम्भं निधेहि। अर्थ पूर्ववत् है।

सिद्धि-(१) उपकुम्भेन। उपकुम्भ+टा। उपकुम्भ+इन। उपकुम्भेन।

यहां अव्ययीभाव उपकुम्भ शब्द से परे इस सूत्र से तृतीया विभक्ति का लोप नहीं होता है।

(२) उपकुम्भे। उपकुम्भ+ङि। उपकुम्भ+इ। उपकुम्भे।

यहां इस सूत्र से सप्तमी विभक्ति का लोप नहीं होता है।

(३) उपकुम्भम्। यहां विकल्प पक्ष में तृतीया और सप्तमी विभक्ति के 'टा' और 'ङि' प्रत्यय के स्थान में इस सूत्र से अम्-आदेश होता है।

डारौरसादेशाः-

लुटः प्रथमस्य डारौरसः।८५।

प०वि०-लुटः ६।१ प्रथमस्य ६।१ डा-रौ-रसः १।३।

स०-डाश्च रौश्च रस् च ते-डारौरसः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)।

अर्थः-लुटः प्रथमपुरुषस्यादेशानां स्थाने यथासंख्यं डा-रौ-रस आदेशा भवन्ति।

उदा०-तिप्-(डा)-कर्ता। **तस्-(रौ)**-कर्तारौ। **झि-(रस्)**-कर्तारः।

आर्यभाषा-अर्थ-(लुटः) लुट्लकार के (प्रथमस्य) प्रथम पुरुष के आदेशों के स्थान में यथासंख्य (डारौरसः) डा, रौ, रस् आदेश होते हैं।

*उदा०-तिप्-(डा)-**कर्ता**। वह करेगा। तस्-(रौ)-**कर्तारौ**। वे दोनों करेंगे। झि-(रस्) **कर्तारः**। वे सब करेंगे (श्वः=कल)।*

***सिद्धि**-(१) **कर्ता**। कृ+लुट्। कृ+तास्+ल्। कृ+तास्+तिप्। कृ+तास्+डा। कृ+त्+आ। कर्+त्+आ। कर्ता।*

*यहां 'डुकृञ् करणे' (तना०उ०) धातु से अनद्यतन भविष्यत्काल में '**अनद्यतने लुट्**' (३।३।१५) से 'लुट्' प्रत्यय है। '**स्यतासी लृलुटोः**' (३।१।३३) से तास् प्रत्यय है। इस सूत्र से प्रथम पुरुष के 'तिप्' प्रत्यय के स्थान में डा-आदेश होता है। 'डा' प्रत्यय के 'डित्' होने से '**डित्यभस्यापि टेर्लोपः**' (   ) से 'तास्' के टि-भाग का लोप होता है। '**सार्वधातुकार्धधातुकयोः**' (७।३।८४) से 'कृ' को गुण होता है।*

*(२) **कर्तारौ/कर्तारः**। यहां 'तस्' के स्थान में 'रौ' और 'झि' के स्थान में 'रस्' आदेश है। 'रि च' (७।४।५२) से 'तास्' के सकार का लोप होता है। शेष कार्य पूर्ववत् है।*

(३) कृञ् धातु उभयपद है। आत्मनेपद के त, आताम्, झ के स्थान में भी यथासंख्य डा, रौ, रस् आदेश होते हैं। आत्मनेपद में भी उपरिलिखित ही रूप बनते हैं।

इति श्रीयुतपरिव्राजकाचार्याणाम् ओमानन्दसरस्वतीस्वामिनां महाविदुषां पण्डितविश्वप्रियशास्त्रिणां शिष्येण पण्डितसुदर्शनदेवाचार्येण विरचिते पाणिनीयाष्टाध्यायीप्रवचने द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः। समाप्तश्चायं द्वितीयोऽध्यायः। इति प्रथमो भागः।

पाणिनीय-अष्टाध्यायी-प्रवचनम्

प्रथमभागस्य सूत्रवर्णानुक्रमणिका

इति प्रथमभागस्य सूत्रवर्णानुक्रमणिका समाप्ता।

संक्षिप्तपदानां विवरणपत्रम्

१.	अ०	अदादिगण: ।
२.	अथर्व०	अथर्ववेद: ।
३.	अनु०	अनुवृत्ति: ।
४.	आ०	आत्मनेपदम् ।
५.	उ०	अभयपदम् ।
६.	उदा०	उदाहरणम् ।
७.	ऋ०	ऋग्वेद: ।
८.	क०	कण्ड्वादिगण: ।
९.	क्र्या०	क्र्यादिगण: ।
१०.	चु०	चुरादिगण: ।
११.	जु०	जुहोत्यादिगण: ।
१२.	त०	तनादिगण: ।
१३.	तु०	तुदादिगण: ।
१४.	दि०	दिवादिगण: ।
१५.	प०	परस्मैपदम् ।
१६.	प०वि०	पदच्छेदो विभक्तिश्च ।
१७.	प्र०सू०	प्रत्याहारसूत्रम् ।
१८.	पा०का०भा०	पाणिनि कालीन भारतवर्ष
१९.	फिट्०	फिट्सूत्रम् ।
२०.	भ्वा०	भ्वादिगण: ।
२१.	व्या०शा०प्रा०	व्याकरणशास्त्रप्रारम्भ: ।
२२.	य०	यजुर्वेद: ।
२३.	लि० अ०	लिङ्गानुशासनम् ।
२४.	स०	समास: ।
२५.	स्वा०	स्वादिगण: ।
२६.	सा०	सामवेद: ।
२७.	१ । १	प्रथमा-एकवचनम् ।
२८.	१ । २	प्रथमा-द्विवचनम् ।
२९.	१ । ३	प्रथमा-बहुवचनम् ।
		(एवं सर्वं विभक्तिवचनं स्वयमूह्यम्) ।
३०.	१।१।१	प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादस्य प्रथमसूत्रम् । (एवं सर्वमूह्यम्) ।

।। इति संक्षिप्तपदानां विवरणपत्रम् ।।